प्रसाद वाङ्मय

(रचनावली)

पञ्चम खण्ड

पुण्यश्लोक श्री जयशङ्कर 'प्रसाद' के वाङ्मय का गद्य भाग

समस्त नाटको की भूमिकाए, निबन्ध एवम् समकालीनो के संस्मरण

प्रथम अनुवर्त्त

(नाटकों की भूमिकाएँ)

द्वितीय अनुवर्त्त

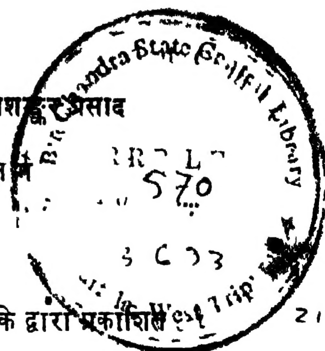
(पूर्ववर्त्ती निबन्धों के सहित काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध)

तृतीय अनुवर्त्त

(संस्मरण पर्व)

समायोजन एवम् सम्पादन—श्री रत्नशङ्कर प्रसाद

प्रसाद न्यास के तत्त्वावधान में



प्रसाद प्रकाशन

प्रसाद मन्दिर, गोवर्द्धनसराय, वाराणसी के द्वारा प्रकाशित

प्रसाद वाङ्मय का समग्र निबन्ध एव अन्य साहित्य



प्रसाद जन्मशती संवत्सर में संकलित

समस्त पाँचों खण्डों का सम्मिलित मूल्य सात सौ पचास रुपये मात्र

श्रीगोविन्ददास माहेश्वरी के द्वारा श्रीमाहेश्वरी प्रेस, भाट की गली,

गोलघर, वाराणसी में मुद्रित

प्रथम अनुवर्त्त

नाटकों की भूमिकाएँ



राज्यश्री

(प्राक्कथन)

राज्यश्री और हर्षवर्द्धन से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का आधार हर्षवर्द्धन के राजकवि बाण का बनाया हुआ हर्षचरित और चीनी यात्री सुएनच्वाङ्ग का वर्णन है। हर्षचरित का वर्णन अपूर्ण है, अनुमान होता है कि ग्रन्थ की पूरी प्रति उपलब्ध नहीं, या वह उस कवि की रचना कादम्बरी की भाँति अधूरी-सी रही। कुछ विशेष घटनाओं का वर्णन चीनी यात्री ने किया है। बौद्ध-धर्म का विशेष पक्षपाती होने के कारण वह उन घटनाओं को नहीं छोड़ सका, जो बौद्ध-धर्म के अनुकूल हुई थी।

उस समय गुप्तों का प्राधान्य नष्ट हो चुका था। छठी शताब्दी में मालव के यशोधर्मदेव ने जब हूण मिहिरकुल को परास्त किया, तो साम्राज्य-शक्ति मगध से हटकर मालव की शरण में चली गयी, परन्तु यशोधर्मदेव की वंश परम्परा में वह स्थिर न रह सकी। इधर, जो हूण भारत की सीमा के भीतर घुस आये थे, वे कभी न कभी उपद्रव मचा ही देते, इस कारण स्थानीय राज्यों को उनसे बराबर छोटा-मोटा युद्ध करना ही पड़ता। सम्भवत: भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रान्त से उनका आतंक निर्मूल नहीं हुआ था, यद्यपि वे अब भारत-साम्राज्य के विजेता नहीं रहे।

वह सातवीं शताब्दी का प्रारम्भ था, जब स्थाण्वीश्वर के राजवंश ने प्रबलता प्राप्त की, शक्ति-सञ्चय करके वे हूणों से लड़े। कान्यकुब्ज में मौखरियों का प्राधान्य था और मालव में गुप्तवंश के कुछ फुटकल राजकुमार प्रबल हो गये थे। यशोधर्म का साम्राज्य विभक्त कर स्थान-स्थान पर नवीन राजवंश अधिकार जमा रहे थे। इधर सिकुड़ कर मगध मे गुप्तवंश के महाराजाधिराज अपनी मान-मर्यादा लिये दिन बिता रहे थे। फिर भी गुप्तों के राजकुमारों के ही अधिकार में पूर्वी मालव, मगध और गौड़ था।

गौड़ के एक राजकुमार ने मौखरी और वर्द्धनों की सम्मिलित राजशक्ति को उलट देने का संकल्प लिया। बाण ने इसका नाम नरेन्द्रगुप्त लिखा है परन्तु सुएन-च्वांग के आधार पर बोधिद्रुम को उखाड़ने वाला शशांक ही गौड़-विद्रोह का कारण माना जाने लगा है, यद्यपि अभी तक यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित नहीं हुआ है कि नरेन्द्रगुप्त और शशांक एक ही व्यक्ति हैं। कुछ लोग हर्षवर्द्धन की माता का नाम ही

यशोमती देख कर ही उसे यशोधर्म की दुहिता मान लेने का प्रयास कर रहे हैं। अस्तु, वर्द्धनवंश के प्रभाकर के मरते ही नरेन्द्र के उकसाने से मालव के देवगुप्त ने प्रभाकर के जामाता ग्रहवर्मा से कान्यकुब्ज को छीन लिया और प्रभाकर की दुहिता राज्यश्री को बन्दी बना कर सफलता प्राप्त की। राज्यवर्द्धन ने जब कान्यकुब्ज का उद्धार किया, तो नरेन्द्र ने छलसे उसकी हत्या करा दी। हर्ष अभी एक नवयुवक शासक था। बहुत सम्भव था कि थानेसर ही उलट दिया जाता, परन्तु उसने अतुल पराक्रम से उस विपत्ति का सामना किया और मालव तथा गौड़ के षड्यन्त्र को ध्वस्त कर दिया। घटनाचक्र से वह समस्त उत्तरापथ का महाराजाधिराज बन गया। हर्षवर्द्धन ने राजनीति को संयम से चलाया। कामरूप, काश्मीर और वलभी के प्रान्तराज्य उसके अनुगत हो गये। दिवाकरमित्र नामक एक साधु ने राज्यश्री के प्राणों की रक्षा की।

कहा जाता है, कि हर्षवर्द्धन ने राज्यश्री के साथ कान्यकुब्ज का संयुक्त-शासन किया और इसलिये बहुत दिनों तक वह केवल राजपुत्र उपाधि धारण किये था, किन्तु बाँसखेड़ा के शिलालेख मे वह स्वयं लिखता है—"स्वहस्तोमम महाराजाधिराजश्रीहर्षस्य"। उसका राज्यकाल ६०५ ईसवीय से आरम्भ होकर ६४७ ईसवीय तक चलता है।

चीनीयात्री ने तो हर्ष के काषाय लेने का भी उल्लेख किया है, परन्तु सम्भवतः यह भारत की वही प्राचीन प्रथा थी, जिसका वर्णन कालिदास ने विश्वजित याग के बाद सर्वस्वदान के रूप मे किया है—रघु भी सब जीत कर ऐसा ही दान करके अकिंचन हो गये थे, जब कौत्स गुरु-दक्षिणा के लिए गये थे। हर्षवर्द्धन का बौद्धधर्म की ओर अधिक झुकाव होने का कारण—उनकी भगिनी राज्यश्री का बौद्ध दिवाकर-मित्र द्वारा बचाया जाना भी हो सकता है। सम्भवतः, धर्म मे वे समन्वयवादी थे, सूर्य, शिव और बुद्ध तीनों देवताओ की प्रतिमाएँ आदरणीय थी। प्रधानत हर्षवर्द्धन के हृदय में धर्म का सात्त्विक रूप व्याप्त था, यद्यपि चीनी-यात्री ने उसके महायान-प्रेमी होने का अधिक वर्णन किया है।

पुलकेशिन् चालुक्य ने उनकी विजय को दक्षिण में रोक दिया। वह (हर्षवर्द्धन) भी उत्तरापथ के साम्राज्य से सन्तुष्ट था। राज्यश्री एक आदर्श राजकुमारी थी। उसने अपना वैधव्य सात्त्विकता से बिताया। अनेक अवसरों पर वह हर्ष के लौह-हृदय को कोमल बनाने में कृतकार्य हुई।

यद्यपि इस धर्म-समन्वय के कारण, चीनीयात्री सुएनच्वांग और मि-यू-कि के अनुसार, स्वयं हर्षवर्द्धन के प्राण लेने तक की चेष्टा भी की गयी थी, परन्तु वह राज्यश्री के कोमल स्वभाव की प्रेरणा से, बचता ही रहा। कान्यकुब्ज और प्रयाग

के दान-महोत्सव वर्णन करते हुए सुएनच्वांग अघाता नहीं। यह सब प्रेरणा राज्यश्री की थी।

इस दृश्यकाव्य का पूर्वरूप 'इन्दु' में पहले निकला, फिर 'चित्राधार' संग्रह में वह पुनर्मुदित हुआ। एक प्रकार से मैं इसे अपना प्रथम ऐतिहासिक रूपक समझता हूँ। उस समय यह अपूर्ण सा-ही था, इसका वर्त्तमान रूप कुछ परिवर्त्तित और परिवर्द्धित है।

विकटघोष और सुरमा, यद्यपि ऐतिहासिक पात्र नहीं हैं, परन्तु चीनी यात्री का एक डाकू से पकड़े जाने का उल्लेख मिलता है। हर्षवर्द्धन के जीवन का अन्तिम दृश्य इसमें नहीं दिया गया है, क्योंकि इस रूपक का उद्देश्य है—राज्यश्री का चरित्र-चित्रण!



विशाख

(परिचय)

भारत के प्राचीन इतिहास की जैसी कमी है वह पाठकों से छिपी नहीं है। यद्यपि धर्म-ग्रन्थों में सूत्र-रूप से बहुत-सी गाथाएं मिलती हैं किन्तु वे क्रमबद्ध और घटना-परम्परा से युक्त नहीं है। संस्कृत-साहित्य में इतिहास नाम से लब्ध-प्रतिष्ठ केवल राजतरंगिणी नामक ग्रन्थ ही उपलब्ध होता है। कल्हण पण्डित ने अपने पूर्व के कई इतिहासों का और उनके लेखकों का उल्लेख किया है पर वे अब नहीं मिलते। यह नाटक, राज-तरंगिणी की एक ऐतिहासिक घटना पर अवलम्बित है जिसका समय निर्धारण करना एक कठिन और इस नाटक से स्वतन्त्र विषय होगा। फिर भी उसका कुछ दिग्दर्शन करा देना इस परिचय का एक अंग होगा।

राजतरंगिणी का क्रम-बद्ध इतिहास तृतीय-गोनर्द से प्रारम्भ होता है जिसे कि कल्हण से पहले के विद्वानों ने लिखा है। इसके पहले के बावन राजाओं का नाम नहीं मिलता, क्योंकि युधिष्ठिर के समकालीन आदि गोनर्द से काश्मीर का इतिहास क्रमबद्ध करने के लिये इतने राजा जान-बूझ कर भुला दिये जाते हैं, अथवा वे कोई वास्तविक राजा थे ही नहीं, केवल समय को पूरा करने के लिए उनके अस्तित्व की कल्पना कर ली गयी है। कल्हण से पहले के विद्वानों ने इस विस्तृत समय को २२६८ वर्ष रक्खा है। कल्हण ने, कल्यब्द के ६५२ वर्ष बीतने पर भारत-युद्ध हुआ, ऐसा मानकर, उस समय को १२६६ वर्ष की संख्या से घटा दिया है। और, आदि-गोनर्द से लेकर दूसरे गोनर्द तक और लव से लेकर शनीचर तक, फिर अशोक से लेकर अभिमन्यु तक कुल १७ राजाओं की सूची उन बावन विस्मृत राजाओं में से खोज निकाली गयी है, जिसे सम्भवतः पद्ममिहिर, हेलाराज इत्यादि पण्डितों ने ताम्रशासन, विजयस्तम्भ, आज्ञापत्र तथा दानपत्र इत्यादि देखकर जैसे-तैसे ठीक किया था। इनका राज्यकाल जो कि इस ग्रन्थ में निर्धारित है, कहाँ तक ठीक है इसकी समीक्षा करनी होगी।

नवाविष्कृत ऐतिहासिक युग का प्रसिद्ध सम्राट् अशोक मौर्य अब अनजाने हुए इतिहास का बनावटी राजा न रहा। इसका समय अच्छी तरह निर्धारित हो चुका है। राजतरङ्गिणी के मत से इसका राज्य-काल गत-कलि १७३४ से आरम्भ होकर

गत-कलि १७९५ तक है। कलि-संवत् ई० सन् से ३१०१ वर्ष पहले आरम्भ होता है। ३१०१ में से १७३४ घटा देने से प्रकट होता है कि ईसा से १३६७ वर्ष पहले राजतरङ्गिणी के मत से अशोक हुआ। अशोक आदि दो-चार प्रसिद्ध और ऐतिहासिक राजाओं का समय १५० वर्ष उन माने हुए १२६८ विस्मृत वर्ष मे से निकाल कर यदि वह काल्पनिक ११०० वर्ष इस १३६७ बी० सी० मे से निकाल दिया जाय तो २६७ बी० सी० अशोक का राज्यकाल आधुनिक ऐतिहासिकों के मत से मिलता-जुलता-सा दिखाई पड़ता है।

एक लेखक महोदय ने राजतरंगिणी में अशोक को अशोक मौर्य न होने का कोई प्रमाण न देकर केवल ११०० वर्ष का अन्तर देखकर उसे एक दूसरा अशोक मान लेना चाहा है जिसका कि कोई प्रमाण नहीं है और जब कि उसके बाद पाँच-छः राजाओं के अनन्तर कनिष्क का नाम आता है जिसे कि अब ऐतिहासिक लोग प्रसिद्ध कुशान सम्राट् मानते है और नागार्जन का उसका समकालीन होना बौद्ध लोग भी स्वीकार करते है जैसा कि राजतरंगिणी में भी मिलता है, तब हम इस राजतरंगिणी के १३६७ बी० सी० वाले अशोक को इतिहास सिद्ध २६७ बी० सी० का क्यों न मान लें। क्योंकि मेरी समझ मे विस्मृत राजाओं का ११०० वर्ष का समय ही यह सारा भ्रम डाले हुये है। इतिहास को, प्राचीनता-सम्पन्न करने का प्रयत्न-रूपी ११०० वर्ष का काल्पनिक समय निकाल देने से यह इतिहास क्रम से चला चलेगा। आगे भी चलकर क्षति-पूर्ति स्वरूप १०० मे लेकर ३०० वर्ष काल्पनिक समय राजतरंगिणी मे कई जगह मिलेंगे। जैसे रणादित्य का ३०० वर्ष तक राज्य करना। इसी रणादित्य के बाद विक्रमादित्य और बालादित्य का नाम आता है जिनका समय ४९५ और ५३७ बी० सी० मिलता है।

ऊपर के विवरण से निर्धारित किया गया है कि विस्मृत राजाओ का काल्पनिक काल (जैसा कि अशोक और कनिष्क का समय-मिलान करने से स्पष्ट होता है) मन-गढ़न्त-सा है।

राजतरंगिणी के मत से इस नाटक के प्रधान पात्र नरदेव का राज-काल वि० पू० ९७० है। उसमें ५७ वर्ष जोड देने मे १०२७ ई० पू० समय निकलता है। वह काल्पनिक ११०० वर्ष का काल घटा देने से यह घटना ईसा की पहली शताब्दी की प्रतीत होती है या इससे एक या आधी शताब्दी और पीछे की हो सकती है।

इस प्रकार यह घटना सवत १८०० वर्ष पहले की है। उस समय की रीति-नीति का परिचय होना कठिन तो है, फिर भी जहाँ तक हो सका है उसी काल का चित्रण करने का प्रयत्न किया गया।

पात्रों मे प्रेमानन्द और महापिंगल आदि दो-एक कल्पित है, जो मुख्य काल के विरुद्ध नही।



अजातशत्रु

(कथा-प्रसंग)

इतिहास में घटनाओं की प्रायः पुनरावृत्ति होते देखी जाती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसमें कोई नयी घटना होती ही नहीं। किन्तु असाधारण नयी घटना भी भविष्यत् में फिर होने की आशा रखती है।

मानवसमाज की कल्पना का भण्डार अक्षय है, क्योंकि वह इच्छा-शक्ति का विकास है। इन कल्पनाओं का, इच्छाओं का मूल-सूत्र बहुत ही सूक्ष्म और अपरिस्फुट होता है। जब वह इच्छा-शक्ति किसी व्यक्ति या जाति में केन्द्रीभूत होकर अपना सफल या विकसित रूप धारण करती है, तभी इतिहास की सृष्टि होती है। विश्व में जब तक कल्पना इयत्ता को नहीं प्राप्त होती, तब तक वह रूप-परिवर्तन करती हुई, पुनरावृत्ति करती ही जाती है। समाज की अभिलाषा अनन्त स्रोतवाली है। पूर्व कल्पना के पूर्ण होते-होते एक नयी कल्पना उसका विरोध करने लगती है, और पूर्व कल्पना कुछ काल तक ठहर कर, फिर होने के लिए अपना क्षेत्र प्रस्तुत करती है। इधर इतिहास का नवीन अध्याय खुलने लगता है। मानवसमाज के इतिहास का इसी प्रकार संकलन होता है।[1]

---

१. सजातीय भावों की आकृति अथवा वृत्त कल्पना है जिसकी स्वभाव-स्फूर्ति चिन्तामयी होती है। भावमयी सृष्टि अथवा पार्थिवी सृष्टि दोनों ही शक्ति-वैभव की कारणावस्था के जागरण-प्रसार पर निर्भर कार्य हैं। ऐसे जागरण-प्रसार की लाक्षणिक अभिव्यक्ति में स्पन्दमार्गीय मनीषियों ने एक पारिभाषिक शब्द 'उन्मेष' नियत किया है, जिसकी विवृत्ति में स्पन्दकारिका कहती है—

एकचिन्ता प्रसक्तस्यात्ततस्यादपरोदयः।
उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयंतमुपलक्षयेत् ॥

इस सृष्ट-जगत की परिधि में ही मानव-समाज के इतिहास का सृजन-संकलन होता है—जिसके उदय अथवा उन्मेष का ऋत और कल्पना का ऋत—जो चिता-स्फूर्ति की आकृति है - एक ही है। चिन्ता के लयोदय का ही

भारत का ऐतिहासिक काल—गौतम बुद्ध से माना जाता है, क्योंकि उस काल की बौद्ध-कथाओं में वर्णित व्यक्तियों का पुराणों की वंशावली में भी प्रसंग आता है। लोग वहीं से प्रामाणिक इतिहास मानते हैं।• पौराणिक-काल के बाद गौतम बुद्ध के व्यक्तित्व ने तत्कालीन सभ्य संसार में बड़ा भारी परिवर्तन किया। **इसलिये हम कहेंगे कि भारत के ऐतिहासिक काल का प्रारम्भ धन्य है, जिसने संसार में पशु-कीट-पतंग से लेकर इन्द्र तक के साम्यवाद की शंखध्वनि की थी। केवल इसी कारण हमें, अपना अतीव प्राचीन इतिहास रखने पर भी, यहीं से इतिहास-काल का प्रारम्भ मान लेने में गर्व होना चाहिये।**

भारत-युद्ध के पौराणिक काल के बाद इन्द्रप्रस्थ के पाण्डवों की प्रभुता कम होने पर बहुत दिनों तक कोई सम्राट् नहीं हुआ। भिन्न-भिन्न जातियाँ अपने-अपने देशों में शासन करती थीं। बौद्धों के प्राचीन संघों मे ऐमे १६ राष्ट्रों के उल्लेख हैं, प्रायः उनका वर्णन भौगोलिक क्रम के अनुसार न होकर जातीयता के अनुसार है। उनके नाम हैं—अंग, मगध, काशी, कोसल, वृजि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पाञ्चाल, मत्स्य, शूरसेन, अश्वक, अवन्ति, गान्धार और काम्बोज।

उस काल में जिन लोगों से बौद्धों का सम्बन्ध हुआ है, इनमें उन्हीं का नाम है। जातक-कथाओं में शिवि, सौवीर, मद्र, विराट् और उद्यान का भी नाम आया है; किन्तु उनकी प्रधानता नहीं है। उस समय जिन छोटी-से-छोटी जातियों, गणों और राष्ट्रों का सम्बन्ध बौद्ध धर्म से हुआ, उन्हें प्रधानता दी गयी, जैसे 'मल्ल' आदि।

अपनी-अपनी स्वतन्त्र कुलीनता और पृथक् आचार रखनेवाले इन राष्ट्रों में—कितनों ही में गणतन्त्र शासन-प्रणाली भी प्रचलित थी --निसर्गनियमानुसार एकता, राजनीति के कारण नहीं, किन्तु एक-सी सर्वत्र होने वाली धार्मिक क्रांति के कारण थी। वैदिक हिंसापूर्ण यज्ञों और पुरोहितों के एकाधिपत्य से साधारण जनता के हृदय-क्षेत्र में विद्रोह की उत्पत्ति हो रही थी। उसी के फलस्वरूप जैन-बौद्ध धर्मों का

अनुवाचन कल्पना क्रिया करती है और एक प्रसंग के अस्त होने-होते दूसरे का उदय होता है। फिर, अस्तभूत कल्पना प्रसंग-पुरस्सर होने की प्रतीक्षा में स्थगित रह अनुरूप क्षेत्र का शोध किया करती है। यह क्रम कल्पना के किसी इयत्ता में रूपान्तरित होने तक उस विश्व में चालू रहता है जो विश्व स्वतः कल्पोल्लासकारी स्पन्द की एक विश्वम्भरी कल्पना है। इस सन्दर्भ में अवलोक्य होगी कामायनी के आशा सर्ग की यह पंक्ति "विश्व कल्पना सा ऊँचा वह सुख शीतल सन्तोष निदान"। विश्व एक महती कल्पना की इयत्ता है जिसमें मानवी कल्पनायें आवर्तित-पुनरावर्तित होती अपनी इयत्तायें प्राप्त किया करती हैं। (सं०)

प्रादुर्भाव हुआ। चरम अहिंसावादी जैन-धर्म के बाद बौद्धधर्म का प्रादुर्भाव हुआ। वह हिंसामय 'वेद-वाद' और पूर्ण-अहिंसा वाली जैन-दीक्षाओं के 'अति-वाद' से बचता हुआ एक मध्यवर्ती नया मार्ग था। सम्भवतः धर्म-चक्र-प्रवर्तन के समय गौतम ने इसी से अपने धर्म को 'मध्यमा-प्रतिपदा' के नाम से अभिहित किया और इसी धार्मिक-क्रान्ति ने भारत के भिन्न-भिन्न राष्ट्रों को परस्पर सन्धि-विग्रह के लिए बाध्य किया।

इन्द्रप्रस्थ और अयोध्या के प्रभाव का ह्रास होने पर, इसी धर्म के प्रभाव से पाटलिपुत्र पीछे बहुत दिनों तक भारत की राजधानी बना रहा। उस समय के बौद्ध-ग्रन्थों में ऊपर कहे हुए बहुत-से राष्ट्रों में से चार प्रमुख राष्ट्रों का अधिक वर्णन है—कोसल, मगध, अवन्ति और वत्स। कोसल का पुराना राष्ट्र सम्भवतः उस काल में सब राष्ट्रों मे विशेष मर्यादा रखता था; किन्तु वह जर्जर हो रहा था। प्रसेनजित् वहाँ का राजा था। अवन्ति में प्रद्योत (पज्जोत) राजा था। मालव-राष्ट्र भी उस समय सबल था। मगध, जिसने कौरवों के बाद भारत में महान् साम्राज्य स्थापित किया, शक्तिशाली हो रहा था। बिम्बिसार वहाँ के राजा थे। अजातशत्रु, वैशाली (वृजि) की राजकुमारी से उत्पन्न, उन्ही का पुत्र था। इसका वर्णन भी बौद्धों की प्राचीन कथाओं में बहुत मिलता है। बिम्बिसार की बड़ी रानी कोसला (वासवी) कोसल नरेश प्रसेनजित् की बहन थी। वत्स-राष्ट्र की राजधानी कौशाम्बी थी, जिसका खँडहर जिला बाँदा (करुई सब-डिवीजन) में यमुना-किनारे 'कोसम' नाम से प्रसिद्ध है। उदयन इसी कौशाम्बी का राजा था। इसने मगध-राज और अवन्ति-नरेश की राजकुमारियों से विवाह किया था। भारत के सहस्ररजनी-चरित्र-'कथा-सरित्सागर' का नायक इसी का पुत्र नरवाहनदत्त था।

वृहत्कथा (कथा-सरित्सागर) के आदि-आचार्य वररुचि है, जो कौशाम्बी में उत्पन्न हुए थे, और जिन्होंने मगध में नन्द का मन्त्रित्व किया। उदयन के समकालीन अजातशत्रु के बाद उदयाश्व, नन्दिवर्द्धन और महानन्द नाम के तीन राजा मगध के सिंहासन पर बैठे। शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न, महानन्द के पुत्र, महापद्म ने नन्द-वंश की नींव डाली। इसके बाद सुमाल्य आदि आठ नन्दों ने शासन किया (विष्णुपुराण, चतुर्थ अंश)। किसी के मत मे महानन्द के बाद नवनन्दों ने राज्य किया। इस 'नवनन्द' के दो अर्थ हुए—नवनन्द (नवीन नन्द), तथा महापद्म और सुमाल्य आदि नौ नन्द। इनका राज्य-काल, विष्णुपुराण के अनुसार, १०० वर्ष है। नन्द के पहले राजाओं का राज्य-काल भी, पुराणों के अनुसार, लगभग १०० वर्ष होता है। ढुण्ढि ने मुद्राराक्षस के उपोद्घात के अन्तिम नन्द का नाम धननन्द लिखा है। इसके बाद योगानन्द का मंत्री वररुचि हुआ। यदि ऊपर लिखी हुई पुराणों की गणना सही है, तो मानना होगा कि उदयन के पीछे, २०० वर्षों के बाद वररुचि हुए, क्योंकि पुराणों

के अनुसार ४ शिशुनाग वंश के और ९ नन्दवंश क राजाओं का राज्य-काल इतना ही होता है। महावंश और जैनो के अनुसार कालाशोक के बाद केवल नवनन्द का नाम आता है। कालाशोक पुराणों का महापद्म नन्द है। बौद्धगणनानुसार इन शिशुनाग तथा नन्दो का सम्पूर्ण राज्यकाल १०० वर्ष से कुछ ही अधिक होता है। यदि इसे माना जाय, तो उदयन के १००-१२५ वर्ष पीछे वररुचि का होना प्रमाणित होगा। कथासरित्सागर मे इसी का नाम 'कात्यायन' भी है—"नाम्नाबररुचिः किं च कात्यायन इति श्रुत."। इन विवरणो मे प्रतीत होता है कि वररुचि उदयन के १२५-२०० वर्ष बाद हुए। विख्यात उदयन की कौशाम्बी वररुचि की जन्मभूमि है।

मूल वृहत्कथा वररुचि ने काणभूति मे कही, और काणभूति ने गुणाढ्य से। इससे व्यक्त होता है कि यह कथा वररुचि के मस्तिष्क का आविष्कार है, जो सम्भवतः उसने संक्षिप्त रूप मे संस्कृत मे कही थी, क्योंकि उदयन की कथा उसकी जन्म-भूमि मे किम्वदन्तियो के रूप मे प्रचलित रही होगी। उसी मूल उपाख्यान को क्रमशः काणभूति और गुणाढ्य न प्राकृत और पैशाची भाषाओं म विस्तारपूर्वक लिखा। महाकवि क्षेमेन्द्र ने उसे वृहत्कथा-मजरी नाम मे, सक्षिप्तरूप मे, संस्कृत में लिखा। फिर, काश्मीर-राज अनन्तदेव के राज्य-काल मे कथा-सरित्सागर की रचना हुई। इस उपाख्यान को भारतीयो ने बहुत आदर दिया और वत्सराज उदयन कई नाटको और उपाख्यानो मे नायक बनाये गये। स्वप्न-वासवदत्ता, प्रतिज्ञायौगन्धरायण और रत्नावली मे इन्हीं का वर्णन है। 'हर्षचरित' मे लिखा है—"नागवनविहारशील च मायामातङ्गाङ्गान्निर्गताः महासेनसैनिकाः वत्सपतिन्ययंसिषुः।" मेघदूत में भी—"प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्" और "प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे" इत्यादि है। इससे इस कथा की सर्वलोकप्रियता समझी जा सकती है। वररुचि ने इस उपाख्यान-माला को सम्भवतः ३५० ईसा पूर्व लिखा होगा। सातवाहन नामक आन्ध्र-नरपति के राजपण्डित गुणाढ्य ने इसे बृहत्कथा नाम से ईसा की पहली शताब्दी में लिखा। इस कथा का नायक नरवाहनदत्त इसी उदयन का पुत्र था।

बौद्धों के यहाँ इसके पिता का नाम परन्तप' मिलता है। और 'मरन परिदीपित-उदेनिवस्तु' के नाम से एक आख्यायिका है। उसमे भी (जैसा कि कथासरित्सागर में) इसकी माता का गरुड़-वंश के पक्षी द्वारा उदयगिरि की गुफा मे ले जाया जाना और वहाँ एक मुनि-कुमार का उनकी रक्षा और सेवा करना लिखा है। बहुत दिनों तक इसी प्रकार साथ रहते-रहते मुनि से उसका स्नेह हो गया और उसी से वह गर्भवती हुई। उदयगिरि (कलिंग) की गुफा मे जन्म होने के कारण लड़के का नाम उदयन पड़ा। मुनि ने उसे हस्ती वश करने की विद्या, और भी कई सिद्धियाँ दीं। एक वीणा भी मिली (कथा सरित्सागर के अनुसार, वह, प्राण बचाने पर, नागराज

ने दी थी)। वीणा-द्वारा हाथियों और शबरों की बहुत-सी सेना एकत्र करके उसने कौशाम्बी को हस्तगत किया और अपनी राजधानी बनाया, किन्तु बृहत्कथा के आदि आचार्य वररुचि का कौशाम्बी में जन्म होने के कारण उदयन की ओर विशेष पक्षपात-सा दिखाई देता है। अपने आख्यान के नायक को कुलीन बनाने के लिए उसने उदयन को पाण्डव-वंश का लिखा है। उनके अनुसार उदयन गाण्डीवधारी अर्जुन की सातवी पीढ़ी में उत्पन्न सहस्रानीक का पुत्र था। बौद्धों के मतानुसार 'परन्तप' के क्षेत्रज पुत्र उदयन की कुलीनता नही प्रकट होती; परन्तु वररुचि ने लिखा है कि इन्द्रप्रस्थ नष्ट होने पर पाण्डव-वंशियों ने कौशाम्बी को राजधामी बनाया। वररुचि ने यों सहस्रानीक से कौशाम्बी के राजवंश का आरम्भ माना है। कहा जाता है, इसी उदयन ने अवन्तिका को जीतकर उसका नाम उदयपुरी या उज्जयन-पुरी रखा। कथा-सरित्सागर में उदयन के बाद नरवाहनदत्त का ही वर्णन मिलता है। विदित होता है, एक-दो पीढ़ी चलकर उदयन का वंश मगध की साम्राज्य-लिप्सा और उसकी रण-नीति मे अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को नहीं रख सका।

किन्तु विष्णुपुराण की एक प्राचीन प्रति मे कुछ नया शोध मिला है और उससे कुछ और नयी बातों का पता चलता है। विष्णुपुराण के चतुर्थ अंश के २१वें अध्याय में लिखा है कि "तस्यामि, जनमेजयश्रुतसेनोग्रसेनभीमसेनाः पुत्राश्चत्वारो भविष्यन्ति।१। तस्यापरः शतानीको भविष्यति योऽसौ····विषयविरक्तचित्तो ···निर्वाणमाप्स्यति।२। शतानीकादश्वमेधदत्तो भविता। तस्मादप्यधिसीमकृष्णः अधिसीमकृष्णात् निचक्षुः यो गंगयापहृते हस्तिनापुरे कौशाम्ब्याम् निवत्स्यति।"

इसके बाद १७ राजाओं के नाम है। फिर "ततोप्यपरशतानीकः तस्माच्च उदयनः उदयनादहीनरः" लिखा है।

इससे दो बातें व्यक्त होती हैं। पहली यह कि शतानीक कौशाम्बी में नहीं गये; किन्तु निचक्षु नामक पाण्डव-वंशी राजा हस्तिनापुर के गंगा में बह जाने पर कौशाम्बी गये। उनसे २९वीं पीढ़ी में उदयन हुए। सम्भवतः उनके पुत्र अहीनर का ही नाम कथा-सरित्सागर मे नरवाहनदत्त लिखा है।

दूसरी यह कि शतानीक इस अध्याय में दोनों स्थान पर 'अपरशतानीक' करके लिखा गया है। 'अपरशतानीक' का विषय-विरागी होना, विरक्त हो जाना लिखा है। सम्भवतः यह शतानीक उदयन के पहले का कौशाम्बी का राजा है। अथवा बौद्धों की कथा के अनुसार इसकी रानी का क्षेत्रज पुत्र उदयन है, किन्तु वहाँ इस राजा का नाम परन्तप है। जनमेजय के बाद जो 'अपरशतानीक' आता है, वह भ्रम-सा प्रतीत होता है, क्योंकि जनमेजय ने अश्वमेध यज्ञ किया था; इसलिए जनमेजय के पुत्र का नाम अश्वमेधदत्त होना कुछ संगत प्रतीत होता है, अतएव कौशाम्बी में

इस दूसरे शतानीक की ही वास्तविक स्थिति ज्ञात होती है, जिसकी स्त्री किसी प्रकार (गरुड़ पक्षी-द्वारा) हरी गयी।[1] उस राजा शतानीक के विरागी हो जाने पर उदयगिरि की गुफा में उत्पन्न विजयी और वीर उदयन, अपने बाहुबल से, कौशाम्बी का अधिकारी हो गया। इसके बाद कौशाम्बी के सिंहासन पर क्रमशः अहीनर (नरवाहनदत्त), खण्डपाणि, नरमित्र और क्षेमक—ये चार राजा बैठे। इसके बाद कौशाम्बी के राजवंश या पाण्डव-वंश का अवसान होता है।

अर्जुन की सातवीं पीढ़ी में उदयन का होना तो किसी प्रकार से ठीक नहीं माना जा सकता, क्योंकि अर्जुन के समकालीन जरासंध के पुत्र सहदेव से लेकर, शिशुनाग-वंश से पहले के जरासंध-वंश के २२ राजा मगध के सिंहासन पर बैठ चुके हैं। उनके बाद १२ शिशुनाग-वंश के बैठे जिनमें छठे और सातवें राजाओं के समकालीन उदयन

---

१. इस स्त्री अर्थात् उदयन की माता—मृगावती के हरण का जैसा विवरण सोमदेव ने दिया है उससे 'भरन परिदीपित उदेनि वस्तु' के इस आरोप का पूरा खण्डन होता है कि यह क्षेत्रज पुत्र था। कदाचित् बौद्धों ने एक याज्ञिक सम्राटों की परम्परा के अन्तिम नक्षत्र उदयन के आभिजात्य को संदिग्ध बनाने का साहस किया हो तो आश्चर्य नही। प्रसेनजित् एवं बिम्बिसार का अनुकरण कर उदयन ने बौद्ध धर्म अङ्गीकार नही किया, यद्यपि, तथागत ने कौशाम्बी के अपने नवें चातुर्मास्य में उसको प्रभावित करने की चेष्टा अवश्य ही की होगी किन्तु, वह आयुपर्यन्त वैदिक मतावलम्बी बना रहा। सोमदेव का कथासरित्सागर उसे इन्द्रप्रस्थीय राज-परम्परा की एक औरम सन्तति बताता है। मृगावती ने कौशाम्बी में ही दोहदवती होने पर रक्त-स्नान की इच्छा की थी। राजा ने वापी को लाक्षारस से भरवा कर स्नान कराया। उस लाक्षालिप्ता मृगावती को मांस-खण्ड समझ कर गरुड़ पक्षी उठा ले गया किन्तु जीवित देख कर उसे उदय पर्वत पर छोड़ दिया जहाँ जमदग्नि के आश्रम में रक्षित रह कर उसने उदयन को जन्म दिया।

'ययाचेसाऽथ भर्त्तारं दर्शनात्तृप्तलोचनम् दोहदंरुधिरापूर्णलीलावापी निमज्जनम्' ॥
'सचेच्छापूरयन्राज्ञा लाक्षादिरसनिर्भराम् चकारधर्मिको राजावापीरक्तवृतामिव' ॥
'तस्यांस्नातामकस्माच्च लाक्षालिप्तां निपत्यताम् गरुड़ान्वयजः पक्षी जहारा ॥
मिपशंकया—जीवंतींवीक्ष्य तत्याज दैवादुदय पर्वते।' (कथामुखलम्बक)

द्रष्टव्य : 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका, भाग १७, अंक २-३, सन् १९४७ में प्रकाशित लेख 'उदयन' और नागरीप्रचारिणी पत्रिका वर्ष ५५ अंक ३, संवत् २००७ में प्रकाशित "वैदेही पुत्र अजातशत्रु और उसकी कूटनीति"—लेखक : रत्नशंकर प्रसाद। (संपादक)

थे। तो क्या एक वंश में उतने ही समय में, तीस पीढ़ियाँ हो गयीं, जितने में कि दूसरे वंश में केवल सात ही पीढ़ियाँ हुईं! यह बात कदापि मानने योग्य न होगी। संभवतः इसी विषमता को देखकर श्रीगणपति शास्त्री ने "अभिमन्योः पंचविंश संतानः" इत्यादि लिखा है। कौशाम्बी में न तो अभी विशेष खोज हुई है, और न शिलालेख इत्यादि ही मिले हैं; इसलिए सम्भव है, कौशाम्बी के राजवंश का रहस्य अभी पृथ्वी के गर्भ में ही दबा पड़ा हो।

कथा-सरित्सागर में उदयन की दो रानियों के ही नाम मिले हैं। वासवदत्ता और पद्मावती। किन्तु बौद्धों के प्राचीन ग्रन्थों में उसकी तीसरी रानी मागन्धी का नाम भी आया है। वासवदत्ता उसकी बड़ी रानी थी जो अवन्ति के चण्ड महासेन की कन्या थी। इसी चण्ड का नाम प्रद्योत भी था, क्योंकि मेघदूत में "प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे" और किसी प्रति में "चण्डस्यात्र प्रियदुहितरं वत्सराजो विजह्रे" ये दोनों पाठ मिलते हैं। इधर बौद्धों के लेखों में अवन्ति के राजा का नाम प्रद्योत मिलता है और कथा-सरित्सागर के एक श्लोक से एक भ्रम और भी उत्पन्न होता है। वह यह है—"ततश्चण्डमहासेनप्रद्योतौ पितरौ द्वयो देव्योः·····।" तो क्या प्रद्योत पद्मावती के पिता का नाम था? किन्तु कुछ लोग प्रद्योत और चण्डमहासेन को एक ही मानते है। यही मत ठीक है, क्योंकि भास ने अवन्ति के राजा का नाम प्रद्योत ही लिखा है, और वासवदत्ता में उसने यह दिखाया है कि मगधराजकुमारी पद्मावती को यह अपने लिए चाहता था। जैकोबी ने अपने वासवदत्ता के अनुवाद में अनुमान किया कि यह प्रद्योत चण्डमहासेन का पुत्र था; किन्तु जैसा कि प्राचीन राजाओं का देखा जाता है, यह अवश्य अवन्ति के राजा का मुख्य नाम था। उसका राजकीय नाम चण्डमहासेन था। बौद्धों के लेख से प्रसेनजित् के एक दूसरे नाम 'अग्निदत्त' का भी पता लगता है। बिम्बिसार 'श्रेणिक' और अजातशत्रु 'कुणीक' के नाम से भी विख्यात थे।

उदयन की दूसरी रानी पद्मावती के पिता के नाम में बड़ा मतभेद है। यह तो निर्विवाद है कि वह मगधराज की कन्या थी, क्योंकि कथा-सरित्सागर में भी यही लिखा है; किन्तु बौद्धों ने उसका नाम श्यामावती लिखा है, जिस पर मागन्धी के द्वारा उत्तेजित किये जाने पर, उदयन बहुत नाराज हो गये थे। वे श्यामावती के ऊपर, बौद्ध-धर्म का उपदेश सुनने के कारण, बहुत क्रुद्ध हुए। यहाँ तक कि उसे जला डालने का भी उपक्रम हुआ था; किन्तु भास की वासवदत्ता में इस रानी के भाई का नाम दर्शक लिखा है। पुराणों में भी अजातशत्रु के बाद दर्शक, दर्भक और वंशक—इन कई नामों से अभिहित एक राजा का उल्लेख है; किन्तु महावंश आदि बौद्ध ग्रन्थों में केवल अजातशत्रु के पुत्र उदयाश्व का ही नाम उदायिन, उदयभद्रक के रूपान्तर में मिलता है। मेरा अनुमान है कि पद्मावती अजातशत्रु की बहन थी और

भास ने संभवत: (कुणीक के स्थान में) अजात के दूसरे नाम दर्शक का ही उल्लेख किया है जैसा कि चण्डमहासेन के लिए प्रद्योत नाम का प्रयोग किया है।

यदि पद्मावती अजातशत्रु की कन्या हुई, तो इन बातों को भी विचारना होगा कि जिस समय बिम्बिसार मगध में, अपनी वृद्धावस्था में राज्य कर रहा था, उस समय पद्मावती का विवाह हो चुका था। प्रसेनजित् उसका समवयस्क था। वह बिम्बिसार का साला था; कलिंगदत्त ने प्रसेनजित् को अपनी कन्या देनी चाही थी, किन्तु स्वयं उसकी कन्या कलिंगसेना ने प्रसेन को वृद्ध देखकर उदयन से विवाह करने का निश्चय किया था। कथा सरित्सागर के मदनमञ्चुका लम्बक मे उल्लेख है —

"श्रावस्तीं प्राप्य पूर्वं च तं प्रसेनजितं नृपम् !
मृगयानिर्गतं दूराज्जरापाण्डु ददर्श सा ॥
• तमुद्यानगता सावैवत्सेशं सख्युदीरितम्।" इत्यादि

अर्थात्—पहले श्रावस्ती मे पहुँचकर, उद्यान में ठहरकर, उसने सखी के बताये हुए वत्सराज (प्रसेनजित) को, शिकार के लिए जाते समय, दूर से देखा। वह वृद्धावस्था के कारण पाण्डु-वर्ण हो रहे थे।

इधर बौद्धों ने लिखा है कि "गौतम ने अपना नवाँ चातुर्मास्य कौशाम्बी में, उदयन के राज्य-काल में, व्यतीत किया और ४५ चातुर्मास्य करके उनका निर्वाण हुआ। ऐसा भी कहा जाता है—अजातशत्रु के राज्याभिषेक के नवें या आठवें वर्ष में गौतम का निर्वाण हुआ। इससे प्रतीत होता है कि गौतम के ३५वें ३६वें चातुर्मास्य के समय अजातशत्रु सिंहासन पर बैठा। तब तक वह बिम्बिसार का प्रतिनिधि या युवराज-मात्र था; क्योंकि अजात ने अपने पिता को अलग करके, प्रतिनिधि-रूप से, बहुत दिनों तक राज्य-कार्य किया था, और इसी कारण गौतम ने राजगृह का जाना बन्द कर दिया था। ३५वे चातुर्मास्य में ९ चातुर्मास्यों का समय घटा देने से निश्चय होता है कि अजात के सिंहासन पर बैठने के २६ वर्ष पहले उदयन ने पद्मावती और वासवदत्ता से विवाह कर लिया था और वह एक स्वतन्त्र शक्तिशाली नरेश था। इन बातों को देखने से यही ठीक जँचता है कि पद्मावती अजातशत्रु की बड़ी बहन थी. और पद्मावती को अजातशत्रु से बड़ी मानने के लिए यह विवरण यथेष्ट है। दर्शक का उल्लेख पुराणों में मिलता है, और भास ने भी अपने नाटक में वही नाम लिखा है; किन्तु समय का व्यवधान देखने से—और बौद्धों के यहाँ उसका नाम न मिलने से—यही अनुमान होता है कि प्राय: जैसे एक ही राजा को बौद्ध, जैन और पौराणिक लोग भिन्न-भिन्न नाम से पुकारते है, वैसे ही दर्शक, कुणीक और अजातशत्रु—ये नाम एक ही व्यक्ति के है, जैसे बिम्बिसार के लिए विन्ध्यसेन और श्रेणिक—ये दो नाम और भी मिलते हैं। प्रोफेसर गैगर महावंश के अनुवाद में बड़ी दृढ़ता से

अजातशत्रु और उदयाश्व के बीच में दर्शक नाम के किसी राजा के होने का विरोध करते हैं। कथा-सरित्सागर के अनुसार प्रद्योत ही पद्मावती के पिता का नाम था। इन सब बातों को देखने से यही अनुमान होता है कि पद्मावती बिम्बिसार की बड़ी रानी कोसला (वासवी) के गर्भ से उत्पन्न मगध की राजकुमारी थी।

नवीन उन्नतिशील राष्ट्र मगध जिसने कौरवों के बाद महान् साम्राज्य भारत में स्थापित किया, इस नाटक की घटना का केन्द्र है। मगध को कोसल का दिया हुआ, राजकुमारी कोसला (वासवी) के दहेज में काशी का प्रान्त था, जिसके लिए मगध के राजकुमार अजातशत्रु और प्रसेनजित् से युद्ध हुआ। इस युद्ध का कारण, काशी-प्रान्त का आय-कर लेने का संघर्ष था। 'हरितमात', 'बद्धकीसूकर', 'तच्छ सूकर' जातक की कथाओं का इसी घटना से सम्बन्ध है।

अजातशत्रु जब अपने पिता के जीवन में ही राज्याधिकार का भोग कर रहा था और जब उसकी विमाता कोसलकुमारी वासवी अजात के द्वारा एक प्रकार से उपेक्षित सी हो रही थी, उस समय उसके भ्राता (कोसलनरेश) प्रसेनजित् ने उद्योग किया कि मेरे दिये हुए काशी-प्रान्त का आय-कर वासवी को ही मिले। निदान, इस प्रश्न को लेकर दो युद्ध हुए। दूसरे युद्ध में अजातशत्रु बन्दी हुआ। संभवतः इस बार उदयन ने भी कोसल को सहायता दी थी। फिर भी निकट-सम्बन्धी जानकर समझौता होना अवश्यम्भावी था, अतएव प्रसेनजित् ने मैत्री चिरस्थायी करने के लिए, और अपनी बात भी रखने के लिए, अजातशत्रु से अपनी दुहिता वाजिरा कुमारी का ब्याह कर दिया।

अजातशत्रु के हाथ से उसके पिता बिम्बिसार की हत्या होने का उल्लेख भी मिलता है। 'थुस जातक-कथा' अजातशत्रु के अपने पिता से राज्य छीन लेने के सम्बन्ध में, भविष्यवाणी के रूप में, कही गयी है। परन्तु बुद्धघोष ने बिम्बिसार का बहुत दिनों तक अधिकारच्युत होकर बन्दी की अवस्था में रहना लिखा है। और, जब अजातशत्रु को पुत्र हुआ, तब उसे 'पैतृक स्नेह' का मूल्य समझ पड़ा। उस समय वह स्वयं पिता को कारागार से मुक्त करने के लिए गया; किन्तु उस समय वहाँ महाराज बिम्बिसार की अन्तिम अवस्था थी। इस तरह से पितृहत्या का कलंक भी उस पर आरोपित किया जाता है; किन्तु कई विद्वानों के मत से इसमें सन्देह है कि अजात ने वास्तव में पिता को बन्दी बनाया था या मार डाला। उस काल की घटनाओं को देखने से प्रतीत होता है कि बिम्बिसार पर गौतम बुद्ध का अधिक प्रभाव पड़ा था। उसने अपने पुत्र का उद्धत स्वभाव देखकर जो कि गौतम के विरोधी देवदत्त के प्रभाव में विशेष रहता था, स्वयं सिंहासन छोड़ दिया होगा।

इसका कारण भी है। अजातशत्रु की माता चेल्लना (छलना) वैशाली के राजवंश की थी, जो जैन तीर्थंकर महावीर स्वामी की निकट-सम्बन्धिनी भी

थी[1]। वैशाली की वृजि-जाति (लिच्छिवि) अपने गोत्र के महावीर स्वामी का धर्म विशेष रूप से मानती थी। छलना का झुकाव अपने कुल-धर्म की ओर अधिक था। इधर देवदत्त जिसके बारे में कहा जाता है कि उसने गौतम बुद्ध को मार डालने का एक भारी षड्यन्त्र रचा था और किशोर अजात को अपने प्रभाव में लाकर राजशक्ति से भी उसमें सहायता लेना चाहता था—चाहता था कि गौतम से वह संघ में अहिंसा की ऐसी व्याख्या प्रचारित करावे जो कि जैन-धर्म से मिलती हो, और उसके इस उद्देश्य में राजमाता की सहानुभूति का भी मिलना स्वाभाविक ही था।

बौद्ध-मत में बुद्ध ने कृत, दृष्ट और उद्दिष्ट— इन्हीं तीन प्रकार की हिंसाओं का निषेध किया था। यदि भिक्षा में मांस भी मिले, तो वर्जित नहीं था। किन्तु देवदत्त यह चाहता था कि 'संघ में यह नियम हो जाय कि कोई भिक्षु मांस खाये ही नहीं।' गौतम ने ऐसी आज्ञा नहीं प्रचारित की। देवदत्त को धर्म के बहाने छलना की सहानुभूति मिली और बड़ी रानी तथा बिम्बिसार के साथ, जो बुद्ध-भक्त थे, शत्रुता की जाने लगी।

इसी गृह-कलह को देखकर बिम्बिसार ने स्वयं सिंहासन त्याग दिया होगा और राजशक्ति के प्रलोभन से अजात को अपने पिता पर सन्देह रखने का कारण हुआ होगा, और विशेष नियन्त्रण की भी आवश्यकता रही होगी। देवदत्त और अजात के कारण गौतम को कष्ट पहुँचाने का निष्फल प्रयास हुआ। सम्भवतः इसी से अजात की क्रूरताओं का बौद्ध-साहित्य में बड़ा अतिरञ्जित वर्णन मिलता है।

कोसल-नरेश प्रसेनजित् के—शाक्य-दासी-कुमारी के गर्भ से उत्पन्न—कुमार का नाम विरुद्धक था। विरुद्धक की माता का नाम जातकों में बासभखत्तिया मिलता है (उसी का कल्पित नाम शक्तिमती है)। प्रसेनजित् अजात के पास सहायता के लिए राजगृह आया था, किन्तु 'भद्दसाल-जातक' में इसका विस्तृत विवरण मिलता है कि विद्रोही विरुद्धक गौतम के कहने पर फिर से अपनी पूर्व मर्यादा पर अपने पिता के द्वारा अधिष्ठित हुआ। इसने कपिलवस्तु का जनसंहार इसलिए चिढ़कर किया था कि शाक्यों ने धोखा देकर प्रसेनजित् से शाक्य-कुमारी के बदले एक दासी-कुमारी से

---

१. त्रिशला (विदेहदत्ता, प्रियकारिणी नाम भी मिलते हैं) तीर्थंकर महावीर की माता थी। उसके भाई और लिच्छिवि-राजा चेटक की पुत्री चेल्लना थी जो बिम्बिसार की छोटी रानी और अजातशत्रु की माता थीं। उसी का दूसरा नाम कूणिका रहा। अतएव, यथापरम्परा कूणिका से उत्पन्न अजातशत्रु कुणीक कहा जाता था। इस प्रसंग में अवलोक्य है जैकोबी द्वारा सम्पादित जैन सूत्राज़, सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट, जिल्द २२, पृ० १९३ : निरयावली सूत्र : कथाकोश।

(सम्पादक)

ब्याह कर दिया था, जिससे दासी-संतान होने के कारण विरुद्धक को अपने पिता के द्वारा अपदस्थ होना पड़ा था। शाक्यों के संहार के कारण बौद्धों ने इसे भी क्रूरता का अवतार अंकित किया है। 'भद्दसाल-कथा' के सम्बन्ध में जातक में कोसल-सेनापति बन्धुल और उसकी स्त्री मल्लिका का विशद वर्णन है। इस बन्धुल के पराक्रम से भीत होकर कोसल-नरेश ने इसकी हत्या करा डाली थी और इसका बदला लेने के लिए उसके भागिनेय दीर्घकारायण ने प्रसेनजित् से राजचिह्न लेकर क्रूर विरुद्धक को कोसल के सिंहासन पर अभिषिक्त किया।

प्रसेन और विरुद्धक सम्बन्धिनी घटना का वर्णन 'अवदान-कल्पलता' में भी मिलता है। बिम्बिसार और प्रसेन दोनों के पुत्र विद्रोही थे और तत्कालीन धर्म के उलट-फेर में गौतम के विरोधी थे। इसीलिए इनका क्रूरतापूर्ण अतिरञ्जित चित्र बौद्ध-इतिहास मे मिलता है। उस काल के राष्ट्रों के उलट-फेर में धर्म के दुराग्रह ने भी सम्भवतः बहुत-सा भाग लिया था।

मागन्धी (श्यामावती) जिसके उकसाने से पद्मावती पर उदयन बहुत असन्तुष्ट हुए थे, ब्राह्मण-कन्या थी, जिसको उसके पिता गौतम से ब्याहना चाहते थे, और गौतम ने उसका तिरस्कार किया था। इसी मागन्धी को और बौद्धों के साहित्य मे वर्णित आम्रपाली (अम्बपाली) को हमने कल्पना द्वारा एक मे मिलाने का साहस किया है। अम्बपाली पतिता और वेश्या होने पर भी गौतम के द्वारा अन्तिम काल मे पवित्र की गयी। (कुछ लोग जीवक को इसी का पुत्र मानते है)। लिच्छवियों का निमन्त्रण अस्वीकार करके गौतम ने उसकी भिक्षा ग्रहण की थी। बौद्धो की श्यामावती, वेश्या आम्रपाली, मागन्धी और इस नाटक की श्यामा वेश्या का एकत्र संघटन, कुछ विचित्र तो होगा; किन्तु चरित्र का विकास और कौतुक बढ़ाना ही इसका उद्देश्य है।

सम्राट् अजातशत्रु के समय में मगध साम्राज्य-रूप मे परिणत हुआ; क्योंकि अंग और वैशाली का इसने स्वयं विजय किया था और काशी अब निर्विवाद रूप से उसके अधीन हो गयी थी। कोसल भी इसका मित्रराष्ट्र था। उत्तरीय भारत मे यह इतिहास-काल का प्रथम सम्राट् हुआ। मथुरा के समीप परखम गाँव मे मिली हुई अजातशत्रु की मूर्ति देखकर मिस्टर जायसवाल की सम्मति है कि अजातशत्रु ने सम्भवतः पश्चिम में मथुरा तक भी विजय किया था।[1]



---

१. इस परखम-प्रतिमा को कनिंघम किसी यक्ष की प्रतिमा मानते थे। श्री जायसवाल ने उस पर टंकित लेख का पाठ-शोध करते हुए उसे अजातशत्रु कुणीक की

प्रतिमा सिद्ध किया। बिहार एवं उड़ीसा रिसर्च सोसायटी की पत्रिका (खण्ड ५, सन् १९१९, पृ० ५५०) में उन्होने विश्लेषणपूर्वक उक्त लेख का पाठोद्धार "निमद प्रशेनि अज (ा) सत्रु राजो (सि) (रि) र कुणीक शेवासिनागो माग (धा) नं राजा" के रूप मे किया है। स्टेनकोनो (इं० ऐंटि १९०९; पृ० १४०), राम प्रसाद चन्द्रा (इ० ऐंटि० १९१९, पृ० २१-२३), ओ० सी० गांगुली (माडर्न रिव्यू, १९१९) और वोगल (कैटेलाग ऑफ मथुरा म्यू०, पृ० ८३) के भी उक्त प्रतिमा विषयक शोध प्रकाश मे आए, जिनका समुचित उत्तर श्री जायसवाल ने बि० उ० रि० सो० पत्रिका (खण्ड ६, भाग २, पृ० १७३—२०४, सन् १९२०) मे दिया है। इससे उनकी स्थापना निश्चय ही पुष्ट सिद्ध हुई। म० म० डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका मे और म०म० हर प्रसाद शास्त्री ने बि० उ० रि० पत्रिका (जिल्द ५, भाग ४, पृ० ५५२-६३) मे उनकी स्थापना का विस्तार पूर्वक समर्थन किया। कनिंघम के उक्त प्रतिमा को यक्ष-प्रतिमा कहने से स्टेनकोनो प्रभृति विद्वानो को भ्रम हुआ। कनिंघम ने उसे देव-पूजा की प्रतिमा के रूप में ईंगुर-सिंदूर लगी हुई पाया और ग्रामीण जनश्रुति के आधार पर तथा कुछ पूर्व निर्धारित मतो से प्रभावित होकर यक्ष मान लिया। न तो टंकित लेख का शोध किया, न उसके ऐतिहासिक महत्व की ओर ध्यान दिया। आधारवेदी के अगले भाग का लेख भी उनकी दृष्टि मे नहीं आया। उनके सामने तो उस समय की यही प्रबल धारणा थी कि भारत मे यवन-आक्रामकों के साथ ही मूर्तिकला का प्रवेश हुआ। किन्तु यह मत भ्रमपूर्ण था, क्योंकि ऋग्वेद के साम्यायन ब्राह्मण मे प्रतिमाओ का उल्लेख है (यदिडामुपह्वयते यन्मार्जते.... पाणी प्रतिच्छेद तस्मै हिरण्मयो प्रतिदधुस्तरमाद्धिरण्यपाणिरिति) तथा उसी ब्राह्मण म रात्रि, कालदेव आदि की प्रतिमाओ का भी उल्लेख है। और भी, शुंगकाल मे खारवेल अपनी प्रशस्ति (कुमारी पर्वत अर्थात् खण्डगिरि उदयगिरि, उड़ीसा, ई० पू० १७५) मे कलिंग की उस जिन मूर्त्ति का उल्लेख करता है (ना० प्र० पत्रिका, भाग ८, पृ० २१६) जिसे नन्द ४५८ ई० पू० पाटलिपुत्र ले गया। महावीर निर्वाण के कुछ दशको बाद ही भारतीय प्रतिमाओं का यह भौतिक प्रमाण तथा परखम मूर्ति का प्रौढ कलापूर्ण वस्त्रविन्यास आदि सूचित करते है कि भारत में यह कला उस समय (बुद्धकाल मे) उन्नत थी। अवश्य ही उसे प्रौढ़ होने मे कम समय न लगा होगा और वह प्रतीकोपासना के साथ-साथ बहुत पहले चली होगी, जब कि अन्य बहुत-सी सभ्यताये भविष्य के गर्भ में रही, ऐसा नही कि उसका आयात विदेशी आक्रामकों के द्वारा हुआ।

युवानच्वाङ्ग तो शाक्यो मे प्रचलित ईश्वरदेव की प्रतिमा की उपासना का भी विवरण देता है (वाटर्स ऑफ युवानच्वाङ्ग, जिल्द २, पृ० १३)। अस्तु पाश्चात्य विद्वान् कनिंघम की उक्त मान्यता से प्रभावित होकर अपने भ्रामक मतो की पुष्टि का प्रयास करते थे और पाश्चात्य स्थापनाओ पर अपने सिद्धान्तो को जीवित रखने वाले आधुनिक विद्वान् भी (सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृ० ९५) अब तक उस भ्रम का आदर करते हैं। पर यह अयुक्त है और परखम प्रतिमा कुणीक की है जिसने पश्चिम मे मथुरा तक मगध-साम्राज्य को विस्तृत किया।

(सम्पादक)



जनमेजय का नागयज्ञ

(प्राक्कथन)

इस नाटक की कथा का सम्बन्ध एक बहुत प्राचीन स्मरणीय घटना से है। भारतवर्ष में यह एक प्राचीन परम्परा थी कि किसी क्षत्रिय राजा के द्वारा कोई ब्रह्महत्या या भयानक जनक्षय होने पर उसे अश्वमेध यज्ञ करके पवित्र होना पड़ता था। रावण को मारने पर श्री रामचन्द्र ने तथा और भी कई बड़े-बड़े सम्राटों ने इस यज्ञ का अनुष्ठान करके पुण्य लाभ किया था। कलियुग के प्रारम्भ में पाण्डवों के बाद परीक्षित के पुत्र जनमेजय एक स्मरणीय शासक हो गये है। भारत के शान्ति पर्व, अध्याय १४० में लिखा हुआ मिलता है कि सम्राट् जनमेजय से अकस्मात् एक ब्रह्महत्या हो गई, जिस पर उन्हें प्रायश्चित-स्वरूप अश्वमेध यज्ञ करना पड़ा। शतपथब्राह्मण (१३–५–४–१) से पता चलता है कि इन्द्रोत देवाप शौनक उस अश्वमेध में आचार्य थे और जनमेजय का अश्वमेध-यज्ञ इन्ही ने कराया था। महाभारत में भी इन्ही आचार्य का उल्लेख है। इस अश्वमेध-यज्ञ में कुछ ऐसे विघ्न उपस्थित हुए, जिनके कारण जनमेजय को शौनक से कहना पड़ा—

अद्य प्रभृति देवेन्द्रमजितेन्द्रियमस्थिरम्।
क्षत्रिया वाजिमेधेन न यक्ष्यन्तीति शौनकः॥
दौर्बल्यं भवतामेतत् यदयंधर्षितः ऋतुः।
विषयेमेन वस्तव्यं गच्छध्वं सहबान्धवैः॥

(हरिवंश, भविष्य पर्व, अ० ५)

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के तीसरे प्रकरण में लिखा है—

कोपाज्जन्मेजयो ब्राह्मणेषु विक्रान्त.

क्षत्रिय सम्राट् जनमेजय ने अपने राजदण्ड के बल से एक प्राचीन प्रथा बहुत दिनों के लिए बन्द कर दी। इसमें कश्यप पुरोहित का भी बहुत कुछ हाथ था। इसका प्रमाण भी मिलता है। आस्तीक पर्व के पचासवें अध्याय से इस घटना का एक सूत्र मिलता है कि काश्यप यदि चाहते, तो परीक्षित को तक्षक न मार सकता; और जनमेजय को एक लकड़हारे की साक्षी से इसका प्रमाण दिलाया गया था। ऐतरेयब्राह्मण ७-२७ में इसी घटना का इस प्रकार उल्लेख है कि जब पारीक्षित-

जनमेजय ने यज्ञ करना चाहा, तब काश्यप पुरोहितो को छोड दिया। इसपर असितागिरस काश्यप ने बडा आन्दोलन किया कि हमही पुरोहित बनाए जायं। सम्भवत इसी कारण तुर कावषेय ऋषि ने जनमेजय का ऐन्द्रमहाभिषेक कराया था। (देखिये ऐतरेयब्राह्मण ९-२१)। इन प्रमाणो के देखने से यह विदित होता है कि अर्थलोलुप काश्यप ने इस यज्ञ मे विघ्न डाला, और खाण्डवदाह से निर्वासित नागो का विद्रोह आरम्भ हुआ, जिसमे काश्यप का भी छिपा हुआ हाथ होना असम्भव नही। कुल बातो को मिलाकर देखते से यही विदित होता है कि जनमेजय के विरुद्ध एक भारी षड्यन्त्र चल रहा था।

आदि पर्व के पौष्य पर्व (अक ३) से विदित होता है कि जब जनमेजय पर कृत्या और विपत्ति आई, तब उन्होने नाग-कन्या से उत्पन्न सोमश्रवा को बडी प्रार्थना से अपना पुरोहित बनाया और आसन्न नाग-विद्रोह तथा भीतरी षड्यन्त्रो से बचने के लिए उन्हे अत्यन्त प्रयत्नशील होना पडा। नागो ने ब्राह्मणो से सम्बन्ध स्थापित कर लिया था, और इसी कारण वे बलवान् होकर अपने गये हुए राज्य का पुनरुद्धार करना चाहते थे। नाग-जाति भारतवर्ष की एक प्राचीन जाति थी जो पहले सरस्वती के तट पर रहती थी। (आदि पर्व, १४०) भरत जाति के क्षत्रियो ने उन्हे वहाँ से खाण्डव वन की ओर हटाया। खाण्डव मे भी वे अर्जुन के कारण न रहने पाये। खाण्डव-दाह के समय नाग जाति के नेता तक्षक निकल भागे। महाभारत युद्ध के बाद उन्मत्त परीक्षित ने शृगी-ऋषि, ब्राह्मण का अपमान किया, और तक्षक ने काश्यप आदि से मिल कर आर्य-सम्राट् परीक्षित की हत्या की। उन्ही के पुत्र जनमेजय के राज्य-प्रारम्भ-काल मे आर्य जाति के भक्त उत्तङ्क ने बाह्य और आभ्यतर कुचक्रो का दमन करने के लिए जनमेजय को उत्तेजित किया। आर्य युवको के अत्यन्त उत्साह से अनेक आभ्यन्तर विरोध रहते हुए भी नवीन साम्राज्य की रक्षा की गयी। श्रीकृष्ण द्वारा सम्पादित नवीन महाभारत-साम्राज्य की पुनर्योजना जनमेजय के प्रचण्ड विक्रम और दृढ शासन से हुई थी। सदैव से लडने वाली इन दो जातियो मे मेल-मिलाप हुआ, जिससे हजारो वर्षो तक आर्य साम्राज्य मे भारतीय प्रजा फूलती-फलती रही। बस, इन्ही घटनाओ के आधार पर इस नाटक की रचना हुई है।

इस नाटक के पात्रो मे कल्पित केवल चार-पाँच है। पुरुषो मे माणवक और त्रिविक्रम तथा स्त्रियो मे दामिनी और शीला आदि। जहाँ तक हो सका है, इसके आख्यान भाग मे भारत काल की ऐतिहासिकता की रक्षा की गई है, और इन कल्पित चार पात्रो से मूल घटनाओ का सम्बन्ध-सूत्र जोडने का ही काम लिया गया है। इनमे से वास्तव मे दो-एक का केवल नाम ही कल्पित है, जैसे वेद की

पत्नी दामिनी। उनके चरित्र और व्यक्तित्व का भारत-इतिहास में बहुत कुछ अस्तित्व है।

कुकुरी सरमा भी जनमेजय की प्रधान शत्रु थी, जिसके पुत्र को जनमेजय के भाइयों ने पीटा था। महाभारत और पुराणों के देखने से विदित होता है कि यादवों की कुकुर नाम की एक शाखा थी। सम्भवत सरमा उन्ही यादवियो में से थी जो दस्युओं द्वारा अर्जुन के सामने हरण की गयी थी। तात्पर्य यह कि इस नाटक में ऐसी कोई घटना समाविष्ट नही है जिसका मूल भारत और हरिवंश में न हो। घटनाओं की परम्परा ठीक करने मे नाटकीय स्वतन्त्रता से अवश्य कुछ काम लेना पड़ा है, परन्तु उतनी से अधिक नही, जितनी किसी ऐतिहासिक नाटक लिखने में ली जा सकती है।



स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य

(परिचय)

इस नाट्य-रचना का आधार दो मन्तव्यों पर स्थिर किया गया है; जिनके सम्बन्ध मे हमें कुछ कहना है—पहला यह कि उज्जयिनी का पर-दुःख-भंजक विक्रमादित्य, गुप्त-वंशीय स्कन्दगुप्त था और दूसरा यह कि मातृगुप्त ही दूसरा कालिदास था, जिसने 'रघुवश' आदि काव्य बनाये।

स्कन्दगुप्त का विक्रमादित्य होना तो प्रत्यक्ष प्रमाणो से सिद्ध होता है। शिप्रा से तुम्बी मे जल भरकर ले आनेवाले और चटाई पर सोनेवाले उज्जयिनी के विक्रमादित्य स्कन्दगुप्त के ही साम्राज्य के खण्डहर पर भोज के परमार पुरखों ने मालव का नवीन साम्राज्य बनाया था। परन्तु मातृगुप्त के कालिदास होने मे अनुमान का विशेष सम्बन्ध है। हो सकता है कि आगे चलकर कोई प्रत्यक्ष प्रमाण भी मिल जाय, परन्तु हमे उसके लिए कोई आग्रह नही। इसलिए हमने नाटक मे मातृगुप्त का ही प्रयोग किया है। मातृगुप्त का काश्मीर का शासन और तोरमाण का समय तो निश्चित-सा है। विक्रमादित्य के मरने पर उसका दिया काश्मीर-राज्य वह छोड़ देता है और वही समय सिंहल के कुमार धातुसेन का निर्धारित होता है। इसलिए नाटक में धातुसेन भी एक पात्र है।[1] बन्धुवर्मा, चक्रपालित, पर्णदत्त, शर्वनाग, भटार्क, पृथ्वीसेन, खिंगिल, प्रख्यातकीर्ति, भीमवर्मा **(इसका शिलालेख कौशांबी में मिला है)** गोविन्दगुप्त आदि सभी ऐतिहासिक व्यक्ति हैं।

इसमे प्रपंचबुद्धि और मुद्गल कल्पित पात्र है स्त्री-पात्रो मे स्कन्द की जननी का नाम मैंने देवकी रखा है। स्कन्दगुप्त के एक शिलालेख मे—**'हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेत'** मिलता है। सम्भव है कि स्कन्द की माता के नाम—देवकी से ही—कवि को यह उपमा सूझी हो। अनन्तदेवी का तो स्पष्ट उल्लेख पुरगुप्त की माता के रूप मे मिलता है। यही पुरगुप्त स्कन्दगुप्त के बाद शासक हुआ है। देवसेना और जयमाला वास्तविक और काल्पनिक पात्र—दोनो ही हो सकते है। विजया, कमला, रामा और मालिनी जैसी किसी दूसरी नामधारिणी स्त्री की भी उस काल मे सम्भावना है, तब भी ये कल्पित हैं। पात्रों की ऐतिहासिकता के विरुद्ध चरित्र की

---

१. कुमार दास के रूप मे धातुसेन आया है (सं०)

सृष्टि—जहाँ तक सम्भव हो सका, नहीं होने दी गयी है, फिर भी कल्पना का अवलम्ब लेना ही पड़ा—केवल घटना की परम्परा ठीक करने के लिए।

विक्रमादित्य

जिसके नाम से विक्रमीय संवत् का प्रचार है, भारत के उस आबाल-वृद्ध परिचित, प्रसिद्ध विक्रमादित्य का ऐतिहासिक अस्तित्व कुछ विद्वान् लोग स्वीकार नहीं करते। इसके कई कारण हैं। इसका कोई शिलालेख नहीं मिलता। विक्रमीय संवत् का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में नहीं है। स्वयं मालव में अति प्राचीनकाल से एक मालव-संवत् का प्रचार था। जैसे—**'मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये'**—इत्यादि। इसलिए कुछ विद्वानों का मत है कि गुप्तवंशीय प्रतापी द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही असली विक्रमादित्य था, उसी ने सौराष्ट्र के शकों को पराजित किया और प्रचलित मालव-संवत् के साथ अपनी 'विक्रम' उपाधि जोड़कर विक्रमीय-संवत् का प्रचार किया।

परन्तु यह मत निस्सार है; क्योंकि चन्द्रगुप्त द्वितीय का नाम तो चन्द्रगुप्त था, पर उपाधि विक्रमादित्य थी, उसने सौराष्ट्र के शकों को पराजित किया। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि शकारि होना विक्रमादित्य होने के लिए आवश्यक था चन्द्रगुप्त द्वितीय के शकारि होने का हम आगे चलकर विवेचन करेंगे। पर चन्द्रगुप्त उज्जयिनी-नाथ न होकर पाटलिपुत्र के थे। उनके शिलालेखों में गुप्त-संवत् व्यवहृत है, तब वह दो संवतों के अकेले प्रचारक नहीं हो सकते। विक्रमादित्य उनकी उपाधि थी—नाम नहीं था। इन्हीं के लिए 'कथासरित्सागर' में लिखा है—**"विक्रमादित्य-इत्यासीद्राजा पाटलिपुत्रके"** सिकन्दरसानी और आलमगीरसानी के उदाहरण पर मानना होगा कि जिसकी ऐसी उपाधि होती है उसके पहले उस नाम का कोई व्यक्ति भी हो चुका होता है। चन्द्रगुप्त का राज्यकाल ३८५-४१३ ईसवीय तक माना जाता हैं। तब यह भी मानना पड़ेगा कि ३८५ के पहले कोई विक्रमादित्य हो गया है, जिसका अनुकरण करने पर उक्त गुप्तवंशीय सम्राट् चन्द्रगुप्त ने विक्रमादित्य की उपाधि से अपने को विभूषित किया। तख्तेबाही के शिलालेख का जो गोंडोफोरस का है, काल १०३ ईसवीय है। तत्कालीन इसाई कथाओं के आधार पर जो समय उसका निर्धारित होता है, उससे वह विक्रमीय संवत् ही ठहरता है। तब यह भी स्थिर हो जाता है कि उस प्राचीनकाल में शक-संवत् के अतिरिक्त, एक संवत् का प्रचार था—और वह विक्रमीय था। मालव लोग उसके व्यवहार में 'मालव' शब्द का प्रयोग करते थे।

चन्द्रगुप्त का शक-विजय

कहा जाता है, गुप्तवंशीय सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने मालव और सौराष्ट्र

के पश्चिमी क्षत्रपों को पराजित किया, जो शक थे। इसलिए यही चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य था। सौराष्ट्र में रुद्रसिंह तृतीय के बाद किसी के सिक्के नहीं मिलते; इसलिए यह माना जाता है कि इसी चन्द्रगुप्त ने रुद्रसिंह को पराजित करके शकों को निर्मूल किया। पर, बात कुछ दूसरी है। चन्द्रगुप्त के पिता समुद्रगुप्त ने ही भारत की विजय-यात्रा की थी। हरिषेण की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि आर्य्यावर्त्त के विजित राजाओं में एक-एक नाम रुद्रदेव[1] भी है। सम्भवतः यही रुद्रदेव स्वामी रुद्रसेन था, जो सौराष्ट्र का भी क्षत्रप था। जब यह विजय समुद्रगुप्त की थी, फिर चन्द्रगुप्त ने किन शकों को निर्मूल किया? चन्द्रगुप्त का शिलालेख बेतवा और यमुना के पश्चिमी तट पर नहीं मिला। समुद्रगुप्त के शिलालेख से प्रकट होता है कि उसी ने विजय-यात्रा में राजाओं को भारतीय पद्धति के अनुसार पराजित किया। तात्पर्य, कुछ लोगों से नियमित 'कर' लिया इत्यादि। चन्द्रगुप्त के पहले ही यह सब हो चुका था, वस्तुतः वे सब शासन में स्वतन्त्र थे। तब कैसे मान लिया जाय कि सौराष्ट्र और मालव में शकों को चन्द्रगुप्त ने निर्मूल किया, जिसका उल्लेख स्वयं चन्द्रगुप्त के किसी भी शिलालेख में नहीं मिलता। गुप्तवंशियों की राष्ट्रनीति सफल हुई, वे भारत के सम्राट् माने जाने लगे। पर स्वयं चन्द्रगुप्त का समकालीन नरवर्मा **(गंगधार के शिलालेख में)** और वह भी मालव का, स्वतन्त्र नरेश माना जाता है। फिर मालव-चक्रवर्ती उज्जयिनीनाथ विक्रमादित्य और सम्राट् चन्द्रगुप्त, जो मगध और कुसुमपुर के थे, कैसे एक माने जा सकते हैं? चन्द्रगुप्त का समय ४१६ ई० तक है। इधर मन्दसोर वाले ४२४ ई० के शिलालेख में विश्ववर्मा और उसके पिता नरवर्मा स्वतन्त्र मालवेश हैं। यदि मालव गुप्तों के अधीन होता तो अवश्य किसी गुप्त राजाधिराज का उसमें उल्लेख होता; जैसा कि पिछले शिलालेख में—**जो ४३७ ई० का है**—कुमारगुप्त का उल्लेख है—**'वनांतवांतस्फुटपुष्पहासिनीं कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति'**। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि चन्द्रगुप्त का सम्पूर्ण अधिकार मालव पर नहीं था, वह उज्जयिनीनाथ नहीं थे, उनकी उपाधि विक्रमादित्य थी। तब उनके पहले एक विक्रमादित्य—३७५ में पूर्व हुए थे। हमारे प्राचीन लेखों में भी इस प्रथम विक्रमादित्य का अनुसंधान मिलता है। गाथा सप्त-

१. रुद्रदेव-मत्तिल-नागदत्त-चन्द्रवर्मा-गणपतिनाग-नागसेनाच्युतनन्दि - बलवर्मा द्यनेकार्य्यावर्त्त-राज प्रसभोद्धरणोद्धृत प्रभावमहतः परिचारिकी कृत सर्व्वाटविक-राजस्य।

कुमारामात्य हरिषेण द्वारा रचित और महादण्डनायक तिलभट्ट द्वारा प्रतिष्ठित समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में इलाहाबाद-स्तम्भलेख की इक्कीसवीं पंक्ति : भंडारकर सूची सं० १५३८। (सं०)

शती'—एक प्राचीन, गाथाओं का संग्रह—'हाल' भूपति के नाम से उपलब्ध है। पैठन में इसकी राजधानी थी। इसका समय ईसवीय सन् की पहली शताब्दी है। महापहोपाध्याय पंडित दुर्गाप्रसाद ने अभिनन्द के रामचरित से—**हालेनोत्तम पूजयाकविवृष श्रीपालितो लालितः ख्यातिं कामपि कालिदास कवयो नीता शकारातिना**—उद्धृत करते माना है कि श्रीपालित ने अपने राजा 'हाल' के लिए यह 'गाथा सप्तशती' बनायी। इसमें एक गाथा पाँचवे शतक की है--

संवाहण सुहरस तोसिएण देन्तेह तुहकरे लक्खम्।
चलणेण विक्कमादित्त चरितं अणु सिक्खिअंतिस्सा ॥ ६४ ॥

ईसा-पूर्व पहली शताब्दी में एक विक्रमादित्य हुए, इसके मानने का यह एक प्रमाण है। जैन-ग्रंथ कालकाचार्य-कथा में उज्जयिनी-नाथ विक्रम का मध्यभारत के शकों को परास्त करना लिखा है। प्रबन्धकोष में लिखा है कि महावीर स्वामी के मोक्ष पाने पर ४७३ वर्ष बाद विक्रमादित्य हुए। भारत की परम्परागत कथाओं में प्रसिद्ध है कि विक्रमादित्य गन्धर्वसेन का पुत्र था। टाड ने राजस्थान के राजकुलों का वर्णन करते हुए यह लिखा है कि तुअरवंश पाण्डव वंश की एक शाखा है, जिसमें संवत् प्रचारक विक्रम और अनंगपाल का जन्म हुआ था। प्राचीन ऐतिहासिक ग्रंथ 'राजावली' मे दिल्ली के राजाओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि दिल्ली के राजा राजपाल का राज्य कुमायूँ के पहाड़ी राजा शुकवन्त ने छीन लिया। उसे विक्रमादित्य ने मारकर दिल्ली का उद्धार किया। इधर प्रसिद्ध विद्वान् स्मिथ ने लिखा है कि ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी में शकों का उत्थान हुआ जो भारत में उसी के लगभग घुसे।

'Branches of the Barbarian stream which penetrated the Indian passes, deposited, settlements at Taxila in the Punjab and Mathura on the Jamuna.

Yet another section of the horde at a later date perhaps about middle of the first century after Christ pushed on southwards and occupied the peninsula of Sourashtra or Kathiawar, founding a 'sak' dynasty which lasted until it was destroyed by Chadragupta about A. D. 390 The Satraps of Mathura were closely connected wito those of Taxila and belong to the same period about 50 B. C. or later.'

पिछली शक-शाखा के संवंध में, जो सौराष्ट्र गई, यहाँ कहा जा रहा है कि चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने उसे निर्मूल किया, पर वास्तव मे ३८५ ई० तक समुद्रगुप्त जीवित थे और उन्हीं के समय मे ३८२ ई० तक के शक सिक्के मिलते हैं। बाद के

सिक्के बिना संवत् के हैं। इससे प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त के सामने क्षत्रपों का प्रताप निस्तेज हुआ, फिर बिना संवत् के सिक्के वहाँ प्रचलित हुए। तात्पर्य,'उक्त समुद्रगुप्त के समय ३८५ ई० के पूर्व ही सौराष्ट्र की शकशाखा का ह्रास हुआ। चंद्रगुप्त का राज्यारोहण काल ३८० ई० मानते हैं। परन्तु उसका सबसे पहला शिलालेख उदयगिरि का गुप्त संवत् ८२ (ई० ४०१) का मिलता है। सौराष्ट्र के जो सिक्के चंद्रगुप्त के माने जाते है वे गुप्त संवत् ९० (ई० ४०९) के हैं, इसके पहले के नहीं। शक क्षत्रपों के अंतिम सिक्कों का समय ३११-३८९ ई० है।'[1] अच्छा, इन सिक्कों के बाद (३८९ से लेकर ४०९ ई०) २० वर्ष तक किन सिक्कों का प्रचार रहा, क्योंकि चंद्रगुप्त के सिक्कों के देखने से उसका सौराष्ट्र-विजय ४०९ ई० से पहले का नही हो सकता **(जब के उसके सिक्के हैं)** फिर इधर उदयगिरि वाला लेख भी ई० ४०१ के पहले का नही है। तब यह महज ही अनुमान किया जा सकता है कि चंद्रगुप्त का राज्यारोहण-काल ४०० ई० के समीप होगा। परन्तु ३८९ ई० तक के शक-क्षत्रपों के सिक्कों के मिलने के कारण चंद्रगुप्त को ही शकारि विक्रमादित्य प्रमाणित करने के लिए चंद्रगुप्त का राज्यारोहण-काल ३८५ या ३८० ई० में मान लिया जाता है जिसमें सौराष्ट्र-विजय का श्रेय उसी को मिले। वास्तव मे समुद्रगुप्त के ही समय में शक-विजय हुआ। हरिषेण की विजय-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के द्वारा पराजित राजाओं की नामावली में रुद्रदेव का भी उल्लेख है और रुद्रदेव सौराष्ट्र के शक क्षत्रपों में रहा होगा। चंद्रगुप्त ने भी पिता के अनुकरण पर विजय-यात्रा की थी, जैसा कि उसके उदयगिरि वाले शिलालेख से स्पष्ट है परन्तु उसके शासन-काल में मालव स्वतंत्र था। समुद्रगुप्त के बाद मालव और सौराष्ट्र स्वतंत्र राष्ट्र गिने जाते थे। गंगधार और मंदसोर के दोनों शिलालेखों की देखने से सूचित होता है कि नरवर्मा और विश्ववर्मा मालव के स्वतंत्र नरेश थे। कुमार गुप्त के समय मे बंधुवर्मा ने संभवतः ४२४-४३७ ई० के बीच गुप्त-साम्राज्य के अधीन होना स्वीकार किया।

चंद्रगुप्त के शक-विजय का उल्लेख बाणभट्ट ने भी किया है—'**अरिपुरे परकलत्रकामुकं कामिनीवेशश्चन्द्रगुप्तः शकनरपतिं अशातयत्**।' यह शक विजय किस प्रांत में हुआ, इसका ठीक उल्लेख नही पर कुछ लोग अनुमान करते हैं कि कुशानों के दक्षिणी शक-क्षत्रप से ४०० ई० के समीप प्रतिष्ठान का उद्धार चंद्रगुप्त ने किया। जब, आंध्र राजाओं से लड-झगड़ कर वे शक क्षत्रप स्वतंत्र हो गये थे तब

---

१. Ropson, catalogue, 194 F., No. 907 (राज्ञः महाक्षत्रपस्य स्वामि-सत्यसिंहस्य पुत्रस्य राज्ञ. महाक्षत्रपस्य स्वामि **रुद्रसिंहस्य**) तुलनीय – इलाहाबाद स्तम्भलेख का रुद्रदेव प्रथम और इससे भिन्न है। (सं०)

चंद्रगुप्त ने दक्षिण के उन स्वतंत्र शकों को पराजित करने के लिये जिस उपाय का अवलंबन किया था—उसका उल्लेख 'कथा सरित्सागर' की चौथी तरंग से भी प्रकट है। **(अवलोक्य 'ध्रुवस्वामिनी' एकांकी 'प्रसाद'। सं०)**

मथुरा के शक-शासकों का नाश, जो शकों की पहली शाखा के थे, किसने किया—इस संबंध में इतिहास चुप है। राजबुल, षोडाश और खरंओष्ठ नाम के तीन शक नरेशों के ईसा पूर्व पहली शताब्दी में मथुरा पर शासन करने का उल्लेख स्पष्ट मिलता है। षोडाश ने आर्य-शासक रामदत्त से दिल्ली और मथुरा छीनकर शक-राज्य प्रतिष्ठित किया था। 'राजावली' में इसका उल्लेख है कि विक्रमादित्य ने पहाड़ी राजा शुकवंत से दिल्ली का उद्धार किया। शुकवंत संभवतः विदेशी षोडाश का ही विकृत नाम हैं, क्योंकि ईसा की पहली शताब्दी के बाद उस प्रांत में उन शकों का शासन निर्मूल हो गया। इन लोगों को पराजित करने वाला वही विक्रमादित्य हो सकता है—जो ईसवीय पहली शताब्दी का हो।

जैसलमेर के इतिहास में भट्टियों का वर्णन यहाँ बड़े काम का है। उन्होंने लिखा है कि विक्रमीय संवत ७२ में गजनी-पति गज का पुत्र शालिवाहन मध्य एशिया की क्रांतियों से विताड़ित होकर भारतवर्ष चला आया, और उसने पंजाब में शालिवाहनपुर **(शालपुर या शाकल)** नाम की राजधानी बसाई। स्मिथ ने जिस दूसरी शक-शाखा का उल्लेख किया है, उसके समय से भट्टियों के इस शालिवाहन का समय ठीक-ठीक मिल जाता है। शकों के दूसरे अभियान का नेता वही शालिवाहन था, जिसके संबंध में 'भविष्य पुराण' में लिखा है—

एतस्मिन्नंतरे तत्र शालिवाहन भूपतिः।
विक्रमादित्य पौत्रस्य पितृराज्यं गृहीतवान्॥

कुछ लोग 'पौत्रश्च' अशुद्ध पाठ के द्वारा भ्रान्त अर्थ निकालते हैं, जो असम्बद्ध है। विक्रमादित्य के पौत्र का राज्य अपहरण करनेवाला शालिवाहन विदेशी था। प्रबन्ध चिन्तामणि में भी शालिवाहन को नागवंशीय लिखा है। गजनी से आया हुआ शालिवाहन एक शक था। सम्भवतः उसी ने शक-राज्य की स्थापना की और शक-संवत् का प्रचार किया। इसके पिता के ऊपर जिस खुरासान के फरीदशाह के आक्रमण की बात कही जाती है; वह पार्थियानरेश 'मिथ्राडोटस' का पुत्र 'फराटस' द्वितीय रहा होगा।

उस काल में युवेची, पार्थियन और शकों में भयानक संघर्ष चल रहा था। गजनी के शकों को भी इसी कारण अपना देश छोड़कर रावी एवं चिनाव के बीच में 'शाकल' बसाना पड़ा। मिथ्राडोटस द्वितीय आदि के शासनकाल में भारतवर्ष का उत्तर-पश्चिमीय भू-भाग बहुत दिनों तक इन्हीं शकों के अधिकार में रहा। कभी पार्थियन, कभी शक और कभी युवेची जाति की प्रधानता हो जाती थी। उसी समय

में मालवों को पराजित करके शकों ने पंजाब में अपने राज्य की स्थापना की थी। स्मरण रखना होगा कि मालव से यहाँ उस राष्ट्र का संबंध है जो पाणिनि के समय में मालव-क्षुद्रकगण कहे जाते थे और सिकन्दर के समय में 'Malloi and Azodrapai' के नाम से अभिहित थे।

इस प्राचीन मालव की सीमा पंजाब में थी विक्रमादित्य और शकों का प्रथम कहरूर-युद्ध मुलतान से पचास मील दूर दक्षिण-पूर्व में हुआ और शालिवाहन के नेतृत्व में शकों के आक्रमण से मालवों को दक्षिण की ओर हटना पड़ा। सम्भवतः वर्तमान मालव देश उसी काल मे मिलाया गया और जहाँ पर इन मालवों ने शकों से पराजित होकर अपनी नयी राजधानी बसाई वह मन्दसोर और उज्जयिनी थी।

शालिवाहन की इस विजय के बाद उसी के वंश के लोग राजस्थान से होते हुए सौराष्ट्र तक फैल गये और वे पश्चिमीय-क्षत्रप के नाम से प्रसिद्ध हुए। चष्टन और नहपान आदि दक्षिण तक इसकी विजय-वैजयन्ती ले गये। नहपान को कुन्तलेश्वर सातकर्णि ने पराजित किया। 'कथा-सरित्सागर' से पता चलता है कि भरुकच्छ देश से भी शकों की सत्ता सातकर्णि ने उठा दी और 'कालाप' व्याकरण के प्रवर्त्तक शर्ववर्मा को वहाँ का राज्य दिया। शालिवाहन के सेनापतियों ने दक्षिण में शक-संवत् का अपने शासन-बल से प्रचार किया। उत्तरी भारत मे आक्रमण और संघर्ष बराबर होते रहे इसलिए उज्जयिनी मे वे अधिक समय तक न ठहर सके। शक क्षत्रपों ने सौराष्ट्र में अपने को दृढ़ किया और नवीन मालव—जिसे दक्षिण मालव भी कहते हैं—शीघ्र स्वतंत्र होने के कारण अपने पूर्व-व्यवहृत मालव-संवत् का ही उपयोग करता रहा।

ऊपर के प्रमाणो से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि प्रथम विक्रमादित्य—गंधर्वसेन का पुत्र – मालवगण का प्रमुख अधिपति रहा। उसने मथुरा वाली शक-शाखा का नाश किया, और दिल्ली का उद्धार करके जैत्रपाल को वहाँ का राज्य दिया।

संवत् १६९९ अगहन सुदी पंचमी की लिखी हुई 'अभिज्ञान शाकुंतल' की प्राचीन प्रति से—जो पं० केशवप्रसादजी मिश्र (भदैनी, काशी) के पास है—दो स्थलों के नवीन पाठों का अवतरण यहाँ दिया जाता है—

"आर्ये रसभाववशेषु दीक्षागुरोः श्रीविक्रमादित्य साहसांकस्याभिरूप भूयिष्ठेयं परिषत् अस्यां च कालिदास प्रयुक्तेनाभिज्ञानशाकुन्तल नाम्नानवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः।"

"भवतु तवबिडौजाःप्राज्यवृष्टिःप्रजासुत्वमपिविततं यज्ञो वज्रिणं भावयेथा। गण शत परिवर्त्तैरेवमन्योन्य कृत्यैर्नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयै" ॥

इसमे नीचे रेखा किये हुये दोनों स्थलों पर ध्यान देने से दो बातें निकलती हैं।

पहली यह है कि जिस विक्रमादित्य का उल्लेख शाकुन्तल में है, उसका नाम विक्रमादित्य है और 'साहसांक' इसकी उपाधि है। दूसरे भरत वाक्य में 'गण' शब्द के द्वारा इन्द्र और विक्रमादित्य के लिए यज्ञ और गण राष्ट्र—दोनों की ओर कवि का संकेत है। इसमें राजा या सम्राट् जैसा कोई संबोधन विक्रमादित्य के लिए नहीं है। तब यह विचार पुष्ट होता है कि विक्रमादित्य मालव गणराष्ट्र का प्रमुख नायक था, न कि कोई सम्राट् या राजा। कुछ लोग जैत्रपाल को विक्रमादित्य का पुत्र बताते हैं। हो सकता है इसी के एकाधिपत्य से मालवगण में फूट पड़ी हो और शालिवाहन के द्वितीय शक-आक्रमण में वे पराजित हुए हों।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य मालव का अधिपति नहीं था, वह पाटलिपुत्र का विक्रमादित्य था। उसने स्त्री-वेश धारण करके किसी शक-नरपति को मार डाला था। पर, पश्चिमी मालवा और सौराष्ट्र उसके समय में भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते थे, क्योंकि नरवर्म्मा और विश्ववर्मा का मालव में और स्वामी रुद्रसिंह आदि तीन स्वतन्त्र नरपति-नाम सौराष्ट्र के शकों के मिलते हैं। इसके लेख आकर, उदयगिरि और गोपाद्रि तक ही मिलते है। जैसा विक्रमादित्य का चरित्र है, उसके विरुद्ध इसके सम्बन्ध में कुछ गाथाये मिलती है। अपने पिता समुद्रगुप्त की विजयों के आधार पर किसी शक-नरपति को मार कर, इसने भी पहली बार विक्रमादित्य की उपाधि धारण कर ली थी। यह असली विक्रमादित्य के बराबर अपने को समझता था।

'कथा सरित्सागर' और 'हर्षचरित' से लिये अवतरणों पर ध्यान देने से यह विदित होता है कि यह शक-विजय किसी छल से मिली थी। तुआर **(शिवप्रसाद के मतानुसार पंवार)** या मालवगण के प्रमुख अधीश्वर से भिन्न यह पाटलिपुत्र का विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त था, जिसका समय ३८५ (४००)? से प्रारम्भ होकर ४१३ ई० तक था।

कुछ लोगों का मत था कि मालव का यशोधर्म देव तीसरा विक्रमादित्य था। परन्तु जिस 'राजतरंगिणी' से इसके विक्रमादित्य होने का प्रमाण दिया जाता है, उसमें यशोधर्म के साथ विक्रम शब्द का कोई उल्लेख नही है। उसके शिलालेखों, सिक्कों में भी इसका नाम नही है। यशोधर्म के जयस्तम्भ में हूण मिहिरकुल को पराजित करने का प्रमाण मिलता है, परन्तु यह शकारि नही था। यह अनुमान भी भ्रान्त है कि इसी यशोधर्मदेव ने मालव संवत् के साथ विक्रम नाम जोड़कर विक्रम-संवत् का प्रचार किया, क्योंकि उसी के अनुचरों के शिलालेख में मालवगण-स्थिति का स्पष्ट उल्लेख है—

पंचसु शतेसु शरदां यातेष्वेकान्नवति सहितेषु।
मालवगण स्थिति वशात् कालज्ञानाय लिखितेषु॥

अलबेरूनी के लेख से यह भ्रम फैला है, परन्तु वही अपनी पुस्तक में दूसरी जगह कहरूर युद्ध के विजेता विक्रमादित्य से संवत् प्रचारक विक्रमादित्य को भिन्न मानकर अपनी भूल स्वीकार करता है। डाक्टर हार्नेली और स्मिथ कहरूर युद्ध के समय में मतभेद रखते हैं। हार्नेली उसे ५४४ में और स्मिथ ५२८ ईस्वी में मानते हैं। कहरूर का रणक्षेत्र कई युद्धों का रंगस्थल है—जैसा कि पिछले काल में पानीपत। शकों और हूणों के आक्रमणकाल में प्रथम विक्रमादित्य, स्कन्दगुप्त और यशोधर्म ने वहीं विजय प्राप्त की। अलबेरूनी ने पिछले युद्ध का ही विवरण सुनकर अपने को भ्रम में डाल दिया। जिन लोगों ने यशोधर्मदेव को 'विक्रमादित्य' सिद्ध करने की चेष्टा की है, वे 'राजतरंगिणी' का नीचे लिखा हुआ अवतरण प्रमाण में देते हैं—

'उज्जयिन्यां श्रीमान्हर्षापराभिधः एकच्छत्रश्चक्रवर्त्ती विक्रमादित्य इत्यभूत' इस श्लोक के 'श्रीमान् हर्ष' पर भार डालकर असम्भावित अर्थ किया जाता है। पर हर्ष—विक्रमादित्य से यशोधर्म का क्या सम्बन्ध है, यह स्पष्ट नहीं होता। इसी हर्ष-विक्रमादित्य के लिए कहा जाता है कि उसने मातृगुप्त को काश्मीर का राज्य दिया। परन्तु इतिहास में पाँचवीं और छठीं शताब्दी में किसी हर्ष नामक राजा के उज्जयिनी पर शासन करने का उल्लेख नहीं मिलता। बहुत दिनों के बाद ईसवीय सन् ९७० के समीप मालव में श्रीहर्षदेव परमार का राज्य करना मिलता है। राजतरंगिणी के अनुसार उक्त हर्ष-विक्रमादित्य का काल वही है, जब काश्मीर में गांधार वंश का 'तोरमाण' युवराज था। तोरमाण के शिलालेखों से यह सिद्ध हो जाता है कि उसके पिता तुंजीन वा प्रवरसेन का समकालीन स्कन्दगुप्त मालव का शासक हो सकता है। तब क्या आश्चर्य है कि लेखक के प्रमाद से 'राजतरंगिणी' में हर्ष का उल्लेख हो गया हो और शुद्ध पाठ **'श्रीमान् स्कंदापराभिधः'** हो। क्योंकि इसी तोरमाण ने ५०० ईसवीय में गुप्तवंशियों से मालव ले लिया था, तब मातृगुप्त वाली घटना ५०० ईस्वी के पहले की है। जो लोग यशोधर्म को विक्रमादित्य मानते हैं, वे यह भी कहते है कि मिहिरकुल को पराजित करने में यशोधर्म और नरसिंहगुप्त-बालादित्य दोनों का हाथ था, परन्तु यह भी भ्रम है। नरसिंह गुप्त ५२८ या ५४४ ईसवीय तक जीवित नहीं थे। यशोधर्म का समकालीन बालादित्य द्वितीय हो सकता है।

श्री काशी प्रसाद जयसवाल ने अपने विद्वत्तापूर्ण लेख में यह प्रमाणित किया है कि यशोधर्म्म कल्कि थे।[1] कल्किपुराण (**जीवानन्द संस्करण**) में लिखा है—

१. कल्कि संबंधिनी इस मान्यता के आधार पर पूज्य पिताश्री ने पाँच अंकों का एक वृहत् नाटक 'यशोधर्म' लिखा था, वह प्रकाशित होने भी जा रहा था।

प्रसीद जगतांनाथ धर्मवर्म्म रमापते ॥ अध्याय ३ ॥
मुने किमत्र कथनं कल्किना धर्मवर्म्मणा ॥ अध्याय ४ ॥

तब 'राजतरंगिणी' का यह अवतरण और भी हमारे मत को पुष्ट करता है कि यशोधर्म्मदेव से पहले विक्रमादित्य हुए थे—

म्लेच्छोच्छेदाय वसुधां हरेरवतरिष्यतः ।
शकान्विनाश्य येनादौ कार्य्यं भारो लघूकृतः ॥तरंग ३॥

भावी कल्कि यशोधर्म्म के कार्य-भार को लघु कर देने वाले विक्रमादित्य उनसे साठ वर्ष पहले ही हुए थे, और वह थे—श्री विक्रमादित्य स्कंदगुप्त। इस तरह 'राजतरंगिणी' के **'श्रीमान् हर्षापराभिधः'** के शुद्ध पाठ से **'श्रीमान् स्कंदापराभिधः'** की संगति भी लग जाती है।

इन तीसरे विक्रमादित्य स्कंदगुप्त के संबंध में 'कथासरित्सागर' का विषमशील लंबक सविस्तार वर्णन करता है। उज्जयिनीनाथ (**महेंद्रादित्य**) का पुत्र यह विक्रमादित्य **'म्लेच्छाक्रांते च भूलोके'** उत्पन्न हुआ और इसने—

'मध्यदेशः स सौराष्ट्रः स बङ्गाङ्गा च पूर्व दिक्
स कश्मीरान्सकौबेरी काष्ठाश्च करदीकृता
म्लेच्छसंघाश्च निहताः शेषाश्च स्थापिता वशे'

इतिहास में सम्राट कुमारगुप्त की उपाधि महेन्द्रादित्य प्रसिद्ध है। इसके चाँदी के सिक्कों पर 'परम भागवत महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य' स्पष्ट लिखा मिलता है। इसी के समय में मालव के स्वतंत्र नरेश विश्ववर्म्मा के पुत्र वंधुवर्म्मा ने अधीनता स्वीकार कर ली। विक्रमाब्द ४८० तक गंगधार के शिलालेख द्वारा—मालव का स्वतंत्र रहना प्रमाणित है, परंतु ५२९ विक्रमाब्द वाले मंदसोर के शिलालेख में ४९३ विक्रमीय मे कुमारगुप्त की सार्वभौम सत्ता मान ली गई। इससे प्रतीत होता है कि इसी काल में मालव गुप्त-साम्राज्य में सम्मिलित हुआ। चंद्रगुप्त द्वितीय के समय में नरवर्म्मा और विश्ववर्मा मालव के स्वतंत्र नरेश थे। कुछ लोगों का अनुमान है कि नर्मदा के निकटवर्त्ती पुष्यमित्रो ने जब गुप्त-साम्राज्य से युद्ध प्रारम्भ किया था तभी कुमार स्कन्दगुप्त के नेतृत्व में गुप्त-साम्राज्य की सेना ने उज्जयिनी पर अधिकार किया। इन्ही स्कंदगुप्त का सिक्कों में **'परम भागवत श्री विक्रमादित्य स्कन्दगुप्त'** के नाम से उल्लेख मिला है इनके शिलालेख से प्रकट है कि कुललक्ष्मी विचलित थी, म्लेच्छों और हूणों से आर्य्यावर्त्त आतंकित था। अपनी

किंतु तथ्यों के पुनरावलोकन एवं अपने स्वतंत्र अन्वेषण में इस मत के सारहीन सिद्ध होने पर उक्त नाटक की पांडुलिपि को उन्होंने स्वयमेव नष्ट कर दिया था। (सं०)

सत्ता बनाये रखने के लिए इन्होंने पृथ्वी पर सोकर रातें बिताईं। हूणों के युद्ध में जिसके विकट पराक्रम से धरा विकंपित हुई जिसने सौराष्ट्र के शकों का मूलोच्छेद करके पर्णदत्त को वहाँ का शासक नियुक्त किया—वे स्कंदगुप्त ही थे—जूनागढ़ वाले लेख में इसका स्पष्ट उल्लेख है। स्कंदगुप्त की प्रशंसा में उसमें लिखा है—

'अपिच जितमिव तेन प्रथयन्ति यशांसि यस्य
रिपवोप्यामूल भग्नदर्पा निर्वचना म्लेच्छदेशेषु"

पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने सुदर्शन झील, का संस्कार कराया था; अनुमान होता है कि अंतिम शक-क्षत्रप रुद्रसिंह की पराजय वाली घटना ईसवीय सन् ४८७ के करीब हुई थी। स्कंदगुप्त को सौराष्ट्र के शकों और तोरमाण के पूर्ववर्त्ती हूणों से लगातार युद्ध करना पड़ा। इधर वैमातृक भाई पुरगुप्त से आंतरिक द्वंद्व भी चल रहा था। उस समय की विचलित राजनीति को स्थिर करने के लिए प्राचीन राजधानियों—पाटलिपुत्र या अयोध्या से दूर—एक केन्द्र-स्थल में अपनी राजधानी बनाना आवश्यक था। इसलिए वर्तमान मालव की मौर्यकाल की अवंती नगरी को ही स्कंदगुप्त ने अपने साम्राज्य का केन्द्र बनाया और शकों तथा हूणों को परास्त करके उत्तरीय भारत से हूणों तथा शकों का राज्य निर्मूल कर 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की।

'विक्रमादित्य' उपाधि के लिए शको का नाश करना एक आवश्यक कार्य था। पिछले काल में इसीलिए विक्रमादित्य का एक पर्य्याय 'शकारि' भी प्रचलित था और स्कन्दगुप्त के समय में सौराष्ट्र के शकों का विनाश होना चक्रपालित के शिलालेख से स्पष्ट है परन्तु यशोधर्म के समय में शकों का राज्य कहीं न था। यही बात 'राज-तरंगिणी' के 'शकान्विनाश्य येनादौ कार्य भारो लघूकृतः से भी ध्वनित होती है। मंदसोर वाले स्तंभ मे यशोधर्म का शकों के विजय करने का उल्लेख नहीं है, हूणों के विजय का है। मंदोसोर के यशोधर्म के विजय-स्तंभ का भी वही समय है जो वराहदास या विष्णुवर्द्धन के शिलालेख का हैं। गोविन्द की उत्कीर्ण की हुई दोनों प्रशस्तियाँ है। उसका समय ६३२ ई० का है। मिहिरकुल ही भारी विदेशी शत्रु था, यह बात उक्त जयस्तंभ से प्रतीत होती है। मिहिरकुल ५३२ ई० के पहले पराजित हो चुका था, तब वह कौन-सा युद्ध ५४४ मे हुआ था—यह नहीं कहा जाता—जिसके द्वारा यशोधर्म के 'विक्रम' होने की घोषणा की जाती है, इसीसे हार्नेली के विरुद्ध स्मिथ ने यशोधर्म द्वारा मिहिरकुल के पराजित होने का काल ६२८ ई० माना है। परन्तु, वे उस युद्ध को 'कहरूरयुद्ध' कहकर सम्बोधित नहीं करते। कहरूरयुद्ध ५४४ मे नही हुआ जैसा कि फर्गुसन, कीलहार्न, हार्नली आदि का मत है—प्रत्युत—पहले—बहुत पहले ४५७ ई० के समीप, दूसरी बार हो चुका है। संभवतः सौराष्ट्र के शक रुद्रसिंह और गांधार के हूणतुंजीन की सम्मिलित वाहिनी

को 'कहरूर-युद्ध' में पराजित कर स्कंदगुप्त ने आर्यावर्त्त की रक्षा की थी। अच्छा, जब ५२८ ई० में मिहिरकुल पर विजय निश्चित-सी है तब 'कहरूर-युद्ध' के ऊपर विक्रमादित्य को यशोधर्म माननेवाला सिद्धान्त निर्मूल हो जाता है, क्योंकि ५३२ के विजय-स्तंभ तथा शिलालेख में मालवगण-स्थित का उल्लेख है—विक्रम संवत का नहीं, और ५३२ के पहले ही यशोधर्म हूण-विजय करके सम्राट आदि पदवी धारण कर चुका था; फिर ५४४ ईसवीय के किसी काल्पनिक युद्ध की आवश्यकता नही है।

'राजतरंगिणी' और 'सुंगयुन' के वर्णन मिलाने पर प्रतीत होता है कि हूणों का प्रधान केन्द्र गांधार था। वहीं से हूण राजकुमार अपनी विजयिनी सेना लेकर भिन्न-भिन्न प्रदेशों में राज्य-स्थापन करने गये। राजतरंगिणी का क्रम देखने से तीन राजाओं का नाम आता है —मेघवाहन, तुंजीन और तोरमाण। गांधार के मेघवाहन के समय में काश्मीर उसके शासन में हो गया था। उसके पुत्र तुंजीन ने काश्मीर की सूबेदारी की थी। यही तुंजीन प्रवरसेन के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसने झेलम पर पुल बनवाया। 'सेतुबन्ध' नामक प्राकृत-काव्य इसी के नाम से अंकित है। गांधार-वंशीय हूण तुंजीन का समय और स्कन्दगुप्त का समय एक है, क्योंकि उसके पुत्र तोरमाण का काल ५०० ई० स्मिथ ने सिद्ध किया है। सम्भवतः स्कन्दगुप्त के द्वारा हूणों के कश्मीर राज्य मे निकाले जाने पर मातृगुप्त वहाँ का शासक था। यह उज्जयिनी-नाथ कुमारगुप्त-महेन्द्रादित्य का पुत्र स्कन्दगुप्त-विक्रमादित्य ही था—जिसने सौराष्ट्र आदि से शकों का और कश्मीर तथा सीमा-प्रान्त से हूणों का राज्य-विध्वंस किया और सनातन आर्य-धर्म की रक्षा की—म्लेच्छों से आक्रांत भारत का उद्धार किया। 'भितरी' के स्तम्भ में अंकित **'जगतिभुजबलाढ्यो गुप्तवंशैकवीरः। प्रथित विपुलधामा नामतः स्कन्दगुप्तः विनयबलसुनीतैर्विक्रमेण क्रमेण'**[1] से स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्कन्दगुप्त-विक्रमादित्य ही द्वितीय 'कहरूर-युद्ध' का विजेता—'तृतीय-विक्रम' है। (अवलोक्य पृष्ठ ४६ के अंत मे दी गई टिप्पणी)।

पिछले काल के स्वर्ण के सिक्कों को देखकर लोग अनुमान करते हैं कि उसी के समय में हूणों ने फिर आक्रमण किया और स्कन्दगुप्त पराजित हुए। वास्तव मे ऐसी बात नहीं। तोरमाण के शिलालेखों के संवत् को देखने से यह विदित होता है कि स्कन्दगुप्त पहले ही निधन को प्राप्त हुए और दुर्बल पुरगुप्त के हाथों में पड़कर तोरमाण के द्वारा गुप्त साम्राज्य का विध्वंस किया गया और गोपाद्रि तक उसके हाथ में चले गये।

कालिदास

विक्रम के साथ कालिदास का कुछ ऐसा सम्बन्ध है कि एक का समय-निर्धारण करने में दूसरे की चर्चा आवश्यक-सी हो जाती है। यह प्रतिपादित किया जा चुका

है कि ५७ ईसवीय पूर्व में मालव के प्रथम विक्रमादित्य हुए और दूसरे विक्रमादित्य का समय ३८५ (४०० ?) ईसवीय से ४१३ ईसवीय तक है। इनका सम्पूर्ण नाम श्री चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य है। ये मगध के सम्राट् थे। सम्भवतः इन्होंने अयोध्या को अपनी राजधानी बनाई थी। तीसरे विक्रमादित्य श्री स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य थे। वर्तमान मालव के प्रधान नगर उज्जयिनी को उन्होंने अपनी राजधानी बनायी थी। गुप्त राजवंश के अन्तर्कलह का निवारण करने के लिए और हूणों तथा शकों से प्रायः मुठभेड़ रहने के कारण इन्हें मगध और कोसल छोड़ना पड़ा। कालिदास के सम्बन्ध में भी राजशेखर का एक श्लोक जल्हण की 'सूक्ति मुक्तावली' और हरिकवि की 'सुभाषितावली' में मिलता है –

'एकोपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु'

एकादश शताब्दी मे उत्पन्न हुए, राजशेखर की इस उक्ति से यह प्रकट होता है कि उस शताब्दी तक तीन कालिदास हो चुके थे। परन्तु वर्त्तमान आलोचकों का मत है कि कालिदास दो तो अवश्य हुए हैं एक 'रघुवंश', 'शाकुन्तल' आदि के कर्त्ता और दूसरे नलोदय तथा 'पुष्पबाण-विलास' आदि के रचयिता।

यह विभाग साहित्यिक महत्व की दृष्टि से किया गया है। शृगार-तिलक जैसे साधारण ग्रंथों को महाकवि कालिदास की कृति ये लोग नही मानना चाहते, इसलिए एक छोटे कालिदास को मान लेना पड़ा। बड़े कालिदास के लिए कुछ समीचीन समालोचकों का मत है कि ये 'शाकुन्तल' और 'रघुवंश' के कर्त्ता, चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समय मे हुए। इनका मत है कि 'आसमुद्रक्षितीशानाम' 'इदं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यैः' 'ज्योतिष्मतीचन्द्रमसैव रात्रिः' इत्यादि स्थानों में 'इन्दु' और 'चन्द्र' शब्दों से समुद्रगुप्त के वंशधर चन्द्रगुप्त द्वितीय की ओर कालिदास का संकेत है और इसीलिए महाकवि कालिदास मगध के गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के राजकवि थे।

इधर परांजपे आदि विद्वानों का मत है कि कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' मे शुंगों के इतिहास का सूक्ष्म विवरण दिया है, जैसा कि उस काल मे बहुत ही थोड़े समय के पीछे का कवि लिख सकता है। पटवर्धन और वैद्य महोदय कालिदास को ५७ ईसवीय पूर्व का मानते हैं और भी कई विद्वान् इनके समर्थक हैं।

काव्यों में ज्योतिष सम्बन्धी ज्यामिति और होरा आदि ज्योतिष शास्त्र सम्बन्धी शब्दों को देखकर कुछ लोगों का अनुमान है कि 'रघुवंश' आदि के रचयिता कालिदास छठी शताब्दी म रहे होंगे। उनके नाम से प्रसिद्ध 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रंथ को भी—ज्योतिष सम्बन्धी गणनाओं के अनुसार— अनेक लोगों ने यह स्थिर किया है कि यह ग्रंथ भी छठीं शताब्दी का है; इसलिए इन ग्रंथों के

रचयिता कालिदास छठीं शताब्दी में उत्पन्न हुए और वे यशोधर्मदेव के सभासद थे। इस तरह महाकवि कालिदास के सम्बन्ध में तीन सिद्धांत प्रचलित हैं—

(१) ५७ ईसवीय पूर्व में मालव में कालिदास हुए।

(२) ईसा के चौथे शतक में चन्द्रगुप्त द्वितीय मगधनरेश के समकालीन कालिदास थे।

(३) मालव नरेश यशोधर्मदेव के सभासद थे।

'शृंगार तिलक' आदि ग्रंथों के कर्त्ता कालिदास को प्रायः सब लोग इन महाकवि कालिदास से भिन्न और सबसे पीछे का—सम्भवतः नवम या दशम शताब्दी का मानते हैं। हम केवल महाकवि कालिदास के सम्बन्ध में ही विवेचन करना चाहते हैं।

मालव के प्रथम विक्रमादित्य को लोग इसलिए नही मानते कि उनका कही ऐतिहासिक उल्लेख उनलोगों को नहीं मिला और विक्रम संवत् प्राचीन शिलालेखों में मालवगण के नाम से प्रचलित है। परन्तु ऊपर यह प्रमाणित किया गया है कि वास्तव में ५७ इसवीय पूर्व में एक विक्रमादित्य हुए। इस मत को न माननेवाले विद्वानों ने विक्रमादित्य को 'चन्द्रगुप्त द्वितीय' कहकर कालिदास का समय निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। 'रघुवंश' में जो संकेत से गुप्तवंशी सम्राटों का उल्लेख है, उसकी संगति इस प्रकार लगाई गई। परन्तु आश्चर्य की बात है कि चन्द्रगुप्त का समय प्रमाणित करने के लिए जो अवतरण दिये गये हैं उनमें चन्द्रगुप्त का तो स्पष्ट उल्लेख है ही नही, हाँ, कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त का उल्लेख अधिक और स्पष्ट है। यदि वे सब संकेत भी गुप्तवंशियों के ही सम्बन्ध में मान लिए जायँ तो यह समझ में नहीं आता कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के समसामयिक कवि ने भावी राजाओं का वर्णन कैसे कर दिया। जबकि गुप्तवंश में उत्तराधिकार का नियम निश्चित नहीं था कि ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का अधिकारी हो, समुद्रगुप्त अपनी योग्यता से ही युवराल हुए और चन्द्रगुप्त भी, तब रघुवंश में कुमार और उनके बाद स्कन्दगुप्त का वर्णन कैसे आया? चन्द्रगुप्त के समय गुप्त साम्राज्य का यौवनकाल था, फिर अग्निवर्ण जैसे राजा का चरित्र दिखाकर 'रघुवंश' का अन्त—चन्द्रगुप्त के समसामयिक और उनकी सभा के कालिदास—कैसे लिख सकते है? वास्तव में रघुवंश की सी दशा गुप्तवंश की हुई। अग्निवर्ण के समान ही पिछले गुप्तवंशी विलासी और हीन वैभव हुए। तब यह मानना पड़ेगा कि गुप्तवंश का ह्रास भी कालिदास ने देखा था और तभी—'रघुवंश' काव्य की रचना की थी।

ईसवी पूर्व पहली शताब्दी के कालिदास के लिए भी उधर प्रमाण मिलते हैं। इसलिए यह समस्या उलझती जा रही है, इसका मूल कारण है—एक

ही कालिदास को काव्यों और नाटकों का कर्त्ता मान लेना। हमारी सम्मति में काव्यकार कालिदास और नाटककार कालिदास भिन्न-भिन्न थे और नलोदय आदि के कर्त्ता कालिदास अन्तिम और तीसरे थे। इस प्रकार जल्हण की 'कालिदास-त्रयी' का भी समर्थन हो जाता है और सब पक्षों के प्रमाणों की संगति भी लग जाती है। यद्यपि 'शकुन्तला' और 'रघुवंश' का श्रेय एक ही कालिदास को देने का संस्कार बहुत ही प्राचीन है। विश्व-साहित्य के इन दो ग्रंथ-रत्नों का कर्त्ता एक ही कालिदास को न मानने से श्रद्धा बँट जाने का भय इसमें बाधक है। परन्तु पक्षपात और रूढ़ि को छोड़कर विचार करने से यह बात ठीक ही जँचेगी। हम ऊपर पहले ही कह आये हैं कि तीन कालिदास हुए; परन्तु जो लोग दो ही कालिदास की उत्पत्ति मानते हैं, वे ही बता सकते हैं कि प्रथम कालिदास तो महाकवि हुए और उन्होंने उत्तमोत्तम नाटक तथा काव्य बना डाले, अब वह कौन-सी बची हुई कृति थी जिस पर द्वितीय कवि को 'कालिदास' की उपाधि मिली ? क्योंकि यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि कालिदास की उपाधि 'कालिदास' थी, न कि उनका नाम कालिदास था। जैसा कि प्रायः किसी वर्तमान कवि को, उसकी शैली की उत्तमता को देखकर ही किसी प्राचीन उत्तम कवि के नाम से सम्बोधित करने की प्रथा-सी है। **अस्तु हम नाटककार कालिदास को प्रथम और ईसा पूर्व का कालिदास मानते हैं। कारण—**

(१) नाटककार कालिदास ने गुप्तवंशीय किसी राजा का संकेत से भी उल्लेख अपने नाटकों में नहीं किया।

(२) 'रघुवंश आदि असुरों के उत्पात और उनसे देवताओं की रक्षा के वर्णन से भरा साहित्य है। नाटकों में उस तरह का विश्लेषण नहीं है। काव्यकार कालिदास का समय हूणों के उत्पात और आतंक से पूर्ण था। नाटकों में इस भाव का विकास इसलिए नहीं है कि वह शकों के निकल जाने पर सुख-शांति का काल है। **'मालविकाग्निमित्र'** में सिन्धु-तट पर विदेशी यवनों का हराया जाना मिलता है। यवनों का राज्य उस समय उत्तरी भारत से उखड़ चुका था। 'शकुन्तला' में हस्तिनापुर के सम्राट् 'वनपुष्प' माला-धारिणी यवनियों से सुरक्षित दिखायी देते है। यह सम्भवतः उस प्रथा का वर्णन है जो यवन सिल्यूकस की कन्या से चन्द्रगुप्त का परिणय होने पर मौर्य और उसके बाद शुंग-वंश में प्रचलित रही हो। यवनियों का व्यवहार क्रीतदासी और परिचारिकाओं के रूप में राजकुल में था। यह काल ईसा पूर्व पहली शताब्दी में रहा होगा। नाटककार कालिदास 'मालविकाग्निमित्र' में राजसूय का स्मरण करने पर भी बौद्ध प्रभाव से मुक्त नहीं हुए थे। क्योंकि शकुन्तला में धीवर के मुख से कहलवाया है—**'पशुमारणकर्म्म दारुणोप्यनुकम्पा मृदुरेव श्रोत्रिय'**—और भी—**'सरस्वती श्रुतिमहती न हीयताम्'**—इन शब्दों

पर बौद्ध धर्म की छाप है। नाटककार ने अपने पूर्ववर्ती नाटककारों के जो नाम लिए है. उनमें सौमिल्ल और कविपुत्र के नाटयरत्नों का पता नही। भास के नाटकों को चौथी शताब्दी ईसा पूर्व माना गया है।

(३) नाटककार ने 'मालविकाग्निमित्र' की कथा का जिस रूप मे वर्णन किया है, वह उसके समय से बहुत पुरानी नही जान पड़ती। शुगवंशियो के पतन-काल मे विक्रमादित्य का मालवगण के राष्ट्रपति के रूप मे अभ्युदय हुआ। उसी काल मे कालिदास के होने से शुगो की चर्चा बहुत ताजी-सी मालूम होती है।

(४) 'ज्यामिति' और 'होरा' इत्यादि शब्द जिनका प्रचार भारत मे ईसा की पाँचवी शताब्दी के समीप हुआ, नाटक मे नही पाये जाते और 'शाकुन्तल' की जिस प्रति का हम उल्लेख कर चुके है, उसमे स्पष्टरूपेण विक्रमादित्य से गणराष्ट्र का सम्बन्ध सकेतित है और कालिदास का उस नाटक का स्वय प्रयोग करना भी ध्वनित होता है। यह अभिनय 'साहसाक' उपाधिकारी विक्रमादित्य नाम के मालव-गणपति की परिषद् मे हुआ था। इसलिए नाटककार कालिदास ईसापूर्व पहली शताब्दी के है।

(५) नाटको की प्राकृत मे मागधी-प्रचुर प्राकृत का प्रयोग है। उस प्राकृत का प्रचार भारत मे सैकडो वर्ष पीछे कहाँ था ? पाँचवी-छठवी शताब्दी मे महाराष्ट्री प्राकृत प्रारम्भ हो गई थी और उस काल के ग्रथो मे उसी का व्यवहार मिलता है। 'शाकुन्तल' आदि की प्राकृत मे बहुत से प्राचीन प्रयोग मिलते हैं जिनका व्यवहार छठी शताब्दी मे नही था।

इसलिए नाटककार कालिदास का होना, विक्रमादित्य प्रथम (मालव-पति) के समय—ईसा पूर्व पहली शताब्दी में ही निर्धारित किया जा सकता है।

काव्यकार कालिदास अनुमान से पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और छठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जीवित थे। वे काश्मीर के थे, ऐसा लोगों का मत है। 'मेघदूत' में जो अलका का वर्णन है, वह काश्मीर-वियोग का वर्णन है। यदि ये काश्मीर के न होते तो विल्हण को यह लिखने का साहस न होता—

'सहोदरा कुंकुमकेसराणां सार्धन्तनूनं कविताविलासा।
न शारदादेशमपास्य दृष्टंस्तेषां यदन्यत्र मयाप्ररोहः॥'

पाँच सौ वर्ष के प्राचीन 'पराक्रम बाहु चरित्र' मे इसका उल्लेख है कि सिंहल के राजकुमार धातुसेन **(कुमारदास)** मे कालिदास की बड़ी मित्रता थी। उसने कालिदास को वहाँ बुलाया। **(महावंश के अनुसार इनका राज्यकाल ५११ से**

५२४ ई० तक है) यह राजा अच्छा कवि था। 'जानकी हरण' इसका बनाया हुआ ग्रन्थ है।

जानकी हरणं कर्त्तुं रघुवंशे स्थिते सति
'कविः कुमारदासो वा रावणो वा यदिक्षमः'

सोढ्ढल की बनाई हुई 'उदय-सुन्दरी-कथा' में एक श्लोक है—

'ख्यातः कृती कोपि च कालिदासः शुद्धा सुधास्वादुमती च यस्य
वाणीमिषाच्चण्ड मरीचिगोत्र सिन्धोः परंपारमवाप कीर्त्तिः।
वभूवुरन्येपि कुमारदासः'—इत्यादि।

हमारा अनुमान है कि 'सिन्धोः परंपार' में कालिदास और कुमारदास के सम्बन्ध की ध्वनि है।

'ज्योतिर्विदाभरण' को बहुत से लोग ईसवीय छठवीं शताब्दी का बना हुआ मानते हैं और हम भी कहते हैं कि वह ईसवीय पाँचवीं शताब्दी के अन्त और छठवीं के प्रारम्भ होनेवाले कालिदास की कृति है। नाटककार के पीछे भिन्न एक दूसरे कालिदास के होने का और केवल काव्यकार का उसमें एक स्पष्ट प्रमाण है।

'काव्यत्रयं सुमतिकृद्रघुवंश पूर्वं ततोननुकियच्छ्रुतिकर्मवादः।
ज्योतिर्विदाभरणकालविधानशास्त्रं श्री कालिदास कवितोहि ततोबभूव।'

इस श्लोक में छठवीं और पांचवीं शताब्दी के ज्योतिर्विदाभरणकार कालिदास अपने को केवल काव्यत्रयी का ही कर्त्ता मानते हैं, नाटकों का नाम नहीं लिया है। इसलिए यह दूसरे कालिदास—नृपसखा कालिदास या दीपशिखा कालिदास कहिये—पाँचवीं-छठवीं शताब्दी के कालिदास हैं। **'अस्तिकश्चिद्वाग् विशेषः'** वाली किंवदन्ती भी यही सिद्ध करती है कि काव्यकार कालिदास नाटककार से भिन्न हुए। 'कालिदास' उनकी उपाधि हुई, परन्तु वास्तविक नाम क्या था?

'राजतरंगिणी' में एक 'विक्रमादित्य' का वर्णन है, जिसने प्रसन्न होकर काश्मीर देश का राज्य 'मातृगुप्त' नाम के कवि को दे दिया था। डाक्टर भाउदाजी का मत है कि यह मातृगुप्त ही कालिदास हैं। **मेरा अनुमान है कि यह मातृगुप्त कालिदास तो थे, परन्तु द्वितीय और काव्यकर्त्ता कालिदास थे। प्रवरसेन, मातृगुप्त और विक्रमादित्य—ये परस्पर समकालीन व्यक्ति छठीं शताब्दी के माने जाते हैं।**

महाराष्ट्री भाषा का काव्य 'सेतुबन्ध' **(दह मुह॰ वह)** प्रवरसेन के लिए कालिदास ने बनाया था। ऊपर हम कह आये हैं कि मातृगुप्त का वही समय है जो काश्मीर में प्रवरसेन का है। इसका नाम 'तुंजीन' भी था। सम्भवतः इसी की सभा में रहकर कालिदास ने अपनी जन्मभूमि काश्मीर में यह अपनी पहली कृति बनाई, क्योंकि उस समय प्राकृत का प्रचार काश्मीर में अधिक था और यह वही प्राकृत है—

जो उस समय समस्त भारतवर्ष में राष्ट्रभाषा के रूप में व्यवहृत थी, इसलिए इसका नाम महाराष्ट्री था।

कुछ लोगों का विचार है कि यह काव्य कालिदास का नहीं है क्योंकि पहले विष्णु की स्तुति के रूप में मंगलाचरण किया गया है, परन्तु यह तर्क निस्सार है। कारण, 'रघुवंश' में बिष्णु की स्तुति कालिदास ने की है और 'सेतुबन्ध' में तो स्पष्ट रूप से लिखा मिलता है कि 'इ अ सिरि पवर सेण विरइए कालिदास कए' जब यह काव्य प्रवरसेन के लिए बनाया गया तो यह आवश्यक है कि उनके आराध्य विष्णु की स्तुति की जाय। प्रवरसेन ने जयस्वामी नामक विष्णु की मूर्त्ति वनवाई थी। **वस्तुतः कालिदास के लिए शिव और विष्णु में भेद नहीं था। जैसा कि हम ऊपर कपर कह आये हैं शाकुन्तल के प्राकृत से सेतुबन्ध की प्राकृत अत्यन्त अर्वाचीन है। इसलिए उसे काव्यकार कालिदास का मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है।** कालिदास के संस्कृत-काव्यों तथा इस महाराष्ट्री काव्य में कल्पना-शैली और भाव का भी साम्य है। कुछ उदाहरण लीजिय।

वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुनाफेनिलम्बुराशिम्—(रघुवंश)
दीसई सेउ महा वह दोहाइअ पुब्व पच्छिम दिसा भाअम्—(सेतुबन्ध)
छाया पथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृत चारुतारम्—(रघुवंश)
मलअसुवेलालग्गो पडिट्ठियो णहुणि हम्मिसागर सलिले—(सेतुबन्ध)
रत्नच्छाया व्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्तात्—(मेघदूत)
णिअच्छाआवइ अरसामलइअसाअरोअर जलद्धंतं—(सेतुबन्ध)

ऐसा जान पड़ता है कि किसी कारण से प्रवरसेन और मातृगुप्त **(कालिदास)** में अनबन हो गयी और उसे राज्यसभा तथा कश्मीर को छोड़कर मालव आना पड़ा। शास्त्री महोदय के उस मत का निराकरण किया जा चुका है कि यशोधर्मदेव विक्रमादित्य नहीं थे। फिर सम्भवतः इन्हें स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य का ही आश्रित मानना पड़ेगा। क्योंकि तुजीन और तौरमाण के समय मे काश्मीर आपस के विग्रह के कारण अरक्षित था। उज्जयिनी के विक्रमादित्य के लिए यह मिलता भी है कि उसने 'सकाश्मीरान्सकौबेरी काष्ठाश्च करदीकृता।' यह स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य की की ही बदान्यता थी कि काश्मीर विजय करके उसे मातृगुप्त को दान कर दिया।

चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने लिखा है कि कुमारगुप्त की सभा में दिङ्नाग के दादा-गुरु मनोरथ को हराने मे कालिदास की प्रतिभा ने काम किया था। कुमारगुप्त का समय ४५५ ई० तक है। किशोर मातृगुप्त ने कुमारगुप्त के समय में ही विद्या का परिचय दिया। मनोरथ के शिष्य बसुबन्धु थे और उनका शिष्य दिङ्नाग था, जिसने कालिदास के काव्यों की कड़ी आलोचना की थी। सम्भवतः उसी का प्रतिकार **'दिङ्नागानां पथिपरिहरन् स्थूल हस्तावलेपान्'** से किया गया है क्योंकि

प्राचीन टीकाकार मल्लिनाथ भी इसको मानते हैं। दिङ्नाग का गुरु वसुबन्धु अयोध्या के विक्रमादित्य का सुहृद् था। बौद्ध विद्वान् परमार्थ ने उसकी जीवनी लिखी है। इधर वामन ने काव्यालंकारसूत्रवृत्ति के अधिकरण ३ अध्याय २ मे साभिप्रायत्व का उदाहरण देते हुए एक श्लोकार्द्ध उद्धृत किया है—

'सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयश्चन्द्रप्रकाशो युवा
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियाँ दिष्ट्या कृतार्थश्रमः'
'आश्रयः कृतधियामित्यस्य बसुबन्धु साचिव्योपक्षेप परत्वात्साभिप्रायत्वम्'।

यह अयोध्या के विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त[1] का तनय चन्द्रप्रकाश युवा कुमारगुप्त हो सकता है। बसुबन्धु के गुरु मनोरथ का अन्त और उसका सभा मे पराजित होना स्वय बौद्धो ने कालिदास के द्वारा माना है। इसी द्वेष मे दिङ्नाग कालिदास का प्रतिद्वन्द्वी बना। अब यह मान लेने मे कोई भ्रम नही होता कि मातृगुप्त किशोरावस्था म कुमारगुप्त की सभा मे थे। वही कालिदास -स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के सहचर थे, कुमारगुप्त का नामांकित एक काव्य भी—कुमारसम्भव बनाया। यह बात तो अब बहुत से विद्वान् मानने लगे है कि कालिदास के काव्यो मे गुप्तवश का व्यजना मे वर्णन है। हूणो के उत्पात और उनसे रक्षा करने के वर्णन का पूर्ण आभास कुमारसम्भव मे है। स्कन्दगुप्त के भितरीवाले शिलालेख मे एक स्थान पर उल्लेख है—

'क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा'

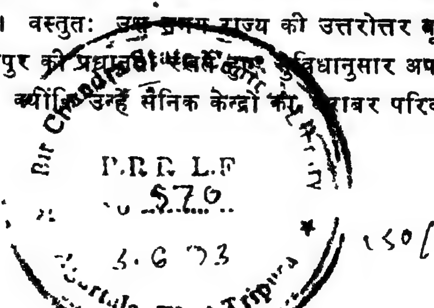
तो 'रघुवंश' मे भी मिलता है—

सललितकुसुमप्रवालशय्यां, ज्वलितमहौषधिदीपिकासनाथाम्।
नरपति रतिवाह्यां बभूव क्वचिद् समेतपरिच्छदस्त्रियामाम्॥

---

१. विक्रमादित्य इत्यासीद्राजा पाटलिपुत्रके (कथा सरित्सागर)

यह द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के लिए आया है। बौद्धो ने अयोध्या मे इसकी राजधानी होना लिखा है। सम्भवतः मगध की साम्राज्य-सीमा बढ़ने पर अयोध्या मे सम्राट् कुछ दिनों के लिए रहने लगे हो, परन्तु उज्जयिनी में इनका शासन होना किसी भी लेखक ने नही लिखा है। इनके पुत्र कुमारगुप्त ने 'महोदय' को विशेष आदर दिया; क्योकि साम्राज्य धीरे-धीरे उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़ रहा था। वस्तुतः उस गुप्त राज्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ गुप्त-सम्राट् लोग कुसुमपुर को प्रधान राजधानी रखते हुए सुविधानुसार अपने रहने का स्थान बदलते रहे है। क्योंकि उन्हें सैनिक केन्द्रों का बराबर परिवर्त्तन करना पड़ता था।



स्कन्दगुप्त के शिलालेखों में जो पद्य रचना है, वह वैसी ही प्रांजल है जैसी रघुवंश की—**'व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्र पुत्रान् लक्ष्मीः स्वयं यं वरयाञ्चकार'** इत्यादि में रघुवंश की जैसी ही शैली दीख पड़ती है। **'स्कंदेन साक्षादिव देवसेनाम्'** इत्यादि में स्कन्दगुप्त का स्पष्ट उल्लेख भी है और कुमारगुप्त के तो बहुत उल्लेख हैं। रघुवंश के ५, ६, ७ सर्गो में तो अज के लिए कुमार शब्द का प्रयोग कम से कम ११ बार है।

विक्रमादित्य के जीवन के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि उनका अन्तिम जीवन पराजय और दुःखों से सम्बन्ध रखता है। वस्तुतः चन्द्रगुप्त के जीवन काल में साम्राज्य की वृद्धि के अतिरिक्त उसका ह्रास नही हुआ। यह स्कन्दगुप्त के समय में ही हुआ कि उसे अनेक षड्यन्त्रों, विपत्तियों तथा कष्टों का सामना करना पड़ा। जिस समय पुरगुप्त के अन्तर्विद्रोह से मगध और अयोध्या छोड़कर स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य ने उज्जयिनी को अपनी राजधानी बनायी और साम्राज्य का नया संगठन हो रहा था उसी समय मातृगुप्त को काश्मीर का शासक नियुक्त किया गया। यह समय ईसवीय सन् ४५० से ५०० के बीच पड़ता है। ४६७ ईसवीय में स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य का अन्त हुआ। उसी समय मातृगुप्त **(कालिदास)** ने काश्मीर का राज्य स्वयं छोड़ दिया और काशी चले आये। अब बहुत से लोग इस बात की शंका करेंगे कि कहाँ उज्जयिनी, कहाँ मगध, कहाँ काश्मीर फिर काशी और सबके बाद सिंहल जाना—यह बड़ा दूरान्वय—सम्बन्ध है। परन्तु उस काल में सिंहल और भारत मे बड़ा अच्छा सम्बन्ध था। महाराज समुद्रगुप्त के समय में सिंहल के राजा मेघवर्ण ने उपहार भेजकर बोधगया मे 'विहार' बनाने की प्रार्थना की थी; महावंश और समुद्रगुप्त के लेख मे इसका सकेत है और महाबोधि विहार सिंहल के राजकुल की कीर्त्ति है, तब से सिंहल के राजकुमार और राजकुल के भिक्षु इस विहार में बराबर आते रहते थे। बोध-गया से लाया गया पटना म्युजियम में एक शिलालेख है—**(नम्बर ११३)**, यह प्रमाण प्रख्यात कीर्ति का है—**'लङ्काद्वीप नरेन्द्राणां श्रमणः कुलजोभवत्। प्रख्यातकीर्तिर्धर्मात्मा स्वकुलाम्बर चन्द्रमा'**। महानामन् के शिलालेख से इसकी पुष्टि होती है।

'संयुक्तागमिनो विशुद्धरजसः सत्वानुकम्पोद्यता
शिष्याथस्य सकृद्विचेरुरतुलांलङ्काचलोपत्यकां
तेभ्यः शीलगुणान्वितश्च शतशः शिष्याः प्रशिष्याः क्रमात्
जातास्तुङ्गनरेन्द्रवंशतिलकाः प्रोत्सृज्य राज्यश्रियम्'

जब, राजकुल के श्रमण और राजपुत्र लोग यहाँ तीर्थ-यात्रा के लिए बराबर आते थे और संस्कृत कविता का प्रचार भी रहा तब उस काल के सर्वोच्च कवि की मैत्री की इच्छा स्वाभाविक है और उस नष्टाश्रय महाकवि के साथ मैत्री करने में

अपने को धन्य समझनेवाले कुमारदास की कथा में अविश्वास का कारण नहीं है। यदि स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के मरने पर दुखी होकर राजमित्र के पास इनका सिंहल जाना ठीक है तो यह कहना होगा कि 'मेघदूत' उसी समय का काव्य है और देवगिरि की स्कन्दराज-प्रतिमा उनकी आँखों से देखी हुई थी जिसका वर्णन उन्होंने **'देवपूर्वंगिरिं ते'** वाले श्लोक में किया। यदि ५२४ ईसवीय तक कालिदास का जीवित रहना ठीक है तो उन्होंने गुप्तवंश का ह्रास भी भलीभाँति देखा अथवा सुना होगा रघुवंश में वैसा ही अन्तिम पतनपूर्ण वर्णन भी है। कुमारदास का सिंहल का राजा उसी काल में होना और सिंहल में कालिदास के जाने की रूढ़ि उस देश में माना जाना, उधर चीनी यात्री द्वारा वर्णित कालिदास का मनोरथ को हराना, दिङ्नाग कालिदास का द्वन्द्व, विक्रमादित्य और मातृगुप्त की कथा का 'राजतरंगिणी' में उसी काल का उल्लेख, हूण-राजकुल मे सुङ्गयुन के अनुसार विग्रह, काश्मीर-युद्ध की देखी हुई घटना—यह सब बातें आकर एक सूत्र मे ऐसी प्रामाणिक हो जाती है कि दूसरे काव्यकार कालिदास को—विक्रम सखा, दीप शिखा कालिदास को—मातृगुप्त मानने में कुछ भी संकोच नही होता —जैसा डाक्टर भाऊदाजी का भी मत है।

विक्रमांक के समान भोज के पिता सिंधुराज की पदवी साहसांक थी। पद्मगुप्त परिमल ने नवसाहसाक-चरित बनाया था। तंजौरवाली 'साहसाक-चरित' की प्रति में इनको भी कालिदास लिखा। बहुत सम्भव है कि यह तीसरे कालिदास बंगाल के हों, जैसा कि बंगाली लोग मानते है। ऋतुसंहार, पुष्पबाण-विलास, शृंगार-तिलक और अश्वघाटी काव्यों के रचयिता सम्भवत यही तीसरे कालिदास हो सकते है।



---

१. (पृष्ठ ३७) भीतरी-स्तंभ लेख की उद्धृत पक्ति 'विनय बल सुनीतैर्विक्रमेणक्रमेण' में 'क्रमेण' शब्द पर विशेष ध्यान दिया जाय तो प्रतीत होगा कि यह स्कन्दगुप्त की मूल उपाधि रही। १४६ ग्रेनवाली उसकी स्वर्ण मुद्राओ (बयानाढेर) में 'जयति दिवं श्री क्रमादित्य' है। आगे चलकर उसके चाँदी के सिक्कों पर 'परम भागवत श्री विक्रमादित्य स्कन्दगुप्त' मिलता है। अतः उस भितरी-भूमि, जहाँ से 'पितरिदिविमुपेते विप्लुता वश लक्ष्मी' को 'स्तंभनायोद्यताना' होकर उसने हूण अभियान को अग्रसर किया वहाँ के स्तंभ लेख मे 'विक्रमेण क्रमेण' का 'क्रमेण' संज्ञा के रूप मे मूल-उपाधिवत् है और आगे चाँदी के सिक्कों पर अपने महान विक्रम के कारण 'परमभागवत श्री विक्रमादित्य स्कन्दगुप्तः' में परवर्त्ती पदवी—विशेषण रूप है जिसमे विक्रमादित्य विभूषित हुआ। (सं०)

गुप्त राजवंश

श्री गुप्त—(ई० २७५–३००)

(कोई इसका नाम केवल 'गुप्त' लिखते हैं श्री सम्मान सूचक है)

|

घटोत्कच गुप्त—(ई० ३००–३२०)

(इस नाम के साथ 'गुप्त' शब्द नही मिलता)

|

चंद्रगुप्त—(ई० ३२०–३३५)

(यही पहला स्वतन्त्र गुप्त वंशी राजा हुआ। वैशाली के लिच्छिवियों के यहाँ इसका व्याह हुआ)

|

समुद्रगुप्त—(ई० ३३५–३८५)

(गुप्तवंश का परम प्रतापी, भारत बिजेता सम्राट् राजसूय और अश्वमेध यज्ञ किया)

|

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (ई० ३८५–४१३)

(पाटलीपुत्र का विक्रमादित्य, जिसे लोग चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य कहते हैं)

|

कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य (ई० ४१३–४५५)

(मालव-विजेता, आख्यायिकाओं के विक्रमादित्य का पिता महेन्द्रादित्य)

|

(स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (ई० ४५५–४६७)

(उज्जयिनी का द्वितीय विक्रमादित्य। महान वीर। इसके चाँदी के सिक्कों पर परम भागवत् श्री विक्रमादित्य स्कन्दगुप्त अंकित है)

पुरगुप्त प्रकाशादित्य (ई. ४६७-४६९)

(इसके सोने के सिक्कों पर 'श्री विक्रमा भी मिलता है। परंतु प्रकाशादित्य नाम वाले सिक्के भी इसी के हैं, जिन्हें उज्जयिनी में स्कंदगुप्त के शासन-काल में मगध मे इसने स्वतन्त्र रूप से ढलवाये, फिर स्कन्दगुप्त के मरने पर उसकी उपाधि श्री विक्रमः' भी ग्रहण कर ली होगी)

|

नरसिंहगुप्त बालादित्य (ई० ४६९–४७३)
(यह प्रथम बालादित्य है, जिसे राज-तरंगिणी-कार ने भ्रम से विक्रमादित्य का भाई लिखा है। और, वह यशोधर्म का भी समकालीन नहीं था)

|

कुमारगुप्त विक्रमादित्य
(द्वितीय ई० ४७३–४७६)
(कई विद्वान कुमार गुप्त को स्कन्द गुप्त का उत्तराधिकारी मानते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं। भितरी के 'सील' से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुमार गुप्त द्वितीय पुरगुप्त का पुत्र था। सारनाथ वाले शिलालेख का कुमार गुप्त और भितरी के 'सील' का कुमार, दोनों एक ही व्यक्ति हैं, जिसका उत्तराधिकारी बुधगुप्त था—जिसके राज्य में मालव पर हूणों का अधिकार हुआ। मंदसोर के शिलालेख में जिस कुमारगुप्त का उल्लेख है, उस काल (४९३ वि०) में बन्धुवर्मा का राज्य मालव पर था, उक्त ४३६ ई० में कुमार गुप्त प्रथम का राज्य था। और उसी शिलालेख में जो ५२९ वि० का उल्लेख है, वह उस मन्दिर के जीर्णोद्धार का है—'संस्कारितमिदंभूयः श्रेण्या भानुमती गृहं'—से यह स्पष्ट है)

|

बुधगुप्त परादित्य ? (ई० ४७८–४९४)
(इसके समय में मगध-साम्राज्य के बड़े-बड़े प्रदेश अलग हुए। इसका राज्य केवल मगध अंग और काशी तक ही रह गया था)

तथागतगुप्त परमादित्य ?
(ई० ४९४–५१०)

जोत एलन के मतानुसार यहाँ घटोत्कच का नाम होना चाहिए। परन्तु ह्वेन्त्साग ने लिखा है कि यशोधर्म्म के साथ मिहिर कुल को हराने वाले बालादित्य के पिता का नाम तथागतगुप्त था। इससे हम भानुगुप्त के पिता का नाम तथागत गुप्त ही मानने को बाध्य होते है

|

भानुगुप्त बालादित्य (ई० ५१०–५३४)

जब हूणों से मालव का उद्धार यशोधर्म्म देव ने किया उसी समय मगध को इसी बालादित्य ने बचाया। इसी की ओर से एरिकिण में गोपराज ने युद्ध किया। सारनाथ में इसी का लेख मिला है—'तद्वंश संभवो बालादित्यो नृपः प्रीत्य प्रकटादित्ये।' No. 79, Plate XY IIIC

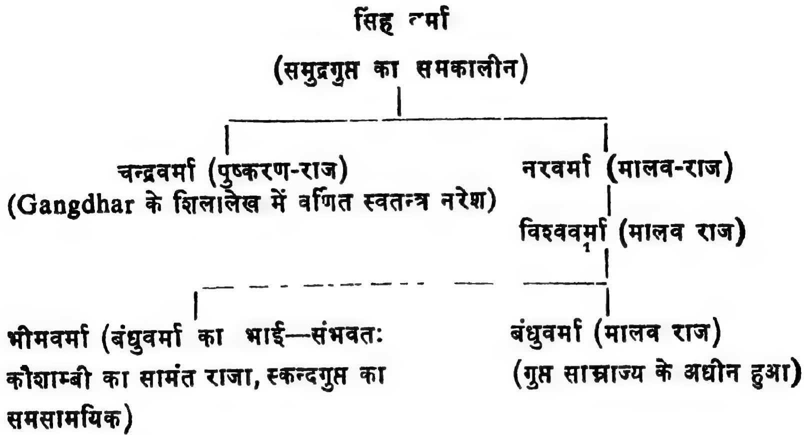
|

वज्रगुप्त प्रकटादित्य (ई० ५३४–५४०)

प्रकटादित्य वज्रगुप्त की उपाधि है इसी वज्रगुप्त के समय में मालव के शीलादित्य ने मगध छीन लिया तब से गुप्त वंश का प्राधान्य लुप्त हुआ।



मालव राजवंश



सिंह र्मा
(समुद्रगुप्त का समकालीन)
चन्द्रवर्मा (पुष्करण-राज)
(Gangdhar के शिलालेख में वर्णित स्वतन्त्र नरेश)
नरवर्मा (मालव-राज)
विश्ववर्मा (मालव राज)
भीमवर्मा (बंधुवर्मा का भाई—संभवतः कौशाम्बी का सामंत राजा, स्कन्दगुप्त का समसामयिक)
बंधुवर्मा (मालव राज)
(गुप्त साम्राज्य के अधीन हुआ)

●

चन्द्रगुप्त

(मौर्य्य-वंश)

प्राचीन आर्य नृपतिगण का साम्राज्य उस समय नहीं रह गया था। चन्द्र और सूर्यवंश की राजधानियाँ अयोध्या और हस्तिनापुर, विकृत रूप में भारत के वक्षस्थल पर अपने साधारण अस्तित्व का परिचय दे रही थीं। अन्य प्रचण्ड बर्बर जातियों की लगातार चढ़ाइयों से पवित्र सप्तसिन्धु प्रदेश में आर्यों के सामगान का पवित्र स्वर मन्द हो गया था। पाञ्चालों की लीला-भूमि तथा पंजाव मिश्रित जातियों से भर गया था। जाति, समाज और धर्म— सब में एक विचित्र मिश्रण और परिवर्तन-सा हो रहा था। कहीं आभीर और कही ब्राह्मण; राजा वन बैठे थे। यह सब भारत भूमि की भावी दुर्दशा की सूचना क्यों थी ? इसका उत्तर केवल यही आपको मिलेगा कि— धर्म सम्बन्धी महापरिवर्तन होने वाला था। वह बुद्ध से प्रचारित होने वाले बौद्धधर्म की ओर भारतीय आर्य लोगों का झुकाव था, जिसके लिये ये लोग प्रस्तुत हो रहे थे।

उस धर्मबीज को ग्रहण करने के लिए कपिल, कणाद आदि ने आर्यो का हृदय-क्षेत्र पहले ही से उर्वर कर दिया था, किन्तु यह मत सर्वसाधारण में अभी नहीं फैला था। वैदिक-कर्मकाण्ड की जटिलता से उपनिषद् तथा सांख्य आदि शास्त्र आर्य लोगों को सरल और सुगम प्रतीत होने लगे थे। ऐसे ही समय पार्श्वनाथ ने एक जीव-दयामय धर्म प्रचारित किया और वह धर्म बिना किसी शास्त्र-विशेष के; वेद तथा प्रमाण की उपेक्षा करते हुए फैलकर शीघ्रता के साथ सर्वसाधारण से सम्मान पाने लगा। **आर्यों की राजसूय और अश्वमेध आदि शक्ति बढ़ाने वाली क्रियायें शून्य स्थान में ध्यान और चिन्तन के रूप में परिवर्तित हो गयीं; अहिंसा का प्रचार हुआ। इससे भारत की उत्तरी सीमा में स्थित जातियों को भारत में आकर उपनिवेश स्थापित करने का उत्साह हुआ।** दार्शनिक मत के प्रबल प्रचार से भारत में धर्म, समाज और साम्राज्य, सब में विचित्र और अनि-वार्य परिवर्तन हो रहा था। बुद्धदेव के दो-तीन शताब्दी पहले ही दार्शनिक मतों ने, उन विशेष बन्धनों को, जो उस समय के आर्यो को उद्विग्न कर रहे थे, तोड़ना आरम्भ किया। उस समय ब्राह्मण वल्कलधारी होकर काननों में रहना ही अच्छा न समझते वरन् वे भी राज्यलोलुप होकर स्वतन्त्र छोटे-छोटे राज्यों के अधिकारी बन

वैठे। क्षत्रियगण राजदण्ड को बहुत भारी तथा अस्त्र-शस्त्रों को हिंसक समझ कर उनकी जगह जप-चक्र हाथ में रखने लगे। वैश्य लोग भी व्यापार आदि में मनोयोग न देकर धर्माचार्य की पदवी को सरल समझने लगे। और तो क्या भारत के प्राचीन दास भी अन्य देशों से आयी हुई जातियों के साथ मिल कर दस्यु-वृत्ति करने लगे। (भारतीय महाजाति के पराभव के प्रथम आवर्त्त की यह चित्र-भूमि है। सं०)

वैदिक धर्म पर क्रमशः बहुत-से आघात हुए, जिनसे वह जर्जर हो गया। कहा जाता है कि उस समय धर्म की रक्षा करने में तत्पर ब्राह्मणों ने अर्बुदगिरि पर एक महान् यज्ञ करना आरम्भ किया और उस यज्ञ का प्रधान उद्देश्य वर्णाश्रम धर्म तथा वेद की रक्षा करना था। चारों ओर से दल-के-दल क्षत्रियगण— जिनका युद्ध ही आमोद था—जुटने लगे और वे ब्राह्मण धर्म को मानकर अपने आचार्यो को पूर्ववत् सम्मानित करने लगे। जिन जातियों को अपने कुल की क्रमागत वंशमर्यादा भूल गयी थी, वे तपस्वी और पवित्र ब्राह्मणों के यज्ञ से संस्कृत होकर चार जातियों में विभाजित हुईं। इनका नाम अग्निकुल हुआ। सम्भवतः इसी समय में तक्षक या नागवंशी भी क्षत्रियों की एक श्रेणी में गिने जाने लगे।

यह धर्म-क्रान्ति भारतवर्ष में उस समय हुई थी जब जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ हुए, जिनका समय ईसा से ८०० वर्ष पहले माना जाता है। जैन लोगों के मत से भी इस समय में विशेष अन्तर नही है। ईसा के आठ सौ पूर्व यह बड़ी घटना भारतवर्ष में हुई, जिसने भारतवर्ष में राजपूत जाति बनाने में बड़ी सहायता दी और समय-समय पर उन्ही राजपूत क्षत्रियों ने बड़े-बड़े कार्य किये। उन राजपूतों की चार जातियों में प्रमुख परमार जाति थी और जहाँ तक इतिहास पता देता है— उन लोगों ने भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों मे फैलकर नवीन जनपद और अक्षय कीर्ति उपार्जित की। धीरे-धीरे भारत के श्रेष्ठ राजन्यवर्गो में उनकी गणना होने लगी। यद्यपि इस कुल की भिन्न-भिन्न पैंतीस शाखाएँ है, पर सब में प्रधान और लोक-विश्रुत मौर्य नाम की शाखा हुई। भारत का शृंखलाबद्ध इतिहास नही है, पर बौद्धों के बहुत-से शासन-सम्बन्धी लेख और उनकी धर्म-पुस्तकों से हमे बहुत सहायता मिलेगी, क्योंकि उस धर्म को उन्नति के शिखर पर पहुँचाने वाला उसी मौर्य-वंश का सम्राट् अशोक हुआ है। बौद्धों के विवरण से ज्ञात होता है, कि शैशुनाक-वंशी महानन्द के संकर-पुत्र महापद्म के पुत्र धननन्द से मगध का सिंहासन लेने वाला चन्द्रगुप्त मोरियों के नगर का राजकुमार था। यह मोरियों का नगर पिप्पली-कानन था, और पिप्पली-कानन के मौर्य-नृपति लोग भी बुद्ध के शरीर-भस्म के भाग लेने वालों मैं एक थे।

मौर्य लोगों की उस समय भारत मे कोई दूसरी राजधानी न थी। यद्यपि इस बात का पता नहीं चलता, कि इस वंश के आदि पुरुषों में से किसने पिप्पली-कानन में मौर्यो की पहली राजधानी स्थापित की, पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ईसा से ५००

वर्षों या इससे पहले यह राजधानी स्थापित हुई और मौर्य-जाति, इतिहास-प्रसिद्ध कोई ऐसा कार्य तब तक नहीं कर सकी जब तक प्रतापी चन्द्रगुप्त उसमें न उत्पन्न हुआ। उसने मौर्य शब्द को, जो अब तक भारतवर्ष के एक कोने में पड़ा हुआ अपना जीवन अपरिचित रूप से बिता रहा था, केवल भारत ही नहीं वरन् ग्रीस आदि समस्त देशों में परिचित करा दिया। ग्रीक-इतिहास-लेखकों ने अपनी भ्रमपूर्ण लेखनी से इस चंद्रगुप्त के बारे में कुछ तुच्छ बातें लिख दी हैं, जो कि बिल्कुल असम्बद्ध ही नहीं, वरन् उल्टी हैं। जैसे—'चन्द्रगुप्त नाइन के पेट से पैदा हुआ महानन्दिन् का लड़का था।' पर यह बात पोरस ने महापद्म और धननन्द आदि के लिये कही है[1] और वही पीछे से चन्द्रगुप्त के लिये भ्रम से यूनानी ग्रन्थकारों ने लिख दी है। ग्रीक-इतिहास-लेखक Plutarch लिखता है कि चन्द्रगुप्त मगध-सिंहासन पर आरोहण करने के बाद कहता था कि सिकन्दर महापद्म को अवश्य जीत लेता, क्योंकि यह नीचजन्मा होने के कारण जन-समाज में अपमानित तथा घृणित था। लिवानियस आदि लेखकों ने तो यहाँ तक भ्रम डाला है कि पोरस ही नापित से पैदा हुआ था।' पोरस ने ही यह बात कही थी, इससे वही नापित-पुत्र समझा जाने लगा, तो क्या आश्चर्य है कि तक्षशिला में ... चन्द्रगुप्त ने यही बात कही थी, तो वही नापित पुत्र समझा जाने लगा हो। ग्रीकों के भ्रम से ही यह कलंक उसे लगाया गया है।

एक बात और भी उस समय तक निर्धारित नहीं हुई थी कि Sandrokottus और Xandramus भिन्न-भिन्न दो व्यक्तियों का या एक का ही नाम है। यह H. H. Wilson ने विष्णुपुराण आदि के सम्पादन-समय में सण्ड्रोकोटस और चन्द्रगुप्त को एक में मिलाया। यूनानी लेखकों ने लिखा है कि Xandramus ने बहुत सेना लेकर सिकन्दर से मुकाबिला किया। उन्होंने उस प्राच्य देश के राजा Xandramus को, जो नन्द था, भूल से चन्द्रगुप्त समझ लिया - जो कि तक्षशिला में एक बार सिकन्दर से मिला था और बिगड़कर लौट आया था। चन्द्रगुप्त और सिकन्दर की

---

1. Allexandeı, who did not at first believe this; enquired from King Porus whether this account of the power of Xandramus was true, and he was told by Porus that it was true, but that the king was but of mean and obscure extraction accounted to be a barber's son; that the queen, however, had fallen in love with the barber, had mudered her husband and that the kingdom had thus devolved upon Xandramus.

Diodorus Sicuiuis

(In. History of A. S. Literature)

भेंट हुई थी, इसलिए भ्रम से वे लोग Sandrokottus और Xandramus को एक समझ कर नन्द की कथा को चन्द्रगुप्त के पीछे जोड़ने लगे।

चन्द्रगुप्त ने पिप्पली-कानन के कोने से निकल कर पाटलिपुत्र पर अधिकार किया। मेगस्थिनीज़ ने इस नगर का वर्णन किया है और फारस की राजधानी से बढ़कर बतलाया है। अस्तु, मौर्यो की दूसरी राजधानी पाटलिपुत्र हुई।

पुराणों को देखने से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त के बाद नौ राजा उसके वंश में मगध के सिंहासन पर बैठे। उनमें अन्तिम राजा बृहद्रथ हुआ, जिसे मारकर पुष्यमित्र –जो शुंग-वंश का था —मगध के सिंहासन पर बैठा; किन्तु चीनी यात्री ह्वेनत्सांग, जो हर्षवर्धन के समय में आया था, लिखता है—"मगध का अन्तिम अशोकवंशी पूर्णवर्मा हुआ, जिसके समय मे शशांकगुप्त ने बोधिद्रुम को विनष्ट किया था। और उसी पूर्णवर्मा ने बहुत से गौ के दुग्ध से उस उन्मूलित बोधिद्रुम को सींचा, जिससे वह शीघ्र ही फिर बढ़ गया।" यह बात प्रायः सब मानते हैं कि मौर्य-वंश के नौ राजाओं ने मगध के राज्यासन पर बैठकर उसके अधीन समस्त भू-भाग पर शासन किया। जब मगध के सिंहासन पर से मौर्यवंशीयों का अधिकार जाता रहा तब उन लोगों ने एक प्रादेशिक राजधानी को अपनी राजधानी बनाया। प्रबल प्रतापी चन्द्रगुप्त का राज्य चार प्रादेशिक शासको से शासित होता था। अवन्ति, स्वर्णगिरि, तोषालि और तक्षशिला में अशोक के चार सूबेदार रहा करते थे। इनमे अवन्ति के सूबेदार प्राय. राजवंश के होते थे। स्वयं अशोक उज्जैन का सूबेदार रह चुका था। सम्भव है कि मगध का शासन डाँवाडोल देखकर मगध के आठवें मौर्य नृपति सोमशर्मा के किसी भी राजकुमार ने, जो कि अवन्ति का प्रादेशिक शासक रहा हो, अवन्ति को प्रधान राजनगर बना लिया हो, क्योंकि उसकी एक ही पीढ़ी के बाद मगध के सिंहासन पर शुंगवंशीयों का अधिकार हो गया। यह घटना सम्भवत. १७५ ई० पू० में हुई होगी, क्योंकि १८३ में सोमशर्मा मगध का राजा हुआ। भट्टियों के ग्रन्थों में लिखा है कि मौर्य-कुल के मूलवंश से उत्पन्न हुये परमार नृपतिगण ही उस समय भारत के चक्रवर्ती राजा थे; और वे लोग कभी-कभी उज्जयिनी में ही अपनी राजधानी स्थापित करते थे।

टॉड ने अपने राजस्थान में लिखा है कि जिस चन्द्रगुप्त की महान प्रतिष्ठा का वर्णन भारत के इतिहास मे स्वर्णाक्षरों से लिखा है, उस चन्द्रगुप्त का जन्म पँवार-कुल की मौर्य शाखा मे हुआ है। सम्भव है कि विक्रम के सौ या कुछ वर्ष पहले जब मौर्यों की राजधानी पाटलिपुत्र से हटी, तब इन लोगों ने उज्जयिनी को प्रधानता दी और यहीं पर अपने एक प्रादेशिक शासक की जगह राजा की तरह रहने लगे।

राजस्थान मे पँवार-कुल के मौर्य-नृपतिगण ने इतिहास में प्रसिद्ध बड़े-बड़े कार्य

किये, किन्तु ईसा की पहली शताब्दी से लेकर ५वीं शताब्दी तक प्राय: उन्हें गुप्त-वंशी तथा अपर जातियों से युद्ध करना पड़ा। भट्टियों ने लिखा है कि उस समय मौर्य-कुल के परमार लोग कभी उज्जयिनी को और कभी राजस्थान की धारा को अपनी राजधानी बनाते थे।

इसी दीर्घकालव्यापिनी अस्थिरता से मौर्य लोग जिस तरह अपनी प्रभुता बनाये रहे, उस तरह किसी वीर और परिश्रमी जाति के सिवा दूसरा नहीं कर सकता। इसी जाति के महेश्वर नामक राजा ने विक्रम के ६०० वर्ष बाद कार्तवीर्यार्जुन की प्राचीन महिष्मती को, जो नर्मदा के तट पर थी, फिर से बसाया और उसका नाम महेश्वर रखा, उन्हीं का पौत्र भोज हुआ। चित्रांग मौर्य ने भी थोड़े ही समय के अन्तर में चित्रकूट (चित्तौर) का पवित्र दुर्ग बनवाया, जो भारत के स्मारक चिह्नों में एक अपूर्व वस्तु है।

गुप्तवंशियों ने जब अवन्ति मौर्य लोगों से ले ली, उसके बाद वीर मौर्यों के उद्योग से कई नगरियाँ बसाई गयी और कितनी ही उन लोगों ने दूसरे राजाओं से लीं। अर्बुदगिरि के प्राचीन भू-भाग पर उन्ही का अधिकार था। उस समय के राजस्थान के सब अच्छे-अच्छे नगर प्राय: मौर्य-राजगण के अधिकार में थे। विक्रमीय संवत् ७८० तक मौर्यों की प्रतिष्ठा राजस्थान में थी और उस अन्तिम प्रतिष्ठा का तो भारतवासी कभी न भूलेंगे जो चित्तौर-पति मौर्यनरनाथ मानसिंह ने खलीफा वलीद को राजस्थान से विताड़ित करके प्राप्त की थी।

मानमौर्य के बनवाये हुए मानसरोवर में एक शिलालेख है, जिसमें लिखा है कि—"महेश्वर को भोज नाम का पुत्र हुआ था, जो धारा और मालव का अधीश्वर था, उसी से मानमौर्य हुए।" इतिहास में ७८४ संवत् मे बाप्पारावल का चित्तौर पर अधिकार करना लिखा है, तो इसमें सन्देह नही रह जाता कि यही मानमौर्य बाप्पारावल के द्वारा प्रवञ्चित हुआ।

महाराज मान प्रसिद्ध बाप्पादित्य के मातुल थे। बाप्पादित्य ने नागेन्द्रसे भागकर मानमौर्य के यहाँ आश्रय लिया, उनके यहाँ सामन्त रूप से रहने लगे। धीरे-धीरे उनका अधिकार सब सामन्तों से बढ़ा, तब सब सामन्त उनसे डाह करने लगे। किन्तु बाप्पादित्य की सहायता से मानमौर्य ने यवनों को फिर भी पराजित किया। पर उन्हीं बाप्पादित्य की दोधारी तलवार मानमौर्य के लिये कालभुजंगिनी और मौर्य कुल के लिए तो मानो प्रलय समुद्र की एक बड़ी लहर हुई। मान बाप्पादित्य के हाथ से मारे गये और राजस्थान में मौर्य-कुल का अब कोई राजा न रहा। यह घटना विक्रमीय संवत् ७८४ की है।

कोटा के कण्वाश्रम के शिवमन्दिर में एक शिलालेख संवत् ७९५ का पाया गया

है। उससे मालूम होता है कि आठवीं शताब्दी के अन्त तक राजपूताना और मालवा पर मौर्य-नृपतियों का अधिकार रहा।

प्रसिद्ध मालवेश भोज भी परमार वंश का था जो १०३५ में हुआ। इस प्रकार परमार और मौर्य-कुल पिछले काल के विवरणों से एक में मिलाये जाते है। इस बात की शंका हो सकती है कि मौर्य कुल की मूल शाखा परमार का नाम प्राचीन बौद्धों की पुस्तकों में क्यों नही मिलता। परन्तु यह देखा जाता है कि जब एक विशाल जाति से एक छोटा-सा कुल अलग होकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता बना लेता है, तब प्राय: वह अपनी प्राचीन संज्ञा को छोड़कर नवीन नाम को अधिक प्रधानता देता है। जैसे इक्ष्वाकुवंशी होने पर भी बुद्ध, शाक्य नाम से पुकारे गए और, जब शिलालेखों में मानमौर्य और परमार भोज के हम एक ही वंश में होने का प्रमाण पाते हैं तब कोई संदेह नही रह जाता। हो सकता है, मौर्यो के बौद्धयुग के बाद जब इस शाखा का हिन्दू धर्म की ओर अधिक झुकाव हुआ तो परमार नाम फिर से लिया जाने लगा हो, क्योंकि मौर्य लोग बौद्ध-प्रेम के कारण अधिक कुख्यात हो चूके थे। बौद्ध-विद्वेष के कारण अशोक के वंश को अक्षत्रिय तथा नीच कुल का प्रमाणित करने के लिए मध्यकाल मे अधिक उत्सुकता देखी जाती है, किन्तु यह अस्वीकार नही किया जा सकता है कि प्रसिद्ध परमार-कुल और मौर्य-वंश परस्पर सम्बद्ध है।

इस प्रकार अज्ञात पिप्पली-कानन के एक कोने से निकलकर विक्रम-संवत् के २६४ वर्ष पहले से ७८८ वर्ष बाद तक मौर्य लोगों ने पाटिलपुत्र, उज्जैन, धारा, महेश्वर, चित्तौर (चित्रकूट) और अर्बुदगिरि आदि में अलग-अलग अपनी राजधानियाँ स्थापित की और लगभग १०५० वर्ष तक वे लोग मौर्य-नरपति कहकर पुकारे गये।

पिप्पिली-कानन के मौर्य :

मौर्य-कुल का सबसे प्राचीन स्थान पिप्पिली-कानन था। चन्द्रगुप्त के आदि-पुरुष मौर्य इसी स्थान के अधिपति थे और यह राजवंश गौतम बुद्ध के समय में प्रतिष्ठित गिना जाता था, क्योंकि बौद्धों ने महात्मा बुद्ध के शरीर-भस्म का एक भाग पाने वालों में पिप्पिली-कानन के मौर्यो का उल्लेख किया है। पिप्पिली-कानन बस्ती जिले मैं नेपाल की सीमा पर है। यहाँ ढूह और स्तूप है, इसे अब पिपरहियाकोट कहते है। फाहियान ने स्तूप आदि देखकर भ्रमवंश इसी को पहले कपिलवस्तु समझा था। मि० पीपी ने इसी स्थान को पहले खुदवाया और बुद्धदेव की धातु तथा और जो वस्तुएं मिली, उन्हें गवर्नमेट को अर्पित किया था तथा धातु का प्रधान अंश सरकार ने स्याम के राजा को दिया।

इसी पिप्पिली-कानन में मौर्य लोग अपना छोटा-सा राज्य स्वतन्त्रता से संचालित करते थे, और, ये क्षत्रिय थे, जैसा कि महावंश के इस अवतरण से सिद्धि

होता है "मोरियानं खत्तियानं वंसजातं सिरीधर। चन्द्रगुत्तो सिपंज्जतं चाणक्को ब्राह्मणेततो।" हिन्दू नाटककार विशाखदत्त ने चन्द्रगुप्त को प्राय: वृषल कहकर सम्बोधित कराया है, इसमे उक्त हिन्दू-काल की मनोवृत्ति ही ध्वनित होती है। वस्तुत: वृषल शब्द से तो उनका क्षत्रियत्व और भी प्रमाणित होता है क्योंकि—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमा क्षत्रियजातयः
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणानामदर्शनात्!

से यही मालूम होता है कि जो क्षत्रिय लोग वैदिक क्रियाओ से उदासीन हो जाते थे, उन्हें धार्मिक दृष्टि से वृषलत्व प्राप्त होता था। वस्तुत: वे जाति से क्षत्रिय थे। स्वयं अशोक मौर्य अपने को क्षत्रिय कहता था।

यह प्रवाद भी अधिकता से प्रचलित है कि मौर्य-वंश मुरा नाम की शूद्रा से चला है और चन्द्रगुप्त उसका पुत्र था। यह भी कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य शूद्रा मुरा से उत्पन्न हुआ नन्द ही का पुत्र था। किन्तु V A Smith लिखते है— "But it is perhaps more probable that the dynsties of Mouryas and Nandas were not connected by blood." तात्पर्य यह कि यह अधिक सम्भव है कि नन्दों और मौर्यों का कोई रक्त-सम्बन्ध न था।

Maxmuller भी लिखते है—"The statement of Wilford that Mourya meant in Sanskrit the offspring of a barber and Sudra woman has never been proved"

मुरा शूद्रा तक ही नही रही, एक नापित भी आ गया। मौर्य शब्द की व्याख्या करने जाकर कैसा भ्रम फैलाया गया है। मुरा से मौर और मौरेय बन सकता है न कि मौर्य। कुछ लोगों का अनुमान है कि शुद्ध शब्द मौरिय है, उससे संस्कृत शब्द मौर्य बना है; परन्तु यह बात ठीक नही, क्योंकि अशोक के कुछ ही समय बाद के पतञ्जलि ने स्पष्ट मौर्य शब्द का उल्लेख किया है—**"मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चा-प्रकल्पिता:"** (भाष्य ५,३-९९)। इसीलिये मौर्य शब्द अपने शुद्ध रूप में संस्कृत का है न कि कही से लेकर संस्कार किया गया है। तब तो यह स्पष्ट है कि मौर्य शब्द अपनी संस्कृत-व्युत्पत्ति के द्वारा मुरा का पुत्र वाला अर्थ नही प्रकट करता। यह वास्तव मे कपोल-कल्पना है और यह भ्रम यूनानी लेखकों से प्रचारित किया गया हैं; जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है। अर्थ-कथा मे मौर्य शब्द की एक और व्याख्या मिलती है। शाक्य लोगो मे आपस मे बुद्ध के जीवन-काल मे ही एक झगड़ा हुआ और कुछ लोग हिमवान् के पिप्पिली-कानन प्रदेश में अपना नगर बसाकर रहने लगे। उस नगर के सुन्दर घरो पर क्रौञ्च और मोर पक्षी के चित्र अंकित थे, इसलिये वहाँ के शाक्य लोग मोरिय कहलाये। कुछ सिक्के बिहार मे ऐसे भी मिले हैं, जिन पर

मयूर का चिह्न अंकित है। इससे अनुमान किया जाता है कि वे मौर्य-काल के सिक्के हैं। किन्तु इससे भी उनके क्षत्रिय होने का ही प्रमाण मिलता है।

हिन्दी 'मुद्राराक्षस' की भूमिका में भारतेन्दुजी लिखते हैं कि—"महानन्द, जो नन्दवंश का था, उससे नौ पुत्र उत्पन्न हुये। बड़ी रानी के आठ और मुरा नाम्नी नापित-कन्या से नवाँ चन्द्रगुप्त। महानन्द से और उसके मन्त्री शकटार से वैमनस्य हो गया, इस कारण मन्त्री ने चाणक्य द्वारा महानन्द को मरवा डाला और चन्द्रगुप्त को चाणक्य ने राज्य पर बिठाया, जिसकी कथा 'मुद्राराक्षस' में प्रसिद्ध है।"—किन्तु यह भूमिका जिसके आधार पर लिखी हुई है, वह मूल संस्कृत मुद्राराक्षस के टीकाकार का लिखा हुआ उपोद्घात है। भारतेन्दुजी ने उसे भी अविकल ठीक न मानकर 'कथा-सरित्सागर के आधार पर उसका बहुत-सा संशोधन किया है। कहीं-कही उन्होंने कई कथाओं का उलट-फेर भी कर दिया है। जैसे हिरण्यगुप्त के रहस्य के बतलाने पर राजा के फिर शकटार से प्रसन्न होने की जगह विचक्षणा के उत्तर से प्रसन्न होकर शकटार को छोड़ देना तथा चाणक्य के द्वारा अभिचार से मारे जाने की जगह महानन्द का विचक्षणा के दिये हुये विष से मारा जाना इत्यादि।

ढुण्ढि लिखते है कि—"कलि के आदि मे नन्द नाम का एक राजवंश था। उसमें सर्वार्थसिद्धि मुख्य था। उसकी दो रानियाँ थीं—एक सुनन्दा, दूसरी वृषला मुरा। सुनन्दा को एक मांसपिण्ड और मुरा को मौर्य उत्पन्न हुआ। मौर्य से नौ पुत्र उत्पन्न हुये। मन्त्री राक्षस ने उस मांसपिण्ड को जल में नौ टुकड़े करके रक्खा, जिससे नौ पुत्र हुये। सर्वार्थसिद्धि अपने उन नौ लडकों को राज्य देकर तपस्या करने चला गया। उन नौ नन्दों ने मौर्य और उसके लडके को मार डाला। केवल एक चन्द्रगुप्त प्राण बचाकर भागा; जो चाणक्य की सहायता से नन्दों का नाश करके, मगध का राजा बना।"

कथा-सरित्सागर के कथापीठ लम्बक में चन्द्रगुप्त के विषय में एक विचित्र कथा है। उसमें लिखा है कि—"नन्द के मर जाने पर इन्द्रदत्त (जो कि उसके पास गुरु-दक्षिणा के लिए द्रव्य माँगने गया था) ने अपनी आत्मा को योगबल से राजा के शरीर में डाला, और आप राज्य करने लगा। जब उसने अपने साथी वररुचि को एक करोड़ रुपया देने के लिए कहा, तब मन्त्री शकटार ने, जिसको राजा के मरकर फिर से जी उठने पर पहले ही से शंका थी, विरोध किया। तब उसे योगनन्द राजा ने चिढ़कर कैद कर लिया और वररुचि को अपना मन्त्री बनाया। योगनन्द बहुत विलासी हुआ, उसने सब राज्य-भार मन्त्री पर छोड़ दिया। उसकी ऐसी दशा देखकर वररुचि ने शकटार को छुड़ाया और दोनों मिलकर राज्य-कार्य करने लगे। एक दिन योगनन्द की रानी के चित्र में उसकी जाँघ पर एक तिल बना देने से

राजा ने वररुचि पर शंका करके शकटार को उसके मार डालने की आज्ञा दी। पर शकटार ने अपने उपकारी को छिपा रक्खा।

"योगनन्द के पुत्र हिरण्यगुप्त ने जंगल में अपने मित्र रीछ से विश्वासघात किया। इससे वह पागल और गूंगा हो गया। राजा ने कहा—'यदि वररुचि होता, तो इसका कुछ उपाय करता।' अनुकूल समय देखकर शकटार ने वररुचि को प्रकट किया। वररुचि ने हिरण्यगुप्त का सब रहस्य सुनाया और उसे निरोग किया। इस पर योगनन्द ने पूछा कि तुम्हें यह बात कैसे ज्ञात हुई ? वररुचि ने उत्तर दिया—'योगबल-से; जैसे रानी के जांघ का तिल।' राजा उस पर बहुत प्रसन्न हुआ; पर वह फिर न ठहरा और जंगल में चला गया। शकटार ने समय ठीक देखकर चाणक्य द्वारा योगनन्द को मरवा डाला और चन्द्रगुप्त को राज्य दिलाया।'

ढुण्ढि ने भी नाटक मे वृषल और मौर्य शब्द का प्रयोग देखकर चन्द्रगुप्त को मुरा का पुत्र लिखा है; पर पुराणों मे कही भी चन्द्रगुप्त को वृषल या शूद्र नही लिखा है। पुराणों मे जो शूद्र शब्द का प्रयोग हुआ है, वह शूद्राजात महापद्म के वंश के लिए है, यह नीचे लिखे हुए विष्णु-पुराण के उद्धृत अंश पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाएगा—

ततो महानन्दी इत्येते शैशुनाकादशभूमिपालास्त्रीणिवर्ष शतानि द्विषष्ट्यधिकानि भविष्यन्ति ॥३॥ महानन्दि सुतः शूद्रागर्भोद्भवोऽति लुब्धो महापद्मो नन्दः परशुराम इवापरोऽखिलक्षत्रान्तकारी भविता ॥४॥ ततः प्रभृति शूद्राभूमिपाला भविष्यन्ति सचैकच्छत्रामनुल्लंघित शासनो महापद्मः पृथिवीं भोक्षियन्ति ॥५॥ तम्याप्यष्टौ सुताः सुमाल्याद्या भवितारः तस्य च महापद्मस्यानुपृथिवीं भोक्ष्यन्ति महापद्मः तत्पुत्राश्च एकं वर्षशतमवनी पतयो भविष्यन्ति ततश्च नवचैतान् नंदान् कौटिल्यो ब्राह्मणः समुद्धरिष्यति ॥६॥ तेषामभावे मौर्य्याश्च पृथिवींभोक्ष्यंति कौटिल्य एव चन्द्रगुप्तं राज्येभिषेक्ष्यति ॥७॥ (चतुर्थ अंश अध्याय २४)

इससे यह मालूम होता है कि महानन्द के पुत्र महापद्म ने जो शूद्राजात था—अपने पिता के बाद राज्य किया और उसके बाद सुमाल्य आदि आठ लड़कों ने राज्य किया और इन सबने मिलकर महानन्द के बाद १०० वर्ष राज्य किया। इनके बाद चन्द्रगुप्त को राज्य मिला।

अब यह देखना चाहिए कि चन्द्रगुप्त को जो लोग महानन्द का पुत्र बताते हैं, उन्हें कितना भ्रम है; क्योंकि उन लोगों ने लिखा है कि—"महानन्द को मारकर चन्द्रगुप्त ने राज्य किया।" पर ऊपर लिखी हुई वंशावली से यह प्रकट हो जाता है कि महानन्द के बाद १०० वर्ष तक महापद्म और उसके लड़को ने राज्य किया। तब चन्द्रगुप्त की कितनी आयु मानी जाय कि महानन्द के बाद महापद्मादि के १०० वर्ष राज्य कर लेने पर भी उसने २४ वर्ष शासन किया ?

यह एक विलक्षण बात होगी यदि 'नन्दान्तं क्षत्रियकुलम्' के अनुसार शूद्राजात महापद्म और उसके लडके तो क्षत्रिय मान लिये जायें और —'अत. परं शूद्रा: पृथिवी भोक्ष्यन्ति' के अनुसार शूद्रता चन्द्रगुप्त से आरम्भ की जाय। महानन्द को जब शूद्रा से एक ही लड़का महापद्म था, तब दूसरा चन्द्रगुप्त कहाँ से आया ? पुराणों में चन्द्रगुप्त को कही भी महानन्द का पुत्र नही लिखा है। यदि सचमुच अन्तिम नन्द का ही नाम ग्रीको ने Xandramus रक्खा था, तो अवश्य ही हम कहेगे कि विष्णु-पुराण की महापद्म वाली कथा ग्रीको से ठीक मिल जाती है।

यह अनुमान होता है कि महापद्म वाली कथा, पीछे से बौद्ध-द्वेषी लोगों के द्वारा चन्द्रगुप्त की कथा मे जोडी गयी है, क्योकि उसी का पौत्र अशोक बौद्धधर्म का प्रधान प्रचारक था।

ढुण्ढि के उपोद्घात से एक बात का और पता लगता है कि चन्द्रगुप्त महानन्द का पुत्र नही, किन्तु मौर्य सेनापति का पुत्र था। महापद्मादि शूद्रागर्भोद्भूत होने पर भी नन्दवशी कहाये, तब चन्द्रगुप्त मुरा के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण नन्दवशी होने से क्यो वञ्चित किया जाता है। इसलिए मानना पडेगा कि नन्दवश और मौर्यवश भिन्न हे। मौर्यवश अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, जिसका उल्लेख पुराण, वृहत्कथा, कामन्दकीय इत्यादि मे मिलता है और पिछले काल के चित्तौर आदि शिलालेखो मे भी इसका उल्लेख है। इसी मौर्यवंश मे चन्द्रगुप्त उत्पन्न हुआ।

चन्द्रगुप्त का बाल्य-जीवन :

अर्थकथा, स्थविरावली, कथासरित्सागर और ढुण्ढि के आधार पर चन्द्रगुप्त के जीवन की प्राथमिक घटनाओ का पता चलता है।

मगध की राजधानी पाटलिपुत्र, शोण और गगा से संगम पर थी। राजमन्दिर, दुर्ग, लम्बी-चौडी पण्य-वीथिका, प्रशस्त राजमार्ग इत्यादि रहे, राजधानी के उपयोगी किसी वस्तु का अभाव न था। खाँई, सेना, रणतरी इत्यादि से वह सुरक्षित भी थी। उस समय महापद्म का वहाँ राज्य था।

पुराण मे वर्णित अखिल क्षत्रिय-निधनकारी महापद्म नन्द, या कालाशोक के लडको मे सबसे बडा पुत्र एक नीच स्त्री से उत्पन्न हुआ था, जो मगध छोड़ कर किसी अन्य प्रदेश मे रहता था। उस समय किसी डाकू से उसकी भेट हो गयी और वह अपने अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए उन्ही डाकुओ के दल मे मिल गया। जब उनका सरदार एक लडाई मे मारा गया, तो वही राजकुमार उन सबो का नेता बन गया और उसने पाटलिपुत्र पर चढाई की। उग्रसेन के नाम से उसने थोड़े दिनों के लिए पाटलिपुत्र का अधिकार छीन लिया, इसके बाद उसके आठ भाइयो ने कई वर्ष तक राज्य किया।

नवे नन्द का नाम धननन्द था। उसने गंगा के घाट बनवाये और उसके प्रवाह

को कुछ दिन के लिये हटाकर उसी जगह अपना भारी खजाना गाड़ दिया। उसे लोग धननन्द कहने लगे। धननन्द के अन्नक्षेत्र में एक दिन तक्षशिला प्रवासी चाणक्य ब्राह्मण आया और सबसे उच्च आसन पर बैठ गया, जिसे देखकर धननन्द चिढ़ गया और उसे अपमानित करके निकाल दिया। चाणक्य ने धननन्द का नाश करने की प्रतिज्ञा की।

कहते हैं कि जब नन्द बहुत विलासी हुआ, तो उसकी क्रूरता और भी बढ़ गयी—प्राचीन मन्त्री शकटार को बन्दी करके उसने वररुचि नामक ब्राह्मण को अपना मन्त्री बनाया। मगध-निवासी उपवर्ष के दो शिष्य थे, जिनमें से पाणिनि तक्षशिला में विद्याभ्यास करने गया था, किन्तु वररुचि, जिसकी राक्षस से मैत्री थी, नन्द का मंत्री बना। शकटार जब बन्दी हुआ तब वररुचि ने उसे छुड़ाया, और एक दिन वही दशा मंत्री वररुचि की भी हुई। इनका नाम कात्यायन भी था। बौद्ध लोग इन्हें 'मगधदेशीय ब्रह्मबन्धु', लिखते है और पाणिनि के सूत्रो के यही वार्तिककार कात्यायन है। (कितने लोगों का मत है कि कात्यायन और वररुचि भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे)

शकटार ने अपने वैर का समय पाया, और वह विष-प्रयोग द्वारा तथा एक दूसरे को लड़ाकर नन्दों में आन्तरिक द्वेष फैलाकर एक के बाद दूसरे को राजा बनाने लगा। धीरे-धीरे नन्दवंश का नाश हुआ, और केवल अन्तिम नन्द बचा। उसने सावधानी से अपना राज्य सँभाला और वररुचि को फिर मन्त्री बनाया। शकटार ने प्रसिद्ध चाणक्य को, जो कि नीति-शास्त्र विशारद होकर गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश के लिये राजधानी मे आया था, नन्द का विरोधी बना दिया। वह क्रुद्ध ब्राह्मण अपनी प्रतिहिंसा पूरी करने के लिए सहायक ढूँढने लगा।

पाटलिपुत्र के नगर-प्रान्त मे पिप्पिली-कानन के मौर्य-सेनापति का एक विभव-हीन गृह था। महापद्म नन्द के और उनके पुत्रो के अत्याचार से मगध काँप रहा था। मौर्य सेनापति के बन्दी हो जाने के कारण उसके कुटुम्ब का जीवन किसी प्रकार कष्ट से बीत रहा था।

एक बालक उसी घर के सामने खेल रहा था। कई लड़के उसकी प्रजा बने थे और वह था उनका राजा। उन्ही लड़को मे से वह किसी को घोड़ा और किसी को हाथी बनाकर चढ़ता और दण्ड तथा पुरस्कार आदि देने का राजकीय अभिनय कर रहा था। उसी ओर से चाणक्य जा रहे थे। उन्होने उस बालक की राज-क्रीड़ा बड़े ध्यान से देखी। उसके मन मे कुतूहल हुआ और कुछ विनोद भी। उन्होने ठीक-ठीक ब्राह्मण की तरह उस बालक राजा के पास जाकर याचना की—"राजन्, मुझे दूध पीने के लिये गऊ चाहिये!" बालक ने राजोचित उदारता का अभिनय करते हुए सामने चरती हुई गौओं को दिखलाकर कहा— "इनमें से जितनी इच्छा हो, तुम ले लो।"

ब्राह्मण ने हँसकर कहा--"राजन्, ये जिसकी गायें हैं, वह मारने लगे तो ?"

बालक ने सगर्व छाती फुलाकर कहा—"किसका साहस है जो मेरे शासन,को न माने ? जब मैं राजा हूँ, तब मेरी आज्ञा अवश्य मानी जायगी।"

ब्राह्मण ने आश्चर्य पूर्वक बालक से पूछा—"राजन्, आपका शुभ नाम क्या है ?" तब तक बालक की माँ वहाँ आ गयी और ब्राह्मण से हाथ जोड़कर बोली—"महाराज, यह बड़ा धृष्ट लड़का है, इसके किसी अपराध पर ध्यान न दीजियेगा।"

चाणक्य ने कहा—"कोई चिन्ता नहीं, यह बड़ा होनहार बालक है। इसकी मानसिक उन्नति के लिए तुम इसे किसी प्रकार राजकुल में भेजा करो।"

उसकी माँ रोने लगी। बोली —"हम लोगों पर राजकोप है, और हमारे पति राजा की आज्ञा से बन्दी किये गये हैं।"

ब्राह्मण ने कहा—"बालक का कुछ अनिष्ट न होगा, तुम इसे अवश्य राजकुल ले जाओ !"

इतना कह, बालक को आशीर्वाद देकर चाणक्य चले गये।

बालक की माँ बहुत डरते-डरते एक दिन, अपने चञ्चल और साहसी लड़के को लेकर राजसभा में पहुँची।

नन्द एक निष्ठुर, मूर्ख और त्रासजनक राजा था। उसकी राजसभा बड़े-बड़े चापलूस मूर्खों से भरी रहती थी।

पहले के राजा लोग एक दूसरे के बल, बुद्धि और वैभव की परीक्षा लिया करते थे और इसके लिए वे तरह-तरह चे उपाय करते थे। जब बालक माँ के साथ राजसभा में पहुँचा, उसी समय किसी राजा के यहाँ से नन्द की राजसभा की बुद्धि का अनुमान करने के लिए, लोहे के बन्द पिंजड़े मे मोम का सिंह बना कर भेजा गया था और उसके साथ यह कहलाया गया था कि पिंजड़े को खोले बिना ही सिंह को निकाल लीजिये।

सारी राजसभा इस पर विचार करने लगी; पर उन चाटुकार मूर्ख-सभासदों को कोई उपाय न सूझा। अपनी माता के साथ वह बालक यह लीला देख रहा था। वह भला कब मानने वाला था ? उसने कहा—"मैं निकाल दूंगा।"

सब लोग हँस पड़े। बालक की ढिठाई भी कम न थी। राजा को भी आश्चर्य हुआ।

नन्द ने कहा—"यह कौन है ?"

मालूम हुआ कि राजबन्दी मौर्य-सेनापति का यह लड़का है। फिर क्या, नन्द की मूर्खता की अग्नि में एक और आहुति पड़ी। क्रोधित होकर वह बोला—"यदि तू इसे न निकाल सका, तो तू भी इस पिंजड़े में बन्द कर दिया जायगा।"

उसकी माता ने देखा कि यह भी कहाँ से विपत्ति आयी; परन्तु बालक

निर्भीकता से आगे बढ़ा और पिंजड़े के पास जाकर उसको भली भाँति देखा। फिर लोह्रे की शलाकाओं को गरम करके उस सिंह को गलाकर पिंजड़े को खाली कर दिया।'

सब लोग चकित रह गये।

राजा ने पूछा—तुम्हारा नाम क्या है?

बालक ने कहा—चन्द्रगुप्त।

ऊपर के विवरण से पता चलता है चन्द्रगुप्त किशोरावस्था में नन्दों की सभा में रहता था। वहाँ उसने अपनी विलक्षण बुद्धि का परिचय दिया।

पिप्पिली-कानन के मौर्य लोग नन्दों के क्षत्रिय-नाशकारी शासन से पीड़ित थे, प्राय: सब दबाये जा चुके थे। उस समय ये क्षत्रिय राजकुल नन्दों की प्रधान शक्ति से आक्रान्त थे। मौर्य भी नन्दों की विशाल वाहिनी में सेनापति का काम करते थे। सम्भवत: वे किसी कारण से राजकोप में पड़े थे और उनका पुत्र चन्द्रगुप्त नन्दों की राजसभा से अपना समय बिताता था। उसके हृदय मे नन्दों के प्रति घृणा का होना स्वाभाविक था: जस्टिनस ने लिखा है—

When by his insolent behaviour he has offended Nandas, and was ordered by king to be put to dcath, he sought safety by a spedy flight (Justinus : X. V.)

चन्द्रगुप्त ने किसी वाद-विवाद या अनबन के कारण नन्द को क्रुद्ध कर दिया और इस बात में बौद्ध लोगों का विवरण, ढुण्ढि का उपोद्घात तथा ग्रीक इतिहास-लेखक सभी सहमत हैं कि उसे राज-क्रोध के कारण पाटलिपुत्र छोड़ना पड़ा।

शकटार और वररुचि के सम्बन्ध की कथाएं जो कथा-सरित्सागर में मिलती है, इस बात का संकेत करती है कि महापद्म के पुत्र बड़े उच्छृंखल और क्रूर शासक थे। गुप्त-षड्यन्त्रों से मगध पीड़ित था। राजकुल में भी नित्य नये उपद्रव, विरोध और द्वन्द्व चला करते थे, उन्ही कारणों से चन्द्रगुप्त को भी कोई स्वतन्त्र परिस्थिति उसे भावी नियति की ओर अग्रसर कर रही थी। चाणक्य की प्रेरणा से चन्द्रगुप्त ने सीमा प्रान्त की ओर प्रस्थान किया।

महावंश के अनुसार बुद्ध-निर्वाण के १४० वर्ष बाद अन्तिम नन्द को राज्य मिला, जिसने २१ वर्ष राज्य किया। इसके बाद चन्द्रगुप्त को राज्य मिला। यदि बुद्ध का

---

१. "मधूच्छिष्टमयं धातुं जीवन्तमिव पिंजरे। सिंहमादाय नन्देभ्य: प्राहिणोत्सिंहला-धिप:। यो द्रावयेदियं क्रूरं द्वारमनुद्घाट्य पिंजरं। सर्वोऽस्ति कश्चित्सुमतिरित्येवं संदिदेश च। चन्द्रगुप्तस्तु मेधावी तप्तायसशलाकया। व्यलापयत्पिंजरस्थं विस्मयन्त ततोऽखिला:।"

निर्वाण ५४३ ई० पूर्व में मान लिया जाय, तो उसमें से नन्द राज्य तक का समय १६२ वर्ष घटा देने से ३८१ ई० पूर्व में चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की तिथि मानी जायगी। पर यह सर्वथा भ्रमात्मक है, क्योंकि ग्रीक इतिहास-लेखकों ने लिखा है कि "तक्षशिला में जब ३२६ ई० पूर्व में सिकन्दर से चन्द्रगुप्त ने भेंट की थी, तब वह युवक राजकुमार था। अस्तु, यदि हम उसकी अवस्था उस समय २० वर्ष के लगभग मान लें, जो कि असंगत न होगी, तो उसका जन्म ३४६ ई० पूर्व के लगभग हुआ होगा। मगध के राजविद्रोहकाल में वह १ , या २० वर्ष का रहा होगा।"

मगध से चन्द्रगुप्त के निकलने की तिथि ई० पूर्व ३२७ वा ३२८ निर्धारित की जा सकती है, क्योंकि ३२६ मे तो वह सिकन्दर से तक्षशिला में मिला ही था। उसके प्रवास की कथा बड़ी रोचक है। सिकन्दर जिस समय भारतवर्ष में पदार्पण कर रहा था और भारतीय जनता के सर्वनाश का उपक्रम तक्षशिलाधीश्वर ने करना विचार लिया था—वह समय भारत के इतिहास मे स्मरणीय है, तक्षशिला नगरी अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। यहाँ का विश्वविद्यालय पाणिनि और जीवक ऐसे छात्रों का शिक्षक हो चुका था– वही तक्षशिला अपनी स्वतंत्रता पद-दलित कराने की आकांक्षा में आकुल थी और उसका उपक्रम भी हो चुका था। कूटनीति-चतुर सिकन्दर ने, जैसा कि ग्रीक लोग कहते हैं, १,००० टेलेंट (प्रायः ३८,७०,००० रुपया) देकर लोलुप देशद्रोही तक्षशिलाधीश को अपना मित्र बनाया। उसने प्रसन्न मन से अपनी कायरता का मार्ग खोल दिया और बिना बाधा सिकन्दर को भारत में आने दिया। ग्रीक ग्रन्थकारों के द्वारा हम यह पता पाते है कि (ई० पूर्व ३२६ में) उसी समय चन्द्रगुप्त शत्रुओं से बदला लेने के उद्योग में अनेक प्रकार का कष्ट मार्ग में झेलते-झेलते भारत की अर्गला तक्षशिला नगरी में पहुँचा था। तक्षशिला के राजा ने भी महाराज पुरु से अपना बदला लेने के लिए भारत का द्वार मुक्त कर दिया था। उन्हीं ग्रीक ग्रन्थकारों के द्वारा यह पता चलता है कि चन्द्रगुप्त ने एक सप्ताह भी अपने को परमुखापेक्षी नहीं बनाए रखा और वह क्रुद्ध होकर वहाँ से चला आया। जस्टिनस लिखता है कि उसने अपनी असहनशीलता के कारण सिकन्दर को असंतुष्ट किया। वह सिकन्दर का पूरा विरोधी बन गया --

For having offended Allexander by his impertinent language he was ordered to be put to death, and escaped only by fight.

JUSTINUS (In Historv of A. S. Literature)

सिकन्दर और चन्द्रगुप्त पंजाब में :

सिकन्दर ने तक्षशिलाधीश की सहायता से जेहलम को पार करके पोरस के साथ युद्ध किया। उस युद्ध में क्षत्रिय महाराज (पर्वतेश्वर) पुरु किस तरह लड़े और वह

कैसा भयंकर युद्ध हुआ, यह केवल इससे ज्ञात होता है कि स्वयं जगद्विजयी सिकन्दर को कहना पड़ा—"आज हमको अपनी बराबरी का भीम-पराक्रम शत्रु मिला और यूनानियों को तुल्य-बल से आज युद्ध करना पड़ा।" इतना ही नही, सिकन्दर का प्रसिद्ध अश्व 'बूकाफेलस' इसी युद्ध मे हत हुआ और सिकन्दर स्वयं भी आहत हुआ।

यह अनिश्चित है कि सिकन्दर को मगध पर आक्रमण करने को उत्तेजित करने के लिए ही चन्द्रगुप्त उसके पास गया था, अथवा ग्रीक-युद्ध की शिक्षापद्धति सीखने के लिए वहाँ गया था। उसने सिकन्दर से तक्षशिला मे अवश्य भेंट की। यद्यपि उसका कोई कार्य वहाँ नही हुआ, पर उसे ग्रीकवाहिनी की रणचर्या अवश्य ज्ञात हुई; जिससे कि उसने पार्वत्य-सेना से मगध-राज्य का ध्वंस किया।

क्रमशः वितस्ता, चन्द्रभागा, इरावती के प्रदेशों को विजय करता हुआ सिकन्दर विपाशा-तट तक आया और फिर मगध राज्य का प्रचण्ड प्रताप सुनकर उसने दिग्विजय की इच्छा को त्याग दिया और ३२५ ई० पू० मे फिलिप नामक पुरुष को क्षत्रप बनाकर आप काबुल की ओर गया। दो वर्ष के बीच मे चन्द्रगुप्त उसी प्रान्त में घूमता रहा और जब वह सिकन्दर का विरोधी बन गया था, तो उसी ने पार्वत्य जातियो को सिकन्दर से लड़ने के लिए उत्तेजित किया और जिनके कारण सिकन्दर को इरावती से पाटण तक पहुँचने मे दस मास समय लग गया और इस बीच मे इन आक्रमणकारियो से सिकन्दर की बहुत क्षति हुई। इस मार्ग मे सिकन्दर को मालव जाति से युद्ध करने मे बडी हानि उठानी पड़ी। एक दुर्ग के युद्ध मे तो उसे ऐसा अस्त्राघात मिला कि वह महीनो तक कड़ी बीमारी झेलता रहा। जल-मार्ग से जाने वाले सिपाहियो को निश्चय हो गया था कि सिकन्दर मर गया। किसी-किसी का मत है कि सिकन्दर की मृत्यु का कारण यही घाव था।

सिकन्दर भारतवर्ष लूटने आया, पर जाते समय उसकी यह अवस्था हुई कि अर्थाभाव से अपने सेक्रेटरी यूडेमिस से उसने कुछ द्रव्य माँगा और न पाने पर उसका कैम्प फुंकवा दिया। सिकन्दर के भारतवर्ष मे रहने के ही समय में चन्द्रगुप्त द्वारा प्रचारित सिकन्दर-द्रोह पूर्ण रूप से फैल गया था और इसी समय कुछ पार्वत्य राजा चन्द्रगुप्त के विशेष अनुगत हो गये थे। उनको रण-चतुर बनाकर चन्द्रगुप्त ने एक अच्छी शिक्षित सेना प्रस्तुत कर ली थी और जिसकी परीक्षा प्रथमतः ग्रीक सैनिकों ने ली। इसी गड़बड़ में फिलिप मारा गया[1] और उस प्रदेश के लोग पूर्णरूप से स्वतन्त्र बन गये। चन्द्रगुप्त को पर्वतीय सैनिकों से बड़ी सहायता मिली और वे उसके मित्र बन गये। विदेशी शत्रुओ के साथ भारतवासियो का युद्ध देखकर चन्द्र-

१ सिकन्दर के चले जाने पर इसी फिलिप ने षड्यन्त्र करके पोरुस को मरवा डाला, जिससे बिगड़कर उसकी हत्या हुई।

गुप्त एक रणचतुर नेता बन गया। धीरे-धीरे उसने सीमावासी पर्वतीय लोगों को एक में मिला लिया। चन्द्रगुप्त और पर्वतेश्वर विजय के हिस्सेदार हुए और सम्मिलित शक्ति से मगध-राज्य विजय करने के लिए चल पड़े। अब यह देखना चाहिये कि चन्द्रगुप्त और चाणक्य की सहायक सेना में कौन-कौन देश की सेनायें थीं और वे कब पंजाब से चले।

बहुत-से विद्वानों का मत है कि जो सेना चन्द्रगुप्त के साथ थी, वह ग्रीकों की थी। यह बात बिल्कुल असंगत नहीं प्रतीत होती। जब फिलिप तक्षशिला के समीप मारा गया, तो सम्भव है कि बिना सरदार की सेना में से किसी प्रकार पर्वतेश्वर ने कुछ ग्रीकों की सेना को अपनी ओर मिला लिया हो जो कि केवल धन के लालच से ग्रीस छोड़कर भारतभूमि तक आये थे। उस सम्मिलित आक्रमणकारी सेना में कुछ ग्रीकों का होना असम्भव नहीं है, क्योंकि मुद्राराक्षस के टीकाकार ढुण्ढि लिखते हैं—

नन्दराज्यार्धपणनात्समुत्थाप्य महाबलम्।
पर्वतेन्द्रो म्लेच्छबलं न्यरुन्धत्कुसुमंपुरम्॥

तैलङ्ग महाशय लिखते है—"The Yavanas referred in our play Mudrarakshasa were probably some of frontier tribes"—कुछ तो उस सम्मिलित सेना के नीचे लिखे हुए नाम हैं, जिन्हें कि महाशय तैलंग ने लिखा है :

मुद्राराक्षस—	तैलंग—
शक	सीदियन
यवन (ग्रीक ?)	अफगान
किरात	सेवेज ट्राइब
पारसीक	परशियन
वाल्हीक	बैक्ट्रियन

इस सूची को देखने से ज्ञान होता है कि ये सब जातियाँ प्रायः भारत की उत्तर पश्चिम सीमा में स्थित है। इस सेना में उपर्युक्त जातियाँ प्रायः सम्मिलित रही हों तो असम्भव नहीं है। चन्द्रगुप्त ने असभ्य सेनाओं को ग्रीक-प्रणाली से शिक्षित करके उन्हें अपने कार्य-योग्य बनाया। मेरा अनुमान है कि यह घटना ३२३ ई० पू० में हुई, क्योंकि वही समय सिकन्दर के मरने का है। उसी समय यूडेमिस नामक ग्रीक कर्मचारी और तक्षशिलाधीश के कुचक्र से फिलिप के द्वारा पुरु (पर्वतेश्वर) की हत्या हुई थी। अस्तु, पंजाब प्रान्त एक प्रकार से अराजक हो गया और ३२२ ई० पू० में इन सबों को स्वतन्त्र बनाते हुए ३२१ ई० पू० में मगध-राजधानी पाटलिपुत्र को चन्द्रगुप्त ने जा घेरा।[1]

1. Justinus says :
Sandrocottus gave liberty to India after Alexander's retreat

अपमानित चन्द्रगुप्त बदला लेने के लिए खड़ा था; मगध राज्य की दशा बड़ी शोचनीय थी। नन्द आन्तरिक विग्रह के कारण जर्जरित हो गया था, चाणक्य-चालित म्लेच्छ सेना कुसुमपुर को चारो ओर से घेरे थी। चन्द्रगुप्त अपनी शिक्षित सेना को बराबर उत्साहित करता हुआ चतुर रण-सेनापति का कार्य करने लगा।

पन्द्रह दिन तक कुसुमपुर को बराबर घेरे रहने के कारण और बार-बार खण्ड-युद्ध में विजयी होने के कारण चन्द्रगुप्त एक प्रकार से मगधविजयी हो गया। नन्द ने, जो कि पूर्वकृत पापों से भीत और आतुर हो गया था, नगर से निकलकर चले जाने की आज्ञा माँगी। चन्द्रगुप्त इस बात से सहमत हो गया कि धननन्द अपने साथ जो कुछ ले जा सके ले जाय, पर चाणक्य की एक चाल यह भी थी, क्योंकि उसे मगध की प्रजा पर शासन करना था। इसलिए यदि धननन्द मारा जाता तो प्रजा के और विद्रोह करने की सम्भावना थी। इसमें स्थविरावली तथा ढुण्डि के विवरण में मतभेद है, क्योंकि स्थविरावलीकार लिखते है कि चाणक्य ने धननन्द को चले आने की आज्ञा दी, पर ढुण्ढि कहते है, चाणक्य के द्वारा शस्त्र से धननन्द निहत हुआ। मुद्राराक्षस से जाना जाता है कि वह विष-प्रयोग से मारा गया। पर यह बात पहले नन्दों के लिए सम्भव प्रतीत होती है।[1] चाणक्य की नीति की ओर दृष्टि डालने से यही ज्ञात होता है कि जानबूझकर नन्द को अवसर दिया गया, और इसके बाद किसी गुप्त प्रकार से उसकी हत्या हुई।

कई लोगों का मत है कि पर्वतेश्वर की हत्या बिना अपराध चाणक्य ने की ! पर जहाँ तक सम्भव है, पर्वतेश्वर को कात्यायन के साथ मिला हुआ जान कर ही चाणक्य के द्वारा विषकन्या पर्वतेश्वर को मिली और यही मत भारतेन्दु जी का भी है। मुद्राराक्षस को देखने से यही ज्ञात भी होता है कि राक्षस पीछे पर्वतेश्वर के पुत्र मलयकेतु से मिल गया था। सम्भव है कि उसका पिता भी वररुचि की ओर पहले मिल गया हो और इसी बात को जान लेने पर चन्द्रगुप्त की हानि की सम्भावना देखकर किसी उपाय से पर्वतेश्वर की हत्या हुई हो।

- -

but soon converted the name of liberty into servitude after his success, subjecting those whom he had rescued from foriegn domination to his own authority.

—History of A. S. Literature

१. However mysterious the nine Nandas may be if indeed they really were nine, there is no doubt that the last of them was deposed and slain by Chadragupta.

V A. Smith, E. H. of India.

तात्कालिक स्फुट विवरणों से ज्ञात होता है कि मगध की प्रजा और समीपवर्ती जातियाँ चन्द्रगुप्त के प्रतिपक्ष मे खडी हुई। उस लड़ाई मे भी अपनी कूटनीति द्वारा चाणक्य ने आपस मे भेद करा दिया। प्रबल उत्साह के कारण, अविराम परिश्रम और अध्यवसाय से, अपने बाहुबल और चाणक्य के बुद्धिबल से, सामान्य भू-स्वामी चन्द्रगुप्त, मगध साम्राज्य के सिंहासन पर बैठा।

बौद्धों की पहली सभा कालाशोक या महापद्म के समय हुई। बुद्ध के ९० वर्ष बाद यह गद्दी पर बैठा और इसके राज्य के दस वर्ष बाद सभा हुई; उसके बाद उसने १८ वर्ष राज्य किया। यह ११८ वर्ष का समय, बुद्ध के निर्वाण से कालशोक के राजस्व-काल तक है। कालाशोक का पुत्र २२ वर्ष तक राज्य करता रहा, उसके बाद २२ वर्ष तक नन्द; उसके बाद चन्द्रगुप्त को राज्य मिला (११८+२२+२२=१६२) बुद्धनिर्वाण के १६२ वर्ष बाद चन्द्रगुप्त को राज्य मिला। बुद्ध का समय यदि ५४३ ई० पू० माना जाय, तब तो ५४३ −१६२=३८१ ई० पू० मे ही चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण निर्धारित होता है। दूसरा मत मैक्समूलर आदि विद्वानो का है कि बुद्ध-निर्वाण ४७७ ई० पू० मे हुआ! इस प्रकार उक्त राज्यारोहण का समय ३१५ ई० पू० निकलता है। इससे ग्रीक समय का मिलान करने से तो एक तो ४० वर्ष बढ जाता है, दूसरा ५ या ६ वर्ष घट जाता है।

महावीर स्वामी के निर्वाण से १५५ वर्ष बाद, चन्द्रगुप्त जैनियो के मत से राज्य पर बैठा, ऐसा मालूम होता है। आर्य-विद्या-सुधाकर के अनुसार ४७० विक्रम पू० मे महावीर स्वामी का वर्तमान होना पाया जाता है। इसमे यदि ५२० ई० पू० मे महावीर स्वामी का निर्वाण मान ले, उसमे मे १५५ घटा देने से ३६५ ई० पू० मे चन्द्रगुप्त राज्यारोहण का समय होता है जो सर्वथा असम्भव है। यह भी बहुत भ्रमपूर्ण है।

पण्डित रामचन्द्र जी शुक्ल ने मेगास्थनीज की भूमिका मे लिखा है कि ३१६ ई० पू० मे चन्द्रगुप्त गद्दी पर बैठा और २९२ ई० पू० तक उसने २४ वर्ष राज्य किया।

पण्डितजी ने जो पाश्चात्य लेखकों के आधार पर चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण-समय लिखा है, वह भी भ्रम मे रहित नही है, क्योकि स्ट्राबो के मतानुसार २९६ मे Deimachos का मिशन विन्दुसार के समय में आया था, यदि २९२ तक चन्द्रगुप्त का राज्य-काल मान लिया जाय, तो डिमाकस-चन्द्रगुप्त के राजत्व-काल ही मे आया था, ऐसा प्रतीत होगा, क्योकि शुक्लजी के मत मे ३१६ पू० से २९२ ई० पू० तक चन्द्रगुप्त का राजत्व-काल है; डिमाकस के 'मिशन' का समय २९६ ई० पू० जिसके अन्तर्गत हो जाता है। यदि हम चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण ३२१ ई० पू० मे माने, तो उसमे मे उसका राजत्व-काल २४ वर्ष घटा देने मे २९७ ई० पू० तक उसका राजत्व-काल और २९६ ई० पू० मे बिन्दुसार का राज्यारोहण और डिमाकस के 'मिशन'

का समय ठीक हो जाता है। ऐतिहासिकों का अनुमान है कि २५ वर्ष की अवस्था में चन्द्रगुप्त गद्दी पर बैठा यह भी ठीक हो जाता है। क्योंकि पूर्व-निर्धारित चन्द्रगुप्त के जन्म समय ३४६ ई० पू० से २५ वर्ष घटा देने से भी ३२१ ई० पू० ही बचता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि चन्द्रगुप्त पाटलिपुत्र में मगध-राज्य के सिंहासन पर ३२१ ई० पू० में आसीन हुआ।

विजय :

उस समय गंगा के तट पर दो विस्तृत राज्य थे जैसा कि मेगास्थनीज लिखता है, एक प्राच्य (Prassi) और दूसरा गंगारिडीज़ (Gangarideas)। प्राच्य राज्य मे अवन्ति, कोसल, मगध, वाराणसी, बिहार आदि देश थे और दूसरा गंगारिडीज़ गंगा के उस भाग के तट पर था, जो कि समुद्र के समीप मे था, वह बंगाल का था। गंगारिडीज और गौड एक ही देश का नाम प्रतीत होता है। गौड राज्य का राजा, नन्द के अधीन था। अवन्ति मे भी एक मध्य प्रदेश की राजधानी थी, वह भी नन्दाधीन थी। बौद्धों के विवरण से ज्ञात होता है कि ताम्रलिप्ति[1] जिसे अब तमलुक कहते है, मिदनापुर जिले में उस समय समुद्र-तट पर अवस्थित गंगरिडीज़ के प्रसिद्ध नगरों में था।

प्राच्य देश की राजधानी पालीबोथा थी, जिसे पाटलिपुत्र कहना असगत न होगा। मेगास्थनीज लिखता है कि गंगरिडीज़ की राजधानी पार्थिलीस थी। डाक्टर श्यानबक का मत है कि सम्भवत. यह वर्धमान ही था, जिसे ग्रीक लॉग पार्थिलीस कहते थे। इसमें विवाद करने का अवसर नही है, क्योकि वर्धमान गौड़ देश के प्राचीन नगरों मे है और यह राजधानी के योग्य भूमि पर बसा हुआ है।

केवल नन्द को ही पराजित करने से, चन्द्रगुप्त को एक बडा विस्तृत राज्य मिला, जो आसाम से लेकर भारत के मध्यप्रदेश तक व्याप्त था।

अशोक के जीवनीकार लिखते है कि अशोक का राज्य चार प्रादेशिक शासकों से शासित होता था। तक्षशिला--पंजाब और अफगानिस्तान की राजधानी थी; तोषली कलिंग की, अवन्ति मध्यप्रदेश की ओर स्वर्णगिरि – भारतवर्ष के दक्षिण भाग की राजधानी थी। अशोक की जीवनी[2] मे ज्ञात होता है कि उसने केवल कलिंग ही विजय किया था। बिन्दुसार की विजयों की गाथा कही नही मिलती। मि० स्मिथ

---

१. अस्तीह नगरी लोके ताम्रलिप्तीति विश्रुता। तत्र स तत्पिता तेन तनयेन समं ययौ। द्वीपान्तर स्नुषाहेतोर्वाणिज्यव्यपदेशत: ६८। (कथापीठ लम्बक ५ तरंग) इससे ज्ञात होता है कि ताम्रलिप्त समुद्र तट पर अवस्थित थी, जहाँ से द्वीपान्तर जाने मे लोगों को सुविधा होती थी।

२. Vincent A. Smith : Life of Ashoka.

ने लिखा है—"It is more probable that the conquest of the south was the work of Bindusar" परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है।

प्रायद्वीप खण्ड को जीतकर चन्द्रगुप्त ने स्वर्णगिरि में उसका शासक रखा और सम्भवतः यह घटना उस समय की है, जब विजेता सिल्यूकस एक विशाल साम्राज्य की नींव सीरिया प्रदेश में डाल रहा था। वह घटना ३१६ ई० पू० में हुई।

इस समय चन्द्रगुप्त का शासन भारतवर्ष में प्रधान था और छोटे-छोटे राज्य यद्यपि स्वतन्त्र थे; पर वे भी चन्द्रगुप्त के शासन से सदा भयभीत होकर मित्रभाव का बर्ताव रखते थे। उसका राज्य पाडुचेर और कनानूर से हिमालय की तराई तक तथा सतलज से आसाम तक था। केवल कुछ राज्य दक्षिण में; जैसे--केरल इत्यादि और पंजाब में वे प्रदेश, जिन्हें सिकन्दर ने विजय किया था, स्वतन्त्र थे; किन्तु चन्द्रगुप्त पर ईश्वर की अपार कृपा थी, जिसने उसे ऐसा सुयोग दिया कि वह भी ग्रीस इत्यादि विदेशों में अपना आतंक फैलावे।

सिकन्दर के मर जाने के बाद ग्रीक जनरलों में बड़ी स्वतन्त्रता-अराजकता फैली। ई० पू० ३२३ में सिकन्दर मरा। उसके प्रतिनिधि-स्वरूप पर्दिकस शासन करने लगा; किन्तु इससे भी असन्तोष हुआ, सब जनरलों और प्रधान कर्मचारियों ने मिलकर एक सभा की। ई० पू० ३२१ में सभा हुई और सिल्यूकस बेबीलोन की गद्दी पर बैठाया गया। टालेमी आदि मिस्र के राजा समझे जाने लगे; पर आण्टिगोनस, जो कि पूर्वी एशिया का क्षत्रप था, अपने बल को बढ़ाने लगा और इसी कारण सब जनरल उसके विरुद्ध हो गये, यहाँ तक कि ग्रीक-साम्राज्य से अलग होकर सिल्यूकस ने ३१२ ई० पू० में अपना स्वाधीन राज्य स्थापित किया। बहुत-सी लड़ाइयों के बाद सन्धि हुई और सीरिया इत्यादि प्रदेशों का आण्टिगोनस स्वतन्त्र राजा हुआ। थ्रेस में लिरीमाकस, मिस्र में टालेमी और बेबीलोन के समीप के प्रदेश में सिल्यूकस का आधिपत्य रहा। यह सन्धि ३११ ई० पूर्व में हुई। सिल्यूकस ने उधर के विग्रहों को कुछ शान्त करके भारत की ओर देखा।

इसे भी वह ग्रीक साम्राज्य का एक अंश समझता था। आराकोशिया, बैक्ट्रिया जेड्रोशिया आदि विजय करते हुए उसने ३०६ ई० पू० में भारत पर आक्रमण किया। चन्द्रगुप्त उसी समय दिग्विजय करता हुआ पंजाब की ओर आ रहा था और उसने जब सुना कि ग्रीक लोग फिर भारत पर चढ़ाई कर रहे हैं, वह भी उन्हीं की ओर चल पड़ा। इस यात्रा में, ग्रीक लोग लिखते हैं कि उसके पास ६,००,००० सैनिक थे, जिसमें ३०,००० घोड़े और ९,००० हाथी, बाकी पैदल थे।[1] इतिहासों से पता चलता है कि सिन्धु-तट पर यह युद्ध हुआ।

1. The same King (Chandragupta) traversed India with an army of 6,00,000 men and conquered the whole.
(Plutarch -lives, in H. of A. S. Lit)

सिल्यूकस सिन्धु के उस तीर पर आ गया, मौर्य-सम्राट् इस आक्रमण से अनभिज्ञ न था। उसके प्रादेशिक शासक, जो कि उत्तर-पश्चिम प्रान्त के थे, बराबर सिल्यूकस का गतिरोध करने के लिये प्रस्तुत रहते थे; पर अनेक उद्योग करने पर भी कपिशा आदि दुर्ग सिल्यूकस के हस्तगत हो ही गये। चन्द्रगुप्त, जो कि सतलज के समीप से उसी ओर बराबर बढ़ रहा था, सिल्यूकस की क्षुद्र विजयों से घबड़ा कर बहुत शीघ्रता से तक्षशिला की ओर चल पड़ा। चन्द्रगुप्त के बहुत थोड़े समय पहले ही सिल्यूकस सिन्धु के इस पार उतर आया और तक्षशिला के दुर्ग पर चढ़ाई करने के उद्योग में था। तक्षशिला की सूबेदारी बहुत बड़ी थी। उस पर विजय कर लेना सहज कार्य न था। सिल्यूकस अपनी रक्षा के लिए मिट्टी की खाई बनवाने लगा।

चन्द्रगुप्त अपनी विजययिनी सेना लेकर तक्षशिला में पहुँचा और मौर्य-पताका तक्षशिला-दुर्ग पर फहराकर महाराज चन्द्रगुप्त के आगमन की सूचना देने लगा। मौर्य-सेना ने आक्रमण करके ग्रीकों की मिट्टी की परिखा और उनका व्यूह नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। मौर्यों का भयानक आक्रमण उन लोगों ने बड़ी वीरता से सहन किया, ग्रीकों का कृत्रिम दुर्ग उनकी रक्षा कर रहा था; पर कब तक ? चारों ओर से असंख्य मौर्य-सेना उस दुर्ग को घेरे थी। आपाततः उन्हें कृत्रिम दुर्ग छोड़ना पड़ा। इस बार भयानक लड़ाई आरम्भ हुई। मौर्य सेना का चन्द्रगुप्त स्वयं नायक था। असीम उत्साह से मौर्यों ने आक्रमण करके ग्रीक-सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया। लौटने की राह में बड़ी बाधा-स्वरूप सिन्धु नदी थी, इसलिये अपनी टूटी हुई सेना को एक जगह उन्हें एकत्र करना पड़ा। चन्द्रगुप्त की विजय हुई। इसी समय ग्रीक जनरलों में फिर खलबली मची हुई थी। इस कारण सिल्यूकस शीघ्र ही सन्धि कर लेने पर बाध्य हुआ। इस सन्धि में ग्रीक लोगों को चन्द्रगुप्त और चाणक्य से सब ओर दबना पड़ा।

इस सन्धि के समय में कुछ मतभेद है। किसी का मत है कि यह सन्धि ३०५ ई० पू० में हुई और कुछ लोग कहते हैं ३०३ ई० पू० में। सिल्यूकस ने जो ग्रीक-सन्धि की थी, वह ३११ ई० पू० में हुई; उसके बाद ही वह युद्ध यात्रा के लिए चल पड़ा। अस्तु आरकोशिया, जेड्रोशिया और बैक्ट्रिया आदि विजय करते हुए भारत तक आने में पाँच वर्ष से विशेष समय नहीं लग सकता और इसी से उस युद्ध का समय, जो कि चन्द्रगुप्त से उसका हुआ था, ३०६ ई० पू० माना गया। तब ३०५ ई० पू० में सन्धि का होना ठीक-सा जँचता है। सन्धि में चन्द्रगुप्त भारतीय प्रदेशों के स्वामी हुये। अफगानिस्तान और मकराना भी चन्द्रगुप्त को मिला और उसके

१. हिरात, कंधार, काबुल, मकराना भारत में प्रदेशों के साथ सिल्यूकस ने चन्द्रगुप्त को दिया। -- V. A. Smith : E. H. of India.

साथ-ही-साथ कुल पंजाब और सौराष्ट्र पर चन्द्रगुप्त का अधिकार हो गया। सिल्यूकस बहुत शीघ्र लौटने वाला था। ३०१ ई० पू० में होने वाले युद्ध के लिए, उसे तैयार होना था, जिसमें कि Ipsus के मैदान में उसने अपने चिरशत्रु आण्टिगोनस को मारा था। चन्द्रगुप्त को इस ग्रीकविप्लव ने बहुत सहायता दी और उसने इसी कारण मनमाने नियमों से सन्धि करने के लिए सिल्यूकस को बाध्य किया।

पाटण आदि बन्दर भी चन्द्रगुप्त के अधीन हुये तथा काबुल में सिल्यूकस की ओर से एक राजदूत का रहना स्थिर हुआ। मेगास्थनीज[1] ही प्रथम राजदूत नियत हुआ। यह तो सब हुआ, पर नीति-चतुर सिल्यूकस ने एक और बुद्धिमानी का कार्य यह किया कि चन्द्रगुप्त से अपनी सुन्दरी कन्या का पाणिग्रहण करा दिया, जिसे चन्द्रगुप्त ने स्वीकार कर लिया और दोनों राज्य एक सम्बन्ध-सूत्र में बँध गये जिस पर संतुष्ट होकर चन्द्रगुप्त ने ५०० हाथियों की एक सेना सिल्यूकस को दी और अब चन्द्रगुप्त का राज्य भारतवर्ष मे सर्वत्र हो गया। रुद्रदामा के लेख से ज्ञात होता है कि पुष्पगुप्त[2] उस प्रदेश का शासक नियत किया गया था जो सौराष्ट्र और सिन्ध तथा राजपूताना तक था। अब चन्द्रगुप्त के अधीन दो प्रादेशिक और हुए, एक तक्षशिला मे दूसरा सौराष्ट्र मे। इस तरह से अध्यवसाय का अवतार चन्द्रगुप्त प्रबल पराक्रान्ता राजा माना जाने लगा और ग्रीस, मिस्र, सीरिया इत्यादि के नरेश उसकी मित्रता मे अपना गौरव समझते थे।

उत्तर मे हिन्दुकुश, दक्षिण मे पाडुचेरी और कनानूर, पूर्व मे आसाम और पश्चिम मे सौराष्ट्र-समुद्र तथा वाल्हीक तक चन्द्रगुप्त के राज्य की सीमा निर्धारित की जा सकती है।

चन्द्रगुप्त का शासन :

गंगा और शोण के तट पर मौर्य-राजधानी पाटलीपुत्र बसा था। दुर्ग पत्थर, ईंट तथा लकड़ी के बने हुये सुदृढ़ प्राचीर से परिवेष्टित था। नगर ८० स्टेडिया लम्बा और २० स्टेडिया चौड़ा था। दुर्ग मे ६४ द्वार तथा ५७० बुर्ज थे। सौध-श्रेणी, राजमार्ग, सुविस्तृत पण्य-वीथिका से नगर पूर्ण था और व्यापारियो की दुकाने अच्छी प्रकार सुशोभित और सज्जित रहती थी। भारतवर्ष की केन्द्र-नगरी कुसुमपुरी वास्तव मे कुसुमपूर्ण रहती थी। सुसज्जित तुरंगों पर धनाढ्य लोग प्रायः राजमार्ग

---

१. मेगास्थनीज हिरात के क्षत्रप माइर्वाटियम के पास रहा करता था।

२. पुष्पगुप्त ही ने उस पहाड़ी नदी का बाँध महाराजा चन्द्रगुप्त की आज्ञा से इसलिए बनाया कि खेती को बहुत लाभ होगा। उस बड़ी झील का नाम सुदर्शन रक्खा। (स्कन्दगुप्त के आदेश से चक्रपालित ने इसी सुदर्शन तटाक का जीर्णोद्धार कराया था—सं०)

में यातायात किया करते थे। गंगा के कूल में बने हुये सुन्दर राज-मन्दिर में चन्द्रगुप्त रहता और केवल तीन कामों के लिये महल के बाहर आता—

पहला, प्रजाओं का आवेदन सुनना, जिसके लिये प्रतिदिन एक बार चन्द्रगुप्त को विचारक का आसन ग्रहण करना पड़ता था।[1] उस समय प्रायः तुरंग पर, जो आभूषणों से सजा हुआ रहता था, चन्द्रगुप्त आरोहण करता और प्रतिदिन न्याय से प्रजा का शासन करता था।

दूसरा, धर्मनुष्ठान बलि प्रदान करने के लिए, जो पर्व और उत्सव के उपलक्ष्यों पर होते थे। मुक्तागुच्छ-शोभित कारु-कार्य खचित शिविका पर (जो कि सम्भवत खुली हुई होती थी) चन्द्रगुप्त आरोहण करता। इससे ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त वैदिक धर्मावलम्बी था; क्योंकि बौद्ध और जैन, ये ही धर्म उस समय वैदिक धर्म के प्रतिकूल प्रचलित थे। बलिप्रदानादिक कर्म वैदिक ही होता रहा होगा।

तीसरा, मृगया खेलने के समय कुञ्जर पर सवारी निकलती उस समय चन्द्रगुप्त स्त्री-गण से घिरा रहता था, जो धनुर्बाण आदि लिये उसके शरीर की रक्षा करता था।

उस समय राज-मार्ग डोरी से घिरा रहता था और कोई उसके भीतर नहीं जाने पाता था।

चन्द्रगुप्त राजसभा में बैठता तो चार सेवक आबनूस के बेलन से उसका अंग-संवाहन करते थे। यद्यपि चन्द्रगुप्त प्रबल प्रतापी राजा था, पर वह षड्यन्त्रों से शंकित होकर एक स्थान पर सदा नही रहता था, जिसका कि मुद्राराक्षस में कुछ आभास मिलता है, और यह मेगास्थनीज़ ने भी लिखा है।

हाथी, पहलवान, मेढ़ा और गैंडों की लड़ाई भी होती थी, जिसे राजा और प्रजा दोनों बड़े चाव से देखते थे। बहुत-से उत्सव भी नगर में हुआ करते थे।

---

१. मैसूर मे मुद्रित अर्थशास्त्र चाणक्य का ही बनाया है और वह चन्द्रगुप्त के ही लिये बनाया गया है, यह एक प्रकार से सिद्ध हो चुका। उसका उल्लेख प्रायः दशकुमारचरित, कादम्बरी तथा कामन्दकीय आदि में मिलता है। उसमें भी लिखा है कि "सर्वशास्त्राण्यनुक्रम्य प्रयोगमुपलभ्य च। कौटिल्येन नरेन्द्रार्थे शासनाय विधिः कृतः॥" (७५ पृष्ठ, अर्थशास्त्र) यह नरेन्द्र शब्द चन्द्रगुप्त के ही लिए प्रयोग किया गया है; उसमें चन्द्रगुप्त के क्षत्रिय होने के तथा वेदधर्मावलम्बी होने के बहुत-से प्रमाण मिलते हैं।

(तृतीय स्नानं भोजनं च सेवेत, स्वाध्यायं च कुर्वीत) ३७ पृ०

(प्रतिष्ठितेऽहनि संध्यामुपासीत) ६८ पृष्ठ, अर्थशास्त्र।

'स्वाध्याय' और 'संध्या' से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त वेदधर्मावलम्बी था और यहाँ पर वह मुरा शूद्रावाली कल्पना भी कट जाती है, क्योंकि चाणक्य,

प्रहरी स्त्रियाँ, जो कि मोल ली जाती थीं, राजा के शरीर की सदा रक्षा करती थी। वे रथों, घोड़ों और हाथियों पर राजा के साथ चलती थीं, राजदरबार बहुत आडम्बर से सजा रहता था, जो कि दर्शनीय रहता था, मेगास्थनीज़ इत्यादि ने इसका विवरण विस्तृत रूप से लिखा है।* पाटलिपुत्र नगर मौर्य-राजधानी होने से बहुत उन्नत अवस्था में था।

राजधानी में नगर का शासन-प्रबन्ध भी छः विभागों में विभक्त था और उनके द्वारा पूर्णरूप से नगर का प्रबन्ध होता था। मेगास्थनीज़ लिखता है कि प्रथम विभाग उन कर्मचारियों का था, जो विक्रेय वस्तुओं का मूल्य-निर्धारण और श्रमजीवियों का वेतन तथा शिल्पियों का शुल्क निर्धारण तथा निरीक्षण करता था। किसी शिल्पी के अंग-भंग करने से वही विभाग उन लोगों को दण्ड देता था। सम्भवतः यह विभाग म्युनिसिपैलिटी के बराबर था, जो कि पाँच सदस्यों से कार्य-निर्वाह करता था।

जिसने लिखा है कि "शूद्रस्य द्विजातिशुश्रूषा।" (अर्थशास्त्र) वही यदि चन्द्रगुप्त शूद्र होता तो उसके लिए 'स्वाध्याय' और 'संध्या' का उपदेश न देता।

अस्तु, जहाँ तक देखा जाता है, चन्द्रगुप्त वैदिक धर्मावलम्बी ही था और यह भी प्रसिद्ध है कि अशोक ने ही बौद्ध धर्म को State Religion बनाया।

अर्थशास्त्र में वर्षा होने के लिए इन्द्र की विशेष पूजा का उल्लेख है तथा शिव, स्कन्द, कुबेर इत्यादि की पूजा प्रचलित थी, इनके देवालय नगर के मध्य में रखना आवश्यक समझा जाता था। —अर्थशास्त्र, २०६—५५ पृ०

R. C. Dutt का भी मत है कि चन्द्रगुप्त और उसका पुत्र बिन्दुसार बौद्ध नहीं था।

१. The district possesses special interest, both for Historian and Archaeologist. Patna City has been identified with Pataliputra (See Plibothra of Magasthanes), which is supposed to have been founded six hundred years before the Christian era by Raja Ajatshatru, a contemproary of Gautam the founder of the Buddhist religion. (Imp Gaz of India, Vol XI. p. 24)

त्रिकाण्ड शेष और हेमचन्द्र-अभिधान में तथा मुद्राराक्षस में पाटलिपुत्र के दो और नाम पाये जाते है, एक कुसुमपुर और दूसरा पुष्पपुर। चीनी यात्री भी इन नामों से परिचित था। The pilgrimage of Fa Hien में इसका विवरण है। हितोपदेश मे लिखा है कि —"अस्ति भागीरथी तीरे पाटलिपुत्र नाम नगरम्।" पर ग्रीक लोगों ने उसे गंगा और हिरण्यवाह के तट पर होना लिखा है। इधर मुद्राराक्षस के "शोणं सिन्दूरशोणा मम गजपतयः पास्यन्ति

द्वितीय विभाग विदेशियों के व्यवहार पर ध्यान रखता था। पीड़ित विदेशियों की सेवा करता था, उनके जाने के लिये वाहन आदि का आयोजन करना, उनके मरने पर उनकी सम्पत्ति की व्यवस्था करना और उन्हें जो हानि पहुँचाये उसको कठोर दण्ड से दण्डित करना उसका कार्य था। इससे ज्ञात होता है कि व्यापार अथवा अन्य कार्यों के लिए बहुत-से विदेशी कुसुमपुर में आया करते थे।

तृतीय विभाग प्रजा के मरण और जन्म की गणना करता था और उन पर कर निर्धारित करता था।

चतुर्थ विभाग व्यापार का निरीक्षण करता था और तुला तथा नाप का प्रबन्ध करता था।

पंचम विभाग राजकीय कोष का था, जहाँ द्रव्य बनाये जाते और रक्षित रहते थे।

छठा विभाग राजकीय कर का था, जिसमे व्यापारियो से लाभ से दशमांश लिया जाता था और उन्हें खूब सावधानी से कार्य करना होता था। जो उस कर को न देता, वह कठोर दण्ड से दण्डित होता था।

राज्य के कर्मचारी लोग भूमि का नाप और उस पर कर निर्धारण करते थे और जल की नहरों का समुचित प्रबन्ध करते थे, जिससे कृषकों को सरलता होती थी। रुद्रदामा के गिरनार वाले लेख से प्रतीत होता है कि सुदर्शन ह्रद महाराज चन्द्रगुप्त के राजत्व-काल मे बना था। इससे ज्ञात होता है कि राज्य मे सर्वत्र जल का प्रबन्ध रहता था तथा कृषको के लाभ पर विशेष ध्यान रहता था।

राज्य के प्रत्येक प्रान्त मे समाचार संग्रह करने वाले थे, जो सत्य समाचार चन्द्रगुप्त को देते थे। चाणक्य-सा बुद्धिमान् मन्त्री चन्द्रगुप्त को बड़े भाग्य से मिला

शतश " से ज्ञात होता है कि वह शोण और गंगा के संगम पर था। पाटलिपुत्र कब बसा, इसका ठीक पता नही चलता। कथा-सरित्सागर के मत से इसे पुत्रक नामक ब्राह्मणकुमार और पाटलि नाम्नी राजकुमारी ने अपने नामों से बसाया था; पर इसके लिये जो कथा है, वह विश्वास के योग्य नही है—

बौद्ध लोग लिखते है कि राजा अजातशत्रु के मन्त्री वर्षकार ने पाटलि ग्राम में एक दुर्ग बनवाया था, जिसे देखकर महात्माबुद्ध ने कहा था कि यह कुछ दिनों में एक प्रधान नगर हो जायगा। इधर वायुपुराण में लिखा है कि अजातशत्रु के पुत्र उदयाश्व ने वह नगर बसाया है :

स वै पुरवरं राजा पृथिव्यां कुसुमाह्वयं।
गङ्गाया दक्षिणे कोणे चतुर्थेऽब्दे करिष्यति॥

अजातशत्रु और बुद्ध समकालीन थे। बुद्ध का निर्वाण ५५० ई० पू० में

था और उसकी विद्वत्ता ऊपर लिखित प्रबन्धों से ज्ञात होती है। युद्धादि के समय में भी भूमि बराबर जोती जाती थी, उसके लिए कोई बाधा नहीं थी।

राजकीय सेना में, जिसे राजा अपने व्यय से रखते थे, रणतरी २,००० थी।[1] ८,००० रथ, जो चार घोड़ों से जुते रहते थे, जिस पर एक रथी और दो योद्धा रहते थे। ४,००,००० पैदल असिचर्मधारी, धनुर्बाणधारी। ३०,००० अश्वारोही। ९०,००० रण-कुंजर, जिन पर महावत लेकर ४ योद्धा रहते थे और युद्ध के भार-वाही, अश्व के सेवक तथा अन्य सामग्री ढोनेवालों को मिलाकर ६,००,००० मनुष्यों की भीड़भाड़ उस सेना में थी और उस सेना विभाग के प्रत्येक ६ विभागों में ५ सदस्य रहते थे।

प्रथम विभाग नौसेना का था। दूसरा विभाग युद्ध-सम्बन्धी भोजन, वस्त्र, कपड़े, बाजा, सेवक और जानवरों के चारे का प्रबन्ध करता था। तीसरे वर्ग के अधीन पैदल सैनिक रहते थे। चौथा विभाग अश्वारोहियों का था। पाँचवाँ, युद्ध-रथ की देखभाल करता था। छठा युद्ध के हाथियों का प्रबन्ध करता था।

इस प्रकार सुरक्षित सेना और अत्युत्तम प्रबन्ध से चन्द्रगुप्त ने २४ वर्ष तक भारत भूमि का शासन किया। भारतवर्ष के इतिहास में मौर्य-युग का एक स्मरणीय समय छोड़कर २ ७ ई० पू० में मानवलीला संवरण करके चन्द्रगुप्त ने अपने सुयोग्य पुत्र के हाथ में राज-सिंहासन दिया।

सम्राट् चन्द्रगुप्त दृढ़ शासक, विनीत, व्यवहार-चतुर, मेधावी, उदार, नैतिक, सद्गुण सम्पन्न तथा भारतभूमि के सपूतों में से एक रत्न था। बौद्ध ग्रन्थ, अर्थकथा और वायुपुराण से चन्द्रगुप्त का शासन २४ वर्षों का ज्ञात होता है जो ३२१ ई० पू० से २९७ ई० पू० तक ठीक प्रतीत होता है।

चन्द्रगुप्त के समय का भारतवर्ष :

भारतभूमि अतीव उर्वरा थी; कृत्रिम जल-स्रोत, जो कि राजकीय प्रबन्ध से बने थे, खेती के लिये बहुत लाभदायक थे। प्राकृतिक बड़ी-बड़ी नदियाँ अपने तट के भू-भाग को सदैव उर्वर बनाती थीं। एक वर्ष में दो बार अन्न काटे जाते थे। यदि किसी कारण से एक फसल ठीक न हुई, तो दूसरी अवश्य इतनी होती कि भारतवर्ष

मान लें तो सम्भव है कि पाटलि-दुर्ग पचास वर्ष के बाद नगर-रूप में परिणत हो गया हो। अनुमान किया जाता है कि ५०० ई०-पू० में पाटलिपुत्र बसा था।

१. "नदीपर्वतदुर्गीयाभ्यां नदीदुर्गीयात् भूमि लाभः श्रेयान् नदी दुर्गं हि हस्तिस्तम्भ-संक्रम-सेतुबन्धनौभिस्साध्यम्"—अर्थशास्त्र २९४।

"नावध्यक्ष : समुद्रसंयाननदीमुखतर प्रचारान् देवसरोविसरोनदीतारांश्च स्थानीयादिष्ववेक्षेत--अर्थशास्त्र, प्रकरण ४५।

को अकाल का सामना नहीं करना पड़ता था। कृषक लोग बहुत शान्तिप्रिय होते थे। युद्ध आदि के समय में भी कृषक लोग आनन्द से हल चलाते थे। उत्पन्न हुए अन्न का चतुर्थांश राजकोष में जाता था। खेती की उन्नति की ओर राजा का भी विशेष ध्यान रहता था। कृषक लोग आनन्द में अपना जीवन व्यतीत करते थे।

दलदलों में अथवा नदियों के तटस्थ भू-भाग मे, फल-फूल भी बहुतायत से उगते थे और वे सुस्वादु तथा गुणदायक होते थे।

जानवर भी यहाँ अनेक प्रकार के यूनानियों ने देखे थे। वे कहते हैं कि चौपाये यहाँ जितने सुन्दर और बलिष्ठ होते थे, वैसे अन्यत्र नहीं। यहाँ के सुन्दर बैलों को सिकन्दर ने यूनान भी भेजा था। जानवरों मे जंगली और पालतू सब प्रकार के यहाँ मिलते थे। पक्षी भी भिन्न-भिन्न प्रदेशों मे बहुत प्रकार के थे, जो अपने घोसलों में बैठकर भारत के सुस्वादु फल खाकर कमनीय कण्ठ से उसकी जय मनाते थे। धातु भी यहाँ प्रायः सब उत्पन्न होते थे। सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा और जस्ता इत्यादि यहाँ की खानो मे से निकलते और उनसे अनेक प्रकार के उपयोगी अस्त्र-शस्त्र, साज-आभूषण इत्यादि प्रस्तुत होते थे। शिल्प यहाँ का बहुत उन्नत अवस्था मे था; क्योंकि उसके व्यवसायी सब प्रकार के कर से मुक्त होते थे। यही नही, उनको राजा से सहायता भी मिलती थी जिससे कि वे स्वच्छन्द होकर अपना कार्य करें। **क्या विधिविडम्बना है उसी भारत के शिल्प की, जहाँ के बनाये आडम्बर तथा शिल्प की वस्तुओं को देखकर यूनानियों ने कहा था 'भारत की राजधानी पाटलीपुत्र को देखकर फारस की राजधानी कुछ भी नहीं प्रतीत होती।'**

शिल्पकार राज-कर से मुक्त होने के कारण राजा और प्रजा दोनों के हितकारी यन्त्र बनता था; जिससे कार्यों मे सुगमता होती थी।

प्लिनी कहता है कि 'भारतवर्ष में मनुष्य पाँच वर्ग के है—एक, जो लोग राज-सभा मे कार्य करते है, दूसरे सिपाही, तीसरे व्यापारी, चौथे कृषक और एक पाँचवा वर्ग भी है जो कि दार्शनिक कहलाता है।'

पहले वर्ग के लोग सम्भवतः ब्राह्मण थे जो कि नीतिज्ञ होकर राजसभा में धर्माधिकार का कार्य करते थे।

और सिपाही लोग अवश्य क्षत्रिय ही थे। व्यापारियो का वणिक सम्प्रदाय था। कृषक लोग शूद्र अथवा दास थे; पर वह **दासत्व सुसभ्य लोगों की गुलामी नहीं थी।**

पाँचवा वर्ग उन ब्राह्मणों का था, जो संसार मे एक प्रकार से अलग होकर ईश्वराराधना में अपना दिन बिताते तथा सदुपदेश देकर संसारी लोगों को आनन्दित करते थे। वे स्वयं यज्ञ करते थे और दूसरे का यज्ञ कराते थे; सम्भवतः वे ही मनुष्यों

का भविष्य कहते थे और यदि उनका भविष्य कहना सत्य भ होता तो वे फिर उस सम्मान की दृष्टि से नहीं देखे जाते थे।

भारतवासियों का व्यवहार बहुत सरल था। यज्ञ को छोड़ कर वे मदिरा और कभी नहीं पीते थे। लोगों का व्यय इतना परिमित था कि वे सूद पर ऋण कभी नही लेते थे। भोजन वे लोग नियत समय में तथा अकेले ही करते थे। व्यवहार के वे लोग बहुत सच्चे होते थे; झूठ से उन लोगों को घृणा थी। बारीक मलमल के कामदार कपड़े पहनकर वे चलते थे। उन्हें सौन्दर्य का इतना ध्यान रहता था कि नौकर उन्हें छाता लगाकर चलता था। आपस मे मुकदमें बहुत कम होते थे।

विवाह एक जोड़ी बैल देकर होता था और विशेष उत्सव में आडम्बर से कार्य करते थे। तात्पर्य यह है कि महाराज चक्रवर्ती चन्द्रगुप्त के शासन में प्रजा शान्तिपूर्वक निवास करती थी। और सब लोग आनन्द से अपना जीवन व्यतीत करते थे।

शिल्प-वाणिज्य की अच्छी उन्नति थी। राजा और प्रजा मे विशेष सद्भाव था, राजा अपनी प्रजा के हित-साधन मे सदैव तत्पर रहता था। प्रजा भी अपनी भक्ति से राजा को सन्तुष्ट रखती थी। चक्रवर्ती चन्द्रगुप्त का शासनकाल भारत का स्वर्णयुग था।

चाणक्य

इनके बहुत-से नाम मिलते है। विष्णुगुप्त, कौटिल्य, चाणक्य, वात्स्यायन, द्रामिल इत्यादि इनके प्रसिद्ध नाम है। भारतीय पर्यटक इन्हे दक्षिणदेशीय कोंकणस्थ ब्राह्मण लिखते है और इनके प्रमाण में वे लिखते है कि दक्षिणदेशीय ब्राह्मण प्रायः कूटनीतिपटु होते है। चाणक्य की कथाओं मे मिलता है कि वह श्यामवर्ण के पुरुष तथा कुरूप थे, क्योंकि इसी कारण से वह नन्द की सभा से श्राद्ध के समय उठाये गये। जैनियों के मत से चाणक्य गोल-ग्रामवासी थे और जैन धर्मावलम्बी थे। वह नन्द द्वारा अपमानित होने पर नन्दवंश का नाश करने की प्रतिज्ञा करके बाहर निकल पड़े और चन्द्रगुप्त से मिलकर उसे कौशल से नन्द-राज्य का स्वामी बना दिया।

बौद्ध लोग उन्हे तक्षशिला निवासी ब्राह्मण बतलाते है और कहते है कि धननन्द को मारकर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को राज्य दिया। पुराणों में मिलता है, **"कौटिल्यो नाम ब्राह्मणः समुद्धरिष्यति।"** अस्तु, सब की कथाओं का अनुमान करने से जाना जाता है कि चाणक्य ही चन्द्रगुप्त की उन्नति के मूल हैं।

चाणक्य के बारे मे जस्टिस तैलंग लिखते है : –

"Chanakya is represented as a clearheaded, self confldant intriguing hard poiitician with ultimate end of his ambition –

thoroughly well determined and directing all his clear headness and intrigue to the accomplishment of that end."

V. A. Smith लिखते हैं कि :—

Nor is there any reason to descredit the statements that the userper was attacked by a confederecy of the northern powers, including Kashmere and that the attack failed owing to the maciavellian intrigues of Chandragupta's Brahman advisor, who is variousely named Chanakya"

कामंदकीय नीतिसार में लिखा है—

यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसः।
पतात मूलतः श्रीमान्सुपर्वानन्दपर्वत.॥
एकाकी मंत्रशक्त्या यः शक्तः शक्तिधरोपमः।
आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम्॥
नीतिशास्त्रामृतं धीमानर्थशास्त्रमहोदधे।
य उद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे॥

चन्द्रगुप्त का प्रधान सहायक मन्त्री चाणक्य ही था। पर यह ठीक नहीं ज्ञात होता कि वह कहाँ का रहने वाला था जैनियों के इतिहास से बौद्धों के इतिहास को लोग प्रमाणिक मानते हैं। हेमचन्द्र ने जिस भाव से चाणक्य का चित्र अंकित किया है, वह प्रायः अस्वाभाविक घटनाओं से पूर्ण है।

जैन-ग्रन्थों और प्रबन्धो में प्रायः सभी को जैनधर्म मे किसी-न-किसी प्रकार आश्रय लेते हुए दिखाया गया है। यही बात चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में भी है। श्रवण बेलगोलवाले लेख के द्वारा, जो किसी जैनमुनि का है, चन्द्रगुप्त ने राज छोड़कर यति-धर्म ग्रहण करने का प्रमाण दिया जाता है। अनेक ग्रन्थो ने तो यहाँ तक कह डाला है कि उसका साथी चाणक्य भी जैन था।

अर्थशास्त्र के मंगलाचरण का प्रमाण देकर यह कहा जाता है कि (नमः शुक्र-बृहस्पतिभ्याः) ऐसा मंगलाचरण आचार्यों के प्रति कृतज्ञतासूचक वैदिक हिन्दुओं का नहीं हो सकता; क्योंकि वे प्रायः ईश्वर को नमस्कार करते हैं। किन्तु कामसूत्र के मंगलाचरण के सम्बन्ध मे क्या होगा जिसका मंगलाचरण है 'नमो धर्मार्थकामेभ्यो।' इनमें भी तो ईश्वर की वन्दना नहीं की गयी है। तो क्या वात्स्यायन भी जैन थे। इसलिये यह सब बाते व्यर्थ है। जैनों के अतिरिक्त जिन लोगों का चरित्र उन लोगों ने लिखा है, उसे अद्भुत, कुत्सित और अप्रासंगिक बना डाला है। स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुछ भारतीय चरित्रों को जैन ढाँचे मे ढालने का जैन-संस्कृत-साहित्य द्वारा असफल प्रयत्न किया गया है। यहाँ तक उन लोगों ने लिख डाला है कि

चन्द्रगुप्त को भूख लगी तो चाणक्य ने एक ब्राह्मण के पेट से गुलगुले निकाल कर खिलाये। ऐसी अनेक आश्चर्यजनक कपोलकल्पनाओं के आधार पर चन्द्रगुप्त और चाणक्य को जैन बनाने का प्रयत्न क़िया जाता है।

इसलिये बौद्धों के विवरण की ओर ही ध्यान आकर्षित होता है। बौद्ध लोग कहते हैं कि 'चाणक्य तक्षशिला-निवासी थे, और इधर हम देखते है कि तक्षशिला' में उस समय विद्यालय था जहाँ कि पाणिनि, जीवक आदि पढ़ चुके थे। अस्तु, सम्भवतः चाणक्य, जैसा कि बौद्ध लोग कहते है, तक्षशिला में रहते या पढ़ते थे। जब हम चन्द्रगुप्त की सहायक सेना की ओर ध्यान देते हैं, तो यह प्रत्यक्ष ज्ञात होता है कि चाणक्य का तक्षशिला से अवश्य सम्बन्ध था क्योंकि चाणक्य अवश्य उनसे परिचित थे, नही तो वे लोग चन्द्रगुप्त को क्या जानते! हमारा यही अनुमान है कि चाणक्य मगध के ब्राह्मण थे। क्योंकि मगध मे नन्द की सभा मे वे अपमानित हुए थे। उनकी जन्मभूमि पाटलिपुत्र ही थी।

पाटलिपुत्र इस समय प्रधान नगरी थी, चाणक्य तक्षशिला मे विद्याध्ययन करके वहाँ से लौट आये। किसी कारणवश वह राजा पर कुपित हो गये, जिसके बारे मे प्रायः सब विवरण मिलते-जुलते हैं। वह ब्राह्मण भी प्रतिज्ञा कर उठा कि आज से, जब तक नन्दवंश का नाश न कर लूँगा, शिखा न बाँधूँगा। और फिर चन्द्रगुप्त को मिलाकर जो-जो कार्य उन्होंने किये, वह पाठकों को ज्ञात ही है।

जहाँ तक ज्ञात होता है, चाणक्य वेद धर्मावलम्बी, कूटनीतिज्ञ, प्रखर प्रतिभावान और हठी थे।

उनकी नीति अनोखी होती थी और उनमे अलौकिक क्षमता थी। नीति शास्त्र के आचार्यों मे उनकी गणना है। उनके बनाये नीचे लिखे हुए ग्रन्थ बतलाये जाते हैं—चाणक्य नीति, अर्थशास्त्र, कामसूत्र और न्यायभाष्य।

यह अवश्य कहना होगा कि वह मनुष्य बड़ा प्रतिभाशाली था जिसके बुद्धिबल द्वारा, प्रशंसित राज-कार्य-क्रम से चन्द्रगुप्त ने भारत का साम्राज्य स्थापित करके उस पर राज्य किया।

हेमचन्द्र के अभिधान में पक्षिल स्वामी और चाणक्य एक ही व्यक्ति का नाम है।

१. कनिंघम साहब वर्तमान शाह-देहरी के समीप मे तक्षशिला का होना मानते हैं। रामचन्द्र के भाई भारत के दो पुत्रों के नाम से उसी ओर दो नगरियाँ बसायी गयी थी, तक्ष के नाम से तक्षशिला और पुष्कल के नाम से पुष्कलावती। तक्षशिला का विद्यालय उस समय भारत के प्रसिद्ध विद्यालयों में से एक था।

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्म्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधमर्माणा विद्योद्देशेप्रकीर्तिता ।। (वात्स्यायन न्यायभाष्य)

अर्थशास्त्र में यही श्लोक अविकल मिलता है। केवल उसका चतुर्थपाद बदला दिखाई देता है, जैसे- "विद्योद्देशे प्रकीर्तिता" की जगह "शश्वदान्वीक्षिकीमता" (अर्थशास्त्र ७ पृष्ठ), इसमे भी अनुमान होता है कि वात्स्यायन और चाणक्य एक ही थे। चाणक्य का ही नाम वात्स्यायन था,[1] चन्द्रगुप्त की राजसभा में उसका रहना प्रमाणित है। अर्थशास्त्र मे स्वयं चाणक्य ने लिखा है -

येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजागता च भूः ।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम् ।।

काशी
सं० १९६६

—जयशंकर प्रसाद



१. वात्स्यायनो मल्लिनागः कुटिलश्चणकात्मजः
द्रामिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः--अभिधान चिन्तामणि। (सं०)

ध्रुवस्वामिनी

(सूचना)

विशाखदत्त-द्वारा रचित 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक के कुछ अंश 'शृंगार-प्रकाश' और 'नाट्य-दर्पण' से सन् १९२३ की ऐतिहासिक पत्रिकाओं में जब उद्धृत हुए तब चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के जीवन के सम्बन्ध मे जो नयी बातें प्रकाश में आई, उनसे इतिहास के विद्वानों में अच्छी हलचल मच गई। शास्त्रीय मनोवृत्तिवालों को, चन्द्रगुप्त के साथ ध्रुवस्वामिनी का पुनर्लग्न असम्भव, विलक्षण और कुरुचिपूर्ण मालूम हुआ। यहाँ तक कि आठवी शताब्दी के सञ्जन ताम्रपत्र—

हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवीं स दीनस्तथा
लक्षं कोटिमलेखयन् किल कलौ दाता स गुप्तान्वयः

के पाठ में सन्देह किया जाने लगा।

किन्तु जिस ऐतिहासिक घटना का वर्णन करते हुए सातवी शताब्दी में बाणभट्ट ने लिखा है—

'अरिपुरेच परकलत्रकामुकं कामिनीवेशश्चन्द्रगुप्तो शकपतिमशातयत्।'

और ग्यारहवी शताब्दी में राजशेखर ने भी लिखा है —

दत्वारुद्ध गति खसाधिपतये देवी ध्रुवस्वामिनीम्।
यस्मात् खंडित साहसो निववृते श्रीरामगुप्तोनृपः।

वह घटना केवल जनश्रुति कह कर नही उड़ाई जा सकती।

विशाखदत्त को तो श्री जायसवाल ने चन्द्रगुप्त की सभा का राजकवि और उसके 'देवीचन्द्रगुप्त' को जीवनचित्रण नाटक भी माना है। यह प्रश्न अवश्य ही कुछ कुतूहल से भरा हुआ है कि विशाखदत्त ने अपने दोनों नाटकों का नायक चन्द्रगुप्त-नामधारी व्यक्ति को ही क्यों बनाया। परन्तु श्रीतैलंग ने तो विशाखदत्त को सातवी शताब्दी के अवन्तिवर्मा का आश्रित कवि माना है। क्योंकि 'मुद्राराक्षस' की किसी प्राचीन प्रति में उन्हें मुद्राराक्षस के भरत वाक्य 'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः' के स्थान पर 'पार्थिवोऽवन्तिवर्मा' भी मिला। विशाखदत्त के आलोचक लोग उसे एक प्रामाणिक ऐतिहासिक नाटककार मानते है। उसके लिखे हुये नाटक मे इतिहास का अंश कुछ न हो, ऐसा तो नही माना जा सकता। राखालदास बनर्जी, प्रोफेसर अल्तेकर और श्रीजायसवाल इत्यादि ने, अन्य प्रामाणिक आधार मिलने के कारण ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त के पुनर्लग्न को ऐतिहासिक तथ्य मान लिया है। यह कहना कि राम-गुप्त नाम का कोई राजा गुप्तों की वंशावली मे नही मिलता और न किसी अभिलेख में उसका वर्णन आया है, कोई अर्थ नहीं रखता। समुद्रगुप्त के शासन का उल्लंघन करके, कुछ दिनों तक साम्राज्य मे उत्पात मचाकर, जो राजनीति के क्षेत्र में अन्तर्धान

हो गया हो; उसका उल्लेख वंशावली में न मिले तो कोई आश्चर्य नहीं। हाँ, भण्डारकरजी तो कहते है कि उसके लघु-काल-व्यापी शासन का सूचक सिक्का भी चला था। 'काच' के नाम से प्रसिद्ध जो गुप्त सिक्के मिलते है, वे रामगुप्त के ही हैं। राम के स्थान पर भ्रम से काच पढा जा रहा था। इसलिए बाणभट्ट की वर्णित घटना अर्थात् स्त्री-वेश धारण करके चन्द्रगुप्त का पर-कलत्र-कामुक शकराज को मारना और ध्रुवस्वामिनी का पुनर्विवाह इत्यादि के ऐतिहासिक सत्य होने मे सन्देह नहीं रह गया है। और मुझे तो इसका स्वयं चन्द्रगुप्त की ओर से एक प्रमाण मिलता है। चन्द्रगुप्त के कुछ सिक्कों पर 'रूपकृती' शब्द का उल्लेख है। रूप और आकृति का जॉन एलन् ने खीच-तानकर जो शारीरिक और आध्यात्मिक अर्थ किया है, वह व्यर्थ है। 'रूपकृती' विरुद का उल्लेख करके चन्द्रगुप्त अपने उस साहसिक कार्य को स्वीकृति देता है जो ध्रुवस्वामिनी की रक्षा के लिए उसने रूप बदलकर किया है, और जिसका पिछले काल के लेखको ने भी समय-समय पर समर्थन किया है।

विशाखदत्त के 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक का जितना अंश प्रकाश मे आया है, उसे देखकर अबुलहसन अली की बर्कमारिस वाली कथा का मिलान करके कई ऐतिहासिक विद्वानों ने शास्त्रीय दृष्टिकोण रखनेवाले आलोचकों को उत्तर देते हुए ध्रुवदेवी के पुनर्लग्न को ऐतिहासिक तथ्य तो मान लिया है, किन्तु भण्डारकरजी ने पराशर और नारद की स्मृतियों से उस काल की सामाजिक व्यवस्था म पुनर्लग्न होने का प्रमाण भी दिया है। शास्त्रों मे अनुकूल और प्रतिकूल दोनों तरह की बातें मिल सकती है, परन्तु जिस प्रथा के लिये विधि और निषेध दोनों तरह की सूचनाये मिलें; तो इतिहास की दृष्टि से वह उस काल में सम्भाव्य मानी जायगी। हाँ, समय-समय पर उनमें विरोध और सुधार हुये होंगे और होते रहेगे। मुझे तो केवल यही देखना है कि इस घटना की सम्भावना इतिहास की दृष्टि से उचित है कि नही।

भारतीय दृष्टिकोण को सुरक्षित रखने वाले विशाखदत्त-जैसे पण्डित ने जब अपने नाटक में लिखा है—

रम्यांचारतिकारिणी च करुणाशोकेन नीता दशाम्
तत्कालोपगतेन राहुशिरसा गुप्तेव चांद्रीकला।
पत्युः क्लीवजनोचितेन चरितेनानेव पुंसः सतो
लज्जाकोपविषाद भीत्यरतिभिः क्षेत्रीकृता ताम्यते॥

तो उस नाटक के सम्पूर्ण सामने न रहने पर भी, जिससे कि उसके परिणाम का निश्चित पता लगे, उस काल की सामाजिक व्यवस्था का तो अंशतः स्पष्टीकरण हो ही जाता है।

नारद और पराशर के वचन -

अपत्यार्थम् स्त्रियः सृष्टा. स्त्री क्षेत्रं बीजिनो नराः
क्षेत्रं बीजवते देयं नाबीजो क्षेत्रमर्हति। **(नारद)**

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते। (पराशर)

के प्रकाश में जब 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक के ऊपरवाले श्लोक का अर्थ किया जाय तो वह घटना अधिक स्पष्ट हो जाती है। रम्या है किन्तु अरतिकारिणी है, में जो श्लेष है, उसमें शास्त्र-व्यवस्था जनित ध्वनि है। और पति के क्लीव जनोचित चरित का उल्लेख, साथ-ही-साथ क्षेत्रीकृता—जैसा पारिभाषिक शब्द, नाटककार ने कुछ सोचकर ही लिखा होगा।

भण्डारकर और जायसवालजी, दोनों ने ही अपने लेखों में विधवा के साथ पुनर्लग्न होने की व्यवस्था मान कर ध्रुवदेवी का पुनर्लग्न स्वीकार किया है। किन्तु स्मृति की ही उक्त व्यवस्था मे अन्य पति ग्रहण करने के लिये जिन पाँच आपत्तियो का उल्लेख किया है, उनमें केवल मृत्यु होने पर ही तो विधवा का पुनर्लग्न होगा। अन्य चार आपत्तियाँ तो पति के जीवन काल मे ही उपस्थित होती है।

उधर जायसवालजी चन्द्रगुप्त द्वारा रामगुप्त का वध भी नही मानना चाहते, तब 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक की कथा का उपसंहार कैसे हुआ होगा? वैवाहिक विषयों का उल्लेख स्मृतियों को छोड़कर क्या और कही नही है? क्योंकि स्मृतियों के सम्बन्ध में तो यह भी कहा जा सकता है कि वे इस युग के लिये नहीं, दूसरे युग के लिये हैं। परन्तु इसी कलियुग के विधान-ग्रन्थ आचार्य कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' मे मुझे स्मृतियों की पुष्टि मिली।

किस अवस्था में एक पति दूसरी स्त्री ग्रहण कर सकता है, इसका अनुसन्धान करते हुए, धर्मस्थीय प्रकरण के विवाह संयुक्त में आचार्य कौटिल्य लिखते हैं—

वर्षाण्यष्टावप्रजायमानामपुत्राम् वंध्यां चाकांक्षेत् दशविन्दु,
द्वादश कन्या प्रसविनीम्। ततः पुत्रार्थी द्वितीयां विंदेत्।

आठ वर्ष तक वन्ध्या, दस वर्ष विन्दु अर्थात् नश्यत्प्रसूति, बारह वर्ष तक कन्या प्रसविनी की प्रतीक्षा करके पुत्रार्थी दूसरी स्त्री ग्रहण कर सकता है। पुरुषों का अधिकार बताकर स्त्रियों के अधिकार की घोषणा भी उसी अध्याय के अन्त में है।

नीचत्वम् परदेशम् वा प्रस्थितो राजकिल्विषी।
प्राणाभिहंता पतितस्त्याज्यः क्लीबोपिवापतिः॥

इसका मेल पराशर या नारद के वाक्यों से मिलता है। इन्ही अवस्थाओं में पति को छोड़ने का अधिकार स्त्रियों को था। क्योंकि 'अर्थशास्त्र' में, आगे जो मोक्ष—Divorce का प्रसंग आता है, उसमे न्यायालय सम्भवत. 'अमोक्षा भर्तुरकामस्य द्विषती भार्या भार्यायाश्च भर्ता, परस्परं द्वेषान्मोक्षः' के आधार पर आदेश देता था। किन्तु साधारण द्वेष से भी जहाँ अन्य चार विवाहों मे मोक्ष हो सकते थे; वहाँ धर्म-विवाह मे केवल इन्हीं अवस्थाओं मे पति त्याज्य समझा जाता था। नहीं तो 'अमोक्षोहि

धर्मविवाहानाम्' के अनुसार धर्म-विवाहों में मोक्ष नहीं होता था। दमयन्ती के पुनर्लग्न की घोषणा भी पति के नष्ट या परदेश प्रस्थित होने पर ही की गई थी।

जायसवालजी अबुलहसनअली की यह बात नहीं मानते कि चन्द्रगुप्त ने रामगुप्त की हत्या की होगी। उनका कहना है कि चन्द्रगुप्त तो भरत की तरह बड़े भाई के लिए गद्दी छोड़ चुका था। उनका अनुमान है कि "Very likely, it came about in the form of popular uprsing"

अब नाटककार के 'अरतिकारिणी' और 'क्लीव' आदि शब्द घटना की परिणति की क्या सूचना देते हैं, यह विचारणीय है। बहुत सम्भव है कि अबुलहसन की कथा का आधार 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक ही हो। क्योंकि अबुलहसन के लिखने के पहले उक्त नाटक का होना माना जा सकता है।

यह ठीक है कि हमारे आचार और धर्मशास्त्र की व्यावहारिकता की परम्परा विच्छिन्न-सी है। आगे जितने सुधार या समाजशास्त्र के परीक्षात्मक प्रयोग देखे या सुने जाते हैं, उन्हें अचिन्तित और नवीन समझ कर हम बहुत शीघ्र अभारतीय कह देते है, किन्तु मेरा ऐसा विश्वास है कि प्राचीन आर्यावर्त्त ने समाज की दीर्घकाल-व्यापिनी परम्परा में प्रायः प्रत्येक विधान का परीक्षात्मक प्रयोग किया है। तात्कालिक कल्याणकारी परिवर्तन भी हुए हैं। इसीलिए डेढ़ हजार वर्ष पहले यह होना अस्वाभाविक नहीं था। क्या होना चाहिए और कैसा होगा, यह तो व्यवस्थापक विचार करें; किन्तु इतिहास के आधार पर जो कुछ हो चुका या जिस घटना के घटित होने की सम्भावना है, उसी को लेकर इस नाटक की कथा-वस्तु का विकास किया गया है।

भण्डारकरजी का मत है कि यह युद्ध गोमती की घाटी में अल्मोड़ा जिले के कार्तिकेयपुर के समीप हुआ। जायसवालजी का मत है कि यह युद्ध ३७४ ई० से लेकर ३८० ई० के बीच में काँगड़ा जिले के अलिवाल स्थान में हुआ था, जहाँ कि प्रथम सिक्ख-युद्ध भी हुआ था।

प्रयाग की प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की साम्राज्य नीति मे विजित राजाओं के आत्म-निवेदन 'कन्योपायन दान' ग्रहण करने का उल्लेख है। मैंने ध्रुवस्वामिनी के गुप्तकुल में आने का वही कारण माना है।

विशाखदत्त ने ध्रुवदेवी नाम लिखा है; किन्तु मुझे ध्रुवस्वामिनी नाम जो राजशेखर के मुक्तक में आया है, स्त्रीजनोचित, सुन्दर, आदर-सूचक और सार्थक प्रतीत हुआ। इसीलिए मैंने उसी का व्यवहार किया है।

●

गत पृष्ठ में उल्लिखित Divorce के साथ पाण्डुलिपि में Decree nicci भी लिखित है, जिसका अर्थ अगले आदेश के न पारित होने तक जीवन्त रहना है। (सं०)

परिशिष्ट

(सरस्वती मासिक पत्र द्वारा अस्वीकृत १९१२ ई० की रचनायें)

कथ्य

इस परिशिष्ट में वे तीन अप्रकाशित कृतियाँ हैं—जिन्हें 'सरस्वती' में स्थान नहीं मिला। उसके सम्पादक स्व० महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'पेंसिलाक्षरो' में उन पर दिनांक और rejected अंकित है। सभी पर मई १९१२ की तिथियां पड़ी हैं। उस समय भी हिन्दी के महारथी वैचारिक स्तर पर अंग्रेजी में अन्तराभिलापन करके अपने विचार हिन्दी मे लिप्यन्तरित करते थे आज भी प्रायः ऐसा होता है: सुतरां, अभिव्यक्ति की ऐसी प्रक्रिया के भी वे महारथी प्रणेता है।

द्विवेदीजी अपने खेमे की भीतरी मशालों मे ही तेल देते थे। हिन्दी साहित्य की व्यापक सम्भावनाओं की परिचर्या से वे उदासीन-प्राय रहे। उन मशालों से अधिक प्रकाश वाली कोई मशाल न जल उठे इसकी भी चिन्ता रही होगी। 'सरस्वती' के कारण हिन्दी जगत पर उनका एक आतंक-सा रहा जिसके चलते पुच्छ-संवाहकों की कमी न थी। किन्तु कुछ और विशेषतः काशीवासी लेखक ऐसे थे जिन्हें उनके सम्पादकीय अंकुश का अतिवाद स्वीकार न था। जैसे आचार्य केशव प्रसाद मिश्र आदि और डा० सम्पूर्णानन्द ने तो एक बार स्पष्ट कह दिया था कि मेरी रचना में अपनी कलम न घुसेड़ें, न छापना हो न छापें, यदि मैं हाथ को 'थहा' लिखूं तो वैसा ही छापें—बात जब यहाँ तक बढ़ गई तब काशी के साहित्यकारों से उनका खिन्न होना स्वाभाविक रहा। इधर काशी का 'इन्दु' भी साहित्य जगत को आलोकित करने लगा था। ज्ञातव्य है कि इन rejected रचनाओं के प्रणेता 'इन्दु' के अधिष्ठाता भी रहे।

कुछ समय पूर्व यहाँ द्विवेदी युग पर एक संगोष्ठी भारत कला भवन के तत्त्वा-

वधान मे हुई थी। उसमे, मद्रास विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० शकर राजू नायडू ने अपने व्याख्यान में एक आधारिक महत्त्व का प्रश्न उठाया था कि, "साहित्य स्रष्टा युग प्रवर्त्तक हुआ करते हैं अथवा सम्पादक-समीक्षक ? यद्यपि द्विवेदीजी ने भी काव्यरचना के कुछ प्रयास किये थे जिनका मूल्यांकन आचार्य शुक्ल ने भलीभाँति किया और उन्हे गद्यात्मकतया प्रतिष्ठित पद्य की संज्ञा दी है। फिर, हिन्दी के नवोत्थान मे भारतेन्दु युग के बाद एक अवष्टम्भ पार कर प्रसाद-युग ही आता है—तब द्विवेदी युग कैसा ?"

इस परिशिष्ट में संकलित रचनाओ मे भावी प्रसाद वाङ्मय के पुष्ट आधारों को द्विवेदीजी नही देख पाये। आज उनकी 'अस्वीकृति' के—क्यों और कैसे का मीमांसन प्रसाद-वाङ्मय के सन्दर्भ में महत्वहीन हो गया है।

—सम्पादक



प्रभात चिन्ता

अन्धकार हट रहा जगत जागृत हुआ।
रजनी का भी स्तब्ध भाव अपसृत हुआ॥
नीलाकाश प्रशान्त स्वच्छ होने लगा।
दक्षिण-पवन-स्पर्श सुखद होने लगा॥

क्लान्त निशा जो जगी रात भर मोद में।
चली लेटने अहा नींद की गोद में॥
ऊषा का पट ओढ़ लिया अति चाव से।
अन्तरिक्ष में सोने को शुचि भाव से॥

किन्तु जीव को जगा दिया कल-नाद से।
जो तन्द्रा सुख भोग रहा आह्लाद से॥
मीठा मादक नशा व्याप्त होने लगा।
इन बातों का ध्यान उसे होने लगा॥

"दूर छोड़ कर देश किस जगह आ गया।
यात्री का पद कहो कहाँ से पा गया॥
नव विस्मृति के साथ व्यथा नव हो गई।
नये नये है साथ राह भी है नई॥

छाया सा अस्पष्ट चित्र दिखला दिया।
भ्रम-मय अनुसन्धान अहो सिखला दिया॥
सुख समुद्र के बीच प्रेम का द्वीप था।
चन्द्र-देव का रजत-बिम्ब ही दीप था॥

पवन सुरभि आनन्द पूर्ण सुखशीत था।
नव वसन्त का राग, शान्ति संगीत था॥
चिर वसन्तमय काम्य कुसुम के कुंज थे।
जिनमें विचरणशील रसिक अलि-पुंज थे॥

इतना था सौहार्द सभी हम एक थे।
एक अकेले हमीं रहे न अनेक थे ॥[1]
करुणा का था राज्य, प्रेम ही धर्म था।
शुद्धानन्द-विनोद, एक ही कर्म था ॥

न था किसी में मोह कभी न विवाद था।
मिलता अविरत स्वच्छ सुधा का स्वाद था ॥
छाया-हीन न वृक्ष न गरमी आह की।
नहीं धारणा बिना वृक्ष के राह की ॥

भीति शीत की थी न मार्ग की यन्त्रणा।
यह कुचक्रमय चाल न थी न कुमन्त्रणा ॥
तप्त हृदय का नहीं उष्ण निश्वास था।
शुद्ध प्रेममय भाव सत्य विश्वास था ॥

ज्वाला का सन्ताप आदि में था सहा।
मार्ग मध्य इससे न कभी खाली रहा ॥
ज्वाला में ही अन्त अहो यात्रा बड़ी।
ऐसा अद्भुत मार्ग समस्या है कड़ी ॥"

पूर्व स्मृति का चित्र स्पष्ट कर लो अभी।
बड़े दुखद ये ध्यान न होंगे फिर कभी ॥
सहज प्रेम प्रतिबिम्ब सभी पर डाल लो।
सुगम मार्ग का चिह्न मनोज्ञ निकाल लो ॥

जयशंकर 'प्रसाद'



१. तु० कामायनी—आनंद मर्ग—'हम केवल एक हमी है'। चन्द्रगुप्त के चतुर्थ अंक, पंचम दृश्य मे चाणक्य का कथन;—अवलोक्य द्वितीय खण्ड पृष्ठ ६३० में ब्राह्मण किंवा विशुद्ध मानव-सत्त्व की उद्गम भूमि का ऐसा चित्र—जो ई० १९१२ के पूर्व अंकित हुआ किन्तु सरस्वती पत्रिका द्वारा मई १९१२ मे rejected हो गया। (सम्पादक)

महाराणा अमर सिंह

चिर-प्रसिद्ध मेवाड़-भूमि का नाश हुआ है,
भारत-स्वाधीनता-सूर्य का ह्रास हुआ है।
ऐसा है निस्तब्ध रण-स्थल जैसे सागर,
क्रन्दन का भी शब्द नहीं, जीवित न एक नर।
अति पवित्र गिल्लोट-कुल-ज्वाला का निर्वाण है,
अंगारे से एक ही अमर सिंह सप्राण हैं॥

देखी जब यह दशा न कोई संग न साथी,
नहीं प्रबल वे वीर, नहीं हैं घोड़े हाथी।
थोड़े ही से वीर बचे जो रहे नगर में,
रक्षा महिलागण की करते अन्तःपुर में।
राज-कुंवर इक कर्ण है शिशोदिया के वंश में,
सर्वनाश करना नहीं ठीक किसी भी वंश में॥

प्रबल-प्रताप प्रताप सिंह का पुत्र अमर था,
राजपूत-कुल चूड़ामणि का हृदय निडर था।
बढ़ा यवन-दल और अतुल उत्साह बढ़ा था,
चढ़ा अश्व पर वीर वीर-मद-रंग चढ़ा था।
धीर शान्त सा यवन दल पारावार अपार था,
अमर सिंह उस चमू में बड़वानल साकार था॥

विचलित हुआ न वीर खड़ा था डट कर रण में,
वीर-वदन पर विभा बढ़ रही थी प्रति क्षण में।
मांगा समर सहर्ष यवन-दल-सेनापति से,
उसने उत्तर दिया मधुर, मस्तक-अवनति से।
"वीर, तुम्हारी यह छटा प्रति क्षण दर्शन योग्य है,
वीर तुम्हारे सदृश जो रण-सुख उनके भोग्य हैं॥

"आज आपके साथ वीर नरवर बलशाली,
रही न सेना साथ कोश भी होगा खाली।
किये युद्ध उत्साह-सहित हैं सत्रह तुमने,
वीर-पुत्र-कर्तव्य प्रकट दिखलाया तुमने।
ऐसे देव-शरीर पर वार न करता हूं कभी,
अनुपम आत्मोत्सर्ग का आदर करते हैं सभी।।

"जहाँगीर नहिं हृदय-हीन जो नहिं मानेंगे,[1]
अमरसिंह से सन्धि तुरत करना ठानेंगे।
हुआ नहीं कुछ अभी, बात यह मान लीजिये
दिल्लीश्वर प्रेरित सादर सम्मान लीजिये।
माना मैंने आपका यह हठ अति अनिवार्य है,
किन्तु सन्धि करना सदा राजाओं का कार्य है।[2]

नहीं, कभी यह नहीं हुआ है, कभी न होगा,
अमरसिंह स्वाधीन, कभी आधीन न होगा।
युद्ध, युद्ध बस युद्ध शीघ्र तलवार चलाओ,
करना हो जो तुम्हें तुरत करके दिखलाओ।
रक्षा अपनी कीजिये, भ्रमती है नहिं शुद्ध मति—
यों कह करके अमर ने खड्ग चलाया क्षिप्रगति।।

बचा तुरत निज अंग हटा खुर्रम उस थल से,
देखा यह उन्माद आर्द्र दृग हुये सुजल से।
कहा, देखकर सैन्य ओर "इक वार न होवे,
खड़े रहो सब लोग खुली तलवार न होवे
अमरसिंह ने यह सुनी आज्ञा खुर्रम धीर की,
स्थगित हुये तत्काल ही बुद्धि भ्रमी रणधीर की।।

१. इस कविता में सरस्वती सम्पादक ने संशोधन का जो साहस किया था उसका नमूना—इस पंक्ति को इस प्रकार व्याकुलित किया गया 'जहाँगीर है हृदययुक्त कहना मानेंगें'।

२. यह पंक्ति ऐसे बनाई जा रही है--'किन्तु सन्धि उद्योग भी राजाओं का कार्य है।'

(सम्पादक)

हुआ क्षोभ हिय बीच सोच कर्तव्य रहे थे,
अमरसिंह का दृश्य लोग सब देख रहे थे।
हृदय-सिन्धु में घोर घात-प्रतिघात हुआ है,
हिला मेरु मन प्रबल, महा भूकम्प हुआ है।
कौन कर्म कर्त्तव्य है ऐसे स्थल पर वीर को,
हुई शोचना हृदय में अमरसिंह से धीर को॥

खुर्रम ने तब कहा 'आप क्यों नहीं मानते
क्या सत्यव्रत लोग आपको नहीं जानते
जहाँगीर ने स्वयं आपका गौरव माना
और सन्धि करना ही अपने मन में ठाना
इस अच्छे ही कार्य के करने का अनुरोध कर,
भेंजा शाहंशाह ने पत्र एक अविरोध - कर॥

इतने में इक अश्व वेग से दौड़ा आया,
अपने आरोही को राणा तक पहुंचाया।
राजपूत था प्रथित वंश का वह भी झाला,
खुली हुई तलवार और कर में था भाला।
महा-विपद में चतुर की बुद्धि प्रकट होती यथा,
स्वमि-भक्त हरिदास भी पहुंचे आकस्मिक तथा॥

राणा को जब यवन सैन्य में उसने देखा,
झाला के कर बीच हुई असि विद्युल्लेखा।
अमरसिंह ने ज्योंही अपना हाथ उठाया,
खुला हुआ वह खड्ग सहित कर रुकता पाया।
देख सिकन्दर की भुजा रुकता यथा जहाज है,
अथवा होता शान्त ज्यों मन्त्र मुग्ध फणिराज है॥

राणा ने तब कहा शत्रु जब लड़े न सन्मुख,
उस पर फिर तलवार चलाने में है क्या सुख
मुझे अकेला देख, युद्ध में संकोचित हो
शस्त्र न खींचा हाथ खींचकर, अपराजित हो
रण से होते हैं विमुख वह न इन्हें स्वीकार है,
कहते "सन्धि सुधार लो" फिर क्या उचित विचार है॥

बोले तब हरिदास—स्वामि मैं सेवक ही हूँ,
परामर्श के योग्य नाथ मैं कभी नहीं हूँ।
किन्तु कहेगा वही, समक्ष में जो आवेगा,
कहने का अधिकार दास जब यह पावेगा।
स्वामिन्, ध्यान सदा रहे झाला है उस रक्त का,
जिसमें रहता है मिला पद अनुपम प्रभु भक्त का॥

क्षत्रिय का है धर्म युद्ध में लड़ कर मरना,
देश धर्म के लिए कभी नहिं पीछे टरना।
किया आपने उसे जहाँ तक निज वश का था,
दिया न पीछे पैर न कोई टाल सका था।
किन्तु आत्म हत्या नहीं क्षात्र कुलोचित धर्म्म है,
सहता है शर को वही जिसके उर पर वर्म्म है॥

राणा ने तब कहा तुम्हारी क्या अनुमति है,
करें यवन से सन्धि सूर्य कुल की यह गति है।
झाला था वह बीर जिन्होंने प्राण दिया था,
राज छत्र बस मृत्यु हेत ही छीन लिया था।
उन झाला के वंशधर होकर क्या कहना चहो?
देकर निज सर्वस्व को बैठे मुँह तकते रहो॥

भर आये अभिमान अश्रु से राणा के दृग,
प्यासे जल के लगे तैरने सर में ज्यों मृग।
कहा न अब इस योग्य रहा जो मैं कुछ कहता,
नहीं भला इन बातों को मैं कैसे सहता।
किन्तु और बल है नहीं क्षत जर्ज्जर इस हृदय में,
दया लवण जो सह सके ऐसे भीषण समय में॥

दु:खित हो हरिदास सजल दृग होकर बोले,
"वीर कभी नहिं हृदय ग्रन्थि को अपनी खोले
ईश स्वयं कर्त्ता है सब इच्छा उसकी है
उसमें बाधा देय भला हिम्मत किसकी है
समयासमय विचार कर निर्धारित कर कार्य को
राजन् दृढ़ हो देखिए भावी गति अनिवार्य को॥

चलिये अब यह भूमि आपके योग्य नहीं है,
ग्रीष्म कुञ्ज मधुमय वसन्त के भोग्य नहीं है"
यह सुन करके राणा ने तब अश्व फिराया
जैसे दिनकर साथ सदा रहती है छाया
उसी तरह हरिदास भी राणा के अनुगत हुए
अभिवादन करते हुए खुर्रम भी तब नत हुए ॥

अस्तोन्मुख दिननाथ सदृश पहुँचे मन्दिर में,
अमर सिंह जा बैठ गये तब राज अजिर में।
कुँवर कर्ण को दास भेज करके बुलवाया,
आज्ञा पाते नन्दन पद वन्दन को आया।
अश्रु भरे दृग से निरख सूंघ लिया शिर क्षेम से
जैसें वर्षा में जलद शृंग चूमता प्रेम से ॥

सजल जलद गम्भीर शब्द में सुत से बोले,
रहा न ऐसा वीर निमन्त्रण रण का जो ले
पूत भूमि मेवाड़ हुई पद दलित यवन से
धन, जन से परिपूर्ण नगर अब है कानन से
अरि हय पद के हलों से पुण्य भूमि खोदी गई
युद्ध खेत में भी लता अपयश की बो दी गई ॥

भाग्य चक्र के साथ सदा फिरती है नर मति
इस अयोग्य के हाथ हुई जननी की दुर्गति
अमरसिंह इस योग्य न था जो करता शासन
पूर्व पुरुष का दिया हुआ यह तेरा आसन
उसे ग्रहण अब तुम करो देश कार्य की सिद्धि हो
करो वही मेवाड़ की जिसमें नव श्रीवृद्धि हो ॥

इसके पहले कहूं वत्स जो उसको सुन लो
वही तुम्हारा कार्य उसे निज मन में गुन लो
उदय सरोवर स्वच्छ सुजल के रम्य तटी में
देव तुल्य मम "तात रहे जिस पुण्य कुटी में
सरदारों ने सामने उनके ही करके शपथ
कहा, "अमर होगा नहीं कभी पिता पथ से विपथ ॥

किन्तु विलासी अमर न करके ध्यान देश का
दर्पण देखा चित्र भूल कर वीर वेश का
समय बिताया व्यर्थ प्रजा की ओर न देखा
ऐसा पामर भूप हुआ तो क्या फिर लेखा
इस कारण ऐसी दशा उसको यों सहनी पड़ी
सच है लोहा भी नरम आंच न सह सकता कड़ी ॥

सूर्य वंश का भार तुम्हारे अब ऊपर है
शेष सदृश हो रहो, डगो नहि, क्या भू पर है
हिन्दु सूर्य ने पुत्र कर्ण को निज हाथों से
मुकुट पिन्हाया जड़ा हुआ मणि गुण गाथों से
आप पहन काषाय पट सन्ध्याऽरुण शोभित हुए
राज भवन आकाश से राणा अन्तर्हित हुए ॥

—जयशंकर 'प्रसाद'

१. इस कविता में राणा शब्द को सरस्वती के सम्पादक महोदय ने राना शब्द से संशोधित किया है। 'र' का योग 'ण' से होता है न से नहीं, जैसे अर्नव नहीं, अर्णव प्रयुक्त होता है। कदाचित् रानी का पुंलिंग वाची राना मानते यह संशोधन किया गया किन्तु राजस्थान में राणी कहते है रानी नहीं।

सिकन्दर का शपथ
वा
मिंगलौर-विजय

सूर्य की चमकीली किरणो के साथ ग्रीको के बरछे की चमक से मिंगलौर का दुर्ग घिरा हुआ है।

सिकन्दर के दुर्ग तोडने वाले यन्त्र मिंगलौर की दीवारो से लगा दिये गये है और वे अविराम अपने कार्य मे लगे हुए है। उनके अव्यर्थ आघात से दुर्ग के प्राचीर का एक हिस्सा टूट गया और ग्रीक सेना जयनाद करती हुई दुर्ग मे घुस पडी, पर वे पहाड से टकराये हुए तरग की समान पीछे हटाये गये और भारतीय वीरो की एक प्रबल सेना उनका पीछा करती हुई दिखलाई पडी। सिकन्दर उनके प्रचण्ड अस्त्राघात को रोकता हुआ पीछे हटने लगा।

सन्ध्या होने मे देर नही है इसलिए ग्रीक सैनिक भी विश्राम करने के लिए कैम्प की ओर चले।

अफगानिस्तान मे मिंगलौर दुर्ग प्रसिद्ध था। अफगान (asskinins=अश्वक) लोगो की सहायता करने के लिए भारत से सात हजार राजपूत वीर गये थे, जो कि सिकन्दर की सुशिक्षित विशाल सेना के सामने कुछ भी नही थे, पर उनकी वीरता सिकन्दर को चमत्कृत किये थी। गाजा और परसिपोलिस के विजेता के लिए मिंगलौर कुछ भी न था, पर तीन दिन तक लगातार आक्रमण करने पर भी सिकन्दर भारतीय वीरो के प्रचण्ड बल से विताडित और अपमानित ही होता गया।

इस प्रकार विजय की सम्भावना न देखकर सिकन्दर हताश होकर कैम्प मे बैठा हुआ है। उस छोटे से पर्वतीय दुर्ग के विजय करने मे उसे जितना लाछित होना पडा, उसकी चिन्ता उसको बहुत सता रही थी।

थोडी देर तक सोचने के बाद सिकन्दर उठा और दुर्ग की ओर बढने लगा, इस समय उसका मुख मण्डल कुछ विचित्र भावो के साथ क्रीडा कर रहा था।

दुर्ग प्राचीर के उस भाग पर जो टूट जाने पर भी आवश्यकतानुसार ठीक कर दिया जा चुका था, प्रकाश हाथ मे लिए हुए एक मनुष्य कुछ ध्यान से देख रहा था, थोडी देर देख लेने के बाद वह टहलने लगा। जब कभी उसके हाथ का प्रकाश हट जाता है तो केवल अन्धकार ही अन्धकार रह जाता है नही तो उस दुर्ग की प्रकाण्ड

छाया दिखलाई पड़ती है। सिकन्दर उसी स्थान पर खड़ा हुआ कुछ सोच रहा है। अकस्मात उसके मुख से एक प्रसन्नता सूचक चीत्कार निकली जिसे छिपाने के लिए वह बहुत ही व्यग्र हो गया और सम्हल कर उसने अपनी चढ़ी हुई कमान पर तीर चढ़ाया, लक्ष्य अव्यर्थ और वाण विषमय था। दुर्ग पर का मनुष्य चीत्कार करता हुआ नीचे गिर पड़ा।

सिकन्दर जो कि उसी जगह खड़ा था तत्काल ही उस व्यक्ति के शरीर को खींचकर समीप की एक झाड़ी में ले गया और उसी अन्धकार में शीघ्रता के साथ उस अफगानी वीर के वस्त्रों को पहन लिया और झाड़ी के बाहर निकल आया।

चीत्कार का शब्द सुनकर एक प्रहरी प्रकाश डाल कर नीचे की ओर देखने लगा उसे एक उन्हीं का सिपाही दिखाई पड़ा जिसे दुर्ग पर से गिरा हुआ समझ कर उसने एक रस्सी ऊपर से लटका दी, नीचे का सिपाही एक आगन्तुक से कुछ बात करके ऊपर निश्शंक चढ़ गया, यह आगन्तुक देर से उसी जगह अन्धकार मे छिपा था।

(२)

सुन्दरी सर्दार पत्नी दुर्ग के सुसज्जित प्रकोष्ठ में बैठी हुई अपने नीले रंग के सुन्दर वस्त्र को देखती जाती है और कभी अपना मुख दर्पण में देखकर अपनी सुन्दरता से आप ही आप प्रसन्न होकर मुस्किरा देती है, मदिरा से घूर्णित नेत्र उसके मुख को और भी सौन्दर्यमय बनाये हुए हैं। अकस्मात रमणी "प्यारे सर्दार" कहती हुई आलोक-रंजित दर्पण की ओर से घूम पड़ी, पर उसकी प्रसन्नता सन्नाटे से बदल गई क्योंकि वह अश्वक सर्दार के वेश में सिकन्दर था।

दोनों एक दूसरे की ओर निर्निमेष दृष्टि से देखने लगे, सिकन्दर का मानुषिक सौन्दर्य कुछ कम नहीं था।

अहा! सौन्दर्य भी कैसा है। कैसा ही मनुष्य क्यों न हो, क्या उस ओर से वह अपनी दृष्टि शीघ्रता से हटा सकता है? किन्तु रमणी सम्हल कर बोली—'तुम कौन हो?' उत्तर मिला—'शाहंशाह सिकन्दर'। रमणी ने पूछा—'यह वस्त्र तुम्हें कैसे मिला'। सिकन्दर—'इसके पहनने वाले को मार डालने से।' 'रमणी के मुख से चीत्कार के साथ ही निकल पड़ा—' क्या सर्दार मारा गया, अब वह इस लोक में नहीं है। सिकन्दर के 'हां' कहते ही रमणी ने अपना मुख दोनों हाथों से ढांप लिया, पर वह अवस्था बहुत देर तक नही रही, शीघ्रता से रमणी ने अपने पास ही से छुरा उठा लिया, सिकन्दर ने हंसकर हाथ पकड़ लिया और कहा—'सुन्दरी! एक जीव के लिए तुम्हारी दो तलवारें बहुत थी, तीसरे की क्या जरूरत।' अब रमणी की वह हिंसामयी मूर्त्ति न रही, उसकी तेजस्विता ढीली हो गई और उसके हाथ का छुरा भी गिर पड़ा, वह घुटनों के बल बैठ गई। सिकन्दर का मुख गम्भीर और रमणी का वदन और करुणामय हो गया।

थोड़ी देर में दुर्ग में ग्रीक सैनिकों की भरमार हो गई। दुर्ग के नीचे का आगन्तुक इन सब का सर्दार था और सर्दार के न रहने से युद्ध के लिए भी कौन उद्योग कर सकता था।

दूसरे ही दिन विहंग कलरव के साथ ही भारतीय वीरों के कुटुम्ब में 'सर्दार पत्नी के बारे में' अनेक प्रकार की चर्चा होने लगी। इधर दुर्ग में से कुछ विशेष नियमों को स्वीकार कराने के लिए सिकन्दर के यहां दूत भेजने की व्यवस्था होने लगी।

अनेक प्रकार की उपहार की सामग्री लेकर सिकन्दर के शिविर में दूत पहुंचे। सिकन्दर ने शिष्टाचार के साथ उन लोगों के आवेदन को स्वीकार किया और आज्ञा दी कि भारत से आये हुए वीर सकुटुम्ब और सशस्त्र अपने स्थान को चले जांय और उनके जाने में किसी प्रकार की बाधा न दी जायगी। उपहार स्वीकृत हुआ। सब-लोग अपने दुर्ग की ओर पलट आये।

(३)

मिगलौर दुर्ग से निकल कर भारतीय वीर सपरिवार एक पहाड़ी पर जाकर ठहर गये, क्योंकि सन्ध्या समीप थी इस कारण उन लोगों ने रात वहीं बिताना ठीक समझा। भारतीय रमणियां अपने प्यारे बच्चों और पतियों के लिए भोजन प्रस्तुत करने लगीं।

अकस्मात एक ग्रीक अश्वारोही भारतीय सेना के शिविर-द्वार पर आ पहुंचा, तत्काल ही उसके आने का कारण जानने के लिए एक क्षत्रिय युवक उठ खड़ा हुआ। ग्रीक सैनिक जो बरछे के सहारे कूद कर खड़ा हो चुका था बोला—'तुम लोगों को दया करके शाहंशाह सिकन्दर ने अपनी सेना में स्थान देने का विचार कर लिया है, आशा है इस संवाद से तुम लोग बहुत प्रसन्न होगे।'

वह भारतीय योद्धा तत्काल ही बोल उठा—क्षमा कीजिए, इस दया के लिए हम लोग सिकन्दर के कृतज्ञ है पर अपने देश वासियों को दुख देने के लिए ग्रीकों का साथ देना हम लोग कभी पसन्द नही करेगे। आशा है कि सन्धि के अनुसार हम-लोगों के स्वदेश जाने में कोई बाधा न उपस्थित की जायगी। ग्रीक०—क्या तुमलोग इस बात पर दृढ़ हो? अच्छा, एक बार और विचार कर उत्तर दो क्योंकि इसी उत्तर पर तुम लोगों का जीवन-मरण निर्भर करता है।

इस पर कुछ भारतवासी समस्वर से बोल उठे—'हां हां हम अपनी बातों पर दृढ़ हैं, पर सिकन्दर भी जिसने देवताओं के नाम से शपथ खाया है अपने शपथ को न भूलेगा।' ग्रीक०- -सिकन्दर ऐसा मूर्ख नही है जो शत्रुओं को वश में पाकर छोड़ दे और उन्हें दृढ़ होने का अवकाश दे। उसने शपथ दुर्ग में से तुम लोगों के सकुशल निकल जाने देने के लिए खाया है जिसे वह पूरा कर चुका। अस्तु, अब तुम लोग मरने के लिए प्रस्तुत हो जावो।

इतना कहकर वह ग्रीक सैनिक अपने अश्व पर सवार हो गया और थोड़ी दूर जाकर अपनी तुरही बजाया जिसके शब्द से समीप की विशाल ग्रीक सेना उन भारतीय वीरों पर टूट पड़ी।

भारतीय वीर चक्रव्यूह बनाकर स्त्रियों की और बच्चों की रक्षा करने लगे। देखते ही देखते ग्रीकों की सेना ने प्रचण्ड आक्रमण किया और क्षत्रियों ने उन्हें अच्छी तरह रोका, युद्ध भयानक हो उठा, हजारों भारतीय और ग्रीक वीरों के शव से वह भूमि भर गई, पर भारतीय वीर उसी पहाड़ी की तरह अचल रहे जिस पर वे खड़े थे। ग्रीक सेना समुद्र की लहर की समान बारम्बार ठोकर खाकर पीछे हटती थी।

ऐसा क्यों न हो, जब कि भारत ललनाये भी उस समय रणचण्डी का कार्य कर रही थीं। पति हाथ में तलवार न रहने पर अपनी स्त्री से तलवार पाकर सहर्ष पुण्य-भूमि में प्राण-दान कर रहा था और कही मुमूर्षु पति रणचण्डी के खड्ग-छाया निर्भय सो रहा था। पर कहां तक, धीरे-धीरे एक भी भारत के योद्धा न बचे और न उनके शिशु ही माताओं के साथ रोने पाये, क्योंकि ग्रीक नरपिशाचों के हाथ से एक भी न बचे।

भारत के सात हजार वीर अपने स्वदेश को फिर रहे थे पर वे नीच ग्रीकों की नीचता के कारण न पहुँचने पाये। अज्ञात स्थान मे उनका जीवन विसर्जन हुआ। भारत के सन्तान अब उस भूमि को भी भूल गये जहां पर राजपूर रक्त सलिला से पुण्य तीर्थ बना था।

"अरस्तू के छात्र का शपथ" भी विद्वत्तापूर्ण था और उसकी प्रशंसा भी यदि अरस्तू ने न की होगी तो उसके देशवासी ग्रीक सैनिकों से अवश्य ही हुई होगी।

—जयशंकर 'प्रसाद'



द्वितीय अनुवर्त्त

(प्रसाद वाङ्मय का समग्र निबन्ध भाग)

अनुक्रमणी

अनुवृत्ति

प्रसाद वाङ्मय के इक्कीस निबन्ध यहां संकलित हैं। इनमें 'इन्दु प्रस्तावना' से 'भक्ति' पर्यन्त प्रथम ग्यारह—'इन्दु' के विभिन्न अंकों से प्राप्त हुए। इनमें से तीन ही 'प्रकृति सौन्दर्य', 'सरोज' और 'भक्ति'—'चित्राधार' में संग्रहीत हैं, शेष अनुपलब्ध रहे।

बारहवां—वह 'अभिमत' है जो अपने मे एक साहित्यिक वस्तुता है। दो कारणों से ऐसा कहना पड़ता है। पहला तो यह कि किसी अन्य कृति पर पूज्य पिताश्री के द्वारा अपने मन्तव्य के प्रकाश का यह प्रथम और अन्तिम आलेख है। और, अगले सात—काव्य और कला से यथार्थवाद और छायावाद तक के निबन्ध-समुच्चय का उपोद्घात-रूप भी—यह 'अभिमत' है। निरालाजी के प्रति अपने सहज स्नेहवश इसे नही प्रत्युत समकालीन समीक्षा की अस्वस्थ प्रकृति के उपचारार्थ इसे लिखा गया था।

किसी प्रसंग मे उन्होंने एक बार कहा था--देखते ही समझ में आ जाता है कि यह किस किस 'माश' का आदमी है—सो, 'अमिय गरल शशिसीकर रविकर राग-विराग भरा प्याला' को 'मतवाला' में देखते ही निराला किस 'माश' के हैं वह उनकी समझ जो आया वह पत्थर की लकीर-सा पडा रहा। कदाचित, दोनों महाप्राण एक दूसरे के कृती रूप को जैसा जान पाये वैसा अन्य नही। पूज्य पिताश्री का अन्तिम काव्यपाठ—निरालाजी के ही आग्रह लखनऊ के कान्यकुब्ज कालेज में हुआ उसमें निरालाजी को कामायनी सुनते मैंने देखा था- आंखें बन्द किये, कानों से छन्दों को पीते और बीच-बीच मे सिहरते हुए। इस 'अभिमत' मे भी 'मतवाला' में छपी वह कविता किस रूप मे उल्लिखित है—यह स्वाध्यायतया अवगम्य है। उसी कविता के सन्दर्भ में यहां एक घटना उल्लेख्य है।

घर (जिसे अब प्रसाद-मन्दिर कहते है) के सामने गली की तिरमुहानी पर एक खपरैल की कोणाकृति दालान थी। पीछे एक वैसा ही कच्चा कमरा जिसमें वर्षा-कालीन अखाड़ा था। उसी दालान के एक ओर कुछ पुराने ढंग की तम्बाकू-सुरती की दुकान चलती थी। उस दोरुखी दालान में एक चारपाई पड़ी रहती थी उसी पर पूज्य पिताश्री की मालिश भी होती थी। एक बड़ी चौकी आगन्तुकों के बैठने के लिए थी। किन्तु, बिछावन किसी पर नही। अपराह्न में वहां खुली गोष्ठी हुआ करती

थी। एक दिन वैसी गोष्ठी चल रही थी, चार पांच साहित्यकार और साहित्यिक जमे थे। अकस्मात् निरालाजी प्रत्यक्ष हुए, गोष्ठी का विहंगावलोकन किया और विहंगम गति से दूसरी ओर की गली में घूम गए। मास्टर साहब (स्व० कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब') बोले—'कैसी अशिष्टता है प्रसादजी, क्या बड़ा कवि हो जाने से शिष्टाचार छूट जाता है, आपको भी दण्ड प्रणाम कुछ नहीं, हम लोग बुलाते ही रहे और वे चले गये, वाह!' 'मास्टर साहब, कवि और अ-कवि के शिष्टाचार कभी-कभी भिन्न हो जाया करते हैं—यह समझना चाहिए, उन्हें आना होगा तो आ जायंगे। यह वही निराला है न जिसने 'अमिय गरल शशिसीकर रविकर राग-विराग भरा प्याला' लिखा है- इस एक पंक्ति का तात्पर्य समझने समझाने की क्षमता है किसी मे'—कुछ चुनौती के स्वर मे वे बोले। इतने मे गली परिक्रमा कर निरालाजी पुनः प्रगटे। वंकिम-अराल भंगिमा से गोष्ठी को देखते एक हल्की हुंकार भरी और बैठ गए। मानों यहां जो चर्चा हुई उसे अतीन्द्रिय स्तर पर उन्होंने सुन लिया हो। बोले –'बाबू साहब, उस उक्त 'स्मोक' करने की तलब तीखी हो गई—हाजरीने जलसा मुआफ करें।' मास्टर साहब बोल उठे –'स्मोक तो आप यहां भी कर सकते थे।' 'बाबू साहब के सामने ऐसी गुस्ताखी न कभी की, न करूंगा।' 'और यह कहने में गुस्ताखी नहीं ?' 'कथनी और करनी में अन्तर वाले युग के प्राणी होकर भी दोनों का भेद समझ नहीं पाये— मास्टर हैं न, शायद बेकन ने कहा था और किसी ने पर बात ठीक कही गई है Teachers are block headed-- आपको बताता हूं --मैने कहा कि आपको एक चांटा मारा—बताइये कुछ चोट लगी ? और वही करके दिखाऊं (थोड़ा हाथ ऊपर उठाकर) तो चोट लगेगी या नही।' 'कहिए मास्टर साहब कवि और अ-कवि के शिष्टाचार का अन्तर समझ में आया या अभी कुछ बाकी है' कहकर पूज्य पिताश्री हंसने लगे।

जब नई कविता को लेकर समकालीन समीक्षा विषमीक्षण करने लगी और अपने मीमांसन-विवेक की कमी को कविता मे अस्पष्टता आदि दोष-दर्शन से ढंकने लगी, तब ऐसे 'अभिमत' के माध्यम से वास्तविकता को निदर्शित न किया जाता तो 'भ्रष्ट होहि स्रुति मारग मोरा' चरितार्थ होता। केवल साहित्य की भूमि पर ही विशृंखलता अथवा प्रकारान्तरेण निरर्थकता बताने से सन्तुष्ट न होकर समकालीन समीक्षा ने उनके व्यक्तित्व को भी विशृंखलित कहते निरालाजी को सारस्वत-पंक्ति से हटाने का उपक्रम किया।

'गीतिका' के प्रकाशन में—स्व० रायकृष्णदासजी का भारती-भण्डार अग्रसर हो चुका था और पुस्तक बनारस में ही छप रही थी। निरालाजी उसके मुद्रण-काल में प्रायः यहीं रहकर मुद्रणादेश देते रहे। तब, पृथक-पृथक दो साहित्यिक शिविरों के संव्यूहन का वह एक विलक्षण दृश्य था—एक था विकल्पवाद का तो दूसरा था

संकल्पवाद का। अस्तु, नयी धारा की अस्मिता पर लगे प्रश्न-चिह्न का संक्षिप्त-सा उत्तर इस 'अभिमत' का एक आशय—अवश्य रहा। समकालीन समीक्षा के प्रतिमान १९२९ से हिन्दी-साहित्य मे बदलते चले गए, क्योकि उसका सैद्धान्तिक पक्ष आयातित अथच दुर्बल रहा। 'अभिमत' का यह अश कि—'आलम्बन के प्रतीक उन्ही के लिए अस्पष्ट होगे जिन्होने यह नही समझा है कि रहस्यमयी अनुभूति युग के अनुसार अपने लिए विभिन्न आधार चुना करती है। (और) केवल कोमलता ही कवित्व का मापदण्ड नही है। निरालाजी ने नृम्ण और ओज, सौन्दर्य-भावना और कोमल-कल्पना का जो माधुर्यमय सकलन किया है वह उनकी कविता मे शक्ति-साधना का उज्वल परिचायक है।' किन्तु, हिन्दी समीक्षा ने समीक्षा के प्राचीन और भारतीय-सिद्धान्त को देखने समझने के स्थान पर पश्चिमीय समीक्षा-सिद्धान्त को अधिक उपयोगी माना। जिससे जीवन-दर्शनो के वैलक्षण्य और परम्पराओ के भिन्नत्व की उपेक्षा स्वाभाविक थी- जो हुई। फिर, यह भी स्वाभाविक रहा कि समानत आयातित विचार पद्धति के काव्य उसकी दृष्टि मे वरेण्य होते। इस प्रसग मे हिन्दी शब्द सागर की प्रस्तावना १९२९ तथा परवर्ती 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' और निरालाजी का निबन्ध 'पन्तजी और पल्लव'—अवलोक्य होगा। हाँ, जब शुक्लजी की पुस्तक काव्य मे रहस्यावाद' आई तब पूज्य पिताश्री पर जोर दिया जाने लगा कि वे नयी कविता पर कोई शास्त्रीय प्रकरण दे ही दे अन्यथा ऐसे 'अनर्गल प्रलाप' भविष्य मे घातक हो जायगे। सुतरा, काव्य और कला तथा अन्य छ निबन्ध लिखे गए—उनका उपोद्‌घात भी यह 'अभिमत' है।

युगानुसार परिवर्त्तन म उनकी पूरी आस्था रही। नटराज के महानृत्य मे जहा 'बिखरे असख्य ब्रह्माण्ड गोल' वही जब 'परिवर्त्तन के पट रहा खोल' तब परिवर्त्तन को —जिसके चलते सृष्टि का विकास और उसम अनवरत सशोधन हुआ करता है--अस्वीकार करना बुद्धिवादिनी जाड्‌यता ही तो है! साहित्य ही नहो समाज की अन्यान्य प्रवृत्तियो मे भी इस तथ्य को उन्होने देखा है। ध्रुवस्वामिनी की 'सूचना' मे वे कहते है—"आज जितने सुधार या समाजशास्त्र के प्रयोग देखे या सुने जाते हैं उन्हें आयातित या नवीन समझ कर हम बहुत शीघ्र अभारतीय कह देते है। किन्तु मेरा ऐसा विश्वास है, कि प्राचीन आर्यावर्त्त मे समाज की दीर्घकाल व्यापिनी परम्परा मे प्राय प्रत्येक विधानो का परीक्षात्मक प्रयोग किया गया है। तात्कालिक कल्याणकारी परिवर्त्तन भी हुए हैं।" सुतरा विभिन्न स्तर और प्रकार के परिवर्त्तनो के अनुशीलन उनके विश्लेषणात्मक चिन्तन के सहज अनुषग रहे, जिसके बिना व किसी को स्वीकार या अस्वीकार नही करते थे। यही कारण है कि उन्होने 'यशोधर्म' नाटक लिखकर स्वत नष्ट कर दिया क्योकि उनके विश्लेषणात्मक चिन्तन मे यशोधर्म कल्कि नही ठहरा। (अवलोक्य—प्रथम अनुवर्त्त, पृष्ठ ३४-३५)। स्व० काशीप्रसाद

जायसवाल की स्थापना के आधार पर उसकी रचना हुई थी। बाद में उस स्थापना से वैमत्य होने पर नाटक को प्रेस में नहीं जाने दिया और नष्ट कर दिया। (जिसका स्व० रायकृष्णदासजी को बड़ा दुःख हुआ)। अपनी रचना के सुवर्ण को अपने निकष पर परख लने के बाद ही उसे प्रकाश में आने देने का उनका अभ्यास रहा।

तब, इस 'अभिमत' के कथ्य और उसकी अर्थवत्ता पर विचार के क्रम में नयी काव्यधारा को, जिसे कुछ रहस्यवाद तो कुछ छायावाद कहते रहे—शास्त्रीय आधार देना आवश्यक दीखने पर उन्होंने काव्य और कला प्रभृति सात निबन्ध लिखे। मुझे उन निबन्धों के मीमांसन से इस अनुवृत्ति के कलेवर को बढ़ाने की आवश्यकता नही . वह सुधीजनों का कार्यभाग है। किन्तु, प्रसाद-वाङ्मय के निबन्धों में मीमांसन के जो विशद आयाम है उन्हे स्पर्श करने की समुचित चेष्टा का अभाव-सा है : शोध कर्त्ताओं को इसमे लगने की सुविधा देना विश्वविद्यालयीय कर्त्तव्य है। परन्तु, अभी नही हो रहा है इससे निराश भी नही होनी चाहिए—'कालोह्ययं निरवधिः विपुला च पृथिवी'। बिना इन निबन्धों से योगक्षेम का पाथेय लिए प्रसाद-वाङ्मय के महापथ की यात्रा सफल और सुकर नही—यह तो निर्विवाद है।

बीसवां निबन्ध 'प्राचीन आर्यावर्त्त - प्रथम सम्राट् इन्द्र और दाशराज्ञ युद्ध' है जो प्रस्तावित इन्द्र महा-नाटक पर एक सामग्री-संचयन है : और, कदाचित उसका भूमिका-भाग भी। इनका प्रकाशन 'कोशोत्सव स्मारक संग्रह' और 'गंगा' के वेदाक मे पृथकशः हो चुका है। किन्तु, एक धारा की परस्पर पूरक वस्तु होने से इन्हे एकीकृत करने में मुझे सुविधा हुई। 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' के प्रसाद-मंदिर संस्करण १९८३ के उपोद्घात मे इसकी चर्चा कर चुका हूं। अन्त में है—'आदि पुरुष' किंवा कामायनी का आमुख—जिसे प्रसाद-वाङ्मय की सूत्रात्मिका फलश्रुति कहना उचित है। अन्त में परिशिष्टतः अपने वंश की तालिका—संक्षिप्त परिचय और पूज्य पिताश्री के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के पक्षो की सारिणी दे रहा हूँ।

—रत्नशंकर प्रसाद



श्री शिवजी सहाय

निवेदन

परमश्रद्धास्पद—

श्रीयुत् बाबू देवीप्रसाद सुंघनीसाहु

पूज्यपाद स्वर्गीय पितृदेव !

आपका वह विद्यानुराग जो वात्सल्य प्रेम के साथ हमारे ऊपर था, उसी के द्वारा यह बीज इस क्षुद्र हृदय मे अकुरित हुआ यह क्षुद्र पुस्तक उसी का फल है, इसमे उस प्रदेश की भी कुछ बाते है जहाँ कि आप इस समय विहरण करते है, बाल्यकाल मे प्राय: आप हमसे संस्कृत के श्लोक तथा हिन्दी के दोहे कण्ठस्थ कराकर सुना करते थे, आशा है कि अब इस पुस्तक द्वारा आपका कुछ मनरजन होगा ।

आशीर्वाद भाजन

संवत् १९६६ विजया दशमी

भवदीयात्मज

जयशंकर



संवत् १९६३ मे लिखित और १९६६ मे प्रकाशित उर्वशी चम्पू से (सं०)

इन्दु-प्रस्तावना

(श्रावण १९६६)

यह सर्व सम्मति है कि जातीय उन्नति के लिये साहित्य के उन्नति की आवश्यकता होती है। और साहित्य के ही देखने से जातीय उन्नति की सीमा परिलक्षित या प्रमाणित की जा सकती है। जिस जाति ने जितना उन्नति किया है उसका उतना ऊँचा साहित्य देखने मे आता है। जिस जाति का साहित्य नही है, उसका मानव-जाति से बहुत थोडा सम्बन्ध होता है। साहित्य साधारण 'मानव-समूह' की एक साधारण सम्पत्ति है, परन्तु साहित्य साधारण को सहज ही मे प्राप्त होनेवाली सम्पदा नही है। पुण्य द्वारा प्राप्त प्रतिभा में साहित्य की उत्पत्ति है, और उसी प्रतिभा के अनुशीलन करने से साहित्य की श्रीवृद्धि होती है, और उसी प्रतिभा के क्रम-विकास से साहित्य का क्रमश. परिपाक होता है। जब प्रतिभा का पूर्ण विकास होगा, तब मानव साहित्य भी अपने चरम उन्नति के उच्चतम पवित्र सोपान पर पदार्पण करेगा।

उदार तथा पवित्र साहित्य महान् होता है, वह मानव को विस्तृत तथा अनन्त उन्नति के पथ पर ले जाता है। साहित्य अनन्त उन्नति का सहाय होता है, महत्व ही उसका उपकरण-क्षेत्र तथा आदर्श-स्वरूप होता है। साहित्य मे जहाँ क्षुद्रता देखी जाती है वह क्षुद्रता व संकीर्णता नही है, वहाँ पर साहित्य क्षुद्रता की तुलना करके महत्व की महिमा को परिस्फुट करता है। और इसी के द्वारा साहित्य महत्व का प्रवर्त्तक तथा क्षुद्रता का निवर्त्तक बनकर, अपना महत्व और मनुष्य के अनन्त उन्नति का पथ, सरल उपाय से दिखा देता है।

इसी उन्नत साहित्य की विमल कान्ति से मानव हृदय प्रकाशित होता है, और इसी प्रकाश से मनुष्य की प्रतिभा धीरे-धीरे विकसित होती जाती है, इसी प्रकाश मे साहित्य के प्रभाव से मनुष्य क्रमश: पूर्ण उन्नति को पाता है।

अतएव जो कुछ मनुष्य को प्रार्थनीय, उन्नति का सहाय, धर्म साधक तथा उपकारी है, सो केवल साहित्य है।

साहित्य का कोई लक्ष्य—विशेष नही होता है और उसके लिए कोई विधि का निबन्धन नही है, क्योंकि साहित्य स्वतन्त्र प्रकृति सर्वतोगामिनी प्रतिभा के प्रकाश का

परिणाम है, वह किसी की परतन्त्रता को सहन नहीं कर सकता, संसार में जो कुछ सत्य और सुन्दर है वही साहित्य का विषय है। साहित्य केवल सत्य और सौन्दर्य की चर्चा करके सत्य को प्रतिष्ठित, और सौन्दर्य को पूर्ण रूप से विकसित करता है, आनन्दमय हृदय के अनुशीलन में और स्वतन्त्र आलोचना में उसकी सत्ता देखी जाती है। सर्वसाधारण का अक्षय, क्रमशः उन्नति और सार्वजनिक-प्रेम साहित्य का अमृतमय महान् फल है और यह सर्वव्यापी प्रेम ही मनुष्य का धर्म और मनुष्यत्व का आदर्श, अथवा लक्षण होता है; और यही क्रमशः उन्नति और विश्वप्रेम मनुष्य को देवता बना देता है।

बहुत से प्रतिभाशाली मनुष्य—वाल्मीकि, कालिदास तथा शेक्सपियर इत्यादि लोगों ने इस साहित्य को, मनोनीत कल्पना रूपी सुमन से पूजित करके, आज दिन तक स्वयं भी देववत् पूजनीय हो गये है।

अतएव साहित्य ही प्रतिभाशाली मनुष्यों की प्रधान आराध्य देवता है। उन्नति के पथ में अग्रसर होने के पहले यह देवता अवश्य पूजनीय है।

अतएव इस भाषा को, साहित्य द्वारा पूजन करना, समस्त उदार तथा महान् व्यक्तियों को आवश्यक है। अतएव इसकी उत्कृष्ट सेवा करना शुभावह तथा मंगलप्रद है।

जगदीश्वर से सदैव यही प्रार्थना है कि भाषा के सेवकों की उन्नति के साथ, इसका साहित्य भी राकाशशी के समान अपना मधुर प्रकाश फैलावे।



उर्वशी चम्पू की भूमिका

यह उर्वशी नामक चम्पू तथा हमारा प्रथम परिश्रम साहित्य-सरोज-मकरन्दोन्मत्त मधुकरगण के समक्ष प्रथमोपहार-स्वरूप उपस्थित है जो कि, वि० सं० १९६३ मे लिखा जा चुका था, किन्तु श्री परमेश्वर की कृपा से उसे प्रकाशित होने का अब अवसर मिला, हमने भी काव्य बनाया है, यह ठीक उसी के समान है जैसे एक सीपी पारावार पार करने का गर्व कर, अस्तु जो कुछ हो बाल्यकाल का बाल्यसुलभ-अशुद्ध-वाक्यविन्यास भी प्रिय तथा मधुर ही लगना चाहिए।

"चम्पू" यह शब्द आप लोगो से अपरिचित नही है, क्योकि "नरहरि चम्पू कार" ने अपने ग्रन्थ की भूमिका मे लिखा है कि "काव्य जो दृश्य तथा श्रव्य इन दो भागो मे विभक्त है, उन दोनो भागो मे प्रत्येक भेद के तीन २ भेद है प्रथम पद्य, द्वितीय गद्य, तृतीय गद्यपद्य-चम्पू अतः काव्य के छ भेद हुए अब यह कवि की इच्छा पर निर्भर है कि चम्पू दृश्य बनावें वा श्रव्य। किन्तु हमारा कथन है कि चम्पू केवल श्रव्य ही होता है।

साहित्यदर्पण के षष्ठ परिच्छेद की पहिली कारिका—"दृश्यश्रव्यत्व भेदेन पुन काव्यं द्विधामतम्—" काव्य का दो भाग करती है—दृश्य तथा श्रव्य; अचरञ्च साहित्याचार्य अम्बिकादत्तजी गद्यकाव्य मीमासा मे अपनी कारिका—

"दृश्यं श्रव्यमिति द्वेधा तत्काव्यं परिकीर्त्तितम्।"

से उसी का समर्थन करते है।

अथच दृश्य काव्य का, साहित्यदर्पणकार षष्ठ परिच्छेद के तृतीय श्लोक—

"नाटकमथप्रकरणं भाण व्यायोगसमवकारडिमाः"

इत्यादि से अट्ठाइस भेद मानते है तथा अग्निपुराण के ३३८ वे अध्याय के प्रथम श्लोक—

"नाटकं सप्रकरणं डिम ईहामृगोपि वा।"

इत्यादि से भी वे ही अट्ठाइस भेद सिद्ध है, तथा श्री भारतेन्दुजी ने भी इन्हीं भेदों को अपने 'नाटक' नामक प्रबन्ध मे स्थान दिया है। इन दृश्य काव्यों की गद्य-पद्यमय प्रणाली ही है तथा अग्निपुराण मे तो दृश्यकाव्य को मिश्र के ही भेद मे माना है क्योंकि ३३७ वे अध्याय के ८ वे श्लोक—

"गद्यं पद्यं च मिश्रं च काव्यानि त्रिविधं स्मृतम्—"

आदि से काव्य को गद्य, पद्य, तथा मिश्र इन तीन भागों में विभाजित किया है तथा ३३७ वें अध्याय के ३८ वें श्लोक—

"मिश्रं वपुरितिख्यातं प्रकीर्णंमिति च द्विधा ।
श्रव्यं चैवाभिनेयं च प्रकीर्णं सलोकौक्तिभिः ॥

से दृश्य (अभिनेय) को तो केवल मिश्र के ही भेद मे माना है, तथा भारतेन्दुजी के 'नाटक' के मत से नाटक के एक २ अंक की समाप्ति होने पर पद्यगानमय चर्चरी की आवश्यकता होती है, अतः केवल गद्यमय नाटक दूषित होगा तथा केवल पद्यमय होने से भी दृश्य काव्य दूषित होगा । क्योंकि साहित्यदर्पण के षष्ठ परिच्छेद के—

भवेदगूढ़ शब्दार्थः क्षुद्रचूर्णकसंयुतः
नाना विधान संयुक्तो नातिप्रचुर पद्यवान्

इत्यादि से प्रमाणित होता है कि नाटक में क्षुद्रचूर्णक (गद्यभेद) होना चाहिये तथा बहुत से पद्य न होने चाहिये अतः अग्निपुराण-मत-सिद्ध दृश्य काव्य मिश्र ही होता है ।

अव श्रव्यकाव्य को साहित्याचार्य की कारिका तीन भागों में विभाजित करती है जिसके अर्थ पर ध्यान न देने से ही 'नरहरिचम्पू-कर्ता चम्पू को दृश्य भी मानते हैं वह यह है—

गद्यं पद्यं तथा गद्यपद्यं श्रव्यमितित्रिधा

गद्य, पद्य, तथा गद्यपद्य, जिस गद्यपद्य को साहित्यदर्पणकार श्रव्य में लिखते है—(अथ गद्यपद्यमयानि)

"गद्य पद्य मयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते"

टीकाकार तर्कवागीश महाशय ने भी लिखा है—

"गद्यपद्यमयानि श्रव्यकाव्यानि इत्यर्थः
भेदाः श्रव्यकाव्य विशेषाः"

इनसे यह सिद्ध हुआ कि चम्पू दृश्य नहीं किन्तु श्रव्य ही होता है, मिश्र होने से ही दृश्यकाव्य चम्पू नहीं होता है ।

संस्कृत में अद्यावधि चम्पू नामांकित जितने ग्रन्थ देखने में आते हैं वे सब श्रव्य हैं तथा गद्यपद्यमय नाटक शाकुन्तलादि चम्पू नहीं कहे जाते हैं, यह भी एक समुज्ज्वल दृष्टान्त है कि संस्कृत में अद्यावधि किसी नाटक को जो कि प्रायः गद्यपद्यमय होते ही हैं चम्पू नहीं कहते अतः अग्निपुराण के "मिश्रं वपुरिति ख्यातं" इत्यादि में जो मिश्र श्रव्य हैं अथवा जिसको साहित्याचार्य ने अपनी कारिका —

"गद्यं पद्यं तथा गद्यपद्यं श्रव्यमिति त्रिधा"

में श्रव्य गद्यपद्यमय माना है उसी को साहित्यदर्पणकार ने लिखा है कि —

"गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते"

तथा टीकाकार ने भी लिखा है (गद्यपद्यमयानि श्रव्यकाव्यानीत्यर्थः) इन प्रमाणों से यह सिद्ध हो गया कि चम्पू नामांकित गद्यपद्यमय श्रव्य काव्य ही होता है तथा दृश्य जिसकी मिश्र प्रणाली ही है 'चम्पू' नहीं कहा जा सकता।

अनन्तर हिंदी में चम्पूनामांकित[1] प्रथम काव्य प्रयाग निवासी पं० रामप्रसाद तिवारी ने बनाया है जो कि सन् १८९६ ई० में इण्डियन प्रेस में मुद्रित हो चुका है जिसकी संक्षिप्त आलोचना पं० देवीदत्त त्रिपाठी नरहरि चम्पूकर्ता ने अपने चम्पू की भूमिका में किया है तथा पं० रामप्रसादजी कृत नृसिंह चम्पू में अनेक दोष दिखाकर अपने ही नरहरि चम्पू को चम्पू शैली का प्रथम ग्रन्थ माना है किन्तु वह संस्कृत के नृसिंह चम्पू का छायानुवाद है तथा उसे न तो हम शुद्ध अनुवाद ही कह सकते हैं न त्रिपाठीजी की उक्ति ही कह सकते हैं, अस्तु जो कुछ हो। इस उर्वशी में कथा के किसी २ अंश की छाया महाकवि कालिदास के विक्रमोर्वशीय त्रोटक से ली गई है, तथा उनकी किसी कविता का अनुवाद नही किया गया है, अपरञ्च इसके गद्य भाग में प्रायः संस्कृत के शब्दों का विशेष प्रयोग भाषा की उत्कृष्टता तथा मनोहरता के हेतु किया गया है क्योंकि यह संस्कृत की सहायता बिना नही हो सकता, खड़ी बोली के प्रेमी महाशयगण अवश्य ही किंचित् असन्तुष्ट होंगे क्योंकि पद्य के सवैया आदि छन्दों मे वृज भाषा ही विशेष है, वस्तुतः इन छन्दों में खड़ी बोली का व्यवहार करने से उतनी मनोहरता नही हो सकती। प्रथम संस्करण होने से तथा, प्रूफ संशोधन के दोष से अशुद्धियाँ रह गई है, विद्वज्जनों से बाल्यरचना के हेतु क्षमा प्रथम ही प्रार्थित है तथा त्रुटियों के हेतु मुझे चितावनी देंगे जो कि द्वितीय संस्करण में शुद्ध कर दिया जायगा तथा अपनी कृपा दिखाकर मुझे दूसरा उपहार देने के हेतु प्रोत्साहित करेंगे। किमधिकं विज्ञेषु।



१. श्रव्यकाव्य तीन प्रकार का है- -गद्यपद्यात्मक, गद्यात्मक और पद्यात्मक। गद्यपद्यात्मककाव्य को चम्पू कहते हैं—जैसे रामायण चम्पू, भारत चम्पू इत्यादि। नागरी में इस प्रकार का कोई अच्छा ग्रन्थ नहीं, लल्लूलाल के प्रेमसागर को यथाकथञ्चित इस कक्षा में सन्निविष्ट कर सकते हैं।

—नैषधचरित चर्चा

चम्पू

चम्पू यह शब्द आप लोगों से अपरिचित नहीं है, क्योंकि नरहरि चम्पूकार ने अपने ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है कि काव्य जो दृश्य तथा श्रव्य इन दो भागों में विभक्त हैं उन दोनों भागों में प्रत्येक भेद के तीन-तीन भेद हैं, प्रथम पद्य, द्वितीय गद्य, तृतीय गद्यपद्य चम्पू, अतः काव्य के छः भेद हुए, अब यह कवि की इच्छा पर निर्भर है कि चम्पू दृश्य बनावे वा श्रव्य। किन्तु हमारा कथन है कि चम्पू केवल श्रव्य ही होता है।

साहित्यदर्पण के षष्ठ परिच्छेद की पहिली कारिका 'दृश्य श्रव्यत्व भेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।' काव्य का दो भाग करती है, दृश्य तथा श्रव्य। इसके अतिरिक्त साहित्याचार्य अम्बिकादत्तजी भी गद्यकाव्य की मीमांसा में अपनी कारिका 'दृश्य श्रव्यमिति द्वेधा तत्काव्यं परिकीर्त्तितम्।' मे उसी का समर्थन करते हैं। अथच, दृश्य काव्य का साहित्यदर्पणकार षष्ठ परिच्छेद के तृतीय श्लोक—

'नाटकमथ प्रकरणं भाण व्यायोगसमवकारडिमाः' इत्यादि से अट्ठाइस भेद मानते हैं और अग्निपुराण ३३८ वें अध्याय के श्लोक—

'नाटकसप्रकरणं डिम ईहामृगोपि वा'—इत्यादि से भी वही अट्ठाइस भेद सिद्ध हैं। श्री भारतेन्दुजी ने भी इन्ही भेदों को अपने 'नाटक' नामक प्रबन्ध में स्थान दिया है, इन दृश्य काव्यों की गद्यपद्यमय प्रणाली ही है और अग्निपुराण में तो दृश्य-काव्य को मिश्र के ही भेद में माना है क्योंकि ३३० वें अध्याय के ८ श्लोक—

'गद्यं पद्यं च मिश्रं च काव्यानि त्रिविधं स्मृतम्' आदि से काव्य को गद्य, पद्य तथा मिश्र इन तीन भागों में विभाजित किया है, और ३३० अध्याय के ३८ वें श्लोक—'मिश्रं वपुरिति ख्यातं प्रकीर्णमिति च द्विधा श्रव्यं चैवाभिनेयं च प्रकीर्णं मलोकोक्तिभिः।' से दृश्य (अभिनय) को तो केवल मिश्र के ही भेद में माना है, और भारतेन्दुजी के 'नाटक' के मत से नाटक के एक-एक अंक के समाप्त होने पर पद्यगानमय चर्चरी की आवश्यकता होती है, अतः केवल गद्यमय नाटक दूषित होगा, और केवल पद्यमय होने से भी दृश्यकाव्य दूषित होगा, क्योंकि साहित्यदर्पण के षष्ठ परिच्छेद के—

"भवेदगूढ़ शब्दार्थः क्षुद्रचूर्णकसंयुतः।
नाना विधान संयुक्तो नातिप्रचुर पद्यवान्॥"

इत्यादि से प्रमाणित होता है कि नाटक में क्षुद्रचूर्णक (गद्य-भेद) होना चाहिये, और बहुत से पद्य न होने चाहिये। अतः अग्निपुराण मत सिद्ध दृश्यकाव्य मिश्र ही होता है।

अब, श्रव्यकाव्य को साहित्याचार्य की कारिका तीन भागों में विभाजित करती है (जिसके अर्थ पर ध्यान न देने से ही नरहरि चम्पूकर्ता चम्पू को दृश्य भी मानते हैं), वह यह है—

"गद्यं पद्यं तथा गद्यपद्यश्रव्यमिति त्रिधा"

गद्य, पद्य, तथा गद्यपद्य—जिस गद्यपद्य को साहित्यदर्पणकार श्रव्य भेद के अन्त में लिखते हैं अथ गद्यपद्यमयानि।

"गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूपरित्यभिधीयते" और टीकाकार तर्कवागीश महाशय ने भी लिखा है—

"गद्य पद्यमयानि श्रव्यकाव्यानि इत्यर्थः भेदाः श्रव्यकाव्य विशेषाः।"

इससे यह सिद्ध हुआ कि चम्पू दृश्य नही किन्तु श्रव्य ही होता है, मिश्र होने ही से दृश्य काव्य चम्पू नही होता है।

संस्कृत में अद्यावधि चम्पू नामांकित जितने ग्रन्थ देखने मे आते है, वे सब श्रव्य है। गद्यपद्यमय नाटक शाकुन्तलादि चम्पू नही कहे जाते है। यह भी एक दृष्टान्त है कि संस्कृत मे अद्यावधि किसी नाटक को, जो कि प्रायः गद्य-पद्य-मय होते ही है, चम्पू नही कहते। अतः अग्निपुराण के 'मिश्रं वपुरिति ख्यातं' इत्यादि में जो मिश्र-श्रव्य है अथवा जिसको साहित्याचार्य ने अपनी कारिका "गद्यं पद्यं तथा गद्य-पद्य श्रव्यमिति त्रिधा" में श्रव्य. गद्य पद्यमय माना है, उसी को साहित्यदर्पणकार ने लिखा है कि "गद्य पद्यमयं काव्यं चम्पूपरित्यभिधीयते" और टीकाकार ने भी लिखा है (गद्यपद्यमयानि श्रव्यकाव्यानीत्यर्थ)। इन प्रमाणों से यह सिद्ध हो गया कि चम्पू नामांकित गद्य पद्य-मय श्रव्यकाव्य ही होता है, और दृश्य जिसकी कि मिश्र प्रणाली ही है चम्पू' नहीं कहा जा सकता।

वास्तव में ऐसे गद्यपद्यमय दोनो के होने से इसमें दोनों का आनन्द मिलता है।

१. नैषधचरित-चर्चा में श्रव्यकाव्य तीन प्रकार का है गद्यपद्यात्मक, गद्यात्मक और पद्यात्मक। गद्यपद्यात्मक काव्य को चम्पू कहते है -जैसे रामायणचम्पू, भारत-चम्पू इत्यादि। नागरी में इस प्रकार का कोई अच्छा ग्रन्थ नहीं है, लल्लूलाल के प्रेमसागर को कथंचित् इस कक्षा में सन्निविष्ट कर सकते हैं किन्तु इसे यदि हम चम्पू मानें, तो राजा जगमोहन सिंह के श्यामा स्वप्न को भी चम्पू क्यों न मानें पर नहीं, वह चम्पू नहीं हो सकते।

चम्पू में गद्य और पद्य समभाग से होना चाहिये, और भाषा उच्च होनी चाहिये और चरित्र उज्ज्वल तथा मनोहारी होना चाहिये। उसके विभागों का नाम स्तबक, उच्छ्वास और परिच्छेद होता है जैसी कि श्रव्यकाव्यों की प्रणाली है।

अब तक जितने हिन्दी चम्पू हैं उनकी एक संक्षिप्त तालिका हम नीचे देते हैं —

१. नृसिंह—चम्पू—ले० पं० रामप्रसाद तिवारी

२. नरहरि—चम्पू—ले० पं० देवीदत्त त्रिपाठी।

३. उर्वशी—चम्पू—ले० जयशंकर प्रसाद।

४. चित्रांगदा—चम्पू—ले० „

५. नरसिंह—चम्पू—ले० स्वामी श्रीरामकृष्णानन्द गिरि।

६. साम्बचरित—चम्पू—ले० पं० कमलाकर व्यास।

इनकी आलोचना हम फिर किसी समय करेंगे।

(इन्दु, कला २, किरण १, सं० १९६७)

कविता रसास्वाद

कविता कोई मूर्तिमती देवी नहीं है, जो उसका दर्शन कर लिया जाय, पर तो भी श्रीहर्ष ने सरस्वती-वर्णन के समय सरस्वती के कुछ अंगों से इसकी समता की है, जैसे—

"जात्यावृत्तेन च भिद्यमानं छन्दो भुजद्वन्द्वममूद्यदीयम्।
श्लोकार्ध विश्रान्तिमयी भविष्णुः पर्वद्वयीसन्धि सुचिह्नमध्यम् ।।"

इसलिये सरस्वती के अंगों मे इसकी गणना हो सकती है, पर नही यह तो उसके स्थूल रूप का मान है। रसात्मक कविता तो कुछ अलौकिक होती है, क्योंकि साहित्य-दर्पणकार ने लिखा है -

"सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्द चिन्मयः
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदरः

अस्तु, जब सतोगुण का हृदय मे उद्रेक होता है तब उसका अलौकिक आलोक हृदय पट पर अंकित होता है। स्वप्रकाश और चिन्मय होने से उसका आस्वाद ब्रह्मज्ञान की समता मे समझा जाता है, और वास्तव मे 'शब्द ब्रह्म' है भी ठीक उसी तरह जैसे वीणा का कोमल स्वर अंगुली और तार के सम्मिलन से उत्पन्न होता है। शब्दों के मनोरम संगठन स्वरूपी अंगुली का चालन हृदयतन्त्री को अपूर्व राग से भर देता है, पर वह राग कैसा है? और क्यो मनोहर है? उसका क्या परिणाम है? यह सब बातें उस मनोमुग्धकारी स्वर के सुनने के समय कुछ प्रतीत नही होता, केवल उसकी मोहिनी आकर्षण शक्ति मे मनुष्य उसके अनुभव के समय चेतना विहीन-सा रहता है। यद्यपि उस गान के समाप्त होने पर यह सब धीरे-धीरे ध्यान मे ले आ सकता है कि यह कौन राग था, और कौन स्वर था, पर सुनने मे तो वह अलौकिक आनन्द मे आत्मविस्तृत सा हो जाता है। अस्तु, उसी तरह कविता का भी आस्वाद अनोखा है।

कविता के आस्वाद करने वाले के हृदय में एक अपूर्व आह्लाद होता है, और वह कैसा है? यह व्यक्त नही किया जा सकता, क्योंकि जो भावुक है वह अपने अनुभवों के प्रतिवर्तन करने मे वा तदनुकूल कविता पाठ करने के समय, अपने हृदय को वाह्यज्ञान शून्य कर एक अथाह आनन्द सिन्धु में छोड देता है। लक्ष्य उसका आह्लाद ही रहता है, चाहे वह वीर रस की कविता पढे, वा शृंगार, वा करुण, यह

उसके पद्य हैं। लक्ष्य केवल उसका वही 'लोकोत्तर चमत्कार' ही है, क्योंकि अश्रुपात करुण रस में होता है और विश्वेश्वर की अनन्त महिमा गान के समय भी भक्तों के हृदय में होता है। रोमांच भयानक वस्तु दर्शन में भी होता है, और प्रिय दर्शन में भी होता है, और उसी तरह सच्चे हृदय से ईश्वर के ध्यान में भी रोमाच हो जाता है।

परन्तु हमारे कहने का तात्पर्य यही है कि उसके आस्वाद के लिये सहृदयता की आवश्यकता होती है। कविता मात्र के आस्वाद के समय केवल स्वप्रकाशानन्द[1] ही रहता है। जब उसका मानव हृदय उपयोग होता है, तब उसमें रस और उसके भाव अनुभाव इत्यादि भिन्नतया प्रतीयमान होते हैं, जैसे वाल्मीकीय रामायण को लीजिये उसकी कविता में मुग्ध होकर आह्लाद से भर कर किसी ने लिखा है—

> **कूजन्त राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।**
> **आरुह्य कविता शाखां वन्दे वाल्मीकि-कोकिलम्।**

पर जब उसकी उपयोगिता का अवसर आता है तो तत्काल लोग कहते हैं कि—

> **'रामवदाचरणीयं न तु रावणवत'**

अस्तु, उसका आनन्द सत्य मय है लक्षण उसका स्वप्रकाशानन्द ही है। इसीलिये कहा भी है—

> **पुण्यवन्तः विवृण्वन्ति योगिवद्रससंततिम।**

(इन्दु किरण ४, कला २, १९६७)



१ वैयाकरणो के मतानुसार भी—'शब्द ब्रह्माणि निष्णात: परब्रह्माधिगच्छति'

२. 'कविता करना अनन्त पुण्य का फल है'। स्कन्दगुप्त में मातृगुप्त (कालिदास) प्रथम अंक—तृतीय दृश्य। (सं०)

हिन्दी साहित्य सम्मेलन

'हिन्दी' एक वह भाषा है जिसमें कि हम इस लेख को लिखते हैं अथवा वह संयुक्त प्रान्त, मध्यप्रदेश तथा विहार में कुछ परिवर्तन के साथ भिन्न-भिन्न स्थानों में बोली जानेवाली भाषा है, जिसकी लिपि 'देवनागरी' है।

'साहित्य' यह एक बहुत ही गम्भीर विषय है, इसको मनन करने के लिये संस्कृत के विद्वानों ने दर्शन, तर्क, न्याय आदि शास्त्रों का सहारा लिया है, फिर भी विवाद नहीं मिटा, और मिटे तो किस प्रकार, क्योंकि नवीन समय के साथ नवीन रुचि और नवीन आविष्कारों ने तो और भी भ्रम में डाल रखा है, अथवा बहुत से लोग 'विद्या विवादाय' समझे हुए हैं।

अस्तु, प्राचीन समय में साहित्य की अवधि केवल उसके अलंकार पिंगलादि दश अंगों तक समझी जाती थी। यद्यपि स्थानानुसार महाकवि लोग उसमें ज्योतिष-तत्त्व, इतिहास, दर्शन, धर्म, वेदान्त, सामान्य नीति, राजनीति, कला, शिल्प इत्यादि सब वस्तुओं का समावेश करते थे, तो भी वे प्राचीन साहित्य में अंगों का स्थान पाते थे, और अब भी सत्कवियों की कविता में अंशरूप से वे सब विद्यमान रहते हैं, क्योंकि उनके बिना सत्काव्य बन ही नहीं सकता। एक आदिकाव्य रामायण ही को लीजिये और देखिये कि उसमें के ऐतिहासिक चित्र किस सुन्दरता के साथ खींचे गये हैं। तत्त्व के विषय में उपनिषद् आदि कैसा अच्छा उपदेश देते हैं—

'पुपोष वृद्धि हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमा'
'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः'
'शमेन सिद्धि मुनयो न भूभृतः'

इत्यादि पद्यांश ज्योतिष तत्त्व, सामान्य-नीति के उज्ज्वल टुकड़े हैं जिन्हें कालिदास, भारवि इत्यादि महाकवियों ने लिखा है, गवेषणा से उन महाकवियों की कविता में ऐसे असंख्य प्रमाण मिलेंगे। किन्तु वे अंग ही हैं। उसके वृहदाकार के लिए भिन्न-भिन्न शास्त्र हैं। अस्तु, यहाँ हम नवीन साहित्य के विषय में लिख रहे हैं। नवीन साहित्य से हमारा यह मत नहीं है कि वह वास्तव में कोई नवीन वस्तु है, किन्तु उसका स्वरूप नवीन है। **जैसे 'हिन्दी साहित्य' कह देने से केवल नायिकाभेद और शृंगार रस का अनुभव न करना चाहिए किन्तु भाषा तत्त्व भूगर्भतत्त्व, पुरातत्त्व, इतिहास, विज्ञान, व्याकरण, काव्य, कोश**

आदि उसकी उपयोगी 'वस्तुओं को सबको समझना चाहिए। इन सबों से उसका बहुत घना सम्बन्ध है। साहित्य के उपयोगी सर्वशास्त्र, सब विद्याएँ, सब कलाएँ, समझी जा सकती हैं, अतः उन सबकी गणना साहित्य में है। **सबकी उन्नति करने से साहित्य की उन्नति होगी।**[1]

अब फिर हम काव्य की ओर झुकते हैं। हम कह चुके हैं कि काव्य का प्रायः सब विद्याओं से सम्बन्ध है।

काव्य के अंग यद्यपि बहुत विस्तृत हैं तो भी हम उसके दो गुणों को लेते हैं जो प्रधान और मुख्यतम हैं। संसार को काव्य से दो तरह के लाभ पहुँचते हैं मनोरंजन और शिक्षा।

महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध 'मेघदूत' काव्य में सिवा मनोरंजन के शिक्षा विशेष रूप से नही दिखाई पड़ती, और यदि सूक्ष्मतया अन्वेषण क्रिया जाय तो उसमें 'दूत प्रेरण करने में उसे कितना समझाना चाहिए' यह भी निकल सकता है; किन्तु इतनी बात के लिए इतना बड़ा प्रबन्ध लिखना, तथा ऐसी जटिलता से काव्य मर्म समझाने को नाट्यकार लोग गौण उपाय बतलाते हैं। अस्तु, बहुत लोगों का मत है कि वह केवल मनोरंजन के लिए लिखा गया है।

'शिक्षा' यह विशेष स्वतन्त्र रूप से कहीं दिखलाई नही पड़ती, क्योंकि सामान्य-नीति इत्यादि शास्त्र इसी से भरे पड़े हुए हैं; किन्तु जब वह मिलेगा तो सत्कवियों की कविता मे मिला हुआ मिलेगा। काव्य के पाठक और समालोचकगण उसको अलग करके न देखें, उनका परिश्रम वृथा है। शिक्षा का अंश साहित्य के सब

१. इस सन्दर्भ में कलकत्ता की एक घटना उल्लेख्य है वहाँ १९३१ के दिसम्बर में अपने सम्बन्धी स्व० मुकुन्दीलाल गुप्त के परिवार में विवाह था। उसमें किसी पद्धति पर पण्डितों में मतभेद ऐसा उग्र हुआ कि 'मन्यते मन्यते यदि न मन्यते—दण्डदीयताम्' की स्थिति आ गई। कोलाहल करते पण्डित लोग निर्णय हेतु पहुँचे वे सो रहे थे रात के दो बजे थे उठकर पूछा तब एक ने कहा यहाँ मतभेद है—प्रसादजी आप व्यवस्था दें। 'नही वह अधिकार हम वैश्यों को नहीं किन्तु समाधान चाहते हैं। तो प्रातः 'गादाधरी' लेकर आएं, इस समय कृपा करें।' प्रातः पण्डित लोग पहुँचे पोथी सामने रखी—'अमुक अध्याय खोलिए और ४-५ श्लोक के बाद बाँच देखिए कि इस प्रसंग में आपके शास्त्रकारों का क्या मत है' —समाधान हो गया। एक सप्ततीर्थ ने पूछा 'प्रसादजी आपका विषय तो साहित्य है इससे क्या तात्पर्य' : 'और साहित्य का तात्पर्य उस सबसे है जो आकाश और पाताल के बीच है' संवत् १९६७ अर्थात ई० १९१० का यह कथन १९३१ के इस प्रसंग से संवादित है। (सं०)

अंशों से सम्बन्ध रखता है, अतः यह अंश रूप से प्रायः सत्कविता में मिलेगा। वह नाटकों में विशेष रूप से रहता है, इसी से काव्यमात्र में इसकी बड़ी मर्यादा है।

'काव्येषु नाटकं रम्यं' कहा है। नाटक में जितनी शिक्षा हो सकती है उतनी प्रायः किसी मे भी नहीं प्राप्त हो सकती है, क्योंकि उसके प्रबन्ध, नियम और उद्देश्य बहुत उदार तथा महान होते हैं। प्रायः कोई भी महाकवि ऐसा न मिलेगा जिसने कुछ न कुछ रामचरित न लिखा हो, ऐसा क्यों? इसलिए कि उसे सर्वांगसुन्दर धीरोदात्त नायक ऐसा दूसरा नही मिलता। इससे ज्ञात होता है कि नाटक आदर्श का दर्शन करता है, क्योंकि श्री रामचन्द्र ऐसे नायक संसार मे नही मिलेंगे, पर उनके चरित्र शिक्षा के योग्य है, इसीलिए मर्यादा पुरुषोत्तम कहे जाते है। माधव के ऐसे पुरुष संसार में मिल सकते है, शकुन्तला सी स्त्रियाँ संसार मे उपलब्ध हो सकती है, पर जानकी के समान नही। क्यों फिर कवि व्यर्थ प्रयास करते है? नही, उनका अर्थ—यह है कि उत्तम चरित्रों से मध्यम चरित्रवालों को सीखना ही उपयुक्त है।

'वेणीसंहार' के भीम के ऐसे चरित्रवाले मिल सकते है परन्तु युधिष्ठिर के ऐसे कम मिलेंगे। अस्तु, सारांश यह कि 'मनोरंजन और शिक्षा' काव्य के दो उद्देश्य है, किन्तु ऐसे काव्यों में शिक्षा का वही अंश दृष्टिगोचर होता है जिसे समाज-शिक्षा कह सकते है, उसमें संसार-शिक्षा बहुत कम मिलती है। अस्तु, वह भी एक साहित्य का प्रधान अंग है इसलिए उनके शास्त्र अलग-अलग है, जैसे भाषातत्त्व, समाजतत्त्व, प्रत्नतत्त्व, विज्ञान, दर्शन आदि। इनमे बहुत से बाह्य और बहुत से आध्यात्मिक शिक्षा देनेवाले है, दोनों प्रकार की शिक्षा से संसार-समाज की उन्नति होती है।

अतः साहित्य के सब अंगो की उन्नति करना श्रेय-विधायक है। हमारा यह मत नही है कि सब लोग रस वर्णन मे लगे रहे, अथवा केवल विज्ञान ही बरसाया करे, नही, जो जिसके उपयुक्त हो वह उसको करे, और रचयिताओं, ग्रन्थकारो, कवियो की कृतियो को पाठक-समालोचकगण **उन्हीं की दृष्टि से देखकर उनका अनुशीलन करें, क्योंकि ऐसा करने से उनका तत्त्व शीघ्र समझ में आता है,** नही तो मतभेद के झगड़े मे पड़कर अन्याय से कटाक्ष करना पडता है, इसलिए सब अपनी योग्यता के अनुसार अपने विषयो की उन्नति करते हुए, मिल करके कार्य करने के लिए सन्नद्ध हों।

इसीलिये यदि 'हिन्दी साहित्य' का 'सम्मेलन' यथार्थ रूप से होगा तो जनसमाज उसमे मज्जन करके बहुत सुख पावेगा।

(इन्दु कला १, किरण ११, सं० १९६७)



कवि और कविता

कवियों को लोगों ने सृष्टिकर्ता माना है, क्योंकि वह मनुष्य को जब कि वह कविता का अनुशीलन करने लगता है, तब एक अभिनव सृष्टि का दर्शन कराता है। **वह संसार के सांचे में नहीं ढलता, किन्तु संसार को अपने साँचे में ढालना चाहता है।** मनुष्य के हृदय के लिए वह बड़ी सुन्दर सृष्टि रचता है, जिसमें प्रवेश करने से कविता पाठक एक प्रकार से वाह्य-ज्ञान-शून्य होकर वसन्तमय कनक-कमल-मकरन्द-पूर-कानन मे आनन्द-मय समय व्यतीत करता है।

लोकोक्ति है कि 'रोना और गाना किसे नही आता' उसी तरह से कविता में भी कल्पना की जो लीलाएँ हैं, उन्ही का अनुसरण करते हुए प्रायः सब मनुष्य कल्पना करते है, अपने विचारों को सोचते है, प्रकट करते है; पर कवि की तरह अपने विचार कौन प्रगट कर सकता है? उसके हरित सघनकुंज जिनके पत्र मरकत को भी लजाते है, जिन पर धूल के कणों का स्पर्श भी नही है, कौन निर्मित कर सकता है? उसके ऐसे आनन्दमय राज्य मे जहाँ पाप, कलह, द्वेष, भय का लेश नहीं है, कौन राज्य कर सकता है? वहाँ कवि सान्त्वनामयी राजाज्ञा का प्रचार करता है, वह फूलों को भी चिरस्थायी बनाता है, इसी से कहना पडता है कि उसकी सृष्टि विलक्षण चमत्कारिणी है, और सच्चा कवि अमरजीवन लाभ करता है।

सौन्दर्य की आलोचना आप कर सकते है, उसे अपने चित्त मे स्थान दे सकते है, उसकी सुन्दरता का वर्णन कर सकते है; पर क्या कभी इतना कहने का साहस भी कर सकते है 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी'? अस्तु, इतना कहने का अधिकारी वही है।

कवि मानव स्वभाव के परिज्ञान के समान ही प्रकृतिज्ञान का भी उद्योग करता है, और वह उसके अनुशीलन मे उसी तरह लगा रहता है। महाकवि वाल्मीकि के लिए कोई बड़ा भारी पुस्तकालय नही था, उन्होने अपना महाकाव्य लिखने के लिए जो सुन्दर जाह्नवी तट पर कुसुमित कानन निर्धारित किया था, वह क्यों? वे प्रकृति का वाह्य तथा आन्तरिक चक्षु से अन्वेषण करते थे, तब उनकी प्रतिभा ऋतु-वर्णन मे इतनी देखी जाती है, प्रकृति के एक-एक क्षुद्र अंश, यहाँ तक कि महान् वृक्ष की डालियों मे की छोटी-छोटी पत्तियो की नसे भी उनसे बाते करती थी। कवियो से जैसा प्राभातिक पवन खेलता है, किसी देव-शिशु को भी वैसी क्रीड़ा नही आती।

राका की मधुरता जैसा उसके नेत्रों को सुन्दर दृश्य दिखाती है, विहग का कलरव जैसा उसके कर्ण मे सुन्दर सुनाई पड़ता है, वैसा किसी को नही। हाँ, जब वह अपनी अभिनव सृष्टि मे इनका समावेश करता है तब उसके प्रेमी उसको देखते है, तथा सुनते है।

कवि में क्लीव को तलवार ग्रहण करा देने की शक्ति है, वह चिर:दुखी को सुखमय कर सकता है, पर तब जब वह सच्चा कवि हो। महादुर्द्धर्ष औरंगजेब का प्रतिपक्षी बनना शिवाजी ऐसे सामान्य भूस्वामी का कार्य नही था, यह उस उत्तेजनामयी 'त्यों मलेच्छ वंश पर शेर शिवराज है' कवि (भूषण) की वाणी का ही प्रताप था।

देखिये, महावीर विक्रमादित्य का केवल एक दुर्गद्वार, जो कि भग्नप्राय है, शेष-चिह्न रूप है; किन्तु कालिदास की 'शकुन्तला' अभी भी सद्यः प्रस्फुटित वकुल-मुकुल की तरह अपने सौरभ से दिगन्त को व्याप्त कर रही है, उसकी एक मात्रा का भी ह्रास नही है, दिन-दिन उसकी सुगन्ध से मनुष्य का मस्तिष्क शीतल होता है, और हुआ करेगा। इस कारण से कवि अमरजीवन लाभ करता है।

इसी तरह सच्चे कवि की कविता भी अलौकिक आनन्द दान करती है, क्योंकि यह उसकी सृष्टि है। महान् कवि की कविता की बल, बुद्धि और आनन्द के जलयन्त्र से तुलना कर सकते हैं, वह मनुष्य-जीवन मे अलौकिक बल प्रदान करती है, उसकी प्रतिभा अपना मधुर प्रकाश जब मनुष्य-हृदय पर डालती है तब उसका अन्धकारमय हृदय भी उज्ज्वल आलोक से पूर्ण हो जाता है। यदि अनुकूल कविता कही मिल जाती है, तो चित्त की शंका भी दूर हो जाती है। कविता प्रथम मे प्राय: सब भाषाओं मे पद्यमय देखी जाती है, यहाँ तक कि हम लोगों का महामान्य वेद भी छन्दमय है, इसका कारण लोग बताते है कि—जब लिखने-पढ़ने की परिपाटी नही थी, तब लोग कण्ठस्थ करने के लिए वर्णक्रम से पद्योजना करके उसको कण्ठस्थ करते थे, किन्तु ध्यान से देखा जाय, तो इसका एक यही कारण नही था। पद्यमय रचना एक और भी उपयोग करती है, जैसे किसी कवि ने कहा है—'पूर्व काल मे मन्त्र थे कड़खे रनके।' यदि विचार किया जाय तो यह सरलतया समझ मे आ जायेगा कि कविता जहाँ ओज दान करती है वहाँ पद्य ही है, क्योंकि प्राय: संक्षिप्त और प्रभावमयी तथा चिरस्थायिनी जितनी पद्यमय रचना होती है, उतनी गद्य रचना नही। इसी स्थान मे हम संगीत की योजना कर सकते है, सद्यः प्रभावोत्पादक जैसा संगीत पद्यमय होता है, वैसी गद्य रचना नही। चित्रकारी तथा कविता से लोग मिलान करते है, पर कविता एक अचिन्त्य पूर्व सुन्दर चित्र खीच देती है जो कि बोल भी सकता है, पर चित्र वैसा नही कर सकता, यद्यपि कविता और चित्रकारी का कार्य एक ही है, पर यह मलयज पवन का भी चित्र खीच सकता है,

उसको बुला सकता है, और उसके साथ खेल सकता है, इससे कविता एक जीवन्त चित्र प्रस्तुत कर सकती है। उसी प्रकार संगीत केवल स्वर ही प्रकट कर सकता है। यदि उसमें कुछ कविता न हो तो केवल वह गूँगे का चिल्लाना ही प्रतीत होगा। यदि उसमें कविता का अंश मिला होगा तो कर्ण के साथ ही हृदय को भी आनन्द देगा।

कविता जो भावपूर्ण होती है, वह बड़ी हृदयग्राहिणी होती है। चित्त की वृत्तियाँ जो मानव-हृदय में उदय हुआ करती है, उन्हें भाव कहते हैं। यद्यपि प्राचीन साहित्य में इनको रस के अन्तर्गत 'संचारी' तथा 'स्थायी' के नाम से स्थान मिला है, पर वे भाव उतने ही मे पूरे नही हो सकते, वे केवल उसके स्थूल तथा प्रधान भेद हैं, और बहुत से चित्त के विकास अच्छे और बुरे जो सूक्ष्म रूप से हैं, समयानुकूल, या कार्यवश उत्पन्न हुआ करते हैं, उनमें जो अच्छे हैं, उन्हें उत्कर्ष देना, तथा दुर्वृत्तियों को दमन करना भावमयी कविता का मुख्यतम कार्य है। यद्यपि ये प्राचीन साहित्य में किसी न किसी रूप में विद्यमान है, पर शृंगारी कवियों की कृपा से उनकी शृंगारी नायिकाओं में ही उन भावों को आश्रय मिला है।

'उन्माद' जो एक संचारी भाव है, यदि नायिका-विरही नायक को छोड़कर किसी कुकर्मी के सन्तापमय चित्त में वह भाव अंकित किया जाय, तो कैसा प्रभावशाली होगा? इसका अनुभव जिन्होंने अँगरेजी 'म्याकबेथ' नाटक में 'म्याकबेथ-पत्नी' का पार्ट पढ़ा होगा या देखा होगा, वे ही कर सकते हैं। इसी तरह उन भावों का दुरुपयोग होने से भावमयी कविता मनोनीत नहीं मिलती। भावमयी कविता प्रायः दो प्रकार की दिखाई देती है, जैसे कि 'कथामूलक भाव' और 'भावमूलक कविता'। कथामूलक भावों का प्रायः ऐतिहासिक वा पौराणिक काव्यों में समयानुकूल या आवश्यकतानुसार समावेश दिखाई पड़ता है। जैसे 'उत्तर रामचरित' में जब लक्ष्मण, श्रीरामचन्द्र को चित्र दिखलाते हैं, तो उन वन-भूमियों के चित्र को देखकर उनके हृदय में पूर्वस्मृति जागरूक होती है, तब वह जानकीजी से कहते है—

अलसललितमुग्धान्यध्वसम्पातखेदा-
दशिथिलपरिरम्भैर्दत्त सम्वाहनानि।
परिमृदितमृणाली दुर्बलान्न्यंगकानि।
त्वमुरसि ममकृत्वा यत्र निद्रामवासा॥
किमपि किमपि मन्दं मन्दमासक्तियोगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिल परिरम्भव्यापृतैककदोष्णो-
रविदित गतयामा रात्रिरेवं व्यरंसीत्।

'शकुन्तला' मे कण्वमहर्षि का भी कन्या की ओर जो प्राकृतिक प्रेम था उसी का निदर्शन कराते हुए महाकवि कालिदास लिखते है—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
अन्तर्बाष्पभरापरोधिगदितं चिन्ताजड़ं दर्शनम् ।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमपि स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनया विश्लेषु दुःखैर्नवैः ?

और तुलसीकृत 'रामचरितमानस' मे धनुष भग के समय, जानकी के हृदय मे भी एक अपूर्व शकामय भाव उत्पन्न हुआ था—

सो धनुराज कुँवर कह देहीं ।
बाल मराल कि मन्दर लेहीं ।।

दूसरी भावमूलक कविता जिसमे भाव को प्रधान मानकर कविता की जाती है, वह एक तो भाव के अनुकूल तथा बनाकर लिखी जाती है, जैसे 'वेणीसहार-नाटक'; इसमे द्रौपदी का स्त्रीजन-सुलभ प्रतिहिंसामयी उत्तेजना से भीम का दुःशासन के हृदय का रक्तपान करना ।

हिन्दी मे भी श्रीधर पाठक का ऊजड ग्राम' इसी विभाग मे आवेगा, जो कवि ने बहुत दिन पर उस गाँव को देखकर उसकी शोचनीय अवस्था का चित्र खीचा है, जन्मभूमि-प्रेमीमात्र म उस भाव का होना सम्भव है ।

प्राय भावमयी कविता स्फुट भी मिलती है, यथा -

जा थल कीन्हे बिहार अनेकिन,
ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करैं
जा रसना ते करी बहु बातन,
ता रसना ते चरित्र गुन्यो करैं
'आलम' जौन ते कुंजन में
करी केलि, तहाँ अब सीस धुन्यो करैं
नैनन में जो सदा बसते, तिनकी
अब कान कहानी सुन्यो कर ।।

या, मैथिलीशरण गुप्त की बनाई हुई 'कृष्णा के केशो की कथा' इत्यादि ।

कुटिल, उदार दुष्ट, क्रूर, दयावान, तथा चिन्ताशील हृदय आदि के भावो को दिखानेवाली कविता, ससार के व्यवहार की भावमयी कविताये, अपना प्रभाव मनुष्य के चरित्र पर डालती है जिससे वह सुधरता है ।

हिन्दी म प्रायः शृंगाररस की कविता के सामने ऐसी कविताओ का अभाव है । यद्यपि अब कुछ-कुछ इस ओर लोगो की रुचि फिरी है, पर कहाँ तक फिरेगी जब

कि उनके सामने केवल शृंगाररस से भरे हुए 'नायिका भेद' की क्रिया, विदग्धा मे अपनी क्रीड़ा दिखाया करेगी।

यहाँ हम कुछ शृंगार रस के भी विषय में लिखना चाहते है। हिन्दी साहित्य में प्रायः वैष्णव कवि विशेष हुए हैं, और उन्ही की कविता ब्रजभाषा की मूल है। सूर, केशव, तुलसी आदि सब वैष्णव कवि है और उनके बाद के भी प्रायः ब्रजभाषा के कवि, जैसे तोषनिधि आदि, वैष्णव हुए। इन लोगों को अपने उपास्य देवता में शृंगार भाया। जब प्रधान उपासकों की यह दशा थी, तो अनुयायी कवि लोग भी उसी रंग में रंगे जाने लगे। श्रीयुत अम्बिकादत्तजी भी उसको नही छोड़ सके, स्फुट कवितायें तो क्या, 'दृश्य ललिता नाटिका' भी इसी तरह के शृंगार वर्णन मे लिखी गयी है। दृश्य काव्य मे रसस्थापन आदि, तथा सामाजिक विषयों की बहुत ही विवेचना की जाती है, तो भी 'ललिता' को शृंगार-रस की नायिका बनाया है।

यद्यपि साहित्य के बहुत से आचार्यों ने गणिका मे रसाभास माना है, तो भी लोगों ने 'वैशिक' नायक, तथा परकीया 'गणिका' आदि नायिकाओं मे शृंगार रस का विशेष वर्णन किया है, जिससे उसकी अश्लीलता बढ़ गयी है। देखिए 'शकुन्तला' को शुद्ध शृंगार रस-प्रधान नाटक मानते है, पर उसमें तो कही भी रति वा ऐसे अश्लील शृंगार का विवरण नही है। तो भी उसे लोग बहुत आदरणीय दृष्टि से देखते है, इसका कारण यह है कि उसमे शृंगार रस का वर्णन ऐसी पवित्रता के साथ किया गया है कि जिसे पढकर चित्त पुलकित हो जाता है। ऋषि कन्या शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के हृदय में जो आसक्ति उत्पन्न हुई उसे भी समाज बन्धन मे ले आने के लिए कवि कुलगुरु कालिदास कैसा अच्छा लिखते है—

> **असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा**
> **यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।**
> **सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु**
> **प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः॥**

अस्तु, शृंगार रस दूषित नही है, पर उसकी वर्णन शैली जो हिन्दी मे प्रचलित है, बहुत दूषित हो गयी। प्रायः इसके प्रथम लेखक जयदेवजी है, उन्होंने ही इस शृंगार का प्रथम ग्रन्थ 'गीत गोविन्द' बनाया है, पर हिन्दी मे तो शृंगार रस के लक्षण भी विलक्षण बना डाले गये है। कवि तोषनिधि जी लिखते है –

> **दम्पति जहँ लौं सुख लहैं,**
> **काम कला के फन्द।**
> **सो शृंगार में प्रेम है,**
> **थाई आनंद कन्द॥**

अब कहिए, इसका लक्षण विप्रलम्भ शृंगार मे भी ठीक हो सकता है? अस्तु,

इन्हीं महात्माओं की कृपा से हिन्दी साहित्य-प्रेमियों को शृंगार रस का नाम सुनते ही घृणा उत्पन्न होती है। और इसी कारण से प्रायः लोगों की अरुचि छन्दों के ग्रन्थ पढ़ने में हो रही है।

'सरस्वती' हिन्दी में एक बहुमूल्य पत्रिका है, और उसका आदर भी है, पर क्या उसके सब अंश सबके मनोनीत होते है ? कोई उसके गद्य लेखों पर प्रसन्न हैं, तो कोई चित्रों पर, कोई उसके रूप पर प्रसन्न हैं तो कोई उसकी छपाई पर। अधिकांश महाशय ऐसे है जो चित्र और गल्प तक ही रह जाते हैं, उसकी कविता का मर्म समझने की बात तो दूर है, उस पर ध्यान भी नहीं देते। यह क्यों, छन्द विषयक अरुचि है ? इसका कारण यह है कि सामयिक पाश्चात्य शिक्षा का अनुकरण करके जो समाज के भाव बदल रहे है उनके अनुकूल कविताएँ नही मिलती और पुरानी कविता को पढ़ना तो मानो महादोष-सा प्रतीत होता है, क्योंकि उस ढंग की कविता बहुतायत से हो गयी है।

पर नहीं, उनसे घबड़ाना नही चाहिए, उनके समय के वही भाव उज्ज्वल गिने जाते थे, और अब भी पुरातत्त्व की दृष्टि से उन काव्यों को पढ़ने मे अलौकिक आनन्द मिलता है। अस्तु, पाठकों के अरुचि दिखलाने से कविता का बड़ा ह्रास हो सकता है। हमने प्रायः सुना है कि वह 'भटई' कविता है, किन्तु पाठको ! ध्यान से देखो, यदि भट्टीय काव्यों की जैसलमेर में स्थिति न होती, तो टाडसाहब आज दिन इतना बड़ा 'राजस्थान' (ग्रन्थ) बनाने में न समर्थ होते।

हिन्दी में वसन्त-कानन की मधुर शोभा है, **पर गम्भीर तरंगमय अनन्त महासागर की कल्लोल मालाएँ दृष्टिगोचर नहीं होती हैं।** हम मानते है कि देव और तुलसी की कविता में आप मधुरता विशेष पाते है, पर उन्मादकारिणी तथा आपे से बाहर कर देनेवाली कविता, आपको कही नही दिखाई देती। किन्तु ठहरो, देखो जब मनुष्य की आन्तरिक शक्ति का ह्रास होता है. तब वह नशा इत्यादि से अपने हृदय को वेगवान बनाना चाहता है। 'शृंगाररस' की मधुरता पान करते-करते आपकी मनोवृत्तियाँ शिथिल तथा अकुला गयी है; इस कारण अब आपको भावमयी, उत्तेजनामयी, अपने को भुला देनेवाली कविताओं की आवश्यकता है। अस्तु, धीरे-धीरे जातीय संगीतमयी, वृत्ति-स्फुरणकारिणी, आलस्य को भंग करनेवाली, आनन्द बरसानेवाली, धीर गम्भीर पद विक्षेपकारिणी, शान्तिमयी कविता की ओर हम लोगों को अग्रसर होना चाहिए। वह समय अब दूर नही है, सरस्वती अपनी मलिनता को त्याग कर रही है, और नवलरूप धारण करके प्राभातिक उषा को भी लजावेगी, एक बार वीणाधारिणी अपनी वीणा को पंचम स्वर में फिर ललकारेंगी, भारत की भारती फिर भी भारत ही की होगी।

(इन्दु—कला २, किरण १, श्रावण १९६७)

हिन्दी में नाटक का स्थान

"काव्येषु नाटकं रम्यं" क्यों ? इसलिए कि उसमें सब ललित सुकुमार कलाओं का समन्वय है। प्रचलित अर्थ में काव्य से नाटक मे कुछ विशेषता है। फिर भी वह (नाटक) काव्य का एक अवान्तर भेद है।

काव्य एक कला है और ललित सुकुमार कलाओं मे प्रधान कला है, तब यह मानना होगा कि नाटक का कला से सम्बन्ध ही नहीं परन्तु वह कला का विकसित रूप है। हृदय को अनुभूति कराने के लिए, कला के दो द्वार है; कान और आँख। इस काव्य की अनुभूति भी 'दृश्य और श्रव्य' दोनों प्रकार मे होती है।

ऊपर कह आए है कि काव्य प्रधान कला है, वह क्यों ? यद्यपि सब कलाएँ अपनी सीमा मे, अपने अधिकार क्षेत्र मे पूर्ण होती है, किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर इनमे भी तारतम्य हो सकता है। जिस प्रकार से आँख और कान इन दो इन्द्रियों के द्वारा कला का उपभोग होता है, उसी प्रकार से कला के दो भेद भी होंगे, मूर्त और अमूर्त। इनमे एक भेद और भी है उसे शिल्प कहते है जिसे स्थापत्य और मूर्ति निर्माण कला भी कह सकेंगे। यह मूर्त (शिल्प) कला का स्थूल रूप है जिसकी उपलब्धि आँखों से होती है। चित्र कला उसी का उच्च और सूक्ष्म रूप है। यद्यपि इनका विषय मानसिक भी है तब भी उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध मूर्त वा अधिभूत से है। किसी भावना की अभिव्यक्ति के लिए मूर्ति की अपेक्षा है। इसलिए कि उसमें अनन्त की उपलब्धि की आशा कम होती है। उनका क्षेत्र संकुचित है। संगीत केवल कान से सम्बन्ध रखता है और उसमे अनन्त का आनन्द भी मिलता है। किन्तु उसका सब काल मे या कुछ विशेष समय तक उपभोग नही किया जा सकता। तानसेन की मनोहर तान अब कही सुनाई नही पड़ती। इधर काव्य पुस्तकों के रूप में मूर्त्त भी है और हृदयंगम हो जाने पर अमूर्त्त भी। कालिदास की शकुन्तला अपनी पूर्णता से आज भी 'तदेव रूपं रमणीयतायाः' का दर्शन कराती है, और आगे भी कराती रहेगी। अस्तु, काव्य, देश और काल के साथ ही अनन्त है। उसका क्षेत्र विस्तृत है। वह मानस और बाह्य प्रकृति के दोनो रूपो का स्वागत कर सकता है : और वस्तु सापेक्ष न होकर अध्यात्म का भी अधिकारी है। समस्त कलाओं मे काव्य कला इसीलिए अधिक आदर की अधिकारिणी है।

अशिक्षित मानव स्वभाव, प्रकृति का 'कच्चा माल' है : जिसे वह समाज के

उपयोग की वस्तु की तरह लगाव उत्पन्न करके, उपयोगी बनाती है। प्राणी मात्र का एक वर्ग है, उनमें अधिक उन्नत रूप मनुष्य का है। यहाँ भी अधूरापन है। इसी के लिए देवत्व की कल्पना है। इस उन्नत रूप का रहस्य मानसिक विकास है। प्रवृत्तियाँ प्राणी मात्र मे है। मनोविकार के रूप में वे मानव हृदय में परिमार्जित होने पर भी अपूर्ण तथा असंस्कृत रहती है। उनकी पूर्णता के लिए सत्य के प्रकाश के लिए, देवत्व के आदर्श की सृष्टि है। कला का उद्देश्य है कि वह इसमे सहायक हो, सौन्दर्य से सत्य को प्रकटित करके विश्व का मंगल करे।

अब, जिस कला मे मानसिक अवस्था का पूर्ण विकास हो, अच्छा विश्लेषण हो उसे ही पूर्ण कहेगे। नाटक मे काव्य के तीनों भेद (मिश्र), दृश्य और श्रव्य तथा कला की दृष्टि से मूर्त्त और अमूर्त्त रूपो का उपयोग है। एक बात और भी ध्यान देने योग्य है : बहुत से विद्वान् कला की सफलता वही मानते है जहा मनुष्य अपने को भूल जाय और तल्लीन हो जाय, वह किसी आदर्श क लिए न हो केवल अपने लिए अपनी स्थिति रखती हो। तब भी किसी अनुकरणीय वस्तु का ध्यान न होने द, वह स्वयं इसी सिद्धान्त को सम्भवतः 'कला केवल कला के लिए ह' कह सकते हे। क्या यह हृदय वृत्ति (Sentiment) को उत्तेजित करके मोह लेना मात्र ही न होगा ? क्या विवेक-शुद्ध, बुद्ध-सत्य (Reason) से उसका कुछ भी सम्बन्ध होगा ? नही किन्तु यही आज की शिक्षा का आदर्श है। कला पक्ष केवल नाटक रूप मे लोकोत्तर चमत्कार और आदर्श—दृश्य तथा श्रव्य, मूर्त्त और अमूर्त्त इत्यादि- सब साधनो से मानसिक संसार को विकास देता है और उसके पास साधन भी प्रचुर परिमाण मे है : शिल्प, संगीत, चित्र, कविता आहार्य, भाव और अग-भंगी से अभिनय पूर्ण होता है। एक नाटक मे ही इन सभी पर विलास है, विकास हे। इसी से कहते है 'काव्येषु नाटकं रम्यं।'

जो नाटक मनोभाव का विश्लेषण करके चमत्कार के बल से मोहता हुआ, अन्त:करण मे आदर्श सत्य को स्वयमेव विकसित कर देता हे उसे प्लेटो के आदर्श—'प्रजातन्त्र' को छोड़ कर सभी सभ्य जातियों के साहित्य मे सम्मान मिला है। दार्शनिक 'प्लेटो' ने इसका केवल इसलिए बहिष्कार किया है कि 'चरित्रहीनो से संगठित दल' जगत् मे क्षणिक चारित्र्य का प्रचार करता ह, किन्तु, यह बात न भुला देनी चाहिए कि 'प्लेटो' के परम अभीष्ट आदर्श का प्रचार व्यक्तियो से ही संगठित जाति मे होगा : तब भी वह व्यक्ति को कोई विशिष्ट पद नही देता है। इधर, मानव समाज अनुकरणशील है, बिना व्यक्तित्व का आदर्श मिले वह सत्य का अनुभव नही कर सकता और उसे हृदयंगम करने को बहुत कम प्रस्तुत रहता है। प्रत्येक विज्ञान को आकार या विचार को नाम-रूप देना ही होगा, जिसे आदर्श कहेंगे। यही

स्थूल रूप में व्यक्तित्व है। 'व्यक्तित्व, स्वभाव से उत्पन्न चरित्रों का संकलन है। इसे ही बौद्ध शब्द में 'चैतसिक-संसार' कहेगे। जो अहम् का विषय है उसे व्यक्ति कहेगे। यह स्वभाव-पूर्ण है उसका विश्लेषण करके सत्य को बतानेवाला दृश्य जड़ प्रकृति में कला के द्वारा चेतना की अनुभूति कराते हुए सौन्दर्य को विकसित करनेवाले वर्णनात्मक और भावात्मक साहित्य से पूर्ण, 'नाटक' को हिन्दी मे कौन-सा स्थान है या मिलेगा · यह विद्वानों के विचार की वस्तु होनी ही चाहिए।

हिन्दी और नाटक के सम्बन्ध में एक और विचित्र बात है कि इसके नवयुग का उत्थान नाटक से ही हुआ। श्री हरिश्चन्द्र ने जिस काल मे अपनी प्रतिभा से और परिश्रम से हिन्दी की उन्नति की, उस काल का साहित्य नाटको को अलग कर देने से बचता ही क्या है ? महाकवि महात्मा तुलसीदास और सूरदास, कबीर और मीरा, देव और बिहारी इत्यादि ने साहित्य-कथानक-महाकाव्य, गीति-काव्य, भावात्मक और प्रेममयी कविताओ मे पूर्ण कर दिया था, **काव्य-कला विकसित हो चुकी थी। तब यह आवश्यक था कि जिसमें कलाओं की पूर्णता के साथ काव्य का सर्वांगीण परिपाक होता है उस 'काव्येषु नाटकं रम्य' की ओर समाज का ध्यान जाय।** इसी मे नवयुग के उत्थान काल के साथ ही हिन्दी के नाटको का विकास है। तब भी क्या यह नही कहा जा सकता है कि हिन्दी मे नाटको को अब उपयुक्त और उन्नत स्थान मिलना चाहिए ?

प्रचार की दृष्टि से भी भाषा को जितनी सहायता नाटकों से मिलती है वह उपेक्षणीय कदापि नहीं। आज दिन साधारण जनता जिस परिमाण मे उर्दू की गजलो का हृदयगम कर रही है, वह (परिमाण) जिन्होने लिपि रूप मे उर्दू का स्वप्न भी नही देखा, उनकी मुख-गफा से 'शेरो' को निकलते हुए देखकर समझा जा सकता है। कम-से-कम मेरा तो यही विश्वास है कि यह पारसी 'स्टेज' का कृपा है। हिन्दी के उत्तमोत्तम महाकवियो की वीणा इस विषय मे अपना अधिकार खो रही है। यह रगमच से निकलनेवाली उर्दू की पुकार है जो शिक्षित और अशिक्षित सब जनता को अभिनय-भावभगी द्वारा कठिन शब्दो का अर्थ बताकर आकर्षित कर रही है। और भी, उच्च कोटि के भावो के वाक्य-विन्यासो द्वारा प्रचारक भाषा का इससे सुलभ साधन नही है तब भी यह कहने मे सकोच होगा कि 'हिन्दी नाटकों के लिए एक सुरक्षित स्थान है और वह गौरवपूर्ण है।' कोई भी भाषा अपने विनय और शील तथा सदिच्छा की अभिव्यक्ति के लिए गौरव पा सकती है · और उस शिष्टाचार का प्रथम सोपान भाव-भगी और कथोपकथन है जिससे नाटक का संगठन होता है। मानव इतिहास मे, भाषा का इतिहास जो सहायता देता है वह कम मूल्य का नही है। समाज के कल्याण से यदि भाषा का अविच्छिन्न

सम्बन्ध है तो यह मानना होगा कि भाषा में शिष्टाचार का प्रचार करने में नाटक के कथोपकथन बहुत कुछ हाथ बटाते है। कथोपकथन के विषय में एक बात और कहनी है जो हमारे प्रधान विषय से बहुत दूर नही है। संस्कृत नाटकों के अनुसार हिन्दी मे भी पात्र भेद से, भाषा-सृष्टि की प्रथा चल पड़ी थी। जैसे संस्कृत नाटकों में महारानी को भी संस्कृत बोलने का सम्मान नही प्राप्त था—केवल देवी या विरजा-परिव्राजिका आदि ही इसकी अधिकारिणी थी क्योंकि उस काल में राज्यभाषा यद्यपि संस्कृत थी तब भी प्रान्त भेद से मागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री आदि भाषाये व्यवहृत होती थी। सस्कृत के नाटकों में एक यह भी समन्वय था। **पर हिन्दी का लक्ष्य दूसरा है : उसका उद्देश्य ज्यों-ज्यों राष्ट्रीयता की ओर बढ़ रहा है उसी प्रकार उसका क्षेत्र भी बढ़ रहा है,** तब उसमे गँवार पात्रों के मुख से प्रान्तीय (बोलियों) भाषाओं को कहलाकर कथोपकथन के उस तात्पर्य को हानि पहुँचाना होगा जहाँ उसका सम्बन्ध व्यवहार और शिष्टाचार से है। इधर, नाटक अभिनय के लिए तो हैं ही, वे सुपाठ्य भी होते है अथवा वे श्रव्य काव्य का भी अभिनय कर लेते हैं। प्रसंगवश यदि किसी सीमाप्रान्त के मनुष्य का अभिनय करने में भाषा भी पश्तो रही, तो उसे हिन्दी का नाटक कौन कहेगा? ऐसे भेदों का प्रदर्शन हमारी दृष्टि मे अभिनय ही है। उसमे भाव-भंगी के द्वारा व्यवहार-आचार के द्वारा भाषान्तर का काम अच्छे प्रकार से चल सकता है। इन कथोपकथनों से साहित्य के गूढ़ भावों का, शिष्टाचार की सभ्यता का अर्थ समझने मे, भाषा का जो प्रौढ़ और पुष्ट कार्य नाटक करता है, वह कम महत्त्व का नही है। इस दृष्टि से भी नाटक हिन्दी में एक उच्च स्थान का अधिकारी है। तब भी हिन्दी का कोई अच्छा रंगमंच नही और उसको उत्तेजित करने के लिए हिन्दी भाषी समाज की ओर से कोई संस्था नही और न तो उसके उद्देश्य की ओर ध्यान दिलाने वाला कोई पात्र ही है।

यदि साहित्य अपने काल की सभ्यता का ज्ञापक है तो यह कहना ही होगा कि सभ्यता को नाटक से बड़ी सहायता मिलती है। वेशभूषा, आचार का समर्थन, हुये आचारों का तिरस्कार और शील, विनय इत्यादि का वह स्वतंत्र कोश है। नाटक अपने अभिनय के द्वारा समाज की मनोवृत्तियों को साँचे का काम देता है। एक बार हम फिर कहेंगे, समाज में नैतिक साहस आदि गुणों की जागृति में नाटक प्रचुरता से सहायक हो सकता है। जब हम देखते हैं कि समाज का या प्रान्त का विभाग भाषा से बड़ी सरलता के साथ किया जा रहा है तब यह कहना असंगत होगा कि पशुओं की वृत्ति से कुछ ही परिमार्जित 'मानव स्वभाव' का नग्न रूप दिखा कर अन्तः-जगत् को विकसित करके हिन्दी भाषा-भाषी समाज का मंगल करनेवाले

नाटक को हिन्दी में वैसा ही स्थान मिलना चाहिए, जैसा कि शरीर में मस्तिष्क को।

हिन्दी नाटकों के लिए स्थान और एक उपयुक्त स्थान देने के लिए हिन्दी-प्रेमियों से अनुरोध करते हुए यह भी कहना अनुचित न होगा कि इसे हृदय में भी स्थान दीजिए।[1]

१. इसका उल्लेख हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन के कार्य विवरण में व्याख्यान रूप में बताया गया है, और सम्मेलन से इसकी प्रति मुझे मिली थी। संभव है लिखित भाषण भेज दिया हो : निश्चय ही वे गए नहीं थे। (सं०)

प्रकृति-सौन्दर्य

प्रकृति-सौन्दर्य ईश्वरीय रचना का एक अद्‌भुत समूह है, अथवा, उस बड़े शिल्पकार के शिल्प का एक छोटा-सा नमूना है, या इसी को अद्‌भुत रस की जन्मदातृ कहना चाहिए। सम्पूर्ण रूप से वर्णन करना तो मानो ईश्वर के गुण की समालोचना करना है।

हे प्रकृति देवी! तुमको नमस्कार है, तुम्हारा स्वरूप अकथनीय है। द्वीप, महाद्वीप, प्रायद्वीप, समुद्र नदी, पर्वत, नगर अथवा सम्पूर्ण जल-स्थल तुम्हारे उदर में है। उनमें स्थान विशेष में ईश्वरीय शिल्प-कौशल के साथ तुम्हारी मनोहारिणी छटा अतीव सुन्दर दृष्टिगोचर होती है। अगाध जल के तल में, समुद्र के गर्भ में, कैसी अद्‌भुत रचना, कैसा आश्चर्य! अहा! यह विद्रुम-लता का जल-राशि मे लहरों के साथ झूमना, सीपियों का तथा छोटे-छोटे जन्तुओ का इधर-उधर सञ्चरण तथा विचित्र रूप की लताओं और वनस्पतियों के सन्निकट मे अद्‌भुत जन्तुओं का समूह, और उनका जलतरंग के साथ-साथ हिलती हुई झाड़ियों मे घूमना, अथाह जल के नीचे ऐसे-ऐसे अमूल्य रत्न! और ऐसा सुन्दर मनोहारी दृश्य!

हिम-पूरित तराइयों में, तथा हिमावृत्त चोटियों पर अद्‌भुत रंग के नील, पीत, ललित कुसुम-सहित लताओं का, शीतल वायु के झोंके से दोलायमान होना, पुनः प्रातः सूर्य की किरणों का छायाभास पड़ने से हिमावृत्त चोटियो का इन्द्रधनुष-सा रँग जाना, कैसा सुन्दर जनाई पड़ता है! समयानुकूल उन पर बर्फ की झडी और कड़ा वायु का झोंका कैसा हृदय को कँपाये देता है! शिखरो पर से वेग सहित बहती हुई नदियाँ, तथा उनके प्रवाह से अद्‌भुत शिलाखण्डों का बनाव, और उनकी अद्‌भुत स्थिति देखकर बोध होता है कि मानो कोई गुप्त बल अभी तक इनको रोके हुए है! इसी प्रकार अनेक स्थानों, अनेक नगरों मे, कतिपय पर्वतों पर तुम्हारा वही पूर्व-कथित रूप दृष्टिगोचर होता है, जिनके पूर्ण वर्णन करने के लिए, मनुष्य में योग्यता और बुद्धि हो ही नही सकती।

तुम्हारा समयानुकूल परिवर्तन भी कैसा सुन्दर होता है! ऋतुविभाग के अनुसार 'बसंत' में कोमल कलित पत्तियों से सहकार वृक्षो को सुहावना बनाती हुई, मधुर मंजरी तुम ही उत्पन्न करती हो। अहा! उस समय में तुम्हारी अद्‌भुत छटा देखने ही योग्य होती है! कही परिमित रूप से बहती हुई शैवालिनी में विकसे हुए

अरविन्दों पर मधुव्रत-माला रस लेते हुए आनन्दोल्लास से गूँज रहे हैं। कहीं अर्द्ध-प्रस्फुटित रक्त तथा कोमल पत्तियों-सहित तरुण वृक्षों पर बैठे हुए रसमग्न कोकिल अपनी 'कुहुक' सुनाते हुए, कोमल डालियों को डोलायमान करते हैं! सुरम्य वन, कुंज, लता, उपवन, पर्वत, तटी इत्यादि, जहाँ दृष्टिपात करो, उधर ही कुसुम-पूरित डालियाँ दिखाई देती है! समय का तो कहना ही क्या है, प्रभात बाल-अरुणोदय, पक्षियों का उड़ते हुए कलरव, शीतल सुरभित मलयानिल, भगवान् दिनकर की काञ्चनीय रश्मि, मनुष्यों का अपने कार्यों में लगने का कलरव तथा जन-शून्य स्थानों में तुम्हारी ही मनोहर शून्यता क्या ही अनुपम आनन्द का अनुभव कराती है! फिर, वह मध्याह्न के अंशुमाली भगवान् का तप्त तेज, प्रचंड वायु, गर्मी की अधिकता का कैसा आतंक हृदय में उत्पन्न होता है। मधुरात्रि के तारागण-मध्यस्थ पूर्ण-चन्द्रमण्डल का अपनी रजत-किरणों से जगत् को धवलित करना, चन्द्र-किरण-स्पर्शित मधुर मकरंद-पूरित वायु का सञ्चरण! यह सब तुम्हारी ही अद्भुत छटा है।

पुनः ग्रीष्म के साथ-ही-साथ तुम्हारा परिवर्त्तन देखने में भी दुःसह होता है। सूर्य भगवान् की अविश्राम तप्त किरणें लूह का सन्नाटा मारते हुए झपट, तेज-पूरित उष्ण निदाघ, कुसुमावली-पूरित वृक्षों का मुरझाना, नदियों का शुष्क होते हुए मन्द प्रवाह; धरणीतल पर की अविरल शून्यता, विचित्र प्रभाव उत्पन्न करती है!

परन्तु प्रकृति! तुम ग्रीष्म में भी अपनी नष्टप्राय वासंतिक शोभा को रजनी में एक बार उद्दीप्त कर देती हो! वेही शुष्क तथा मन्दवाहिनी नदियाँ, वे ही उच्च-प्रासाद-वेष्टित नगरावली तथा सुरम्य पर्वत-तटी, जो दिनकर के तेज-पूरित दिन में दुर्दर्शनीय हो रहे थे, कुमुदिनीनायक की सुधाप्लावित किरणों से रजत-मार्जित होने से, कैसे सुन्दर तथा मनोहारी दृश्य में परिवर्त्तित हो जाते हैं! और वही विषम प्रचंड उष्णवायु, जो कि शरीर को झुलसाए देती थी, चन्द्रकिरण के स्पर्श से कुछ शीतल हुआ जाता है। यह सब क्या है? केवल तुम्हारा ही अनियमित स्वरूप है।

अरे कहाँ निर्मलचन्द्र, कहाँ यह श्याम-सघन घन, कहाँ सुधा-कण-समान विकीर्ण तारागण का मन्द प्रकाश, और कहाँ यह सौदामिनी-माला का बारम्बार चमकना! कहाँ दिवाकर-तेज में वृक्षों की उदासीनता और कहाँ मेघावली के जलसिञ्चन से पत्रपुञ्ज में हरियाली। वर्षा-ऋतु में भी प्रकृति का कैसा सुन्दर तथा मनोहर दृश्य होता है! नवीन मेघमालाच्छादित गगन-मण्डल में दुर्जय वारिद-रूपी दानव के असित शरीर पर इन्द्र के वज्रपात से चिनगी छिटकने के समान विद्युल्लता का बारम्बार चमकना तथा सघन वृक्षाच्छादित हरित पर्वत-श्रेणी, सुन्दर निर्मल जल-पूरित नदियों का हरियाली में छिपते हुए वहना, कतिपय स्थानों से प्रकटरूप से वेगसहित प्रवाह, हृदय की चञ्चल धारा को अपने साथ बहाए लिए जाता है!

मयूरों का उच्च क-म्ब-शिखर पर बैठे हुए कलनाद, कोकिल गण का कलरव, झिल्ली-समूह के झनकार के साथ पवन-वेग से गुञ्जित तथा कम्पित वृक्षावली शिर हिलाकर चित्त को अपनी ओर बुलाये लेती है ? तदुपरान्त सघन बुन्दियों की अविरल धारा; क्षितिज पर्यन्त हरियाली, रुकते हुए वर्षा-जल की श्वेत आभा; नेत्रों के सामने कैसा सुन्दर दृश्य उपस्थित करनी है ! तुम्हारा स्वरूप मनुष्य की कल्पना में नहीं आ सकता। पावस निशा में तुम्हारा वह भयावह दृश्य हृदय को कम्पायमान करता है। गम्भीर तमावृत्त संसार, मेघाच्छन्न आकाश से सौदामिनी के चमकने के साथ घोर वज्रपात शब्द, वर्षा का गम्भीर-रव, झिल्लियों की झनकार के साथ-साथ बारम्बार जुगुनू का चमकना हृदय को अधीर किए देता है।

और यह क्या ? देवि ! यह कैसा अद्भुत दृश्य ! कहाँ वह श्यामघन में सौदामिनी-माला, कहाँ स्वच्छ नील-गगन मे पूर्ण चन्द्र ! अहा, यह मुझे ही भ्रम हुआ, यही तो शारदीय स्वरूप है ! वह देखो— नगरों की सीमा के बाहर तथा नदी के तट पर कास का विकास और निर्मल जल-पूरित नदियों का मन्द प्रवाह, शारदीय चन्द्र का पूर्ण प्रकाश, सरोवरों मे सरोजगण का विकास, कुछ शीत वायु, छिटकी हुई चन्द्रिका का हरित वृक्ष, उच्च प्रासाद, नदी, पर्वत, कटे हुए खेत तथा मातृ-धरणी पर रजत मार्ज्जित आभास ! वाह ! वाह ! यह कैसा नटी की तरह यवनिका-परिवर्तन ! शीत का हृदय कँपानेवाला वेग, हिमपूरित वायु का सन्नाटा, शस्यक्षेत्र मे मुक्ताफल समान ओस की बूँदें, उन पर प्रभात-सूर्य-किरण की छाया ! यह सब दृश्य कैसा आनन्द देता है। पुनः कृष्णपक्ष के शिशिर शर्वरी मे गम्भीर शीतवायु का प्रचण्ड वेग, गाढ़ान्धकार, जिसमे कि सामने की परिचित वस्तु देखने में भी चित्त भय से काँप जाता है।

यह सब क्या है ? हे देवि ! यह सब तुम्हारी ही आश्चर्यजनक लीला है, इससे तुम्हारे अनन्तं वर्ण-रजित मनोहर रूप को देखकर कौन आश्चर्य-चकित नही हो जाता !



सरोज

संसार-कानन में जितने कुसुम हैं; उनमें सरोज का आसन सबसे ऊँचा है। उसका प्रवेश प्राय: सब देवदुर्लभ स्थानों में है। श्री का विलास-मन्दिर सरोज ही है। यहाँ तक कि बनमाला भी बिना इसके नही बनती। निर्मल नील-सरोवर में तरंग-मालाएँ नृत्य कर रही हैं। सरोज का सुन्दर विकास देखकर, मधुकर मलयानिल से दौड़-दौड़कर यही कहता है कि—"मित्र, तुम कहाँ थे, तुम्हारे बिना इस नव-प्रफुल्लित सरोज का आनन्द नही मिलता, क्या तुम मलय से ही संतुष्ट हो गये ? पर यह नहीं जानते कि तोषामोदकारों ने तुम्हारा नाम मलयानिल रख दिया है. मित्र ! वास्तव में तुम्हारा नाम दक्षिण पवन है, तुम्हें किसी एक के अनुकूल न होना चाहिए। और यह भी तुम नहीं जानते कि सरोज-सौरभ के बिना तुम्हारी गति धीर न होगी; जब तक तुम सरोज-पराग-धूलि-धूसर न होगे, तब तक तुम यों ही दौड़ा करोगे !"

वास्तव में मधुकर का कथन सत्य है। यही समझकर तो पण्डितराज ने सरोज और पवन में मैत्री करा दी है, और उसी का अनुमोदन करते हुए कहा भी है—

अयि दलदरविन्द स्यन्दमानं मरन्दं
तव किमपि लिहन्तो मंजु गुंजन्तु भृंगाः।
दिशि-दिशि निरपेक्षस्तावकीनं विवृण्वन्
परिमलमयमन्यो बान्धवो गन्धवाहः॥

अहा, जिस समय प्रभात की पहिली किरण प्रशान्त गगन-सागर मे दिखाई देती है, उसी समय सहस्रदल सरोज सहस्रकर की एक-एक किरण के साथ अपनी संवर्तिकाओं को प्रसारित करता है। उस समय गणना करते हुए गणितज्ञों के समान वह भी ग्रहों में अपनी गति दिखाता है और सुरसिक मधुकरगण का तो वह आधार है, क्योंकि कुसुम-कानन मे जैसा कमल उसे प्यारा है, वैसा अन्य नही। अहा ! विरह-विधुर मधुकर का चित्र किसी कवि ने कैसा अच्छा खीचा है—

निरानन्दः कौन्दे मधुनि विधुरो बालबकुले
न साले सालम्बे लवमपि लवंगे न रमति।
प्रियंगौ नासंगं क्षणमपि न चूते विचरति
स्मरं लक्ष्मीलीलाकमलमधुपानं मधुकरः॥

महाकवि कालिदास ने तो सरोज को इतना उच्च आसन दिया है कि दिवाकर

को भी कहीं-कहीं उसे अपनी ऊपर की किरणों से प्रबोधित करना पड़ता है; क्योंकि उन्होंने कहा है कि—

सप्तर्षि हस्तावचितावशेषा—
ण्यधो विवस्वान् परिवर्धमानः ॥
पद्मा नियस्याग्र सरोरुहाणि
प्र बो ध य त्यू र्ध्व मु खै र्म यू खैः ॥

सरोज ! साहित्य-सरोवर की तुम एक सुखद समीपस्थ सामग्री हो, कवि लोग तुम्हें इसीलिए नाना अलंकारो से सुसज्जित कर अहर्निश तुम से खेला करते हैं। वास्तव में तुम कवि कल्पना के कल्पद्रुम-कुसुम हो, मधुकर से अधिक कवि-गण तुम्हारे पराग-कण से रंजित रहते है। सरोज ! यदि तुम सरोवर मे न होते, तो जल-क्रीडा के समय मे कोई रमणी अपना मुख कैसे छिपा सकती, और भारवि को कौन-सी दूसरी सामग्री ऐसे कुहक रचने के लिए मिल सकती—

सरोजपत्रे नु विलीनषट्पदे,
विलोलदृष्टेः स्विदमूविलोचने।
शिरोरुहाः स्विन्नतपक्ष्मसंतते—
द्विरेफवृन्दं नु निशब्दनिश्चलम् ॥
अगूढहास स्फुट दन्तकेसरं,
मुखं स्विदेतद्विक सन्नुपंकजम्।
इति प्रलीनां नलिनीवने सखी,
विदां वभूवुः सुचिरेण योषितः ॥

इन पद्यो मे भारवि ने ऐसा इन्द्रजाल रचा है कि वास्तव मे उस सरोज-वन मे रमणी का मुखमण्डल पहचानने मे सखियो को देर हो सकती है।

सरोज ! चञ्चल तरंगो मे नृत्य करते हुए जब तुमने 'माघ' का हृदय हरण कर लिया था, तब वह भी तुम्हारी प्रशंसा करने से वंचित न रह सके और तभी उन्होने कहा कि—

कान्तायाः कुवलयमप्यपास्तयक्ष्णोः
शोभाभिर्न मुखरुचाहमेक एव।
संहर्षादलिविरुतैरितीवगार्य—
ल्लोलोर्यौ सरसि महोत्पलं ननर्त ॥

सरोज ! साहित्य-सरोवर के सुन्दर सौरभित सरोज ! सौन्दर्यमयी सुन्दरियों के चरण से लेकर, नेत्र, मुख, आदि को उपमा के लिए, कवियो के समीपस्थ सामग्री

तुम्हीं हो, और श्रीहर्ष ने तुम्हे सहर्ष सम्राट् बनाया है, जैसा कि इस श्लोक से व्यक्त होता है कि—

व्यधत्त धाता बदनाब्जमस्याः
सम्राजमम्भोजकुलेऽखिलेपि ।
सरोजराजौ सृजतोऽदसीयां
नेत्राभिघेयावत एव सेवाम् ।।

तब फिर तुम्हारे गुणो का उल्लेख हम कहाँ तक कर सकते है ? तुमसे बढ़कर संसार-कानन में अन्य कौन कुसुम है ?



भक्ति

मनुष्य जब आध्यात्मिक उन्नति करने लगता है, तब उसके चित्त मे नाना प्रकार के भाव उत्पन्न होते है, और उन्ही भावों के पर्यालोचन मे उसके हृदय मे एक अपूर्व शक्ति उत्पन्न होती है, उसे लोग 'चिन्ता' कहते है। वह चिन्तित मनुष्य संसार मे किसी "अघटन घटना घटीयसी" शक्ति की लीला देखत-देखते मुग्ध होकर उस शक्तिमान की खोज करता है। जब वह भ्रमता है, तब उसे उन पथदर्शको की मधुर सान्त्वनामयी वाणी कर्णगोचर होती है—

"श्रद्धाभक्तिज्ञानयोगादवैहि"

अस्तु ! यदि उस सर्व-शक्तिमान को कोई ऊँची वस्तु मान लिया जाय, तो भक्ति उसे पाने का दूसरा सोपान है. नही तो ऐसा ही मान लिया जाय कि किसी निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचने की, एक सहारे की शृंखला है, जिसमे कि ये चार कड़ियाँ है। इनमे ऐसा घना सम्बन्ध है कि वह किसी प्रकार से नही छूट सकता। मानव-सृष्टि धारा-प्रवाह की तरह उस महासागर की ओर जा रही है। उस धारा-प्रवाह मे श्रद्धा जल है, भक्ति वेग है तथा उसका गमन ही ज्ञान है, और उसका योग हो जाना ही महासम्मेलन है। 'श्रद्धा' 'भक्ति' मे केवल नामान्तर है, श्रद्धा का पूर्ण स्वरूप भक्ति है, भक्ति बिना पहचाने होती नही, और बिना मिले जाना भी नही जाता, इसी से कहते है कि इनका परस्पर घना सम्बन्ध है। इसे नामान्तर अथवा भाव-भेद भी मान सकते है।

श्रद्धा के परिपाक मे भक्ति मे उसे मनुष्य कहता है -"सत्यं"। जब उसके मंगलमय स्वरूप को देखता है, तब उसके मुख मे अनायास ही —"शिव" – निकलता है, पुन. मनुष्य उस अलौकिक सौन्दर्य से आनन्दित होकर कहता है—

"सत्यं शिवं सुन्दरम्।"

भक्ति क्या है ? भक्ति ईश्वर मे अनन्य प्रेम को कह सकते है और भक्ति को परीक्षा ज्ञान भी कह सकते है। ज्ञान के बिना मुक्ति नही होती। किन्तु मुक्ति से क्या है ? मुक्ति से मनुष्य ईश्वर मे मिल सकता है और भक्ति से मनुष्य ईश्वर को अपने पास बुला सकता है। प्रजा यदि राज-राजेश्वर के समीप तक जाय, तो उसे आनन्द मिलता है, किन्तु यदि राजराजेश्वर किसी प्रजा के घर पर जायँ, तो उसे कितना आनन्द मिलेगा ? यह विचारणीय है।

भक्तों की कथा को पढ़िए, क्या विश्वम्भर उनके आर्त्तनाद को सुनकर देर कर सकते थे ? नहीं, कदापि नही। अतः हम कह सकते है कि भक्ति से मनुष्य ईश्वर को बुला सकता है, और जब वह हमारे पास आ सकते हैं, तो कौन ऐसी वस्तु है कि जो वह हमको नही दे सकते ? हाँ, भक्तिरूपी कल्पवृक्ष मे अविश्वास का घुन न लगने देना चाहिए।

निराशा मे, अशान्ति मे, सुख मे, उस अपूर्व सुन्दर चन्द्र की भक्तिरूपी किरण तुम्हें शान्ति प्रदान करेगी। और यदि तुम्हे कोई कष्ट हो, तो उस अशरण-शरण-चरण में लोटकर रोओ, वे अश्रु तुम्हे सुधा के समान सुखद होंगे और तुम्हारे सब संताप को हर लेगे।

उस चरण-सरोज के सौरभ मे तुम्हारी मस्तिष्क-निर्बलता दूर हो जायगी, तुम्हारा घ्राण अपूर्व सुगन्ध से आमोदित हो जायगा। तुम्हारे पास चिन्ता, निराशा, कभी फटकने न पावेगी। तुमको किसी की अपेक्षा न करनी पड़ेगी।

हम जो करते है, जो सुनते है, जो देखते है, जो समझते है, सब वही है। जब यह बुद्धि हो जाती है, तब मनुष्य को आनन्द-ही-आनन्द मिलता है, संसार आनन्दमय प्रतीत होता है। विशेष क्या लिखं, महर्षि उपमन्यु की उग्र तपस्या से प्रसन्न होकर, परमेश्वर ने स्वयं उपमन्यु से पूछा

"क वा कामं ददाम्यद्य ब्रूहि यद् वत्स ! कांक्षसे"

तब प्रेम सहित गद्‌गद होकर विनीत स्वर मे--

"प्राञ्जलिः स उवाचेदं त्वयि भक्तिर्दृढ़ास्तु मे।"



कवि निराला की "गीतिका" पर अभिमत

निराला जी, हिन्दी-कविता की नवीन धारा के कवि है और साथ ही भारती मंदिर के गायक भी हैं। उनमें केवल पिक की पंचम पुकार ही नही, कनेरी की-सी एक ही मीठी तान नही, अपितु उनकी गीतिका में सब स्वरों का समारोह है। उनकी स्वर-साधना हृदय के ग्रामों का झंकृत कर सकती है कि नही, यह तो कवि के स्वरों के साथ तन्मय होने पर ही जाना जा सकता है।

"गीतिका" हिन्दी के लिये सुंदर उपहार है। उसके चित्रो की रेखाये पुष्ट—वर्णो का विकास भास्वर है। उसका दार्शनिक पक्ष गंभीर और व्यंजना मूर्तिमती है। आलम्बन के प्रतीक, उन्ही के लिये अस्पष्ट होंगे, जिन्होंने यह नहीं समझा है कि रहस्यमयी अनुभूति, युग के अनुसार अपने लिये विभिन्न आधार चुना करती है। केवल कोमलता ही कवित्व का मापदंड नही है। निरालाजी ने तृम्ण और ओज, सौन्दर्य-भावना और कोमल-कल्पना का जो माधुर्यमय संकलन किया है वह उनकी कविता में शक्ति-साधना का उज्ज्वल परिचायक है।

"अमिय-गरल शशि सीकर-रविकर राग-विराग भरा प्याला पीते हैं जो साधक उनका प्यारा है...." यह मतवाला के मुख-पृष्ठ पर छपा हुआ हिन्दी में उनका जो सबसे पहला छंद मैंने देखा है, वह आज इन कई बरसों के बाद भी कवि के जीवन में, रचना में खुली आँखों और निर्विकार हृदय से देखने वाले को, स्पष्ट और विकसित दीख पड़ेगा।



काव्य और कला

हिंदी मे साहित्य की आलोचना का दृष्टिकोण बदला हुआ-सा दिखाई पड़ता है। प्राचीन भारतीय साहित्य के आलोचकों की विचारधारा जिस क्षेत्र में काम कर रही थी, वह वर्त्तमान आलोचनाओं के क्षेत्र से कुछ भिन्न था। इस युग की ज्ञान-संबंधिनी अनुभूति में भारतीयों के हृदय पर पश्चिम की विवेचनशैली का व्यापक प्रभुत्व क्रियात्मक रूप में दिखायी देने लगा है; किंतु साथ-ही-साथ ऐसी विवेचनाओं में प्रतिक्रिया के रूप में भारतीयता की भी दुहाई सुनी जाती है, परिणाम में, मिश्रित विचारों के कारण हमारी विचारधारा अव्यवस्था के दलदल मे पडी रह जाती है। काव्य की विवेचना में प्रथम विचारणीय विषय उसका वर्गीकरण हो गया है और उसके लिए संभवतः हेगेल के अनुकरण पर काव्य का वर्गीकरण कला के अंतर्गत किया जाने लगा है। यह वर्गीकरण परंपरागत विवेचनात्मक जर्मन दार्शनिक शैली का वह विकास है, जो पश्चिम में ग्रीस की विचारधारा और उसके अनुकूल सौंदर्य-बोध के सतत अभ्यास से हुआ है। यहाँ उसकी परीक्षा करने के पहले यह देखना आवश्यक है कि इस विचार-धारा और सौंदर्य-बोध का कोई भारतीय मौलिक उद्गम है या नही।

यह मानते हुए कि ज्ञान और सौंदर्य-बोध विश्वव्यापी वस्तु हैं, इनके केंद्र देश, काल और परिस्थितियों से तथा प्रधानतः संस्कृति के कारण भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखते हैं। खगोलवर्त्ती ज्योति-केंद्रों की तरह आलोक के लिए इनका परस्पर संबंध हो सकता है। वही आलोक शुक्र की उज्ज्वलता और शनि की नीलिमा में सौंदर्य-बोध के लिए अपनी अलग-अलग सत्ता बना लेता है।

भौगोलिक परिस्थितियाँ और काल की दीर्घता तथा उसके द्वारा होने वाले सौंदर्य-संबंधी विचारों का सतत अभ्यास एक विशेष ढंग की रुचि उत्पन्न करता है, और वही रुचि सौंदर्य-अनुभूति की तुला बन जाती है, इसी से हमारे सजातीय विचार बनते हैं और उन्हें स्निग्धता मिलती है। इसी के द्वारा हम अपने रहन-सहन, अपनी अभिव्यक्ति का सामूहिक रूप से संस्कृत रूप में प्रदर्शन कर सकते हैं। यह संस्कृति विश्ववाद की विरोधिनी नहीं; क्योंकि इसका उपयोग तो मानव-समाज में, आरंभिक प्राणित्व-धर्म में सीमित मनोभावों को सदा प्रशस्त और विकासोन्मुख बनाने के लिए होता है। संस्कृति मंदिर, गिरजा और मसजिद-विहीन प्रांतों में अंतः-

प्रतिष्ठित होकर सौंदर्य-बोध की बाह्य सत्ताओं का सृजन करती है। संस्कृति का सामूहिक चेतनता से, मानसिक शील और शिष्टाचारों से, मनोभावों से मौलिक संबंध है। धर्मों पर भी इसका चमत्कारपूर्ण प्रभाव दिखाई देता है। ईरानी खलीफाओं के ही कला और विद्या-प्रेम तथा सौंदर्यानुभूति ने —जो उनकी मौलिक संस्कृति द्वारा उनमें विद्यमान थी—मरुभूमि के एकेश्वरवाद को सौंदर्य से सजा कर स्पेन और ईजिप्ट तक उसका प्रचार किया, जिसमे वर्त्तमान यूरोपीय सौंदर्य-बोध अपने को अछूता न रख सका। **संस्कृति सौंदर्य-बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है।**

इसलिए साहित्य के विवेचन में भारतीय संस्कृति और तदनुकूल सौंदर्यानुभूति की खोज अप्रासंगिक नहीं, किंतु आवश्यक है। साहित्य में सौंदर्य-बोध-संबंधी रुचि-भेद का वह उदाहरण बड़ा मनोरंजक है, जिसमें जहाँगीर ने शराब पीते हुए खुसरो के उस पद्य के गाने पर कव्वाल को पिटवा दिया था, जिसका तात्पर्य एक खंडिता का अपने प्रेमी के प्रति उपालंभ था। जहाँगीर ने उस उक्ति को प्रेमिका के प्रति समझ कर अपना क्रोध प्रकट किया था। मौलाना ने समझाया कि खुसरो भारतीय कवि है, भारतीय साहित्यिक रुचि के अनुसार उसने यह स्त्री का उपालंभ पुरुष के प्रति वर्णन किया है, तब जहाँगीर का क्रोध ठंढा हुआ। यह रुचि-भेद सांस्कृतिक है। यहाँ पर यह विवेचन नहीं करना है कि ऐसा उपालंभ पुरुष को स्त्री के प्रति देना चाहिए या पुरुष को स्त्री के प्रति; किंतु यह स्पष्ट देखा जाता है कि भारतीय साहित्य में पुरुष-विरह विरल है और विरहिणी का ही वर्णन अधिक है। इसका कारण है भारतीय दार्शनिक-संस्कृति। पुरुष सर्वथा निर्लिप्त और स्वतंत्र है। प्रकृति या माया उसे प्रवृत्ति या आवरण मे लाने की चेष्टा करती है; इसलिए आसक्ति का आरोपण स्त्री में ही है। 'नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायम् नपुंसकः' मानने पर भी व्यवहार में ब्रह्म पुरुष है, माया स्त्री-धर्मिणी। स्त्रीत्व मे प्रवृत्ति के कारण नैसर्गिक आकर्षण मानकर उसे प्रार्थिनी बनाया गया है।

यदि हम भारतीय रुचि-भेद को लक्ष्य में न रखकर साहित्य की विवेचना करने लगेंगे, तो जहाँगीर की तरह प्रमाद कर बैठने की आशंका है। तो भी इस प्रसंग में यह बात न भूलनी चाहिए कि भारतीय संस्कृत वाङ्मय में समय-चक्र के प्रत्यावर्त्तनों के द्वारा इस रुचि-भेद में परिवर्त्तन का आभास मिलता है। ऊपर की कही हुई संभावना या साहित्यिक सिद्धान्त मायावाद के प्रबलता प्राप्त करने के पीछे का भी हो सकता है; क्योंकि कालिदास ने रति का करुण विप्रलंभ वर्णन करने के साथ-ही-साथ अज का भी विरह-वर्णन किया है और मेघदूत तो विरही यक्ष की करुण-भाव-व्यंजना से परिपूर्ण एक प्रसिद्ध अमर कृति है।

इस प्रकार काल-चक्र के महान् प्रत्यावर्तनों से पूर्ण भारतीय वाङ्मय की सुरुचि-संबंधी विचित्रताओं के निदर्शन बहुत-से मिलेंगे। उन्हें बिना देखे ही अत्यंत शीघ्रता

में आजकल, अमुक वस्तु अभारतीय है अथवा भारतीय संस्कृति सुरुचि के विरुद्ध है, कह देने की परिपाटी चल पड़ी है। विज्ञ समालोचक भी हिंदी की आलोचना करते-करते 'छायावाद' 'रहस्यवाद' आदि वादों की कल्पना करके उन्हें विजातीय, विदेशी तो प्रमाणित करते ही हैं, यहाँ तक कहते हुए लोग सुने जाते हैं कि वर्त्तमान हिंदी-कविता में अचेतनों में, जड़ों मे, चेतनता का आरोप करना हिंदी-वालों ने अँगरेजी से लिया है; क्योंकि अधिकतर आलोचकों के गीत का टेक यही रहा है कि हिंदी में जो कुछ नवीन विकास हो रहा है, वह सब बाह्य वस्तु (Foreign element) है। कही अँगरेजी में उन्होंने देखा कि 'गाड इज लव'। फिर क्या ? कही भी हिंदी में ईश्वर के प्रेम-रूप का वर्णन देख कर उन्हें अँगरेजी के अनुवाद या अनुकरण की घोषणा करनी पडती है। उन्हे क्या मालूम कि प्रसिद्ध वेदात ग्रंथ पंचदशी में कहा है 'अयमात्मा परानंदः परप्रेमास्पद यतः'। वे भूल जाते है कि आनंदवर्द्धन ने हजारो वर्ष पहले लिखा है—

भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्,
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतंत्रतया।

ऐसे ही कुछ सिद्धात पिछले काल के अलंकार और रीति-ग्रन्थो के अस्पष्ट अध्ययन के द्वारा और भी बन रहे है। कभी यह सुना जाता है कि भारतीय साहित्य में दुःखांत और तथ्यवादी साहित्य अत्यंत तिरस्कृत है। शुद्ध आदर्शवाद का सुखांत प्रबंध ही भारतीय संस्कृति के अनुकूल है। तब मानो ये आलोचकगण भारतीय संस्कृति के साहित्य-संबंधी दो आलोकस्तंभों, महाभारत और रामायण की ओर से अपनी आँखें बंद कर लेते है। ये सब भावनाएँ साधारणतः हमारे विचारों की संकीर्णता और प्रधानतः अपनी स्वरूप-विस्मृति से उत्पन्न है। सांस्कृतिक सुरुचि का समय-समय पर हुए विशेष परिवर्तनों के साथ, विस्तृत और पूर्ण विवरण देना यहाँ मेरा उद्देश्य नही है।

हमारे यहाँ इसका वर्गीकरण भिन्न रूप मे हुआ। काव्य-मीमासा से पता चलता है कि भारत के दो प्राचीन महानगरों में दो तरह की परीक्षाएँ अलग-अलग थी। काव्यकार-परीक्षा उज्जयिनी मे और शास्त्रकार-परीक्षा पाटलिपुत्र में होती थी। इस तरह भारतीय ज्ञान दो प्रधान भागों मे विभक्त था। काव्य की गणना विद्या में थी और कलाओं का वर्गीकरण उपविद्या मे था। कलाओं का कामसूत्र में जो विवरण मिलता है, उसमें संगीत और चित्र तथा अनेक प्रकार की ललित कलाओं के साथ-साथ काव्य-समस्या-पूरण भी एक कला है, किन्तु वह समस्यापूर्ति (श्लोकस्य समस्यापूरणम् क्रीड़ार्थम् वादार्थम् च) कौतुक और वाद-विवाद के कौशल के लिए होती थी। साहित्य में वह एक साधारण श्रेणी का कौशल-मात्र समझी जाती थी।

कला से जो अर्थ पाश्चात्य विचारो मे लिया जाता है, वैसा भारतीय दृष्टिकोण मे नही।

ज्ञान के वर्गीकरण मे पूर्व और पश्चिम का सास्कृतिक रुचि-भेद विलक्षण है। प्रचलित शिक्षा के कारण आज हमारी चितनधारा के विकास मे पाश्चात्य प्रभाव ओतप्रोत है, और इसलिए हम बाध्य हो रहे है अपने ज्ञान-सबधी प्रतीको को उसी दृष्टि से देखने के लिए। यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के विवेचन मे हम केवल निरुपाय होकर ही प्रवृत्त नही होते, किंतु विचार-विनिमय के नये साधनो की उपस्थिति के कारण ससार की विचार-धारा से कोई भी अपने को अछूता नही रख सकता। इस सचेतनता के परिणाम मे हमे अपनी सुरुचि की ओर प्रत्यावर्त्तन करना चाहिए क्योकि हमारे मौलिक ज्ञान-प्रतीक दुर्बल नही है।

हिंदी मे आलोचना कला के नाम मे आरभ होती है। और साधारणत हेगेल के मतानुसार मूर्त्त और अमूर्त्त विभागो के द्वारा कलाओ मे लघुत्व और महत्व समझा जाता है। इस विभाजन मे सुगमता अवश्य है, किंतु इसका ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विवेचन होने की सभावना जैसी पाश्चात्य साहित्य मे है, वैसी भारतीय साहित्य मे नही। उनके पास अरस्तू से लेकर वर्त्तमान काल तक की सौदर्यानुभूति संबधिनी विचार-धारा का क्रमविकास और प्रतीको के साथ साथ उनका इतिहास तो है ही, सबसे अच्छा साधन उनकी अविच्छिन्न सास्कृतिक एकता भी है। हमारी भाषा के साहित्य मे वैसा सामजस्य नही है। बीच-बीच मे इतने अभाव या अधकार-काल है कि उनमे कितनी ही विरुद्ध सस्कृतियाँ भारतीय रगस्थल पर अवतीर्ण और लुप्त होती दिखाई देती हैं, जिन्होने हमारी सौदर्यानुभूति के प्रतीको को अनेक प्रकार से विकृत करने का ही उद्योग किया है :

यो तो पाश्चात्य वर्गीकरण मे भी मतभेद दिखलाई पडता है। प्राचीन काल मे ग्रीस का दार्शनिक प्लेटो कविता का सगीत के अतर्गत वर्णन करता है, किंतु वर्त्तमान विचार-धारा मूर्त्त और अमूर्त्त कलाओ का भेद करते हुए भी कविता को अमूर्त्त संगीत-कला से ऊँचा स्थान देती है। कला के इस तरह विभाग करने वालो का कहना है कि मानव-सौदर्य-बोध की सत्ता का निदर्शन तारतम्य के द्वारा दो भागो मे किया जा सकता है। एक स्थूल और बाह्य तथा भौतिक पदार्थो के आधार पर ग्रथित होने के कारण निम्न कोटि की, मूर्त्त होती है। जिसका चाक्षुष प्रत्यक्ष हो सके, वह मूर्त्त है। गृह-निर्माण-विद्या, मूर्त्तिकला और चित्रकारी, ये कला के मूर्त्त विभाग है और क्रमशः अपनी कोटि मे ही सूक्ष्म होते-होते अपना श्रेणी-विभाग करती हैं।

संगीत-कला और कविता अमूर्त्त कलाएँ है। सगीत-कला नादात्मक है और कविता उससे उच्च कोटि की अमूर्त्त कला है। काव्य-कला को अमूर्त्त मानने मे जो

मनोवृत्ति दिखलाई देती है वह महत्व उसकी परंपरा के कारण है। यों तो साहित्य-कला उन्हीं तर्कों के आधार पर मूर्त्त भी मानी जा सकती है; क्योंकि साहित्य-कला अपनी वर्णमालाओं के द्वारा प्रत्यक्ष मूर्त्तिमती है। वर्णमातृका की विशद कल्पना तंत्र-शास्त्रों में बहुत विस्तृत रूप से की गई है। 'अ' से प्रारंभ होकर 'ह' तक के ज्ञान का ही प्रतीक 'अहं' है। ये जितनी अनुभूतियाँ हैं, जितने ज्ञान हैं, 'अहं' के—आत्मा के हैं। वे सब वर्णमाला के भीतर से ही प्रकट होते हैं। वर्णमालाओं के संबंध में अनेक प्राचीन देशों की आरंभिक लिपियों से यह प्रमाणित है कि वह वास्तव में चित्र-लिपि है। तब तो यह कहना भ्रम होगा कि चित्रकला और वाङ्मय भिन्न-भिन्न वर्ग की वस्तुएँ हैं। इसलिए अन्य सूक्ष्मताओं और विशेषताओं का निदर्शन न करके केवल मूर्त्त और अमूर्त्त के भेद से साहित्य-कला की महत्ता स्थापित नहीं की जा सकती।

संभव है कि इसी अमूर्त्त संबंधिनी महत्ता से प्रेरित होकर प्लेटो ने प्राचीन काल में कविता को संगीत के अंतर्गत माना हो। उनकी विचार-पद्धति में कविता की आवश्यकता संगीत के लिए है। संभवतः अमूर्त्त संगीत आभ्यंतर और मूर्त्त शरीर बाह्य इन्हीं दोनों आधारों पर कला की नीव ग्रीस के विचारकों ने रक्खी; सो भी बिलकुल भौतिक दृष्टि से—अध्यात्म का उसमें संपर्क नहीं। इसीलिए प्लेटो का शिष्य अरस्तू कला को अनुकरण (Imitation) मानता है। लोकोत्तर आनंद की सत्ता का विचार ही नहीं किया गया। उसे तो शुद्ध दर्शन के लिए सुरक्षित रक्खा गया।

कौटिल्य की तरह लोकोपयोगी राजशास्त्र को प्रधान मानते हुए व्यक्तिगत जीवन के स्वास्थ्य के लिए प्लेटो संगीत और व्यायाम को मुख्य उपादेय विद्या की तरह ग्रहण करता है। संगीत का मन से और व्यायाम का शरीर से सीधा संबंध जोड़कर वह लोक-यात्रा की उपयोगी वस्तुओं का संकलन करता है।

वर्त्तमान-काल में सौंदर्य-बोध की दृष्टि से यह वर्गीकरण अपना अलग विचार-विस्तार करने लगा है। इसके आविर्भावक हेगेल के मतानुसार कला के ऊपर धर्म-शास्त्र का और उससे भी ऊपर दर्शन का स्थान है। इस विचार-धारा का सिद्धांत है कि मानव सौंदर्य-बोध के द्वारा ईश्वर की सत्ता का अनुभव करता है। फिर धर्म-शास्त्र के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति-लाभ करता है। फिर शुद्ध तर्क ज्ञान से उससे एकीभूत होता है।

यह भी विचार का एक कोटिक्रम हो सकता है; परंतु भारतीय विचार-धारा इस संबंध में—जो अपना मत रखती है, वह विलक्षण और अभूतपूर्व है। काव्य के संबंध में यहाँ की प्रारंभिक और मौलिक मान्यता कुछ दूसरी थी। उपनिषद् में कहा है तदेतत् सत्यम् मंत्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायाम् बहुधा संततानि। कवि और ऋषि इस प्रकार पर्यायवाची शब्द प्राचीन काल में माने जाते थे। 'ऋषयो

मंत्रद्रष्टारः'। ऋषि लोग या मंत्रों के कवि उन्हें देखते थे। यही 'देखना' या दर्शन कवि की महत्ता थी।

इतना विराट् वाङ्मय और प्रवचनों का वर्णमाला में स्थायी रूप रखते हुए भी कविता शुद्ध अमूर्त्त नही कही जा सकती। मूर्त्त और अमूर्त्त के संबंध में उपनिषद् में कहा है—द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्त चैवामूर्त्तं च मर्त्यं चामृतं च—(बृहदारण्यक—२ अ०—३ ब्रा० १)

मूर्त्त, नश्वर और अमूर्त्त, अविनश्वर दोनों ही ब्रह्म के रूप हैं। वायु और आकाश अमूर्त्त, अविनश्वर है; इनसे इतर मूर्त्त और नश्वर (परिवर्त्तनशील) हैं। इस तरह मूर्त्त और अमूर्न का भौतिक भेद मानते हुए भी रूप दोनों में ही माना गया है। तब यह विश्वास होता है कि हमारे यहाँ रूप की साधारण परिभाषा से विलक्षण कल्पना है। क्योंकि बृहदारण्यक में लिखा है :—

—स आदित्यः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति चक्षुपीति कस्मिंन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति रूपेष्विति चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदय इति होवाच हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि—(३ अ० ९ ब्रा० २०)

वह आदित्य आलोक-पुज आँखो मे प्रतिष्ठित है। आँखों की प्रतिष्ठा रूप मे और रूप-ग्रहण का सामर्थ्य, उसकी स्थिति, हृदय मे है। यह निर्वचन मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों मे रूपत्व का आरोप करता है, क्योंकि चाक्षुष प्रत्यक्ष से इतर जो वायु और अंतरिक्ष अमूर्त्त रूप है, उनका भी रूपानुभव हृदय ही करता है। इस दृष्टि से देखने से मूर्त्त और अमूर्त्त की सौंदर्य-बोध-संबंधी दो धारणाएँ अधिक महत्त्व नही रखती। सीधी बात तो यह हैं कि सौदर्य-बोध बिना रूप के हो ही नही सकता। सौदर्य की अनुभूति के साथ-ही-साथ हम अपने सवेदन को आकार देने के लिए उनका प्रतीक बनाने के लिए बाध्य है। इसलिए अमूर्त्त सौदर्य-बोध कहने का कोई अर्थ ही नही रह जाता।

ग्रीक लोगों के सौदर्य-बोध मे जो एक क्रम-विकास दिखलाई पड़ता है, उसका परिपाक संभवतः पश्चिम मे इस विचार-प्रणाली पर हुआ है कि मानव-स्वभाव सौदर्यानुभूति के द्वारा क्रमविकास करता है और स्थूल से परिचित होते-होते सूक्ष्म की ओर जाता है। इसमे स्वर्ग और नरक का, जगत् की जटिलता से परे एक पवित्रता और महत्त्व की स्थापना का मानसिक उद्योग दिखलाई देता है। और, इसमें ईसाई धार्मिक संस्कृति ओत-प्रोत है। कलुषित और मूर्त्त संसार निम्नकोटि में, अमूर्त्त और पवित्र ईश्वर का स्वर्ग इससे परे और उच्च कोटि मे।

भारतीय उपनिपदों का प्राचीन ब्रह्मवाद इस मूर्त्त विश्व को ब्रह्म से अलग निकृष्ट स्थिति मे नही मानता। वह विश्व को ब्रह्म का स्वरूप बनाता है -

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् ब्रह्म पश्चाद्दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृत ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।। मुण्डकोप० २

आगमों में भी शिव को शक्ति-विग्रही मानते है। और यही पक्की अद्वैत-भावना कही गई है; अर्थात्—पुरुष का शरीर प्रकृति है। कदाचित् अर्द्धनारीश्वर की संश्लिष्ट-कल्पना का मूल भी यही दार्शनिक विवेचन है। संभवत. पिछले काल में मनुष्य की सत्ता को पूर्ण मानने की प्रेरणा ही भारतीय अवतारवाद की जननी है। कला के ईसाई आलोचक हेवेल ने संभवतः इसीलिए कहा है कि—The Hindu draws no distinction between what is sacred and profane

पूर्व, भारत से पश्चिम का यह मौलिक मतभेद है। यही कारण है कि पश्चिम स्वर्गीय साम्राज्य की घोषणा करते हुए भी अधिकतर भौतिक या Materialistic बना हुआ है और भारत मूर्त्ति-पूजा और पंच-महायज्ञो के क्रिया-काड मे भी अध्यात्म-भाव से अनुप्राणित है।

यही कारण है कि ग्रीस द्वारा प्रचलित पश्चिमी सौंदर्यानुभूति बाह्य को, मूर्त्त को विशेषता देकर उसकी सीमा मे ही उसे पूर्ण बनाने की चेष्टा करती है और भारतीय विचारधारा ज्ञानात्मक होने के कारण मूर्त्त और अमूर्त्त का भेद हटाते हुए बाह्य और आभ्यंतर का एकीकरण करने का प्रयत्न करती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि सौदर्य-बोध मे पाश्चात्य विवेचकों के मतानुसार मूर्त्त और अमूर्त्त-भेद संबंधी कल्पना विवेचन की रीढ बन रही है। जब यह अमूर्त्त के साथ सौदर्य-शास्त्र का संबंध ठहराती है, तो दुर्बलता मे ग्रस्त होने के कारण अपने को स्पष्ट नही कर पाती। इसका कारण यही है कि वे सद्भावात्मक ज्ञानमय प्रतीको को अमूर्त्त सौदर्य कहकर घोषित करते है, जो सौदर्य के द्वारा ही विवेचन किये जाने पर केवल प्रेय तक पहुँच पाते है। श्रेय, आत्म-कल्याण-कल्पना अधूरी रह जाती है।

सत्य की उपलब्धि के लिए ज्ञान की साधना आरंभ होती है। स्वाध्याय बुद्धि का यज्ञ है। कहा भी है—सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च—स्वाध्याय प्रवचन में सत्य का अन्वेषण करो। स्वाध्याय के द्वारा मानव सत् को प्राप्त होता है। हमारे सब बौद्धिक व्यापारो का सत्य की प्राप्ति के लिए सतत उद्योग होता रहता है। वह सत्य प्राकृतिक विभूतियों में, जो परिवर्त्तनशील होने के कारण अनृत नाम से पुकारी जाती है, ओत-प्रोत है। कुछ लोग कह सकते है कि कवि से हम सत्य की आशा न करके केवल सहृदयता ही पा सकते है; किंतु सत्य केवल १+१=२ मे ही नही सीमित है। अनृत को प्राय बढ़ाकर देखने से सत् लघु कर दिया गया है; किंतु सत्य विराट् है। उसे सहृदयता द्वारा ही हम सर्वत्र ओत-प्रोत देख सकते है। उस सत्य के दो लक्षण बताये गये हैं—श्रेय और प्रेय। इसलिए सत्य की अभिव्यक्ति हमारे

वाङ्मय में दो प्रकार से मानी गई है– काव्य और शास्त्र। शास्त्र मे श्रेय का आज्ञात्मक ऐहिक और आमुष्मिक विवेचन होता है और काव्य मे श्रेय और प्रेय दोनों का सामंजस्य होता है। शास्त्र मानव-समाज मे व्यवहृत सिद्धातो के संकलन हैं। उपयोगिता उनकी सीमा है। काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियो का नित्य नया-नया रहस्य खोलने मे प्रयत्नशील है, क्योकि आत्मा को मनोमय, वाङ्मय और प्राणमय माना गया है। अयमात्मा वाङ्मय. प्राणमय· (बृहदारण्यक)। उपविज्ञात प्राण विज्ञात वाणी और विजिज्ञास्य मन है।

इसीलिए कवित्व को आत्मा की अनुभूति कहते हे। मनन-शक्ति और मनन से उत्पन्न हुई अथवा ग्रहण की गई निर्वचन करने की वाक्-शक्ति और उनके सामजस्य को स्थिर करनेवाली सजीवता अविज्ञात प्राणशक्ति, ये तीनो आत्मा की मौलिक क्रियाएँ हैं।

मन सकल्प और विकल्पात्मक है। विकल्प विचार की परीक्षा करता है। तर्क-वितर्क कर लेने पर भी किसी सकल्पात्मक प्रेरणा के ही द्वारा जो सिद्धात बनता है, वही शास्त्रीय व्यापार है। अनुभूतियो की परीक्षा करने के कारण और इसके द्वारा विश्लेषणात्मक होते होते उसमे चारुत्व की, प्रेय की कमी हो जाती है। शास्त्र-संबधी ज्ञान को इमीलिए विज्ञान मान सकते है कि उसके मूल मे परीक्षात्मक तर्कों की प्रेरणा है और उनका कोटि-क्रम स्पष्ट रहता हे।

काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका संबंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया जो वाङ्मय रूप मे अभिव्यक्त होती है, वह नि सदेह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेय और श्रेय दोनो से परिपूर्ण होती है।

इसी कारण हमारे साहित्य का आरभ काव्यमय है। वह एक द्रष्टा कवि का सुदर दर्शन है। संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पर्य है, उसे भी समझ लेना होगा। आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व मे सहमा ग्रहण कर लेती है, काव्य में सकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है। कोई भी यह प्रश्न कर सकता है कि सकल्पात्मक मन की सब अनुभूतियाँ श्रेय और प्रेय दोनो ही से पूर्ण होती हे, इसमे क्या प्रमाण है? किंतु इमीलिए माथ-ही-साथ असाधारण अवस्था का भी उल्लेख किया गया है। असाधारण अवस्था युगो की समष्टि अनुभूतियो मे अतर्निहित रहती है; क्योकि सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नही, वह एक शाश्वत चेतनता है, या चिन्मयी ज्ञान-धारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रो के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से

विद्यमान रहती है। प्रकाश की किरणों के समान भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के दर्पण में प्रतिफलित होकर वह आलोक को सुंदर और ऊर्ज्जस्वित बनाती है।

ज्ञान की जिस मनन-धारा का विकास पिछले काल में परंपरागत तर्कों के द्वारा एक दूसरे के रूप में दिखाई देता है, उसे हेतु विद्या कहते है। किंतु वैदिक-साहित्य के स्वरूप में उषा-सूक्त और नासदीय-सूक्त इत्यादि तथा उपनिषदों में अधिकांश संकल्पात्मक प्रेरणाओं की अभिव्यक्ति हैं। इसीलिए कहा है—तन्मेमनः शिव-संकल्पमस्तु।

कला को भारतीय दृष्टि में उपविद्या मानने का जो प्रसंग आता है उससे यह प्रकट होता है कि यह विज्ञान से अधिक संबंध रखती है। उसकी रेखाएँ निश्चित सिद्धांत तक पहुँचा देती हैं। संभवतः इसीलिए काव्य-समस्या-पूरण इत्यादि भी छंद-शास्त्र और पिगल के नियमों के द्वारा बनने के कारण उपविद्या-कला के अंतर्गत माना गया है। छंदशास्त्र काव्योपजीवी कला का शास्त्र है। इसलिए यह भी विज्ञान का शास्त्रीय विषय है। वास्तुनिर्माण, मूर्त्ति और चित्र शास्त्रीय दृष्टि से शिल्प कहे जाते हैं और इन सबकी विशेषता भिन्न-भिन्न होने पर भी, ये सब एक ही वर्ग की वस्तुएँ हैं।

भवन्ति शिल्पिनो लोके चतुर्धा स्व स्व कर्मभिः।
स्थपितः सूत्रग्राही च वर्धकिस्तक्षकस्तथा॥ (मयमतम्, ५ अध्याय)

चित्र के संबंध में भी—

चित्राभासमिति ख्यातं पूर्वैः शिल्पविशारदैः। (शिल्परत्न, अध्याय १६)

इस तरह वास्तुनिर्माण, मूर्ति और चित्र—शिल्प-शास्त्र के अंतर्गत हैं।

काव्य के प्राचीन आलोचक दंडी ने कला के संबंध में लिखा है—नृत्यगीत-प्रभृतयः कलाकामार्थसंश्रयाः (३-१६२) नृत्य-गीत आदि कलाएँ कामाश्रय कलाएँ हैं। और इन कलाओं की संख्या भी वे चौसठ बताते हैं, जैसा कि कामशास्त्र या तंत्रों में कहा गया है। इत्थं कला चतुःषष्ठि विरोधः साधु नीयताम् (३-१७१)। काव्यादर्श में दण्डी ने कला-शास्त्र के माने हुए सिद्धांतों में प्रमाद न करने के लिए कहा है, अर्थात्—काव्य में यदि इन कलाओं का कोई उल्लेख हो तो उसी कला के मतानुसार। इससे प्रकट हो जता है कि काव्य और कला भिन्न वर्ग की वस्तुएं है। 'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला' (१-१७१ भरत नाट्यम्) की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं—कला गीतवाद्यादिकाः। इसी से गाने-बजाने वालों को अब भी कलावंत कहते हैं।

भामह ने भी जहाँ काव्य का विषय संबंधी विभाग किया है, वहाँ वस्तु के चार भेद मानते हैं—देव-चरित शंसि, उत्पाद्य, कलाश्रय और शास्त्राश्रय। यहाँ भामह का तात्पर्य है कि कला संबंधी विषयों को लेकर भी काव्य का विस्तार होता है।

काव्य का एक विषय कला भी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कला का वर्गीकरण हमारे यहाँ भिन्न रूप से हुआ है।

कलाओं में संगीत को लोग उत्तम मानते हैं क्योंकि इसमें आनंदांश वा तल्लीनता की मात्रा अधिक है, किंतु है यह ध्वन्यात्मक। अनुभूति का ही वाङ्मय अस्फुट रूप है। इसलिए इसका उपयोग काव्य के वाहनरूप में किया जाता है, जो काव्य की दृष्टि से उपयोगी और आकर्षक है।

संगीत के द्वारा मनोभावों की अभिव्यक्ति केवल ध्वन्यात्मक होती है। वाणी का संभवतः वह आरंभिक स्वरूप है। वाणी के चार भेद प्राचीन ऋषियों ने माने हैं। चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहात्रीणि निहिता नेङ्गयंति, तुरीया वाचं मनुष्यावदंति (ऋग्वेद)। वाणी के वे चार भेद आगे चलकर स्पष्ट कर दिये गये, और क्रमशः इनका नाम परा, पश्यंती, मध्यमा और वैखरी आगम शास्त्रों मे मिलता है। परा, पश्यंती और 'मध्यमा गुहा' निहित है। वैखरी वाणी मनुष्य बोलते हे, शास्त्रों मे परावाणी को नाद-रूपा शुद्ध अहं परामर्श-मयी शक्ति माना है। पश्यंती वाच्य और वाचक के अस्फुट विभाग, चैतन्य-प्रधान द्रष्टा रूपवाली है। मध्यमा वाच्य और वाचक का विभाग होने पर भी बुद्धि-प्रधान दर्शन-स्वरूप द्रष्टा और दृश्य के अंतराल मे रहती है। वैखरी—स्थान, करण और प्रयत्न के बल से स्पष्ट होकर वर्ण की उच्चारण-शैली को ग्रहण करनवाली दृश्य-प्रधान होती है।

बृहदारण्यक मे कहा है—यत्किञ्चाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणोह्यविज्ञातः प्राण एनं तद्भूत्वाऽवति। प्राण-शक्ति सपूर्ण अज्ञात वस्तु को अधिकृत करती है। वह अविज्ञात रहस्य है। इसीलिए उसका नित्य नूतन रूप दिखाई पड़ता है। फिर यत् किञ्च विज्ञातं वाचस्तद्रूपं वाग्धि विज्ञाता वागेनं तद्भूत्वाऽवति, जो कुछ जाना जा सका वही वाणी है, वाणी उसका स्वरूप धारण करके, उस ज्ञान की रक्षा करती है।

ज्ञान-संबधी करणो का विवेचन करने मे भारतीय पद्धति ने परीक्षात्मक प्रयोग किया है। स्वप्रमितिक के ज्ञान के लिए पाँच इद्रियाँ प्रत्यक्ष है। उन्ही के द्वारा संवेदन होता है, उनमे तन्मात्रा के क्रम से बाह्य पदार्थो के भी पाँच विभाग माने गये है। 'आकाशाद् वायु' वाले सिद्धात के अनुसार आकाश का गुण शब्द ही इधर ज्ञान के आरम्भ मे है। जो कुछ हम अनुभव करते है, वाणी उसका रूप है। यह वाणी का विकास वर्णो मे पूण होता है और वर्णों के लिए आभ्यंतर और बाह्य दो प्रयत्न माने गये है। आभ्यंतर प्रयत्न उसे कहते हे जो वर्णों की उत्पत्ति से प्राग्भावी वायु-व्यापार है। और वर्णोत्पत्तिकालिक व्यापार को बाह्य प्रयत्न कहा जाता है। यह वाङ्मय-अभिव्यक्ति, मनन की प्राणमयी क्रिया, आत्मानुभूति की प्रकट होने की

चेष्टा है। इसीलिए उपनिषदों में कहा गया है—य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगात् वर्णानबेकान्निहितार्थो' दधाति विचैति चान्ते विश्वमादो स देवः स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु। भावों को व्यक्त करने का मौलिक साधन वाणी है। इसलिए वही प्रकृत है।

आर्य-साहित्य में उन वर्णो के संगठन के तीन रूप माने गये हैं—ऋक्=पद्यात्मक, यजु=गद्यात्मक और साम=संगीतात्मक। 'वैदिकाश्च द्विविधाः प्रगीता अप्रगीताश्च। तत्र प्रगीताः सामानि, अप्रगीताश्च द्विविधाः छन्दोबद्धास्तद्विलक्षणाश्च। तत्र प्रथमा ऋचः द्वितीया यजूंषि' (सर्वदर्शनसंग्रह)। यही आर्य-वाणी की आरंभिक उच्चारण शैली है, जो दूसरों के आस्वाद के लिए श्रव्य कही जाती है।

काव्य को इन आरंभिक तीन भागों में विभक्त कर लेने पर उसकी आध्यात्मिक या मौलिक सत्ता का हम स्पष्ट आभास पा जाते हैं, और यही वाणी—जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं—आत्मानुभूति की मौलिक अभिव्यक्ति है।

वाणी के द्वारा अनुभूतियों को व्यक्त करने के बाद एक अन्य प्रकार का भी प्रयत्न आरंभ होता है। दूर रहनेवाले, चाहे यह देश-काल के कारण से ही हो, केवल व्यष्टि का आश्रय लेनेवाली उच्चारणात्मक वाणी का आनंद नही ले सकते। इसलिए वह व्यक्ति-द्वारा प्रकट हुई आत्मानुभूति सामूहिक या समष्टि-भाव से विस्तार करने का प्रयत्न करती है। और तब —चित्र, लिपि, लक्षण इत्यादि संबंधी अपनी बाह्य सत्ता को बनाती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि कला को भारतीय दृष्टि में उपविद्या माना गया है। आगमों के अनुशीलन से, कला को अन्य रूप से भी बताया जा सकता है। शैवागमों में छत्तीस तत्त्व माने गये है, उनमें कला भी एक तत्त्व है। ईश्वर की कर्त्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्ति के स्वरूप—कला, विद्या, राग, नियति और काल माने जाते है। शक्ति-संकोच के कारण जो इंद्रिय-द्वार से शक्ति का प्रसार एवं आकुंचन होता है, इन व्यापक शक्तियों का वही संकुचित रूप, बोध के लिए है। 'कला संकुचित कर्त्तृत्व शक्ति कही जाती है। भोजराज ने भी अपने तत्वप्रकाश में कहा है—व्यञ्जयति कर्तृशक्ति कलेति तेनेह कथिता सा। शिवसूत्र-विमर्शिनी में क्षेमराज ने कला के संबंध में अपना विचार यों व्यक्त किया है—'कलयति स्व स्वरूपावेशेन तत्तद् वस्तु परिच्छिनत्तीति कलाव्यापारः'। इस पर टिप्पणी है—कलयति, स्वरूपं आवेशयति, वस्तुनि वा तत्र-तत्र प्रमातरि कलनमेव कला—अर्थात्, नव-नव स्वरूप-प्रथोल्लेख-शालिनी संवित् वस्तुओं में या प्रमाता में स्व को, आत्मा को परिमित रूप में प्रकट करती है, इसी क्रम का नाम कला है।

१. 'कर्त्तृत्वसकल बनकर आवे नश्वर छाया-सी ललित कला' इत्यादि—इड़ा सर्ग, कामायनी।

'स्व' को कलन करने का उपयोग—आत्म-अनुभूति की व्यंजना में—प्रतिभा के द्वारा तीन प्रकार से किया जाता है; *अनुकूल, प्रतिकूल और अद्भुत।* ये तीन प्रकार के प्रतीक-विधान काव्य-जगत् मे दिखाई पड़ते हैं। अनुकूल, अर्थात् ऐसा हो—यह आत्मा के विज्ञात अंश का गुणनफल है। प्रतिकूल अर्थात् ऐसा नहीं, यह आत्मा के अविज्ञात अंश की सत्ता का ज्ञान न होने के कारण हृदय के समीप नहीं। अद्भुत—आत्मा का विजिज्ञास्य रूप, जिसे हम पूरी तरह समझ नही सके हैं, कि वह अनुकूल है या प्रतिकूल। इन तीन प्रकार के प्रतीक विधानों में आदर्शवाद, यथातथ्यवाद और व्यक्तिवाद इत्यादि साहित्यिक वादों के मूल सन्निहित है जिनकी विस्तृत आलोचना की यहाँ आवश्यकता नही। कला को तो शास्त्रों में उपविद्या माना है। फिर, उसका साहित्य में या आत्मानुभूति मे कैसा विशेष अस्तित्व है, इस प्रश्न पर विचार करने के समय यह बात ध्यान मे रखनी होगी कि कला की आत्मानुभूति के साथ विशिष्ट भिन्न सत्ता नही। अनुभूति के लिए शब्द-विन्यास-कौशल तथा छंद आदि भी अत्यंत आवश्यक नही।

व्यंजना वस्तुतः अनुभूतमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है क्योकि सुंदर अनुभूति का विकास सौंदर्यपूर्ण होगा ही। कवि की अनुभूति को उसके परिणाम में हम अभिव्यक्त देखते है। और अभिव्यक्ति के अंतरालवर्ती संबंध को जोड़ने के लिए हम चाहें तो कला का नाम ले सकते है, और कला के प्रति अधिक पक्षपातपूर्ण विचार करने पर यह कोई कह सकता है कि अलंकार, वक्रोक्ति और रीति और कथानक इत्यादि मे कला की सत्ता मान लेनी चाहिये, किंतु मेरा मत है कि यह सब समय-समय की मान्यता और धारणाएँ है। प्रतिभा का किसी कौशल विशेष पर कभी अधिक झुकाव हुआ होगा। इसी अभिव्यक्ति के बाह्य रूप को कला के नाम से काव्य में पकड़ रखने की साहित्य मे प्रथा-सी चल पड़ी है।

हाँ, फिर एक प्रश्न स्वयं खड़ा होता है कि काव्य में शुद्ध आत्मानुभूति की प्रधानता है या कौशलमय आकारों या प्रयोगों की ?

काव्य में जो आत्मा की मौलिक अनुभूति की प्रेरणा है, वही सौंदर्यमयी और संकल्पात्मक होने के कारण अपनी श्रेयस्थिति में रमणीय आकार में प्रकट होती है। वह आकार वर्णात्मक रचना-विन्यास मे कौशलपूर्ण होने के कारण प्रेय भी होता है। रूप के आवरण में जो वस्तु सन्निहित है, वही तो प्रधान होगी। इसका एक उदाहरण दिया जा सकता है। कहा जाता है कि वात्सल्य की अभिव्यक्ति में तुलसीदास सूरदास से पिछड़ गये हैं। तो क्या यह मान लेना पड़ेगा कि तुलसीदास के पास वह कौशल या शब्द-विन्यास-पटुता नहीं थी, जिसके अभाव के कारण ही वे वात्सल्य की संपूर्ण अभिव्यक्ति नही कर सके।

किंतु यह बात तो नही है। सोलह मात्रा के छंद में अंतर्भावों को प्रकट करने

की जो विदग्धता उन्होंने दिखाई है, वह कविता-संसार मे विरल है। फिर क्या कारण है कि रामचंद्र के वात्सल्य-रस की अभिव्यंजना उतनी प्रभावशालिनी नहीं हुई, जितनी सूरदास के श्याम की ? मैं तो कहूँगा कि यही प्रमाण है आत्मानुभूति की प्रधानता का। सूरदास के वात्सल्य में संकल्पात्मक मौलिक अनुभूति की तीव्रता है, उस विषय की प्रधानता के कारण। श्रीकृष्ण की महाभारत के युद्ध-काल की प्रेरणा सूरदास के उतने समीप न थी, जितनी शिशु गोपाल की वृंदावन की लीलाएँ। रामचंद्र के वात्सल्य-रस का उपयोग प्रबंध काव्य में तुलसीदास को करना था, उस कथानक की क्रम-परंपरा बनाने के लिए। तुलसीदास के हृदय मे वास्तविक अनुभूति तो रामचंद्र की भक्त-रक्षण-समर्थ दयालुता है, न्यायपूर्ण ईश्वरता है, जीव की शुद्धावस्था मे पाप-पुण्य-निर्लिप्त कृष्णचंद्र की शिशु-मूर्ति का शुद्धाद्वैतवाद नही। दोनों कवियों के शब्द-विन्यास कौशल पर विचार करने से यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता है वही अभिव्यक्ति अपने क्षेत्र मे पूर्ण हो सकी है। वही कौशल या विशिष्ट पद-रचना-युक्त काव्य-शरीर सुंदर हो सका है।

इसीलिए, अभिव्यक्ति सहृदयों के लिए अपनी वैसी व्यापक सत्ता नही रखती, जितनी कि अनुभूति। श्रोता, पाठक और दर्शको के हृदय मे कविकृत मानसी प्रतिमा की जो अनुभूति होती है, उसे सहृदयों मे अभिव्यक्ति नही कह सकते। वह भाव-साम्य का कारण होने से लौट कर अपने कवि की अनुभूतिवाली मौलिक वस्तु की सहानुभूतिमात्र ही रह जाती है। इसलिए व्यापकता आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की है।[1]

१. अनुभूति से तादात्म्य की परिणति के प्रत्यक्षदर्शी प्रोफेसर बी० एल० साहनी ने कहा था कि कामायनी के अंग्रेजी भाषान्तरण के सन्दर्भ मे उनसे एकान्त मे कुछ समझने का समय उष काल मे ही संभव था। वे अरुणोदय के संग बेनियाबाग मे घूमने निकल पड़ते थे। वह अवसर भी उपयुक्त नही था। तब, मैं उनके यहाँ और पहले पहुँच जाता मुझे देख कर वे आशय समझ जाते—'चलो आज गंगा दर्शन होगा'। उसी क्रम मे एक दिन लौटते समय सीढ़ियो पर भिक्षुओ की पंक्ति मे एक विकलांग गलित कुष्ठ वाले के सम्मुख वे रुक कर उसे ध्यान से देखने लगे। मैंने समझा कि उसे कुछ देने के लिए रुके है किन्तु वे निश्चय रहे सहसा मेरी ओर एक हाथ बढाते बोले 'साहनी मेरी उंगलियाँ देखो' –देखते ही मैं स्तब्ध रह गया कुछ भय भी लगा उनकी उंगलियाँ उसी कोढी की जैसी टेढ़ी हो रही थी। घबराहट मे उन्हे खीचते ऊपर ले आया। वे सौम्य भाव से बोले कोई आतंक नही—अनुभूति से तादात्म्य मे ऐसा प्राय: होता है अन्यथा अभिव्यक्ति कैसे हो। क्रोशे ने यह नही समझा। वस्तुत: प्रसादजी मे अनुभूति की स्फूर्त्ति अधि-आत्म से अधि-भूत उभय स्तरो पर सहज होती थी As if that was a part & parcal of his being. यह तो कविगत साधारणीकरण की बात है, सामान्य स्तर पर भी 'भ्रमर कीट न्याय' आन्वित हो जाता है 'भावितं तीव्र वेगेन यद्वस्तु निश्चयात्मना (संकल्प) पुमांस्तद्धिभवेच्छीघ्रं ज्ञेयं भ्रमरकीटवत्'। —सम्पादक

रहस्यवाद

काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है। रहस्यवाद के संबंध में कहा जाता है कि उसका मूल उद्गम सेमेटिक धर्म-भावना है, और इसीलिए भारत के लिए वह बाहर की वस्तु है। किंतु शाम देश के यहूदी जिनके पेगंबर मूसा इत्यादि थे, सिद्धांत में ईश्वर को उपास्य और मनुष्य को जिहोवा (यहूदियों के ईश्वर) का उपासक अथवा दास मानते थे। सेमेटिक धर्म मे मनुष्य की ईश्वर से समता करना अपराध समझा गया है। क्राइस्ट ने ईश्वर का पुत्र होने की ही घोषणा की थी, परंतु मनुष्य का ईश्वर से यह संबंध भी जिहोवा के उपासकों ने सहन नही किया और उसे सूली पर चढ़वा दिया।[1]

पिछले काल में यहूदियों के अनुयायी मुसलमानों ने भी 'अनलहक' कहने पर मंसूर को उसी पथ का पथिक बनाया। सरमद का सर काटा गया। सेमेटिक धर्मभावना के विरुद्ध चलनेवाले ईसा, मंसूर और सरमद—आर्य अद्वैत धर्मभावना से अधिक परिचित थे।

सूफी संप्रदाय मुसलमानी धर्म के भीतर वह विचारधारा है जो अरब और सिंध का परस्पर संपर्क होने के बाद से उत्पन्न हुई थी। यद्यपि सूफी धर्म का पूर्ण विकास तो पिछले काल में आर्यों की बस्ती ईरान में हुआ, फिर भी उनके सब आचार इस्लाम के अनुसार ही हैं। उनके तौहीद में चुनाव है एक का, अन्य देवताओं में से, न कि संपूर्ण अद्वैत का। तौहीद का अद्वैत से कोई दार्शनिक संबंध नही। उसमें जहाँ कही पुनर्जन्म या आत्मा के दार्शनिक तत्व का आभास है, वह भारतीय रहस्यवाद का अनुकरण मात्र है, क्योंकि शामी धर्मों के भीतर अद्वैत कल्पना दुर्लभ नही, त्याज्य भी है।

कुछ लोगों का कहना है मेसोपोटामिया या बाबिलन के बाल, ईस्टर प्रभृति

१. Therefore the Jews sought the more to kill him, because he not only had broken the Sabbath, but said that God was his Father, making himself equal with God (St. John. 5) I and my Father are one. Then the jews took up stones again to stone him. (St. John, 10).

देवताओं के मंदिरों में रहनेवाली देवदासियाँ ही धार्मिक प्रेम का उद्गम हैं और वहीं से धर्म और प्रेम का मिश्रण, उपासना मे कामोपभोग इत्यादि अनाचार का आरंभ हुआ तथा यह प्रेम ईसाई-धर्म के द्वारा भारतवर्ष के वैष्णव-धर्म को मिला। किंतु उन्हें यह नही मालूम कि काम का धर्म में अथवा सृष्टि के उद्गम में बहुत बड़ा प्रभाव ऋग्वेद के समय मे ही माना जा चुका है—'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्'। यह काम प्रेम का प्राचीन वैदिक नाम है और प्रेम से वह शब्द अधिक व्यापक भी है। जब से हमने प्रेम को Love या इश्क का पर्याय मान लिया, तभी से 'काम' शब्द की महत्ता कम हो गयी। संभवतः विवेकवादियों की आदर्श-भावना के कारण, इस शब्द में केवल स्त्री-पुरुष-सबंध के अर्थ का ही भान होने लगा। किंतु काम मे जिस व्यापक भावना का समावेश है, वह इन सब भावों को आवृत कर लेती है। इसी वैदिक काम की आगम शास्त्रों मे, कामकला के रूप मे उपासना भारत मे विकसित हुई थी। यह उपासना सौंदर्य, आनद और उन्मद भाव की साधना-प्रणाली थी। पीछे बारहवी शताब्दी के सूफी इब्न अरबी ने भी अपने सिद्धातों मे इसकी महत्ता स्वीकार की है। वह कहता है कि मनुष्य ने जितने प्रकार के देवताओं की पूजा का समारंभ किया है, उनमे काम ही सबसे मुख्य है। यह काम ही ईश्वर की अभिव्यक्ति का सबसे बडा—व्यापक रूप है।'

देवदासियो का प्रचार दक्षिण के मदिरों मे वर्त्तमान है और उत्तरीय भारत मे ईसवी सन् से कई सौ बरस पहले शिव, स्कंद, सरस्वती इत्यादि देवताओ के मंदिर नगर के किस भाग मे होते थे, इसका उल्लेख चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र मे किया है और सरस्वती-मंदिर तो यात्रागोष्ठी तथा संगीत आदि कला-सबंधी समाजो के लिए प्रसिद्ध था। देवदासियाँ मंदिरो मे रहती थी, परंतु वे उस देवप्रतिमा के विशेष अंतर्निहित भावों को कला के द्वारा अभिव्यक्त करने के लिए ही रहती थी। उनमे प्रेम-पुजारिनो का होना असंभव नही था। सूफी रबिया से पहले ही दक्षिण भारत की देवदासी अन्दल ने जिस कृष्ण-प्रेम का संगीत गाया था, उसकी आविष्कर्त्री अन्दल को ही मान लेने मे मुझे तो संदेह ही है। कृष्ण-प्रेम उस मदिर का सामूहिक भाव था, जिसकी अनुभूति अन्दल ने भी की। ऐतिहासिक अनुक्रम के आधार पर यह कहा जा सकता है कि फारस में जिस सूफी-धर्म का विकास हुआ था, उस पर काश्मीर के साधकों का बहुत कुछ प्रभाव था। यो तो एक दूसरे के साथ संपर्क मे आने पर विचारों का थोड़ा बहुत आदान-प्रदान होता ही है; किंतु भारतीय रहस्यवाद

१ Of the Gods man has conceived and worshipped, Ibn Arabi is of opinion that Desire is the greatest and most vital. It is the greatest of the universal forms of His self-expression (M. Ziyauddin in "Vishwabharati.")

ठीक मेसोपोटामिया से आया है, यह कहना वैसा ही है जैसा वेदों को 'सुमेरियन डाकुमेंट' सिद्ध करने का प्रयास।[1]

शैवों का अद्वैतवाद और उनका सामरस्यवाला रहस्य-संप्रदाय, वैष्णवों का माधुर्य भाव और उनके प्रेम का रहस्य तथा काम-कला की सौंदर्य-उपासना आदि का उद्गम वेदों और उपनिषदों के ऋषियों की वे साधना-प्रणलियाँ हैं, जिनका उन्होंने समय-समय पर अपने पंथों में प्रचार किया था।

भारतीय विचारधारा में रहस्यवाद को स्थान न देने का एक मुख्य कारण है। ऐसे आलोचकों के मन में एक तरह की झुंझलाहट है। रहस्यवाद के आनंद-पथ को उनके कल्पित भारतीयोचित विवेक में सम्मिलित कर लेने से आदर्शवाद का ढांचा ढीला पड़ जाता है। इसलिए वे इस बात को स्वीकार करने में डरते हैं कि जीवन में यथार्थ वस्तु आनंद है, ज्ञान से वा अज्ञान से मनुष्य उसी की खोज में लगा है। आदर्शवाद ने विवेक के नाम पर आनंद और उसके पथ के लिए जो जनरव फैलाया है, वही उसे अपनी वस्तु कहकर स्वीकार करने में वाधक है। किंतु प्राचीन आर्य लोग सदैव से अपने क्रिया-कलाप में आनंद, उल्लास और प्रमोद के उपासक रहे; और आज के भी अन्य देशीय तरुण आर्य-संघ आनंद के मूल संस्कार से संस्कृत और दीक्षित हैं। आनंद-भावना, प्रियकल्पना और प्रमोद हमारी व्यवहार्य वस्तु थी। आज की जातिगत निर्वीर्यता के कारण उसे ग्रहण न कर सकने पर, यह सेमेटिक है, कह कर संतोष कर लिया जाता है।

कदाचित् इन आलोचकों ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि आरंभिक वैदिक-काल में प्रकृति-पूजा अथवा बहुदेव-उपासना के युग में ही, जब 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदंति' के अनुसार एकेश्वरवाद विकसित हो रहा था; तभी आत्मवाद की प्रतिष्ठा भी पल्लवित हुई। इन दोनों धाराओं के दो प्रतीक थे। एकेश्वरवाद के वरुण और आत्मवाद के इंद्र प्रतिनिधि माने गये। वरुण न्यायपति राजा और विवेकपक्ष के आदर्श थे। महावीर इंद्र आत्मवाद और आनंद के प्रचारक थे। वरुण को देवताओं के अधिपति-पद से हटना पड़ा, इंद्र के आत्मवाद की प्रेरणा ने आर्यों में आनंद की विचारधारा उत्पन्न की, फिर तो इंद्र ही देवराज-पद पर प्रतिष्ठित हुए। वैदिक-साहित्य में आत्मवाद के प्रचारक इंद्र की जैसी चर्चा है, उर्वशी आदि अप्सराओं का जो प्रसंग है, वह उनके आनंद के अनुकूल ही है। बाहरी याज्ञिक क्रिया-कलापों के रहते हुए भी वैदिक आर्यों के हृदय में आत्मवाद और एकेश्वरवाद की दोनों दार्शनिक विचार-धाराएँ अपनी उपयोगिता में संघर्ष करने लगी। सप्तसिंधु के प्रबुद्ध तरुण आर्यों ने इस आनंदवाली धारा का अधिक स्वागत किया। क्योंकि वे स्वत्व के

१. अवलोक्य—इलस्ट्रेटेड वीकली में डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार का लेख—'Vedas a Sunerian document.' —सम्पादक

उपासक थे ! और वरुण यद्यपि आर्यों की उपासना मे गौण रूप से सम्मिलित थे, तथापि उनकी प्रतिष्ठा असुर के रूप मे असीरिया आदि अन्य देशों में हुई। आत्मा मे आनंद-भोग का भारतीय आर्यो ने अधिक आदर किया। उधर असुर के अनुयायी आर्य एकेश्वरवाद और विवेक के प्रतिष्ठापक हुए ! भारत के आर्यो ने कर्मकांड और बड़े-बड़े यज्ञो मे उल्लासपूर्ण आनंद का ही दृश्य देखना आरंभ किया और आत्मवाद के प्रतिष्ठापक इंद्र के उद्देश्य से बडे-बडे यज्ञों की प्रधानता हो जाने पर भी कुछ आर्य लोग अपने को उस आर्य-संघ में दीक्षित नही कर सके--वे व्रात्य कहे जाने लगे। वैदिक धर्म की प्रधान धारा मे, जिसके अंतर मे आत्मवाद था और बाहर याज्ञिक क्रियाओं का उल्लास था, व्रात्यों के लिए स्थान नही रहा। उन व्रात्यों ने अत्यंत प्राचीन अपनी चैत्यपूजा आदि के रूप मे उपासना का क्रम प्रचलित रक्खा और दार्शनिक दृष्टि से उन्होने विवेक के आधार पर नये-नये तर्कों की उद्भावना की। फिर तो आत्मवाद के अनुयायियो मे भी अग्निहोत्र आदि कर्मकांडो की आत्मपरक व्याख्याएँ होने लगी। उन्होने स्वाध्याय-मंडल स्थापित किये। भारतवर्ष का राजनीतिक विभाजन भी वैदिक-काल के बाद इन्ही दो तरह के दार्शनिक धर्मों के आधार पर हुआ (और होता आ रहा है ० सम्पादक)

वृष्णि-संघ ब्रज मे और मगध के व्रात्य और अयाज्ञिक आर्य बुद्धिवाद के आधार पर नये-नये दर्शनो की स्थापना करने लगे। इन्ही लोगों के उत्तराधिकारी वे तीर्थंकर लोग थे जिन्होने ईसा मे हजारों वर्ष पहले मगध मे बौद्धिक विवेचना के आधार पर दु:खवाद के दर्शन की प्रतिष्ठा की। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर विवेक के तर्क ने जिस बुद्धिवाद का विकास किया, वह दार्शनिको की उस विचारधारा को अभिव्यक्त कर सका जिसमे संसार दु:खमय माना गया और दु:ख से छूटना ही परम पुरुषार्थ समझा गया। दु:खनिवृत्ति दु:खवाद का ही परिणाम है। फिर तो विवेक की मात्रा यहाँ तक बढी कि बुद्धिवादी अपरिग्रही, नग्न, दिगंबर, पानी गरम करके पीने वाले और मुँह पर कपडा बाध कर चलनेवाले हुए। इन लोगों के आचरण विलक्षण और भिन्न-भिन्न थे। वैदिक-काल के बाद इन व्रात्यों के संघ किस-किस तरह का प्रचार करते घूमते थे, उन सब का उल्लेख तो नही मिलता; किंतु बुद्ध के जिन प्रतिद्वंद्वी—मस्करी गोशाल, अजित केश-कम्बली, नाथपुत्र, संजय बेलट्ठिपुत्र, पूरन कस्सप आदि तीर्थंकरो का उल्लेख मिलता है, वे प्राय: दु:खातिरेकवादी, आत्मवाद मे आस्था न रखनेवाले तथा बाह्य उपासना मे चैत्यपूजक थे। दु:खवाद जिस मनन-शैली का फल था, वह बुद्धि या विवेक के आधार पर, तर्कों के आश्रय में बढ़ती रही। अनात्मवाद की प्रतिक्रिया होनी ही चाहिए। अतः पिछले काल मे भारत के दार्शनिक अनात्मवादी ही भक्तिवादी बने और बुद्धिवाद का विकास भक्ति के रूप में हुआ। जिन-जिन लोगो में आत्म-विश्वास नही था, उन्हें एक त्राणकारी की

आवश्यकता हुई। प्रणतिवाली शरण खोजने की कामना—बुद्धिवाद की एक धारा—प्राचीन एकेश्वरवाद के आधार पर ईश्वर-भक्ति के स्वरूप में बढ़ी और इन लोगों ने अपने लिए अवलंब खोजने में नये-नये देवताओं और शक्तियों की उपासना प्रचलित की। हाँ, आनंदवाद वाली मुख्य अद्वैतधारा में भक्ति का विकास, एक दूसरे ही रूप में हो चुका था, जिसके संबंध में आगे चलकर कहा जायगा।

ऊपर कहा जा चुका है कि वैदिक-साहित्य की प्रधान धारा में उसकी याज्ञिक क्रियाओं की आत्मपरक व्याख्याएँ होने लगी थीं और व्रात्यदर्शनों की प्रचुरता के युग में भी आनंद का सिद्धांत संहिता के बाद श्रुतिपरंपरा में आरण्यक-स्वाध्याय मंडलों में प्रचलित रहा। तैत्तिरीय में एक कथा है कि भृगु जब अपने पिता अथवा गुरु वरुण के पास आत्म-उपदेश के लिए गये तो उन्होंने बार-बार तप करने की ही शिक्षा दी और बार-बार तप करके भी भृगु संतुष्ट न हुए और फिर आनंद-सिद्धांत की उपलब्धि करके ही उन्हें परितोष हुआ। विवेक और विज्ञान से भी आनंद को अधिक महत्व देनेवाले भारतीय ऋषि अपने सिद्धांत का परंपरा में प्रचार करते ही रहे।

तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्ष.। आनन्द आत्मा। (तैत्तिरीय उपनिषद् द्वितीय वल्ली पंचम अनुवाक्)

उपनिषद् में आनंद की प्रतिष्ठा के साथ प्रेम और प्रमोद की भी कल्पना हो गयी थी, जो आनंद-सिद्धांत के लिए आवश्यक है। इस तरह जहाँ एक ओर भारतीय आर्य व्रात्यों में तर्क के आधार पर विकल्पात्मक बुद्धिवाद का प्रचार हो रहा था, वहाँ प्रधान वैदिक-धारा के अनुयायी आर्यों में आनंद का सिद्धांत भी प्रचारित हो रहा था। वे कहते थे :—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। (मुण्डकोपनिषद्)
नैषा तर्केण मतिरापनेया। (कठोपनिषद्)

आनंदमय आत्मा की उपलब्धि विकल्पात्मक विचारों और तर्कों से नहीं हो सकती।

इन लोगों ने अपने विचारों के अनुयायी राष्ट्रों में परिषदें स्थापित की थीं और व्रात्य-संघों के सदृश ही इनके भी स्वाध्यायमंडल थे, जो व्रात्य-संघों से पीछे के नहीं अपितु पहले के थे। हाँ, इन लोगों ने भी बुद्धिवाद का अपने लिए उपयोग किया था; किंतु उसे वे अविद्या कहते थे, क्योंकि वह कर्म और विज्ञान की उन्नति करती है और नानात्व को बताती है। मुख्यतः तो वे अद्वैत और आनंद के ही उपासक रहे। विज्ञानमय याज्ञिक क्रिया-कलापों से वे ऊपर उठ चुके थे। कठ, पांचाल, काशी और

कोसल मे उनकी परिषदे थी ही, किंतु मगध की पूर्वीय सीमा पर भी उसके दुःख और अनात्मवादी राष्ट्रो के एक छोर पर विदेहों की बस्ती थी, जो संपूर्ण अद्वैतवादी थे। ब्राह्मण-ग्रंथ मे सदानीरा के उस पार यज्ञ की अग्नि न जाने की जो कथा है उसका रहस्य इन्ही मगध के व्रात्य-संघो से सबध रखता था। किंतु माधव विदेह ने सदानीरा के पार अपने मुख मे जिस अग्नि को ले जाकर स्थापित किया था, वह विदेहो का प्राचीन आत्मवाद ही था। इन परिषदो मे और स्वाध्यायमंडलो मे वैदिक मंत्रकाल के उत्तराधिकारी ऋषियो ने संकल्पात्मक ढंग से विचार किया, सिद्धात बनाये और साधना-पद्धति भी स्थिर की। उनके सामने ये सब प्रश्न आये—

केनेषित पतति प्रेषितं मनः केन प्राण. प्रथम प्रैति युक्तः।
केनेषिना वाचमिमा वदन्ति चक्षु श्रोत्र क उ देवो युनक्ति॥

(केनोपनिषद्)

कि कारण ब्रह्म कुत स्म जाता जीवाम केन क्व च सप्रतिष्ठाः।
अधिष्ठाता केन सुखेतरेषु वर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

इन प्रश्नो पर उनके सवाद अनुभवगम्य आत्मा को सकल्पात्मक रूप से निर्देशन करने के लिए होते थे। इस तरह के विचारो का सूत्रपात शुक्ल यजुर्वेद के ३९ और ४० अध्यायो मे ही हो चुका था। उपनिषद उसी ढग से आत्मा और अद्वैत के सबध मे सकल्पात्मक विचार कर रहे थे, यहाँ तक कि श्रुतियाँ सकल्पात्मक काव्यमय ही थी और इसीलिए वे लोग 'कविर्मनीषी' मे भेद नही मानते थे। किंतु व्रात्य-संघो के वाह्य आदर्शवाद से, विवेक और बुद्धिवाद से भारतीय हृदय बहुत कुछ अभिभूत हो रहा था, इसीलिए इन आनदवादियो की साधना-प्रणाली कुछ-कुछ गुप्त और रहस्यात्मक होती थी।

तप प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।
अत्याश्रमिभ्यः परम पवित्रम् प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम्॥
वेदान्ते परम गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
नाप्रशान्ताय दातव्य नापुत्राय नाशिष्याय वा पुनः॥

(श्वेताश्वतर०)

उनकी साधन-पद्धतियो का उल्लेख छादोग्य-आदि उपनिषदो मे प्रचुरता से है। ये लोग अपनी शिष्यमडली मे विशेष प्रकार की गुप्त साधना-प्रणालियो के प्रवर्त्तक थे। बौद्ध साहित्य मे जिस तरह के साधनो का विवरण मिलता है, वे बहुत-कुछ इन ऋषियो और इनके उपनिषदो के अनुकरण-मात्र थे, फिर भी वे अपने ढंग के बुद्धिवादी थे। और वे उपनिषदो के 'ता योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणम्'

(कठ०) वाले योग का अपने ढंग के अनात्मवाद के साधन के लिए उपयोग करने लगे।

श्रुतियों का और निगम का काल समाप्त होने पर ऋषियों के उत्तराधिकारियों ने आगमों की अवतारणा की और ये आत्मवादी आनंदमय कोष की खोज में लगे ही रहे। आनंद का स्वभाव ही उल्लास है, इसलिए साधना-प्रणाली में उसकी मात्रा उपेक्षित न रह सकी। कल्पना और साधना के दोनों पक्ष अपनी-अपनी उन्नति करने लगे। कल्पना विचार करती थी, साधना उसे व्यवहार्य बनाती थी। आगम के अनुयायियों ने निगम के आनंदवाद का अनुसरण किया, विचारों में भी और क्रियाओं में भी। निगम ने कहा था—

आनंदाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायंते, आनदेन जातानि जीवंति। आनंदं प्रयंत्यभिसंविशंति।

आगमवादियों ने दोहराया—

आनंदोच्छलिता शक्ति: सृजत्यात्मानमात्मना।

आगम के टीकाकारों ने भी इस अद्वैत आनंद को अच्छी तरह पल्लवित किया।

विगलितभेद-संस्कारमानंदरसप्रवाहमयमेव पश्यति (क्षेमराज)

हाँ, इन सिद्धों ने आनंदरस की साधना मे और विचारो में प्रकारांतर भी उपस्थित किया—अद्वैत को समझने के लिए—

आत्मैवेदमग्र आसीत्.....स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्विधापातयत्। इत्यादि वृहदारण्यक ने श्रुति का अनुकरण करके समता के आधार पर भक्ति की और मित्र-प्रणय की-सी मधुर कल्पना भी की। क्षेमराज ने एक प्राचीन उद्धरण दिया—

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दाम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनो: ॥

यह भक्ति का आरंभिक स्वरूप आगमों में अद्वैत की भूमिका पर ही सुगठित हुआ। उनकी कल्पना निराली थी—

समाधिवज्रेणाप्यन्यैरभेद्यो भेदभूधर.।
परामृष्टश्च नष्टश्च त्वद्भक्तिबलशालिभि: ॥

यह भक्ति भेदभाव, द्वैत, जीवात्मा और परमात्मा की भिन्नता को नष्ट करने वाली थी। ऐसी ही भक्ति के लिए माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त के गुरु ने कहा है—

भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्।

अद्वैतवाद के इस नवीन विकास में प्रेमाभक्ति की योजना तैत्तिरीय आदि श्रुतियों के ही आधार पर हुई थी। फिर तो सौंदर्य-भावना भी स्पष्ट हो चली—

श्रुत्वापि शुद्धचैतन्यमात्मानमतिसुंदरम्। (अष्टावक्रगीता ४।३)

इन आगम के अनुयायी सिद्धों ने प्राचीन आनंद-मार्ग को अद्वैत की प्रतिष्ठा के साथ अपनी साधना-पद्धति मे प्रचलित रक्खा और इसे वे रहस्य-सम्प्रदाय कहते थे। शिवसूत्रविमर्शिनी प्रस्तावना मे क्षेमराज ने लिखा है :—

द्वैतदर्शनाधिवासितप्राये जीवलोके रहस्यसम्प्रदायो मा विच्छेदि

रहस्य-सम्प्रदाय जिसमे लुप्त न हो, इसलिए शिवसूत्रो की महादेवगिरि से प्रतिलिपि की गयी। द्वैतदर्शनो की प्रचुरता थी। रहस्य-सम्प्रदाय अद्वैतवादी था। इन लोगो ने पाशुपात-योग की प्राचीन साधना-पद्धति के साथ-साथ आनद की योजना करने के लिए काम-उपासना प्रणाली भी दृष्टात के रूप मे स्वीकृत की। उसके लिए भी श्रुति का आधार लिया गया।

तद्यथा प्रियया स्त्रिया सपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नातरम् (बृहदारण्यक)

उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्ताव स्त्रिया सह शेते स उद्गीथ।

आत्मरतिरात्मक्रीड, आत्ममिथुन आत्मानन्द स स्वराड् भवति॥

इन छादोग्य आदि श्रुतियो के प्रकाश मे यह रति-प्रीति—अद्वैतमूला भक्ति रहस्यवादियो मे निरतर प्राजल होती गयी। इस दार्शनिक सत्य को व्यावहारिक रूप देने मे किसी विशेष अनाचार की आवश्यकता न थी। ससार को मिथ्या मानकर असभव कल्पना के पीछे भटकना नही पडता था। दु खवाद से उत्पन्न सन्यास और ससार से विराग की आवश्यकता न थी। अद्वैतमूलक रहस्यवाद के व्यावहारिक रूप मे विश्व को आत्मा का अभिन्न अग शैवागमो म मान लिया गया था। फिर तो सहज आनद की कल्पना भी इन लोगो ने की। श्रुति इसी कोटि के साधको के लिए पहले ही कह चुकी थी—

या बुद्धचते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धवि यत्पिबति तदस्य सोपमान यद्रमते तदुपसदो····। इसी का अनुकरण है—

आत्मा त्व गिरिजा मति सहचरा प्राणा शरीर गृह

पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थिति (शाकरी मानसपूजा)

सौंदर्यलहरी भी उसी स्वर मे कहती है—

सपर्या पर्यायस्तव भवति यन्मे विलसितम्। (२७)

इन साधको मे जगत् और अतरात्मा की व्यावहारिक अद्वयता मे आनंद की सहज भावना विकसित हुई। वे कहते है—

त्वमेव स्वात्मान परिणमयितु विश्ववपुषा।

चिदानदाकार शिवयुवतिभावेन विमृषे॥ (आनदलहरी, ३५)

किसी काश्मीरी भक्त कवि[1] ने कहा है—

—

१. सग्रह स्तोत्र ८—आचार्य उत्पल। (स०)

तत्तदिंद्रियमुखेन संततं युष्मदर्चनरसायनासवम् ।
सर्वभावचषकेषु पूरितेष्वापिवन्नपि भवेयमुन्मदः ॥

इसमें इंद्रियों के मुख से अर्चन-रस का आसव पीने की जो कल्पना है, वह आनंद की सहज भावना से ओत-प्रोत है ।

आगमानुयायी स्पंदशास्त्र के अनुसार प्रत्येक भावना में, प्रत्येक अवस्था में वह आत्मानंद प्रतिष्ठित है—

अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोति परामृशन् ।
धावन् वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पंदः प्रतिष्ठितः ॥

और, उनकी अद्वैत साधना के अनुसार सब विषयों में—इंद्रियों के अर्थों में—निरूपण करने पर कहीं भी अशिव, अमंगल, निरानंद नहीं—

विषयेषु च सर्वेषु इंद्रियार्थेषु च स्थितम् ।
यत्र यत्र निरूप्येत नाशिवं विद्यते क्वचित् ॥

जिस मन को बुद्धिवादी 'मनोदुर्निग्रहं चलम्' समझ कर ब्रह्म-पथ में विमूढ़ हो जाते हैं उसके लिए आनंद के उपासकों के पास सरल उपाय था । वे कहते हैं—

यत्र यत्र मनो याति ज्ञेयं तत्रैव चिंतयेत् ।
चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः ॥

मन चल कर जायगा कहाँ ? बाहर-भीतर आनंदघन शिव के अतिरिक्त दूसरा स्थान कौन है ?

ये विवेक और आनंद की विशुद्ध धाराएँ अपनी परिणति में अनात्म और दुःखमय कर्मवादी बौद्ध हीनयान-संप्रदाय तथा दूसरी ओर आत्मवादी आनंदमय रहस्य-संप्रदाय के रूप में प्रकट हुईं । इसके अनंतर मिश्र विचारधाराओं की सृष्टि होने लगी । अनात्मवाद से विचलित होकर बुद्ध में ही सत्ता मान कर बौद्धों का एक दल महायान का अनुयायी बना । शुद्ध बुद्धिवाद के बाद इसमें कर्मकांडात्मक उपासना और देवताओं की कल्पना भी सम्मिलित हो चली थी । लोकनाथ-आदि देवी-देवताओं की उपासना कोरा शून्य ही नहीं रह गयी । तत्कालीन साधारण आर्य जनता में प्रचलित वैदिक बहुदेवपूजा से शून्यवाद का यह समन्वय ही महायान-संप्रदाय था । और बौद्धों की तरह वैदिक धर्मानुयायियों की ओर से जो समन्वयात्मक प्रयत्न हुआ, उसी ने ठीक महायान की ही तरह पौराणिक-धर्म की सृष्टि की । इस पौराणिक-धर्म के युग में विवेकवाद का सबसे बड़ा प्रतीक रामचंद्र के रूप में अवतरित हुआ, जो केवल अपनी मर्यादा में और दुःखसहिष्णुता में महान् रहे । किंतु पौराणिक युग का सबसे बड़ा प्रयत्न श्रीकृष्ण के पूर्णावतार का निरूपण था । इनमें गीता का पक्ष जैसा बुद्धिवादी था वैसा ही ब्रजलीला और द्वारका का ऐश्वर्यभोग आनंद से संबद्ध था ।

जैसे वैदिक-काल के इंद्र ने वरुण को हटाकर अपनी सत्ता स्थापित कर ली उसी तरह इंद्र का प्रत्याख्यान करके कृष्ण की प्रतिष्ठा हुई। किंतु शोधकों की तरह यह मानने को मैं प्रस्तुत नही कि वैदिक इंद्र के आधार पर पौराणिक कृष्ण की कल्पना खड़ी की गयी। कृष्ण अपने युग के पुरुषोत्तम थे; उनका व्यक्तित्व बुद्धिवाद और आनंद का समन्वय था। इंद्र की ही तरह अहं या आत्मवाद का समर्थन करने पर भी कृष्ण की उपासना में समरसता नही, अपितु द्वैतभावना और समर्पण ही अधिक रहा। मिलन और आनंद से अधिक वह उपासना विरहोन्मुख ही बनी रही। और होनी भी चाहिए, क्योंकि इसका संपूर्ण उपक्रम जिन पुराणवादियों के हाथ में था, वे बुद्धिवाद से अभिभूत थे। संभवतः इसीलिए यह प्रेममूलक रहस्यवाद विरहकल्पना में अधिक प्रवीण हुआ। पौराणिक धर्म का दार्शनिक स्वरूप हुआ मायावाद। मायाबाद बौद्ध अनात्मवाद और वैदिक आत्मावद के मिश्र उपकरणों से संगठित हुआ था। इसीलिए जगत् को मिथ्या--दुःखमय मानकर सच्चिदानंद की जगत् से परे कल्पना हुई। विश्वात्मवादी शिवाद्वैत की भी कुछ बाते इसमे ली गयी। आनंद और माया उन्ही की देन थी। बुद्धिवाद को यद्यपि आत्मवादियो की तरह अविद्या मान लिया था- 'अ [illegible]युल्लसितेषु भिन्नेषु भावेषु बुद्धिरित्युच्यते'—तथापि विवेक में आत्मनिरूपण के लिए मायावाद के प्रवर्त्तक श्री गौडपाद ने मनोनिग्रह का उपाय बताया था—'दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्त्तयेत्' (माडूक्यकारिका ४३)।

काम-भोग से निवृत्त होने के लिए दुःख भावना करने का ही उनका उपदेश नही था, किन्तु वे मानसिक सुख को भी हेय समझते थे—

'नास्वादयेत्सुखं तत्र निस्संग प्रज्ञया भवेत्'। (माडूक्यकारिका ४५)

आनंद सत्-चित् के साथ सम्मिलित था, परंतु है यह प्रज्ञावाद—बुद्धि की विकल्पना। मायातत्त्व को आगम से लेकर उसे रूप ही दूसरा दिया गया। बुद्धिवाद की दर्शनों मे प्रधानता थी, फिर तो आचार्य ने बौद्धिक शून्यवाद मे जिस पांडित्य के बल पर आत्मवाद की प्रतिष्ठा की, वह पहले के लोगो से भी छिपा नही रहा। कहा भी गया—'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव हि'।

महायान और पौराणिक-धर्म ने साथ-साथ बौद्ध-उपासक-संप्रदाय को विभक्त कर लिया था। फिर तो बौद्धमत शून्य से ऊब कर सहज आनंद की खोज मे लगा। अधिकाश बौद्ध ऊपर कहे हुए कृष्णसंप्रदाय की द्वैतमूला भक्ति में सम्मिलित हुए और दूसरा अंग आगमो का अनुयायी बना। उस समय आगमो मे दो विचार प्रधान थे। कुछ लोग आत्मा को प्रधानता देकर जगत् को, 'इदम्' को 'अहम्' में पर्यवसित करने के समर्थक थे और वे शैवागमवादी कहलाये। जो लोग आत्मा की अद्वयता को शक्ति-तरंग मे लीन होने की साधना मानते थे, वे शाक्तागमवादी हुए। उस काल की भारतीय साधना-पद्धति व्यक्तिगत उत्कर्ष मे अधिक प्रयुक्त हो रही थी। दक्षिण

के श्रीपर्वत से जिस मंत्रवाद का बौद्धों में प्रचार हो रहा था, वह धीरे-धीरे वज्रयान में किस तरह परिणत हुआ और आगम संप्रदाय में घुस कर •अनात्मवादी बौद्धों ने आत्मा की अवहेलना करके भी वैदिक अंबिका आदि देवियों के अनुकरण में कितनी शक्तियों की सृष्टि की और कैसी रहस्यपूर्ण साधना-पद्धतियाँ प्रचलित कीं, उसका विवरण देने के लिए यहाँ अवसर नहीं। इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि उन्होंने बुद्ध, धर्म और संघ के त्रिरत्न के स्थान पर कामिनी, काम और सुरा को प्रतिष्ठित किया। धारणी मंत्रों की योजना की। पीछे ये मंत्रात्मक भावनाएँ प्रतिमा बनने लगीं। मंत्रों में जिन विचारधाराओ का संकेत था, वे देवता का रूप धर कर व्यक्त हुईं। परोक्ष-पूजापद्धति की प्रचुरता हुई।

पौराणिक-धर्म ने इसी ढंग पर देववाद का प्रचार किया। उपनिषदों के षोडश-कला-पुरुष के प्रतिनिधि बने सोलह कलावाले पूर्ण अवतार श्रीकृष्णचंद्र। सुंदर नर-रूप की यह पराकाष्ठा थी। नारी-मूर्त्ति में सुंदरी की, ललिता की—सौंदर्य-प्रतिमा के अतिरिक्त सौंदर्य-भावना के लिए अन्य उपाय भी माने गये। 'नरपति-जयचर्या' स्वर-शास्त्र का एक प्राचीन ग्रंथ है। उसमें मन की भावना के लिए बताया गया है—

गौरांगीं नवयौवनां शशिमुखीं ताम्बूलगर्भाननां
मुक्तामंडनशुभ्रमाल्यवसनां श्रीखंडचर्चांकिताम्।
दृष्ट्वा कामपि कामिनीं स्वयमिमां ब्राह्मीं पुरो भावयेद्
दंतश्चितयतो जनस्य मनसि त्रैलोक्यमुन्मीलिनीम्॥

यह सौंदर्य-धारणा हृदय में त्रैलोक्य का उन्मीलन करनेवाली है। यहाँ समझ लेना चाहिए कि भारत में सौंदर्य-आलम्बन नर और नारी की प्रतिच्छवि मन को महाशक्तिशाली बनाने तथा उन्नत करने के उपाय में उपासना के स्वरूप में व्यवहृत होने लगी थी।

बौद्धों के उत्तराधिकारी भी शून्यवाद से घबरा कर अनेक प्रकार की मंत्र-साधना में लगे थे, आर्यमंजुश्रीमूलकल्प देखने से यह प्रकट होता है। फिर शैवागमों में जो अनुकूल अंश थे, उन्हें भी अपनाने से ये न रुके। योगाचार तथा अन्य गुप्त साधनाओं वाला बौद्ध-संप्रदाय आनंद की खोज में आगमवादियों से मिला। विचारों में 'सर्वं क्षणिकं सर्वं दुःखं सर्वमनात्मम्'—पर 'आनंदरूपममृतं यद्विभाति' ने विजय प्राप्त की। परंतु इनके संपर्क में आने पर शैवागमों का विश्वात्मवाद वाला शांभव सिद्धांत भी व्यक्तिगत संकुचित अहं में सीमित होने लगा। इस संकुचित आत्मवाद को आगमों में निंदनीय और अपूर्ण अहंता कहते थे; किंतु बौद्धों ने उस सरल अद्वैतबोध को व्यक्तिगत आत्मवाद की ओर झुकाकर शरीर को वज्र की तरह अप्रतिहतगतिशाली बनाने के लिए तथा सांपत्तिक स्वतंत्रता के लिए रसायन बनाने

में लगाया। बौद्ध विज्ञानवादी थे। पूर्व के ये विज्ञानवादी ठीक उसी तरह व्यक्तिगत स्वार्थों के उपासक रहे, जैसे वर्तमान पश्चिम अपनी वैज्ञानिक साधना में सामूहिक स्वार्थों का भयंकर उपासक है। आगमवादी नाथ-संप्रदाय के पास हठयोग की क्रियाएँ थी और उत्तरीय श्रीपर्वत बना कामरूप। फिर तो चौरासी सिद्धों की अवतारणा हुई। हाँ, इन दोनों की परंपरा एक है, किंतु आलंबन मे भेद है। एक शून्य कह कर भी निरंजन मे लीन होना चाहता है और दूसरा ईश्वरवादी होने पर भी शून्य को भूमिका-मात्र मान लेता है। रहस्यवाद इन कई तरह की धाराओं में उपासना का केंद्र बना रहा। जहाँ बाह्य आडबर के साथ उपासना थी, वहीं भीतर सिद्धात मे अद्वैत-भावना रहस्यवाद की सूत्रधारिणी थी। इस रहस्य-भावना में वैदिक-काल से ही इंद्र के अनुकरण मे अद्वैत की प्रतिष्ठा थी। विचारों का जो अनुक्रम ऊपर दिया गया है, उसी तरह वैदिक-काल से रहस्यवाद की अभिव्यक्ति की परंपरा भी मिलती है।

ऋग्वेद के दसवे मंडल के अडतालीसवे सूक्त तथा एक सौ उन्नीसवे सूक्त में इंद्र की जो आत्मस्तुति है, वह अहंभावना तथा अद्वैतभावना से प्रेरित सिद्ध होती है। 'अहं भुवं वसुनः पूर्व्यं परिग्रह धनानि सं जयामि शश्वत' तथा 'अहमस्मि महामहो' इत्यादि उक्तियाँ रहस्यवाद की वैदिक भावनाएँ है। इस छोटे-से निबंध मे वैदिक वाङ्मय की सब रहस्यमयी उक्तियो का संकलन करना संभव नही, किंतु जो लोग यह सोचते है कि आवेश मे अटपटी वाणी कहने वाले शामी पैगंबर ही थे, वे कदाचित् यह नही समझ सके कि वैदिक ऋषि भी गुह्य बातो को चमत्कारपूर्ण सांकेतिक भाषा मे कहते थे। 'अजामेका लोहितशुक्लकृष्णाम्' तथा 'तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्त शतार्धारम्' इत्यादि मंत्र इसी तरह के है।

वेदो, उपनिषदो और आगमों मे यह रहस्यमयी आनद-साधना की परंपरा के ही उल्लेख है। अपनी साधना का अधिकार उन्होने कम नही समझा था। वैदिक ऋषि भी अपने जोश मे कह गये है—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति॥ (कठ० १-२-२१)

आज तुलसी साहब की 'जिन जाना तिन जाना नाहीं' इत्यादि को देख कर इसे एक बार ही शाम देश से आयी हुई समझ लेने का जिन्हे आग्रह हो, उनकी तो बात ही दूसरी है; किंतु केनोपनिषत् के 'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः' का ही अनुकरण यह नही है, यह कहना सत्य से दूर होगा। 'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह' इत्यादि श्रुति मे बाहर और भीतर की पिंड और ब्रह्मांड की एकता का जो प्रतिपादन किया गया है, संत-मत मे उसी का अनुकरण किया गया।

यह भी कहा जाता है कि यहाँ उपासना, कर्म के साथ ज्ञान की धारा से विशुद्ध

रही और उसमें आराध्य से मिलने के लिए कई कक्ष ,नहीं बनाये गये। किंतु छांदोग्य में जिस शून्य आकाश का उल्लेख दहरोपासना में हुआ है, उसी से बौद्धों के शून्य और आगमों की शून्य-भूमिका का संबंध है। फिर कबीर की 'शून्य महलिया' शाम देश की सौगात कैसे कही जा सकती है? (तं चेद् ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुंडरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश:—छांदोग्य०)

तथा—'पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्' इत्यादि श्रुतियों में नीवार-शूकवत् तन्वी शिखा के मध्य में परमात्मा का जो स्थान निर्दिष्ट किया गया है, वह मंदिर या महल कहीं विदेश से नहीं आया है। आगमों में तो इस रहस्य-भावना का उल्लेख है ही, जिसका उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है।

श्रीकृष्ण को आलंबन मान कर द्वैत-उपासकों ने जिस आनंद और प्रेम की सृष्टि की, उसमें विरह और दुःख आवश्यक था। द्वैतमूलक उपासना के दुद्धिवादी प्रवर्त्तक भागवतों ने गोपियों में जिस विरह की स्थापना की, वह परकीय प्रेम के क़ारण दुःख के समीप अधिक हो सका और उसका उल्लेख भागवत मे विरल नहीं है। इस प्रेम में पर का दार्शनिक मूल है 'स्व' को अस्वीकार करना। फिर तो बृहदारण्यक के 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' के अनुसार वह प्रेम विरह-सापेक्ष ही होगा। किंतु सिद्धों मे आगम के बाद रहस्यवाद की धारा—अपनी प्रचलित भाषा में जिसे वे संध्या-भाषा कहते थे—अविच्छिन्न रक्खी और सहज आनंद के उपासक बने रहे।

अनुभव सहज मा मोल रे जोई।
चोकोट्टि विभुका जइसो तइसो होई॥
जइसने आछिले स वइसन अच्छ।
सहज पथिक जोई भान्ति माहो बास॥ (नारोपा)

वे शैवागम की अनुकृति ही नही, शिव की योगीश्वर-मूर्त्ति की भावना भी आरोपित करते थे।

नाडि शक्ति दिर धरिय खदे।
अनहा डमरू बाजए वीर नादे॥
कह्न कपाली योगी पइठ अचारे।
देह न अरी बिहरय एकारें॥ (कण्हपा)

इन आगमानुयायी सिद्धों में आत्म-अनुभूति स्वापेक्ष थी। परोक्ष विरह उनके समीप न था। वह प्रेमकथा स्वपर्यवसित थी। उस प्रेमरूपक की एक कल्पना देखिये :—

ऊँचा-ऊँचा पावत तहिं बसइ सबरी बाली।
मोरंगि पीच्छ परहिण सबरी गिवत गुंजरी माली॥

उमत सबरो पागल सबरो माकर गुली गुहाउर ।
तोहोरि णिय घरिणी णामे सहज सुंदरी ।। (शबरपा)

ऊपरवाला पद्य शबरी रागिनी में है। संभवत: शबरी रागिनी आसावरी का पहला नाम है। सिद्ध लोग अपनी साधना में संगीत की योजना कर चुके थे। नादानुसंधान की आगमोक्त साधना के आधार पर बाह्य नाद का भी इनकी साधना में विकास हुआ था, ऐसा प्रतीत होता है। 'अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तः' सिद्धों ने आनंद के लिए संगीत को भी अपनी उपासना में मिला कर जिस भारतीय संगीत में योग दिया है, उनमें भरत मुनि के अनुसार पहले ही से नटराज के संगीतमय नृत्य का मूल था। सिद्धों की परंपरा में संभवत: बैजू बावरा आदि संगीतनायक थे, जिन्होंने अपने ध्रुपदों में योग का वर्णन किया है।

इन सिद्धों ने ब्रह्मानंद का भी परिचय प्राप्त किया था। सिद्ध भुसुक कहते हैं—

विरमानंद विलक्षण सूध जो येथू दूझै सो येथु बूध ।
भुसुक भणइ मह बूझिय मेले सहजानंद महासुह लेलें ।।

इन लोगों ने भी वेद, पुराण और आगमों का कबीर की तरह तिरस्कार किया है। कदाचित् पिछले काल के संतों ने इन सिद्धों का ही अनुकरण किया है।

आगम वेद पुराणे पंडिठ मान बहन्ति ।
पक्क सिरिफल अलिय जिमबाहेरित भ्रमयन्ति ।। (कण्हपा)

आगमों में ऋग्वेद के काम की उपासना कामेश्वर के रूप में प्रचलित थी और उसका विकसित स्वरूप परिमार्जित भी था। वे कहते थे –

जायया संपरिष्वक्तो न बाह्यं वेद नांतरम् ।
नि.र्शनं श्रुतिः प्राह मूर्खस्तं मन्यते विधिम् ।।

फिर भी सहजानंद के पीछे बौद्धिक गुप्त कर्मकांड की व्यवस्था भयानक हो चली थी और वह रहस्यवाद की बोधमयी सीमा को उच्छृंखलता से पार कर चुकी थी। हिन्दी के इन आदि रहस्यवादियों को, आनंद के सहज साधकों को, बुद्धिवादी निर्गुण संतों को स्थान देना पड़ा। कबीर इसी परंपरा के सबसे बड़े कवि हैं। कबीर में विवेकवादी राम का अवलंब है और संभवत: वे भी 'साधो सहज समाधि भली' इत्यादि में सिद्धों की सहज भावना को ही, जो उन्हें आगमवादियों से मिली थी, दोहराते हैं। कवित्व की दृष्टि से भी कबीर पर सिद्धों की कविता की छाया है। उन पर कुछ मुसलमानी प्रभाव भी पड़ा अवश्य; परंतु शामी पैगंबरों से अधिक उनके समीप थे वैदिक ऋषि, तीर्थंकर, नाथ और सिद्ध। कबीर के बाद तथा कुछ-कुछ समकाल में ही कृष्णवाली मिश्र रहस्य की धारा आरंभ हो चली थी। निर्गुण राम और सुधारक रहस्यवाद के साथ ही तुलसीदास के सगुण समर्थ राम का भी वर्णन सामने आया। कहना असंगत न होगा कि उस समय हिंदी-साहित्य में रहस्यवाद की

इतनी प्रबलता थी कि स्वयं तुलसीदास को भी अपने महाप्रबंध में रहस्यात्मक संकेत रखना पड़ा। कदाचित् इसीलिए उन्होंने कहा है—अस मानस मानस चख चाही। किंतु कृष्णचंद्र में आनंद और विवेक का, प्रेय और सौंदर्य का सम्मिश्रण था। फिर तो ब्रज के कवियों ने राधिका-कन्हाई-सुमिरन के बहाने आनंद की सहज भावना परोक्षभाव में की। मीरा और सूरदास ने प्रेम के रहस्य का साहित्य-संकलन किया। देव, रसखान, घनआनंद इन्हीं के अनुयायी थे। मीरा ने कहा—

सूली ऊपर सेज पिया की, किस विधि मिलणो होय।

यह प्रेम, मिलन की प्रतीक्षा में—सदैव विरहोन्मुख रहा। देव ने भी कुछ इसी धुन में कहना चाहा—

हौं ही ब्रज वृंदावन मोंहि में बसत सदा
जमुना तरंग स्याम रंग अवलीन की।
चहुँ ओर सुंदर सघन वन देखियत,
कुंजन मे सुनियत गुंजन अलीन की॥
बंसीवट-तट नटनागर नटत मो में,
रास के विलास की मधुर धुनि बीन की।
भर रही भनक बनक ताल तानन की
तनक तनक ता में खनक चुरीन की॥

परंतु वे वृंदावन ही बन सके, श्याम नहीं। यह प्रेम का रहस्यवाद विरह-दुःख से अधिक अभिभूत रहा। यद्यपि कुछ लोगो ने इसमे सहज आनंद की योजना भी की थी और उसमें माधुर्य-महाभाव के उज्ज्वल नीलमणि को परकीय प्रेम के कारण गोप्य और रहस्यमूलक बनाने का प्रयत्न भी किया था, परंतु द्वैतमूलक होने के कारण तथा बाह्य आवरण मे बुद्धिवादी होने से यह विषय में साहित्यिक ही अधिक रहा। निर्गुण संप्रदायवाले संतो ने भी राम की बहुरिया बन कर प्रेम और विरह की कल्पना कर ली थी; किंतु सिद्धों की रहस्य-संप्रदाय की परंपरा में तुकनगिरि और रसालगिरि आदि ही शुद्ध रहस्यवादी कवि लावनी मे आनंद और अद्वयता की धारा बहाते रहे।

साहित्य में विश्वसुंदरी प्रकृति में चेतनता का आरोप संस्कृत-वाङ्मय में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद, आनंद-लहरी के 'शरीरं त्वं शंभो' का अनुकरण-मात्र है। वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौंदर्यमयी व्यंजना होने लगी है, वह साहित्य मे रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा अहं का इदम् से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बन कर इसमें सम्मिलित है। वर्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी संपत्ति है, इसमें संदेह नहीं।



रस

जब काव्यमय श्रुतियों का काल समाप्त हो गया और धर्म ने अपना स्वरूप अर्थात् शास्त्र और स्मृति बनाने का उपक्रम किया—जो केवल तर्क पर प्रतिष्ठित था—तब मनु को भी कहना पड़ा—यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म वेदनेतरः।

परंतु आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति, जो मानव-ज्ञान की अकृत्रिम धारा थी, प्रवाहित रही। काव्य की धारा लोकपक्ष से मिलकर अपनी आनंद साधना में लगी रही। यद्यपि शास्त्रों की परंपरा ने आध्यात्मिक विचार का महत्त्व उससे छीन लेने का प्रयत्न किया, फिर भी अपने निषेधों की भयानकता के कारण, हृदय के समीप न होकर वह अपने शासन का रूप ही प्रकट कर सकी। अनुभूतियाँ काव्य-परंपरा में अभिव्यक्त होती रहीं। 'जाग्राह पाठ्यम् ऋग्वेदात्' (भरत) से यह स्पष्ट होता है कि सर्वसाधारण के लिए वेदों के आधार पर काव्यों का पंचम वेद की तरह प्रचार हुआ। भारतीय वाङ्मय में नाटकों को ही सब से पहले काव्य कहा गया।

काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपात्मकमेव (अभिनवगुप्त)

शैवागमों के 'क्रीड़त्वेनाखिलम् जगत्' वाले सिद्धान्त का नाट्य-शास्त्र में व्यावहारिक प्रयोग है।

इन्हीं नाट्योपयोगी काव्यों में आत्मा की अनुभूति रस के रूप में प्रतिष्ठित हुई। अभिनवगुप्त ने कहा है 'आस्वादनात्माऽनुभवो रसः काव्यार्थमुच्यते'। नाटकों मे भरत के मत से चार ही मूल रस है—शृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स। इनसे अन्य चार रसों की उत्पत्ति मानी गयी। शृंगार से हास्य, वीर से अद्भुत, रौद्र से करुण और बीभत्स से भयानक। इन चित्तवृत्तियों में आत्मानुभूति का विलास आरंभिक विवेचकों को रमणीय और उत्कर्षमय मालूम हुआ। नाट्यों में वाणी के छंद, गद्य और संगीत इन तीनों प्रकारों का समावेश था। इस तरह आभ्यंतर और बाह्य दोनों में नाट्य-संघटना पूर्ण हुई। रसात्मक अनुभूति आनंदमात्रा से संपन्न थी और तब नाटकों में रस का आवश्यक प्रयोग माना गया; किंतु रस संबंधी भरत मुनि के सूत्र ने भावी आलोचकों के लिए अद्भुत सामग्री उपस्थित की। 'विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः' की विभिन्न व्याख्याएँ होने लगीं। स्वयं भरत ने लिखा है 'तथा विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायीभावो रसनाम लभते' (नाट्यशास्त्र, अ० ७) अर्थात् प्रमुखस्थायी मनोवृत्तियाँ विभाव, अनुभाव, व्यभिचारियों के संयोग से रसत्व

को प्राप्त होती है। आनंद के अनुयायियों ने धार्मिक बुद्धिवादियों से अलग सर्वसाधारण मे आनंद के प्रचार करने के लिए नाट्य-रसों की उद्भावना की थी। हाँ, भारत में नाट्य-प्रयोग केवल कुतूहल-शांति के लिए ही नही था। अभिनव भारती में कहा है—

"तदनेन पारमार्थिकम् प्रयोजनमुक्तमिति व्याख्यानम् सहृदयदर्पणे प्रत्यग्रहीत् यदाह—नमस्त्रैलोक्यनिर्माणकवये शंभवे यतः! प्रतिक्षणम् जगन्नाट्यप्रयोगरसिको जनः! इति एवं नाट्यशास्त्रप्रवचनप्रयोजनम्।" नाट्यशास्त्र का प्रयोजन नटराज शंकर के जगन्नाटक का अनुकरण करने के लिए पारमार्थिक दृष्टि से किया गया था। स्वयं भरत मुनि ने भी नाट्य-प्रयोग को एक यज्ञ के स्वरूप मे ही माना था।

इज्यया चानया नित्यं प्रीयन्तां देवता इति (४ अध्याय)

इधर विवेक या बुद्धिवादियो की वाङ्मयी धारा, दर्शनों और कर्मपद्धतियो तथा धर्मशास्त्रों का प्रचार करके भी, जनता के समीप न हो रही थी। उन्होंने पौराणिक कथानकों के द्वारा वर्णनात्मक उपदेश करना आरंभ किया। उनके लिए भी साहित्यिक व्याख्या की आवश्यकता हुई। उन्हे केवल अपनी अलंकारमयी सूक्तियो पर ही गर्व था; इसलिए प्राचीन रसवाद के विरोध मे उन्होंने अलंकार मत खड़ा किया, जिसमे रीति और वक्रोक्ति इत्यादि का समावेश था।

इन लोगो के पास रस-जैसी कोई आभ्यंतरिक वस्तु न थी। अपनी साधारण धार्मिक कथाओ में वे काव्य का रग चढाकर सूक्ति, वाग्विकल्प और वक्रोक्ति के द्वारा जनता को आकृष्ट करने मे लगे रहे। शिलालिन, कृशाश्व और भरत आदि के ग्रन्थ अपनी आलोचना और निर्माण-शैली की व्याख्या के द्वारा रस के आधार थे। अलकार की आलोचना और विवेचन के लिए भी उसी तरह के प्रयत्न हुए। भामह ने पहले काव्यशरीर का निर्देश किया और अर्थालंकार तथा शब्दालंकार का विवेचन किया। इनके अनुयायी दंडी ने रीति को प्रधानता दी। सौदर्य-ग्रहण की पद्धति समझने के लिए वाग्विकल्पो के चारुत्व का अनुशीलन होने लगा। अलंकार का महत्त्व बढ़ा, क्योंकि वे काव्य की शोभा मान लिये गये थे। पिछले काल मे तो वे कनक-कुडल की तरह आभूषण ही समझ लिये गये। काव्यालंकार सूत्रों मे ये आलोचक कुछ और गहरे उतरे और उन्होंने अलंकारो की व्याख्या सौदर्य-बोध के आधार पर करने का प्रयत्न किया।

काव्यम् ग्राह्यमलंकारात्, सौदर्यमलंकारः--इत्यादि से सौंदर्य की प्रतिष्ठा अलंकार मे हुई। काव्य के सौदर्य-बोध का आधार शब्दविन्यास-कौशल ही रहा। इसी को वे रीति कहते थे। 'विशिष्ट-पद-रचना रीतिः' से यह स्पष्ट है। रीति, अलंकार तथा वक्रोक्ति श्रव्य काव्यो के संबंध मे विचार करने वालो के निर्माण थे, इसलिए आरंभ मे इन लोगों ने रस को भी एक तरह का अलंकार ही माना और उसे रसवद् अलकार कहते थे। अलंकार मत के रीति-ग्रन्थों के जितने लेखक हुए, उन्होंने

शब्दों को ही प्रधान मान कर अपने काव्य-लक्षण बनाये। "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्", 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' इत्यादि।

इन परिभाषाओं में शब्द और वाक्य ही काव्यरूप माने गये हैं। पंडितराज ने तो 'तददोषौ शब्दार्थौ' में से अर्थ का बहिष्कार करने का भी आग्रह किया है। शब्द-मात्र ही काव्य है, शब्द और अर्थ दोनों नहीं। भले ही उसमें से रमणीयार्थ निकलना आवश्यक हो, पर काव्य है शब्द ही। इन शब्द-विन्यास-कौशल का समर्थन करनेवालों को भी रस की आवश्यकता प्रतीत हुई; क्योंकि रस-जैसी वस्तु इनके काव्य-शरीर की आत्मा बन सकती थी। 'शृंगारतिलक' में स्वीकार किया गया है कि—

प्रायो नाट्यं प्रति प्रोक्ता भरताद्यैः रसस्थितिः
यथामति मयाप्येषा काव्ये प्रतिनिगद्यते।

आलंकारिकों के काव्य-शरीर या बाह्य-वस्तु से साहित्यिक आलोचना पूर्ण नही हो सकती थी। कहा जाता है कि 'अभिव्यंजनावाद अनुभूति या प्रभाव का विचार छोड़कर वाक्वैचित्र्य को पकड़ कर चला, पर वाक्वैचित्र्य हृदय गंभीर वृत्तियों से कोई संबंध नहीं, वह केवल कुतूहल उत्पन्न करता है। तब तो यह मानना पड़ेगा कि विशिष्ट-पद-रचना-रीति और वक्रोक्ति को प्रधानता देनेवाले अलंकारवादी भामह, दंडी, वामन और उद्भट आदि अभिव्यंजनावादी ही थे।

साहित्य में विकल्पात्मक मनन-धारा का प्रभाव इन्ही अलंकारवादियों ने उत्पन्न किया तथा अपनी तर्क-प्रणाली·शास्त्र की स्थापना की; किन्तु संकल्पात्मक अनुभूति की वस्तु रस का प्रलोभन, कदाचित् उन्हें अभिनव गुप्त की ओर से ही मिला। उन्होंने रस के संबंध में ध्वन्यालोक की टीका में लिखा है—

'काव्येऽपि लोकनाट्यधर्मिस्थानीये स्वभावोक्तिवक्रोक्तिप्रकारद्वयेनालौकिक-प्रसन्नमधुरौजस्विशब्द समर्प्यमाण विभावादियोगादियमेव रसवार्त्ता। अस्तु वा नाट्याद्विचित्ररूपा रसप्रतीतिः।'

रस को अपनाकर भी इन बुद्धिवादी तार्किकों ने अपने पांडित्य के बल पर उसके संबंध में नये-नये वाद खड़े किये। रस किसे कहते हैं, उसकी व्यापार-सीमा कहाँ तक है, वह व्यंग्य है कि वाच्य, इस तरह के बहुत-से मतभेद उपस्थित हुए। दार्शनिक युक्तियाँ लगाई गई। रस कार्य हैं कि अनुमेय, भोज्य हैं कि ज्ञाप्य—इन प्रश्नों पर रस का, काव्य और नाटक दोनों में समन्वय करने की दृष्टि से विचार होने लगा; क्योंकि इस काल में काव्य से स्पष्टतः श्रव्य काव्य का और नाटक से दृश्य का अर्थ किया जाने लगा था। किन्तु सामाजिकों या अभिनेताओं में आस्वाद्य वस्तु रस के लिए भरत की व्यवस्था के अनुसार सात्त्विक, आंगिक, वाचिक और आहार्य इन चारों क्रियाओं की आवश्यकता थी। अलंकारवादियों के पास केवल

वाचिक का ही बल था। फिर तो रस को श्रव्य काव्योपयोगी बनाने के लिए कई उपाय किये गये। उन्ही मे से एक उपाय आक्षेप भी है। आक्षेप के द्वारा विभाव, अनुभाव या सचारी मे से एक भी अन्य दोनो को ग्रहण करने मे समर्थ हो जाता है। रस के सबध मे विकल्पवादियो के ये आरोपित तर्क थे। आनद परंपरावाले शैवागमो की भावना मे प्रकृत रस की सृष्टि सजीव थी। रस की अभेद और आनदवाली व्याख्या हुई। भट्ट नायक ने साधारणीकरण का सिद्धात प्रचारित किया, जिसके द्वारा नट, सामाजिक तथा नायक की विशेषता नष्ट होकर, लोक-सामान्य प्रकाश-आनदमय, आत्मचैतन्य की प्रतिष्ठा रस मे हुई।

रस और अलकार दोनो सिद्धातो मे समझौता कराने के लिए ध्वनि की व्याख्या अलकारसरणि-व्यवस्थापक आनदवर्द्धन ने इस तरह से की कि ध्वनि के भीतर ही रस और अलकार दोनो आ गये। इन दोनो से भी जो साहित्यिक अभिव्यक्ति बची, उसे वस्तु कह कर ध्वनि के अतर्गत माना गया। काव्य की आत्मा ध्वनि को मान कर रस, अलकार और वस्तु, इन तीनो को ध्वनि का ही भेद समझने का उपक्रम हुआ। फिर भी आनन्दवर्द्धन ने यह स्वीकार किया कि वस्तु और अलकार से प्रधान रस ध्वनि ही है— प्रतीयमानस्य चान्यप्रभेददर्शनेपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणम् प्राधान्यात्। आनन्दवर्द्धन ने रस-ध्वनि को प्रधान माना, परन्तु अभिनव गुप्त ने 'ध्वन्यालोक' की ही टीका मे अपनी पाण्डित्यपूर्ण विवेचन-शैली मे यह सिद्ध किया कि काव्य की आत्मा रस ही है—तेन रसमेव वस्तुतः आत्मा वस्त्वलकारध्वनिस्तु सर्वथा रस प्रतिपर्यवस्यते (लोचन)।

यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि अलकार-व्यवस्थापक आनन्दवर्द्धन ने श्रव्य काव्यो मे भी रसो का उपयोग मान लिया था, परन्तु आत्मा के रूप मे ध्वनि की ही प्रधानता इस विचार से रक्खी कि अलकारमत मे रस-जैसी नाट्यवस्तु सबसे अधिक प्रमुख न हो जाय। यह सिद्धातो की लड़ाई थी। आनन्दवर्द्धन ने रस की दृष्टि से विवेचना करते हुए महाभारत को शात-रस-प्रधान और रामायण को करुण-रस का प्रबध माना, किन्तु मुक्तको मे रस की निष्पत्ति कठिन देखकर उन्होने यह भी कहा कि श्रव्य के अन्तर्गत मुक्तक काव्यो मे रस की निबधना अधिक प्रयत्न करने पर ही कदाचित् सम्भव हो सकेगी।

प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन् बद्धुमिच्छता।
यत्न कार्य्यं सुमतिना परिहारे विरोधिना॥
अन्यथात्वस्य रसमयश्लोक एकोपि सम्यक् न सम्पद्यते।

आनन्दवर्द्धन भी काश्मीर के थे और उन्होने वहाँ के आगमानुयायी आनद सिद्धात के रस को तार्किक अलकार मत से संबद्ध किया। किन्तु माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त ने इन्ही की व्याख्या करते हुए अभेदमय आनन्द पथवाले शैवाद्वैतवाद के

अनुसार साहित्य में रस की व्याख्या की। नाटकों के स्वरूप तो उनके सिद्धांत और दार्शनिक पक्ष के अनुकूल ही थे। अभिनवगुप्त ने अपनी लोचन नाम की टीका में स्पष्ट ही लिखा है—

तदुत्तीर्णत्त्वे तु सर्वम् परमेश्वराद्वयम् ब्रह्मेत्यस्मच्छास्त्रानुसरणेन विदितम् तंत्रालोकग्रंथे विचारयेत्यास्ताम्।

अभिनव गुप्त ने रस की व्याख्या में आनन्द सिद्धांत की अभिनेय काव्यवाली परंपरा का पूर्ण उपयोग किया। शिवसूत्रों में लिखा है—नर्त्तक आत्मा, प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि। इन सूत्रों में अभिनय को दार्शनिक उपमा के रूप में ग्रहण किया गया है। शैवाद्वैतवादियों ने श्रुतियों के आनन्दवाद को नाट्य-गोष्ठियों में प्रचलित रक्खा था; इसलिए उनके यहाँ रस का सांप्रदायिक प्रयोग होता था। 'विगलित-भेदसंस्कारमानन्द-रसप्रवाहमयमेव पश्यन्ति' (क्षेमराज)। इस रस का पूर्ण चमत्कार समरसता में होता है। अभिनव गुप्त ने नाट्य-रसों की व्याख्या मे उसी अभेदमय आनन्द-रस को पल्लवित किया। भट्ट-नायक ने साधारणीकरण से जिस सिद्धांत की पुष्टि की थी, अभिनवगुप्त ने उसे अधिक स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि वासनात्मकतया स्थित रति आदि वृत्तियाँ साधारणीकरण-द्वारा भेद-विगलित हो जाने पर आनन्द-स्वरूप हो जाती है। उनका आस्वाद- ब्रह्मास्वाद के तुल्य होता है (परब्रह्मास्वाद सब्रह्मचारित्वम् वास्त्वस्यरसस्य--लोचन) वासनात्मक रूप से स्थित रति आदि वृत्तियों में ब्रह्मास्वाद की कल्पना साहित्य में महान् परिवर्त्तन लेकर उपस्थित हुई। रति आदि कई वृत्तियाँ स्थायी मानी जा चुकी थी; किन्तु आलोचक एक आत्मा की खोज में थे। रस को अपनाकर वे कुछ द्विविधा में पड़ गये थे। आनन्दवादियों की यह व्याख्या उन सब शंकाओं का समाधान कर देती थी। उनके यहाँ कहा गया है 'लोकानन्दः समाधिसुखं' (शिवसूत्र १।१८)। क्षेमराज उसकी टीका में कहते हैं 'प्रमातृपदविश्रांति अवधानान्तश्चमत्कारमयो य आनन्द एतदेव अस्य समाधि सुखम्'। इस प्रमातृपद-विश्रांति में जिस चमत्कार या आनन्द का लोकसंस्थ आनन्द के नाम से संकेत किया गया है, वही रस के साधारणीकरण मे प्रकाशानन्दमय सम्विद् विश्रांति के रूप में नियोजित था। इन आलोचकों का यह सिद्धांत स्थिर हुआ कि चित्तवृत्तियों की आत्मानन्द में तल्लीनता समाधि-सुख ही है। साहित्य में भी इस दार्शनिक परिभाषा को मान लेने से चित्त की स्थायी वृत्तियों की बहुसंख्या का कोई विशेष अर्थ नही रह गया। सब वृत्तियों का प्रमातृपद —अहम् मे विश्रांत होना ही पर्याप्त था। अभिनव के आगमाचार्य गुरु उत्पल ने कहा है कि—प्रकाशस्यात्मविश्रांतिरहंभावो हि कीर्त्तितः।

प्रकाश का यहाँ तात्पर्य है चैतन्य। यह चेतना जब आत्मा में ही विश्रांति पा जाय वही पूर्ण अहंभाव है। साधारणीकरण-द्वारा आत्म-चैतन्य का रसानुभूति में —

पूर्ण अहंपद में विश्रांत हो जाना —आगमों की ही दार्शनिक सीमा है। साहित्य-दर्पणकार की रस-व्याख्या में उन्हीं लोगों की शब्दावली भी है—स्वत्वोद्रेकादखंडस्व प्रकाशानन्दचिन्मयः, इत्यादि।

यह रस बुद्धिवादियों के पास गया, तो धीरे-धीरे स्पष्ट हो गया कि रस के मूल में चैतन्य की भिन्नता को अभेदमय करने का तत्व है। फिर तो चमत्कारापरपर्याय अनुभवसाक्षिक रस को पंडितराज जगन्नाथ ने आगमवादियों की ही तरह 'रसो वै सः, रसं ह्येव लब्ध्वाऽनन्दीभवति' के प्रकाश में आनन्द ब्रह्म ही मान लिया।

संभवतः इसीलिए दु.खांत प्रबंधों का निषेध भी किया गया। क्योंकि विरह तो उनके लिए प्रत्यभिज्ञान का साधन, मिलन का द्वार था। चिर-विरह की कल्पना आनन्द में नही की जा सकती। शैवागमों के अनुयायी नाट्यों में इसी कल्पित विरह या आवरण का हटना ही प्राय दिखलाया जाता रहा। अभिज्ञान शाकुन्तल इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। बुद्धिवाद के अनन्य समर्थक व्यास की कृति महाभारत शांत रस के अनुकूल होने पर भी दुःखांत है। रामायण भी दु खात ही है।

शैवागम के आनन्द-संप्रदाय के अनुयायी रसवादी, रस की दोनों सीमाओं श्रृंगार और शांत को स्पर्श करते थे। भरत ने कहा—

भावा विकारा रत्याद्य शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः
विकारा· प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते।

यह शात रस निस्तरंग महोदधिकल्प समरसता ही है। किंतु बुद्धि द्वारा सुख की खोज करने वाले संप्रदाय ने रमों में श्रृंगार को महत्त्व दिया और आगे चल कर शैवागमों के प्रकाश मे साहित्य की रस व्याख्या से संतुष्ट न होकर, उन्होंने श्रृंगार का नाम मधुर रख लिया। कहना न होगा कि उज्ज्वल नीलमणि का संप्रदाय बहुत कुछ विरहोन्मुख ही रहा, और भक्ति-प्रधान भी। उन्होंने कहा है—

मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेनोदितोरहस्यत्वात्,
पृथगेव भक्तिरसराट् सविस्तरेणोच्यते मधुरः।

कदाचित् प्राचीन रसवादी रस की पूर्णता भक्ति मे इसीलिए नही मानते थे कि उसमें द्वैत का भाव रहता था। उसमें रमाभास की ही कल्पना होती थी। आगमों में तो भक्ति भी अद्वैतमूला थी। उनके यहाँ द्वैत-प्रथा 'तद्ज्ञानतुच्छत्वात् बंधमुच्यते' के अनुसार द्वैत बंधन था। इस मधुर-संप्रदाय मे जिस भक्ति का परिपाक रस के रूप में हुआ, उसमें परकीया-प्रेम का महत्त्व इसीलिए बढ़ा कि वे लोग दार्शनिक दृष्टि से तत्व को 'स्व' से 'पर' मानते थे। उज्ज्वल नीलमणिकार का कहना है—

रागेणोल्लंघयन् धर्मम् परकीया बलार्थिना।
तदीय प्रेम वसति बुधैरुपपतिस्मृतः
अत्रैव परमोत्कर्षः श्रृंगारस्य प्रतिष्ठितः।

शृंगार का परम उत्कर्ष परकीया में मानने का यही दार्शनिक कारण है –जीव और ईश की भिन्नता। हाँ, इस लक्षण में धर्म का उल्लंघन करने का भी संकेत है। विवेकवादी भागवत धर्म ने जब आगमों के अनुकरण में आनन्द की योजना अपने संप्रदाय में की, तो उसमें इस प्रेमा-भक्ति के कारण श्रुति-परंपरा के धार्मिक बन्धनों को तोड़ने का भी प्रयोग आरम्भ हुआ। उनके लिए परमतत्त्व की प्राप्ति सांसारिक परम्परा को छोड़ने से ही हो सकती थी। भागवत का वह प्रसिद्ध श्लोक इसके लिए प्रकाश-स्तम्भ बना –

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम्
वृंदावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
यं दुस्त्यजं स्वजनमार्य्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुंदपदवी श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

यह आर्यपथ छोड़ने की भावना स्पष्ट ही श्रुति-विरोध में थी। आनन्द की योजना करने जा कर विवेकवाद के लिए दूसरा न तो उपाय था और न दार्शनिक समर्थन ही था। उन्होंने स्वीकार किया कि संसार में प्रचलित आर्य-सिद्धांत सामान्य लोक-आनन्द तत्व से परे, वह परम वस्तु है, जिसके लिए गोलोक में लास्य-लीला की योजना की गई; किन्तु समग्र विश्व के साथ तादात्म्य वाली समरसता और आगमों के स्पंद-शास्त्र के तांडवपूर्ण विश्व-नृत्य का पूर्ण भाव उसमें न था। इन लोगों के द्वारा जब रसों की दार्शनिक व्याख्या हुई, तब उसे प्रेम-मूलक रहस्य में ही परिणत किया गया और यह रहस्य गोप्य भी माना गया। 'उज्ज्वल नीलमणि' की टीका में एक जगह स्पष्ट कहा गया है—'अयमुज्ज्वलनीलमणिरेतन्मूल्यमजानद्भ्योऽनादरशंकया गोप्य एवेति'।

भारतेंदुजी ने अपनी चंद्रावली नाटिका में इसका संकेत किया है। इस रागात्मिका भक्ति के विकास में हास्य, करुण, वीभत्स इत्यादि प्राचीन रस गौण हो गये और दास्य, सख्य और वात्सल्य आदि नये रसों की सृष्टि हुई। माधुर्य के नेतृत्व में द्वैत-भावना से परिपुष्ट दास्य आदि रस प्रमुख बने। आनन्द की भावना इन आधुनिक रसों में विशृंखल ही रही। हिंदी के आरम्भ में श्रव्य काव्यों की प्रचुरता थी। उनमें भी रस की धारा अपने मूल उद्गम आनन्द से अलग होकर चिरविरहोन्मुख प्रेम के स्रोत में बही। यह बाढ़ वेगवती रही, किंतु उसमें रस की पूर्णता नहीं थी। तात्त्विक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से आत्मा की रस-अनुभूति एकांगी-सी बन गयी।

मनोभावों या चित्तवृत्तियों का और उनके सब स्वरूपों का नाट्य-रसों में आगमानुकूल व्याख्या से समन्वय हो गया था। अहम् की सब भावों में, सब अनुभूतियों में पूर्णता मान ली गयी थी। वह बात पिछले काल के रस-विवेचकों के द्वारा विशृंखल

हो गयी। हाँ, इतना हुआ कि सिद्धात-रूप से ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति और अलकार आदि सब मतों पर रस की सत्ता स्थापित हो गयी। वास्तव में भारतीय दर्शन और साहित्य दोनों का समन्वय रस मे हुआ था और यह साहित्यिक रस दार्शनिक रहस्य-वाद से अनुप्राणित है।

फिर भी रस अपने स्वरूप मे नाट्यों की अपनी वस्तु थी। और उसी में आत्मा की मूल अनुभूति[1] पूर्णता को प्राप्त हुई थी। इसीलिए स्वीकार किया गया—काव्येषु नाटकं रम्यम्।



१. 'आत्मा की मूल अनुभूति' के सन्दर्भ मे—'काव्य और कला' की अन्तिम पंक्ति'—'व्यापकता आत्मा की सकल्पात्मक मूल अनुभूति की है' और निबन्ध—'रहस्यवाद' की पहली पंक्ति 'काव्य मे आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है' अवलोक्य है। आत्मा की मूल अनुभूति सकल्पात्मक है, जो मनोमयी स्फुरत्ता के माध्यम से विकल्पात्म रगमच को अपने अभिनयार्थ अपने मे ही संरचित कर लेती है उसकी इस विश्ववपुषी परिणति को 'क्रीडत्वेनाखिलं जगत्' के द्वारा परिभाषित किया गया। एक लीला है—जो अहेतुकी होने से ही लीलापद वाच्य है।

—सम्पादक

नाटकों में रस का प्रयोग

पश्चिम ने कला को अनुकरण ही माना है; उसमें सत्य नहीं। उन लोगों का कहना है कि 'मनुष्य अनुकरणशील प्राणी है, इसलिए अनुकरण-मूलक कला में उसको सुख मिलता है।' किंतु भारत में रस सिद्धांत के द्वारा साहित्य में दार्शनिक सत्य की प्रतिष्ठा हुई; क्योंकि भरत ने कहा है—आत्माभिनयनं भावो (२६-३९)—आत्मा का अभिनय भाव है। भाव ही आत्म-चैतन्य में विश्रांति पा जाने पर रस होते है। जैसे विश्व के भीतर से विश्वात्मा की अभिव्यक्ति होती है, उसी तरह नाटकों से रस की। आत्मा के निजी अभिनय में भावसृष्टि होती है। जिस तरह आत्मा की और इदम् की भिन्नता मिटाने में अद्वैतवाद का प्रयोग है, उसी प्रकार एक ही प्रत्यगात्मा के भाव-वैचित्र्यों का—जो नर्त्तक-आत्मा के अभिनय-मात्र हैं—अभेद या साधारणीकरण भी रस में है। इस रस मे आस्वाद का रहस्य है। प्लेटो इसलिए अभिनेता मे चरित्रहीनता आदि दोष नित्य-सिद्ध मानता है; क्योंकि वे क्षण-क्षण म अनुकरणशील होते है, सत्य को ग्रहण नही कर पाते। किंतु भारतीयों की दृष्टि भिन्न है। उनका कहना है कि आत्मा के अभिनय को, वासना या भाव को अभेद आनन्द के स्वरूप मे ग्रहण करो। इसमे विशुद्ध दार्शनिक अद्वैत भाव का भोग किया जा सकता है। यह देवतार्चन है। आत्म-प्रसाद का आनन्द-पथ है। इसका आस्वाद ब्रह्मानन्द ही है।

आस्वाद के आधार पर विवेचना करने मे कहा जा सकता है कि आस्वाद तो केवल सामाजिको को ही होता है। नटों को उसमे क्या ? आधुनिक रंगमंच का एक दल कहता है कि 'नट को आस्वाद, अनुभूति की आवश्यकता नही। रंगमंच में हम वाह्य-विन्यास (मेक-अप) के द्वारा गूढ़-से-गूढ भावों का अभिनय कर लेते हैं।'[1] किंतु यह विवाद भारतीय रंगमंच के प्राचीन संचालकों में भी हुआ था। इसी तरह एक पक्ष कहता था—

1. The new make-up method is worked out by applying plastic material to a cast of the face, working out the desired character on it and fashioning facial inlays of a secret composition which, affixed with water-soluble gum also a secret can transform the face into another. The flexibility of the material

'अष्टावेव रसनाट्येष्विति केचिदचूचुदन्, तदचारुयत: किंचिन्नरसं स्वदते नट:।' अर्थात् नट को आस्वाद तो होता ही नहीं, इसलिए शांत भी क्यों न अभिनयोपयोगी रस माना जाय। यह कहना व्यर्थ है कि 'शांतस्य शमसाध्यत्त्वान्नटे चेतदसंभवात् अष्टावेव रसाः नाट्ये न शांतस्तत्र युज्यते'। शम का अभाव नटों में होता है। शांत का अभिनय असंभव है। नटों में तो किसी भी आस्वाद का अभाव है; इसलिए शांत रस भी अभिनीत हो सकता है, इसकी आवश्यकता नहीं कि नट परम शांत, संयत हो ही। किंतु साधारणीकरण में रस और आस्वाद की यह कमी मानी नहीं गयी। क्योंकि भरत ने कहा है कि—

इंद्रियार्थश्च मनसा भाव्यते ह्यनुभावित:
नवेत्तिह्यमना: किंचिद्विषयं पंचहेतुकम् ।। (२४-२८)

इंद्रियों के अर्थ की मन से भावना करनी पड़ती है—अनुभावित होना पड़ता है। क्योंकि अन्यमनस्क होने पर विषयों से उसका संबंध ही छूट जाता है।• फिर तो—क्षिप्रं संजातरोमांचा वाष्पेणावृतलोचना, कुर्वीत नर्त्तकी हर्षप्रीत्या वाक्यैश्च सस्मितै: (२६-५०)। इन रोमांच आदि सात्त्विक अनुभावों का पूर्ण अभिनय असंभव है। भरत ने तो और भी स्पष्ट कहा है—एवं बुधः परं भावं सोऽस्मीति मनसा स्मरन्। वागङ्गलीलागतिभिश्चेष्टाभिश्च समाचरेत् (३५-१४)। तब यह मान लेना पड़ेगा कि रसानुभूति केवल सामाजिकों मे ही नही, प्रत्युत नटों मे भी है। हाँ, रस-विवेचना में भारतीयों ने कवि को भी रस का भागी माना है। अभिनवगुप्त स्पष्ट कहते हैं—कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरस्सरो नाट्यव्यापार: सैव च संवित् परमार्थतो रस: (अभिनवभारती ६ अध्याय)। कवि में साधारणीभूत जो संवित् है, चैतन्य है, वही काव्यपुरस्सर होकर (अपने को—सं•) नाट्यव्यापार में नियोजित करता है, वही मूल संवित् परमार्थ मे रस है। अब यह सहज मे अनुमान किया जा सकता है कि रस-विवेचना मे सवित् का साधारणीकरण त्रिवृत् है। कवि, नट और सामाजिक में वह अभेद भाव से एक रस हो जाता है।

इधर एक निम्न कोटि की रसानुभूति की भी कल्पना हुई है। कुछ लोग कहते हैं कि 'जब किसी अत्याचारी के अत्याचार को हम रंगमंच पर देखते हैं, तो हम उस नट से अपना साधारणीकरण नही कर पाते। फलत: उसके प्रति रोष-भाव ही जाग्रत होता है; यह तो स्पष्ट विषमता है।' किंतु रस में फलयोग अर्थात् अंतिम संधि मुख्य है, इन बीच के व्यापारों में जो संचारी भावों के प्रतीक हैं; रस को खोज

permits every expression. Barrymore, a deep student of history, hopes to play many historical charactels by its use.

("Advance", 20 Dec., 36)

कर उसे छिन्न-भिन्न कर देना है। ये सब मुख्य रस वस्तु के सहायक-मात्र हैं। अन्वय और व्यतिरेक से, दोनों प्रकार से वस्तु-निर्देश किया जाता है। इसलिए मुख्य रस का आनंद बढ़ाने में ये सहायक-मात्र ही हैं, वह रसानुभूति निम्न कोटि की नहीं होती। इस कल्पना के और भी कारण हैं। वर्त्तमान काल में नाटकों के विषयों के चुनाव में मतभेद है। कथा-वस्तु भिन्न प्रकार से उपस्थित करने की प्रेरणा बलवती हो गयी है। कुछ लोग प्राचीन रस-सिद्धांत से अधिक महत्त्व देने लगे हैं—चरित्र-चित्रण पर। उनसे भी अग्रसर हुआ है दूसरा दल, जो मनुष्यों के विभिन्न मानसिक आकारों के प्रति कुतूहलपूर्ण है; अथच व्यक्ति-वैचित्र्य पर विश्वास रखनेवाला है। ये लोग अपनी समझी हुई कुछ विचित्रता-मात्र को स्वाभाविक चित्रण कहते हैं, क्योंकि पहला चरित्र-चित्रण तो आदर्शवाद से बहुत घनिष्ठ हो गया है, चारित्र्य का समर्थक है, किंतु व्यक्ति-वैचित्र्यवाले अपने को यथार्थवादियों में ही रखना चाहते हैं।

यह विचारणीय है कि चरित्र-चित्रण को प्रधानता देनेवाले ये दोनों पक्ष रस से कहाँ तक संबद्ध होते हैं। इन दोनों पक्षों का रस से सीधा संबंध तो नहीं दिखाई देता; क्योंकि इसमें वर्त्तमान युग की मानवीय मान्यताएँ अधिक प्रभाव डाल चुकी हैं, जिसमें व्यक्ति अपने को विरुद्ध स्थिति में पाता है। फिर उसे साधारणतः अभेदवाली कल्पना, रस का साधारणीकरण कैसे हृदयंगम हो? वर्त्तमान युग बुद्धिवादी है, आपाततः उसे दुःख को प्रत्यक्ष सत्य मान लेना पड़ा है। उसके लिए संघर्ष करना अनिवार्य-सा है। किंतु इसमें एक बात और भी है। पश्चिम को उपनिवेश बनानेवाले आर्यों ने देखा कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए मानवीय भावनाएं विशेष परिस्थिति उत्पन्न कर देती हैं। उन परिस्थितियों से व्यक्ति अपना सामंजस्य नहीं कर पाता। कदाचित् दुर्गम भूभागों में, उपनिवेशों की खोज में, उन लोगों ने अपने को विपरीत दशा में ही भाग्य से लड़ते हुए पाया। उन लोगों ने जीवन की इस कठिनाई पर अधिक ध्यान देने के कारण इस जीवन को (ट्रेजडी) दुःखमय ही समझ पाया (लिया-सं०)। और यह उनकी मनुष्यता की पुकार थी—आजीवन लड़ने के लिए। ग्रीक और रोमन लोगों को बुद्धिवाद—भाग्य से, और उसके द्वारा उत्पन्न दुःखपूर्णता से संघर्ष करने के लिए अधिक अग्रसर करता रहा। उन्हें सहायता के लिए संघबद्ध होने पर भी, व्यक्तित्व के, पुरुषार्थ के विकास के लिए, मुक्त अवसर देता रहा; इसलिए उनका बुद्धिवाद, उनकी दुख-भावना के द्वारा अनुप्राणित रहा। इसी को साहित्य में उन लोगों ने प्रधानता दी। यह भाग्य या नियति की विजय थी।

परंतु अपने घर में सुव्यवस्थित रहनेवाले आर्यों के लिए यह आवश्यक न था, यद्यपि उनके एक दलने संसार में सबसे बड़े बुद्धिवाद और दुःख-सिद्धांत का प्रचार किया, जो विशुद्ध दार्शनिक ही रहा। साहित्य में उसे स्वीकार नहीं किया गया। हाँ, यह एक प्रकार का विद्रोह ही माना गया। भारतीय आर्यों को निराशा न थी।

करुण रस था, उसमें दया, सहानुभूति की कल्पना से अधिक थी रसानुभूति। उन्होंने प्रत्येक भावना में अभेद, निर्विकार आनंद लेने में अधिक सुख माना।

आत्मा की अनुभूति व्यक्ति और उसके चरित्र-वैचित्र्य को लेकर ही अपनी सृष्टि करती है। भारतीय-दृष्टिकोण रस के लिए इन चरित्र और व्यक्ति-वैचित्र्य को रस का साधन मानता रहा, साध्य नहीं। रस में चमत्कार ले आने के लिए इनको बीच का माध्यम-सा ही मानता आया। सामाजिक इतिहास में साहित्य-सृष्टि के द्वारा, मानवीय वासनाओं को संशोधित करनेवाला पश्चिम का सिद्धान्त व्यापारों में चरित्र-निर्माण का पक्षपाती है। यदि मनुष्य ने कुछ भी अपने को कला के द्वारा संभाल पाया, तो साहित्य ने संशोधन का काम कर लिया। दया और सहानुभूति उत्पन्न कर देना ही उसका ध्येय रहा और है भी। वर्त्तमान साहित्यिक प्रेरणा -- जिसमें व्यक्ति-वैचित्र्य और यथार्थवाद मुख्य हैं -- मूल मे संशोधनात्मक ही है। कही व्यक्ति से सहानुभूति उत्पन्न करके समाज का संशोधन है; और कही समाज की दृष्टि से व्यक्ति का! किंतु दया और सहानुभूति उत्पन्न करके भी वह दुःख को अधिक प्रतिष्ठित करता है, निराशा को अधिक आश्रय देता है। भारतीय रसवाद में मिलन, अभेद सुख की सृष्टि मुख्य है। रस में लोकमंगल की कल्पना प्रच्छन्न रूप से अन्तर्निहित है। सामाजिक स्थूल रूप से नहीं, किंतु दार्शनिक सूक्ष्मता के आधार पर। वासना से ही क्रिया संपन्न होती है. और क्रिया के संकलन से व्यक्ति का चरित्र बनता है। चरित्र में महत्ता का आरोप हो जाने पर, व्यक्तिवाद का वैचित्र्य उन महती लीलाओं से विद्रोह करता है। यह है पश्चिम की कला का गुणनफल! रसवाद में वासनात्मकतया स्थित मनोवृत्तियाँ, जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है, साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती हैं; इसलिए वह वासना का संशोधन करके उनका साधारणीकरण करता है। इस समीकरण के द्वारा जिस अभिन्नता की रससृष्टि वह करता है, उसमें व्यक्ति की विभिन्नता, विशिष्टता हट जाती है, और साथ ही सब तरह की भावनाओं को एक धरातल पर हम एक मानवीय वस्तु कह सकते हैं। सब प्रकार के भाव एक-दूसरे के पूरक बनकर, चरित्र और वैचित्र्य के आधार पर रूपक बनाकर, रस की सृष्टि करते हैं[1]। रसवाद की यही पूर्णता है।



१. तत्तदिन्द्रिय मुखेन सन्ततं युष्मदर्चन रसायनासवम्।
सर्व भाव चषकेषु पूरितेष्वापिबन्नपि भवेयमुन्मदः॥
(आचार्य उत्पल-संग्रह स्तोत्र ८)

नाटकों का आरंभ

कहा जाता है कि 'साहित्यिक इतिहास के अनुक्रम में पहले गद्य, तब गीति-काव्य और इसके पीछे महाकाव्य आते हैं; किन्तु प्राचीनतम संचित साहित्य ऋग्वेद छन्दात्मक है। यह ठीक है कि नित्य के व्यवहार में गद्य की ही प्रधानता है; किन्तु आरम्भिक साहित्य-सृष्टि सहज में कंठस्थ करने के योग्य होनी चाहिए; और पद्य इसमें अधिक सहायक होते हैं। भारतीय वाङ्मय में सूत्रों की कल्पना भी इसीलिए हुई कि वे गद्य-खंड सहज ही स्मृतिगम्य रहें। वैदिक साहित्य के बाद लौकिक साहित्य में भी रामायण तथा महाभारत आदि-काव्य माने जाते हैं। इन ग्रन्थों को काव्य मानने पर लौकिक-साहित्य मे भी पहले-पहल पद्य ही आये; वैदिक-साहित्य में ऋचाएँ आरम्भ में थीं' फिर तो इस उदाहरण से यह नहीं माना जा सकता कि पहले गद्य, तब गीति-काव्य, फिर महाकाव्य आते हैं।

संस्कृत के आदि-काव्य रामायण (वाल्मीकीय) में भी नाटकों का उल्लेख है—वधुनाटकसंघैश्च संयुक्ताम् सर्वत: पुरीम्—१४-५ अध्याय बालकांड सर्ग। ये नाटक केवल पद्यात्मक ही रहे हों, ऐसा अनुमान नहीं किया जा सकता। संभवत: रामायणकाल के नाटकसंघ बहुत प्राचीन काल से प्रचलित भारतीय वस्तु थे। महाभारत में भी रम्भाभिसार के अभिनय का विशद वर्णन मिलता है। तब इन पाठ्य काव्यों से नाटक-काव्य प्राचीन थे, ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। भरत के नाट्य-शास्त्र में अमृतमंथन और त्रिपुरदाह नाम के नाटकों का उल्लेख मिलता है। भाष्यकार पतंजलि ने कंस-बध और बलि-बंध नामक नाटकों का उल्लेख किया है। इन प्राचीन नाटकों की कोई प्रतिलिपि नहीं मिलती। सम्भव है कि अन्य प्राचीन साहित्य की तरह ये सब नाटक नटों को कंठस्थ रहे होंगे। कालिदास ने भी जिन भास, सौमिल्ल और कविपुत्र आदि नाटककारों का उल्लेख किया है, उनमें अभी भास के ही नाटक मिले हैं, जिन्हें कुछ लोग ईसा से कई शताब्दी पहले का मानते हैं। नाटकों के सम्बन्ध में लोगों का कहना है कि उनके बीज वैदिक संवादों में मिलते हैं। वैदिक काल में भी अभिनय सम्भवत: बड़े-बड़े यज्ञों के अवसर पर होते रहे। एक छोटे-से अभिनय का प्रसंग सोमयाग के अवसर पर आता है। इसमें तीन पात्र होते थे -यजमान, सोम-विक्रेता और अध्वर्यु। यह ठीक है कि यह याज्ञिक क्रिया है किंतु है अभिनय-सी ही। क्योंकि सोमरसिक आत्मवादी इंद्र के अनुयायी इस याग की योजना करते रहे। सोम राजा का क्रय समारोह के साथ होता। सोमा राजा के लिए पाँच बार मोल-भाव किया जाता। सोम बेचनेवाले प्राय: बनवासी होते थे। उनसे मोल-भाव करने में पहले पूछा जाता—

'सोम-विक्रयी ! सोम राजा बेचोगे ?'

'बिकेगा।'

'तो लिया जायगा।'

'ले लो।'

'गौ की एक कला से उसे लूंगा।'

'सोम राजा इससे अधिक मूल्य के योग्य हैं।'

'गौ भी कम महिमावाली नहीं। इसमें मट्ठा, दूध, घी सब है।'

'अच्छा, आठवाँ भाग ले लो।'

'नही, सोम राजा अधिक मूल्यवान् है।'

'तो चौथाई लो।'

'नहीं और मूल्य चाहिए।'

'अच्छा आधी ले लो।'

'अधिक मूल्य चाहिए।'

'अच्छा, पूरी गौ ले लो, भाई।'

'तब सोम राजा बिक गये; परन्तु और क्या दोगे ? सोम का मूल्य समझकर और कुछ दो।'

'स्वर्ण लो, कपड़े लो, गाय के जोड़े, बछड़े वाली गौ, जो चाहो सब दिया जायगा।' (यह मानो मूल्य से अधिक चाहनेवाले को भुलावा देने के लिए अध्वर्यु कहता था)

फिर जब बेचने के लिए वह प्रस्तुत हो जाता, तब सोम-विक्रेता को सोना दिखलाकर ललचाते हुए निराश किया जाता। यह अभिनय कुछ काल तक चलता। 'सम्मेत इति सोमविक्रयिण हिरण्येनाभिकम्पयति' सूत्र की टीका मे कहा गया है 'हिरण्यं दत्त्वादत्त्वा स्वीकुर्वस्तं निराशं कुर्यात्'। उस जंगली को छकाकर फिर वह सोना अध्वर्यु यजमान के पास रख देता: और उसे एक बकरी दी जाती। संभवत: सोना भी उसे दिया जाता। तब सोम-विक्रेता यजमान के कपड़े पर सोम डाल देता। सोम मिल जाने पर यजमान तो कुछ जप करने बैठ जाता। जैसे अब उससे सोम के झगड़े से कोई सम्बन्ध नहीं। सहसा परिवर्त्तन होता—हिरण्यं सहसाऽच्छित्य 'पृषता वरत्राकांडेनाहन्तिवा' (कात्यायन श्रौत सूत्र ७-८-२५)। सोम-विक्रेता से सहसा सोना छीनकर उसकी पीठ पर कोड़े लगाकर उसे भगा दिया जाता। इसके बाद सोम राजा गाड़ी पर घुमाये जाते, फिर सोमरस के रसिक आनन्द और उल्लास के प्रतीक इन्द्र का आवाहन किया जाता। भरत ने लिखा है कि--

महानय प्रयोगस्य समय: समुपस्थित:
अयं ध्वजमह: श्रीमान्महेन्द्रस्य प्रवर्त्तते।

देवासुर-संग्राम के बाद इन्द्रध्वज के महोत्सव पर देवताओं के द्वारा नाटक का आरम्भ हुआ। भरत ने नाट्य के साथ नृत्त का समावेश कैसे हुआ, इसका भी उल्लेख किया है। कदाचित् पहले अभिनयों में—जैसा कि सोमयाग-प्रसंग पर होता था—नृत्त की उपयोगिता नहीं थी; किन्तु वैदिक काल के बाद जब आगमवादियों ने रस-सिद्धांतवाले नाटकों को अपने व्यवहार में प्रयुक्त किया, तो परमेश्वर के तांडव के अनुकरण में उसकी संवर्धना के लिए, नृत्त में उल्लास और प्रमोद की पराकाष्ठा देखकर नाटकों में इसकी योजना की। भरत ने भी कहा है—

प्रायेण सर्वलोकस्य नृत्तमिष्टं स्वभावतः (४-२७१)

परमेश्वर के विश्वनृत्त की अनुभूति के द्वारा नृत्त को उसी के अनुकरण में आनन्द का साधन बनाया गया। भरत ने लिखा है कि त्रिपुरदाह के अवसर पर शंकर की आज्ञा से तांडव की योजना इसमें की गयी। इन बातों से निष्कर्ष यह निकलता है कि नृत्त पहले बिना गीत का होता था; उसमें गीत और अभिनय की योजना पीछे से हुई। और इसे तब नृत्य कहने लगे। इसका और भी एक भेद है। शुद्ध नृत्त में रेचक और अंगहार का ही प्रयोग होता था। गान वा तालानुसार भौंह, हाथ, पैर, और कमर का कम्पन नृत्य में होता था। तांडव और लास्य नाम के इनके दो भेद और हैं। कुछ लोग समझते हैं कि तांडव पुरुषोचित और उद्धत नृत्य को ही कहते हैं, किन्तु यह बात नहीं, इसमें विषय की विचित्रता है। तांडव नृत्य प्राय देव सम्बन्ध मे होता था। 'प्रायेण तांडवविधिर्देवस्तुत्याश्रयो भवेत्।' (४—२७५) और लास्य अपने विषय के अनुसार लौकिक तथा सुकुमार होता था। नाट्य-शास्त्र में लास्य के जिन दश अंगों का वर्णन किया गया है वे प्रयोग में ही भिन्न नहीं होते थे, किन्तु उनके विषयों की भी भिन्नता होती थी। इस तरह नृत्त नृत्य, तांडव और लास्य प्रयोग और विषय के अनुसार चार तरह के होते थे। नाटक में इन सब भेदों का समावेश था। ऐसा जान पड़ता है कि आरम्भ में नृत्य की योजना पूर्व-रंग में देव-स्तुति के साथ होती थी। अभिनय के बीच-बीच में नृत्य करने की प्रथा भी चली। अत्यधिक गीत-नृत्य के लिए अभिनय में भरत ने मना भी किया है—'गीत-वाद्ये च नृत्ते च प्रवृत्तेऽतिप्रसंगतः। खेदो भवेत् प्रयोक्तॄणां प्रेक्षकाणाम् तथैव च।'

नाट्य के साथ नृत्य की योजना ने अति प्राचीन काल में ही अभिनय को सम्पूर्ण बना दिया था। बौद्ध-काल में भी वह अच्छी तरह भारत-भर में प्रचलित था। विनयपिटक में इसका उल्लेख है कि कीटागिरि की रंगशाला में संघाटी फैलाकर नाचने वाली नर्तकी के साथ मधुर आलाप करने वाले और नाटक देखनेवाले अश्वजित्, पुनर्वसु नाम के दो भिक्षुओं को प्रव्राजनीय दंड मिला और वे विहार से निर्वासित कर दिये गये। (चुल्ल वग्ग)

रंगशाला के आनन्द को दुःखवादी भिक्षु निंदनीय मानते थे। यद्यपि गायन और

नृत्य प्राचीन वैदिक काल से ही भारत में थे (यस्यां गायंति नृत्यंति भूम्यां, पृथ्वीसूक्त); किंतु अभिनय के साथ इनकी योजना भी भारत में प्राचीन काल से ही हुई थी। इसलिए यह कहना ठीक नही कि भारत में अभिनय कठपुतलियों से आरंभ हुआ, और न तो महावीरचरित ही छाया-नाटक के लिए बना। उसमे तो भवभूति ने स्पष्ट ही लिखा है—'ससंदर्भो अभिनेतव्य.'। कठपुतलियों का भी प्रचार संभवतः पाठ्य-काव्य के लिए प्रचलित किया गया। एक व्यक्ति काव्य का पाठ करता था और पुतलियो के छाया-चित्र उसी के साथ दिखलाये जाते थे। मलावार मे अब भी कंबन के रामायण का छाया-नाटक होता है[1]। कठपुतलियो से नाटक आरभ होने की कल्पना का आधार सूत्रधार शब्द है। किंतु सूत्र के लाक्षणिक अर्थ का ही प्रयोग सूत्रधार और सूत्रात्मा जैसे शब्दो में मानना चाहिए जिसमे अनेक वस्तु ग्रथित हो और जो सूक्ष्मता से सब मे व्याप्त हो, उमे सूत्र कहते है। कथावस्तु और नाटकीय प्रयोजन के सब उपादानों का जो ठीक-ठीक संचालन करता हो, वह सूत्रधार आजकल के 'डाइरेक्टर' की ही तरह का होता था।

सम्भव है कि पटाक्षेप और यवनिका आदि के सूत्र भी उसी के हाथ मे रहते हों। सूत्रधार का अवतरण रगमंच पर मबसे पहले रग-पूजा और मगलपाठ के लिए होता था। कथा या वस्तु की सूचना देने का काम स्थापक करता था। रगमच की व्यवस्था आदि मे यह सूत्रधार का सहकारी रहता था, किन्तु नाटकों मे 'नाद्यते सूत्रधाराः' से जान पड़ता है कि पीछे लाघव के लिए सूत्रधार स्थापक का भी काम करने लगा।

हाँ, अभिनवगुप्त ने गद्य पद्य-मिश्रित नाटकों से अतिरिक्त राग काव्य का भी उल्लेख किया है (अभिनव भारती अध्याय ४)। राघवविजय और मारीच बध नाम के राग-काव्य ठक्क और ककुभ राग मे कदाचित् अभिनय के साथ वाद्य ताल के अनुसार गाये जाते ये। ये प्राचीन राग-काव्य ही आजकल की भाषा मे गीति-नाट्य कहे जाते है। इस तरह अति प्राचीन काल मे ही नृत्य अभिनय से सपूर्ण नाटक और गीति-नाट्य भारत मे प्रचलित थे। वैदिक, बौद्ध तथा रामायण और महाभारत-काल मे नाटकों का प्रयोग भारत मे प्रचलित था।



1. The existence in India of the Ramayan shadow play will surprise not a few people, this primitive drama is still to be found in Malabar where it is acted by strolling players and their puppets, and the author was lucky to witness a performance. (Note of Editor, The Illustrated weekly of India, 7 July 1933)

रंगमंच

भरत के नाट्य-शास्त्र में रंगशाला के निर्माण के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से बताया गया है। जिस ढंग के नाट्य-मन्दिरों का उल्लेख प्राचीन अभिलेखों में लिलता है, उससे जान पड़ता है कि पर्वतों की गुफाओं में खोदकर बनाये जानेवाले मन्दिरों के ढंग पर ही नगर की रंगशालाएँ बनती थीं।

'कार्थः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाटचमंडपः' से यह कहा जा सकता है कि नाटच-मन्दिर दो खंड के बनते थे, और वे प्रायः इस तरह के बनाये जाते थे, जिससे उनका प्रदर्शन विमान का-सा हो। शिल्प-सम्बन्धी शास्त्रों में प्रायः द्विभूमिक, दोखंडे या तीनखंडे प्रासादों को, जो कि स्तम्भों के आधार पर अनेक आकारों के बनते थे, विमान कहते हैं। यहाँ 'द्विभूमिः' से ऐसा भी अर्थ लगाया जा सकता है कि एक भाग दर्शकों के लिए और दूसरा भाग अभिनय के लिए बनता था। किन्तु खुले हुए स्थानों में अभिनय करने के लिए जो काठ के रंगमंच रामलीला में विमान के नाम से व्यवहार में ले आये जाते हैं, उनकी ओर संकेत करना मैं आवश्यक समझता हूँ। रंगशाला में शिल्प का या वास्तु-निर्माण का प्रयोग किस तरह होता था, यह बताना सरल नहीं, तो भी नाटच-मण्डप तीन तरह के होते थे—विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र। विकृष्ट नाटच-मण्डप की चौड़ाई से लम्बाई दूनी होती थी। उस भूमि के दो भाग किये जाते थे। पिछले आधे के फिर दो भाग होते थे। आधे मे रंगशीर्ष और रंगपीठ और आधे में पीछे नेपथ्यगृह बनाया जाता था।

पृष्ठतो यो भवेत् भागो द्विधा भूतो भवेत् च सः
तस्यार्धेन विभागेन रंगशीर्षम् प्रयोजयेत्।
पश्चिमे तु पुनर्भागे नेपथ्यगृहमादिशेत्।

(नाटच शास्त्र २ अ०)

आगे के बड़े आधे भाग में बैठने के लिए, जिससे दर्शकों को रंगशाला का अभिनय अच्छी तरह दिखलाई पड़े, ऐसा—सोपान की आकृति का—बैठक बनाया जाता था। कदाचित् वह आज की 'गैलरी' की तरह होता था।

स्तम्भानाम् बाह्यतः स्थाप्यम् सोपानाकृतिपीठकम्।
इष्टका दारुभिः कार्यम् प्रेक्षकाणाम् निवेशनम्॥

ईंटों और लकड़ियों से ये सीढ़ियाँ एक हाथ ऊँची बनाई जाती थीं। इसी

प्रसंग में मत्तवारणी का भी उल्लेख है। अभिनवगुप्त के समय में भी मत्तवारणी का स्थान निर्दिष्ट करने में सन्देह और मतभेद हो गया था। नाट्य-शास्त्र में लिखा है—

रंगपीठस्य पार्श्वे तु कर्त्तव्या मत्तवारणी।
चतु-स्तंभसमायुक्ता रंगपीठप्रमाणतः॥
अध्यर्धहस्तोत्स्येधे न कर्त्तव्या मत्तवारणी।

मत्तवारणी के कई तरह के अर्थ लगाये गये है। अभिनव-भारती में मत्तवारणी के सम्बन्ध मे किसी का यह मत भी संग्रह किया गया है कि वह देवमन्दिर की प्रदक्षिणा की तरह रंगशाला के चारों ओर बनाई जाती थी। 'मत्तवारणी बहिर्निर्गमन-प्रमाणेन सर्वतो द्वितीय-भित्तिनिवेशेन देवप्रासादाट्टालिका प्रदक्षिणासदृशी द्वितीया भूमिरित्यन्ये, उपरि मण्डपानर निवेशनादित्यपरे', किन्तु मेरी समझ मे यह मत्तवारणी रंगपीठ के बराबर केवल एक ही और चार खम्भों से रुकावट के लिए बनाई जाती थी। मत्तवारणी शब्द से भी यही अर्थ निकलता है कि वह मतवालो को वारण करे। यह डेढ़ हाथ ऊँची रंगपीठ के अगले भाग मे लगा दी जाती थी।

रंगमंच में भी दो भाग होते थे। पिछले भाग को रंग-शीर्ष कहते थे और सबसे आगे का भाग रंगपीठ कहा जाता था। इन दोनों के बीच मे जवनिका रहती थी। अभिनवगुप्त कहते है—यत्र जवनिका रंगपीठतच्छिरमोर्मध्ये। रगमंच की इस योजना से जान पड़ता है कि अपटी, तिरस्करिणी और प्रतिसीरा आदि जो पटों के भेद हैं, वे जवनिका के भीतर के होते थे। रंगशीर्ष मे नेपथ्य के भीतर के दो द्वार होते थे। रंगशीर्ष यन्त्र-जाल, गवाक्ष, शालभंजिका आदि काठ की बनी नाना प्रकार की आकृतियों से सुशोभित होता था, जो दृश्योपयोगी होते थे। सम्भवतः यही मुख्य अभिनय का स्थान होता था।

पिंडीबन्ध आदि नृत्य-अभिनय के साधारण अंश, चेटी आदि के द्वारा प्रवेशक की सूचना, प्रस्तावना आदि जवनिका के बाहर ही रंगपीठ पर होते थे। रगपूजा रंगशीर्ष पर जवनिका के भीतर होती थी। सरगुजा के गुहा-मन्दिर की नाट्यशाला दो हजार वर्ष की मानी जाती है। कहा जाता है कि भोज ने भी कोई ऐसी रगशाला बनवाई थी, जिसमे पत्थरों पर सम्पूर्ण शाकुतल-नाटक उत्कीर्ण था। आधुनिक रामलीला के अभिनयों मे प्रचलित विमान यह प्रमाणित करते है कि भारत में दोनो तरह के रगमंच होते थे। एक तो वे, जिनके बड़े-बड़े नाट्य-मन्दिर बने थे और दूसरे चलते हुए रंगमंच, जो काठ के विमानों से बनाये जाते थे और चतुष्पथ तथा अन्य प्रशस्त खुले स्थानों मे आवश्यकतानुसार घुमा-फिरा कर अभिनयोपयोगी कर लिए जाते थे।

नाट्य-मन्दिरों के भीतर स्त्रियों और पुरुषों के सुदर चित्र भीत पर लिखे जाते थे और उनमे स्थान-स्थान पर वातायनों का भी समावेश रहता था। नाट्य-मण्डप

में कक्षाएं बनाई जाती थीं, जिनमे अभिनय के दर्शनीय गृह, नगर, उद्यान, ग्राम, जंगल, पर्वत और समुद्र का दृश्य बनाया जाता था। आधुनिक काल के रंगमंचों से कुछ भिन्न उनकी योजना अवश्य होती थी, किन्तु—

कक्ष्याविभागे ज्ञेयानि गृहाणि नगराणि च
उद्यानारामसहितो देशो ग्रामोऽटवी तथा।

(नाटचशास्त्र १४ अ०)

इत्यादि से यह मालूम होता है कि दृश्यों का विभाग करके नाटच-मण्डप के भीतर उनकी इस तरह से योजना की जाती थी कि उनमें सब तरह के स्थानों का दृश्य दिखलाया जा सकता था, और जिस स्थान की वार्त्ता होती थी, उसका दृश्य भिन्न कक्ष्या मे दिखाने का प्रबन्ध किया जाता था। स्थान की दूरी इत्यादि का भी संकेत कक्ष्याओं में उनकी दूरी से किया जाता था।

बाह्यम् वा मध्यमम वापि तथैवाभ्यंतरम् पुनः
दूरम् वा सन्निकृष्टम् वा देशाश्च परिकल्पयेत्।
यत्र वार्त्ता प्रवर्त्तेत तत्र कक्ष्याम् प्रवर्त्तते॥

रगमंच मे ..गगनगामी सिद्ध विद्याधरो के विमानों के भी दृश्य दिखलाये जाते थे। यदि मृच्छकटिक और शाकुंतल तथा विक्रमोर्वशी नाटक खेलने ही के लिए बने थे, जैसा कि उनकी प्रस्तावनाओं से प्रतीत होता है, तो यह मानना पड़ेगा कि रंग-मंच इतना पूर्ण और विस्तृत होता था कि उसमे बैलों से जुते हुए रथ और घोड़ों के रथ तथा हेमकट पर चढ़ती हुई अप्सराएँ दिखलाई जा सकती थीं। इन दृश्यों के दिखलाने मे मोम, मिट्टी, तृण, लाख, अभ्रक, काठ, चमड़ा. वस्त्र और बाँस के फंठों से काम लिया जाता था।

प्रतिपादौ प्रतिशिर. प्रतिहस्तौ प्रतित्वचम्
तृणजैः कीलजैर्भाण्डैः सरूपाणीह कारयेत्।
यद्यस्य यादृशं रूपं सारूप्यगुणसम्भवम्
मृण्मयं गात्रकृत्स्नं तु नाना-रूपांस्तु कारयेत्।
भांडवस्त्रमधूच्छिष्टैः लाक्षयाभ्रदलेन च
नगास्तु विविधा कार्याः चर्मवर्मध्वजास्तथा।

(नाटचशास्त्र २४ अ०)

ऊपर के उद्धरणों से जान पड़ता है कि सरूप अर्थात् मुखौटों का भी प्रयोग दैत्य-दानवों के अंगों की विचित्रता के लिए होता था। कृत्रिम हाथ और पैर तथा मुखौटे मिट्टी, फूस, मोम, लाख और अभ्रक के पत्रों से बनाये जाते थे।

कुछ लोगों का कहना है कि भारतवर्ष मे 'यवनिका' यवनों अर्थात ग्रीकों से नाटकों में ली गयी है, किन्तु मुझे यह शब्द शुद्ध रूप से व्यवहृत 'जवनिका' भी

मिला। अमरकोष में —प्रतिसीरा जवनिका स्यात् तिरस्करिणी च सा; तथा हलायुध में—अपटी कांडपट: स्यात् प्रतिसीरा जवनिका तिरस्करिणी। इसमें 'य' से नहीं किन्तु 'ज' से ही जवनिका का उल्लेख है।

जवनिका से शीघ्रता का द्योतन होता है। जव का अर्थ वेग और त्वरा से है तब जवनिका उस पट को कहते हैं, जो शीघ्रता से उठाया या गिराया जा सके। कांड पट भी एक इसी तरह का अर्थ ध्वनित करता है, जिसमें पट अर्थात् वस्त्र के साथ कांड अर्थात् डंडे का संयोग हो। प्रतिसीरा और तिरस्करिणी भी साभिप्राय शब्द मालूम होते हैं। प्रतिसीरा तो नही, किंतु तिरस्करिणी का प्रयोग विक्रमोर्वशी में एक जगह आता है। द्वितीय अंक मे जब राजा प्रमोद-वन मे आते है, तो वही पर आकाश मार्ग से उर्वशी और चित्रलेखा का भी आगमन होता है। उर्वशी चित्रलेखा से कहती है—'प्रतिच्छन्ना पार्श्ववर्त्तिनी भूत्वा श्रोष्ये तावत्'। और फिर आगे चलकर उसी अंक में—'तिरस्करिणीम् अपनीय'— तिरस्करिणी को हटाकर प्रकट होती है। प्रतिसीरा का भी प्रयोग संभव है खोजने से मिल जाय; किंतु अपटी शब्द अत्यंत संदेहजनक है। मृच्छकटिक, विक्रमोर्वशी के आदि मे 'ततः प्रविशत्यपटीक्षेपेण' कई स्थानों पर मिलता है। विक्रमोर्वशी के टीकाकार रंगनाथ ने कहा -'यतः नामूचितस्य पात्रस्य प्रबेशो नाटके मतः' इति नाटकसमयप्रसिद्धेर्यत्रासूचितपात्रप्रवेशस्तत्राकस्मिकप्रवेशेऽपटीक्षेपेणेति वचनं युक्तम्। अत्र तु प्रस्तावनांते सूचितानामेवाप्सरसा प्रवेश इति। केचित्पुनः—न पटीक्षेपोऽपटीक्षेपे इति विग्रहं विधाय पटीक्षेपं विनैव प्रविशंतीति समर्थयन्ते तदप्यापाद्य कुचोद्यमात्रमित्यास्तां तावत। (विक्रमोर्वशी - प्रथम अंक)

इससे जान पड़ता है कि प्रवेशक की सूचना अत्यंत आवश्यक होती थी और यह कार्य अंकों के आरंभ मे चेटी, दासी या अन्य ऐसे ही पात्रो के द्वारा सूचित किया जाता था। उसके बाद अभिनय के वास्तविक पात्र रंगमंच पर प्रवेश करते है। विक्रमोर्वशी में प्रस्तावना में ही अप्सराओं की पुकार सुनाई पड़ती है और सूत्रधार रंगमंच से प्रस्थान कर जाता है और अप्सराएँ प्रवेश करती है। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि पटी अभी तक उठी नही है और अप्सराओं का प्रवेश हो गया है। रंगमंच के उसी अगले भाग पर वे आ गई हैं, जहाँ कि सूत्रधार ने प्रस्तावना की है। इसके बाद अपटीक्षेप होता है अर्थात् पर्दा उठता है तब पुरूरवा का प्रवेश होता है और सामने हेमकूट का भी दृश्य दिखाई पड़ता है; इसलिए कुछ विशेष ढंग के परदे का नाम अपटी जान पड़ता है। संभवतः अपटीक्षेप उन स्थानों पर किया जाता था, जहाँ सहसा पात्र उपस्थित होता था। उसी अंक मे अन्य पात्रों के द्वारा कथा-वस्तु के अन्य विभाग का अभिनय करने में अपटीक्षेप का प्रयोग होता था। यह निश्चय है कि कालिदास और शूद्रक इत्यादि प्राचीन नाटककार रंगमंच के पटीक्षेप से परिचित थे और दृश्यांतर (ट्रांस्फ़र सीन) उपस्थित करने में उनका प्रयोग भी करते

थे। यद्यपि वे प्राचीन रंगमंच आधुनिक ढंग से पूर्ण रूप से विकसित नहीं थे, फिर भी रंगमंचों के अनुकूल कक्ष्याविभाग और उनमें दृश्यों के लिए शैल, विमान और यान तथा कृत्रिम प्रासाद-यंत्र और पटों का उपयोग होता था।

नाट्य-मंदिर में नर्तकियों का विशेष प्रबंध रहता था। जान पड़ता है कि रेचक, अंगहार, करण और चारियों के साथ पिंडी-बंध अथवा सामूहिक नृत्य का भी आयोजन रंगमंच मे होता था। अति प्राचीन काल मे भारतवर्ष के रंगमंच में स्त्रियाँ नाटकों को सफल बनाने के लिए आवश्यक समझी गयी। केवल पुरुषों के द्वारा अभिनय असफल होने लगे, तब रंगोपजीवना अप्सराएँ रंगमंच पर आयी। कहा गया है—

कौशिकीश्लक्ष्णनेपथ्या शृंगाररससंभवा
अशक्या: पुरुषैःसातु प्रयोक्तुम् स्त्रीजनादृते।
ततोऽसृजन्महातेजा मनसाप्सरसो विभु:।

रंगमंच पर काम करने वाली स्त्रियों को अप्सरा, रंगोपजीवना इत्यादि कहते थे। मालविकाग्निमित्र मे स्त्रियों को अभिनय की शिक्षा देनेवाले आचार्यों का भी उल्लेख है। भरत का मत है कि पुरुष और स्त्री के स्वभावानुसार अभिनय उचित है; क्योंकि 'स्त्रीणां स्वभावमधुर: कण्ठो नृणां बलत्त्व च' -स्त्रियों का कंठ स्वभाव से ही मधुर होता है, पुरुष मे बल है, इसलिए रंगमंच पर गान स्त्रियाँ करें; पुरुष का गाना रंगमंच पर उतना शोभन नही माना जाता था। 'एवं स्वभावसिद्धं स्त्रीणां गानं नृणा च पाठ्यविधि.'।

सामूहिक पिंडीबंध आदि चित्रनृत्यों का रंगमंच पर अच्छा प्रयोग होता था। पिंडीबंध चार तरह का होता था—पिंडी, शृंखलिका, लताबंध और भेद्यक। कई नर्तकियों के द्वारा नृत्य मे अंगहारो के साथ परस्पर विचित्र बाहुबंध और संबंध करके अनेक आकार बनाये जाते थे। अभिनय मे रंगमंच पर इनकी भी आवश्यकता होती थी और पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी रंगमंच-शाला की उच्च कोटि की शिक्षा मिलती थी। नाटकोपयोगी दृश्यों के निर्माण—वस्त्र तथा आयुधों के साथ कृत्रिम केश-मुकुटों और दाढ़ी इत्यादि का भी उल्लेख नाट्य-शास्त्र मे मिलता है। केश-मुकुट भिन्न-भिन्न पात्रों के लिए कई तरह से बनते थे।

रक्षो दानवदैत्यानां पिककेशकृतानि तु।
हरिश्मश्रूणि च तथा मुखशीर्षाणि कारयेत्॥

(नाट्यशास्त्र २३-१४३)

कोयल के पंखों से दैत्य-दानवों की दाढ़ी और मूंछ भी बनाई जाती थी। मुकुट अभिनय के लिए भारी न हों, इसलिए अभ्रक और ताम्र के पतले पत्रों से हलके बनाये जाते थे। कंचुक इत्यादि वस्त्रों का भी नाट्य-शास्त्र मे विस्तृत वर्णन है।

इन वस्तुओं के उपयोग मे इस बात का भी विचार किया जाता था कि नाटक के अभिनय मे सुविधा हो। नाटक के अभिनय में दो विधान माननीय थे, और उन्हें लोकधर्मी और नाटचधर्मी कहते थे। भरत के समय मे ही रंगमंचों मे स्वाभाविकता पर ध्यान दिया जाने लगा था। रंगमंच पर ऐसे अभिनय को लोकधर्मी कहते थे। इस लोकधर्मी अभिनय मे रंगमंच पर कृत्रिम उपकरणों का उपयोग बहुत कम होता था 'स्वाभावो लोकधर्मी तु नाटचधर्मी विकारतः' (नाटच शास्त्र १३-१९३)

स्वाभाविकता का अधिक ध्यान केवल उपकरणों मे ही नही; किंतु आंगिक अभिनय मे भी अभीष्ट था। उसमे बहुत अंग-लीला वर्जित थी।

अतिसत्व क्रियाएँ, असाधारण कर्म, अतिभाषित लोकप्रसिद्ध द्रव्यो का उपयोग अर्थात् शैल, यान और विमान आदि का प्रदर्शन और ललित अगहार जिसमे प्रस्तुत होते थे—रंगमच के ऐसे नाटकों को नाटचधर्मी कहते थे। स्वगत, आकाश-भाषित इत्यादि को तब भी अस्वाभाविक माना जाता था, और उनका प्रयोग नाटचधर्मी अभिनय मे ही रंगमंच पर किया जाता था।

आसन्नोक्तं च यद् वाक्यम न शृण्वन्ति परस्परम्
अश्रुतं श्रूयते वाक्यम् नाटचधर्मी तु सा स्मृता।

प्राचीन रंगमंच मे स्वगत की योजना, जिसे कि समीप का उपस्थित व्यक्ति सुनी बात को अनसुना कर जाता है, नाटचधर्मी अभिनय के ही अनुकूल होता था, और भाण' मे आकाश-भाषित का प्रयोग भी नाटचधर्मी के ही अनुकूल है। व्यजना-प्रधान अभिनय का भी विकास प्राचीन रंगमंच पर हो गया था। भावपूर्ण अभिनय मे पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। नाटच-शास्त्र के छब्बीसवे अध्याय मे इसका विस्तृत वर्णन है। पक्षियो का रेचक से, सिंह आदि पशुओं का गति प्रचार मे, भूत पिशाच और राक्षसों का अंगहार से अभिनय किया जाता था। इस भावाभिनय का पूर्ण स्वरूप अभी भी दक्षिण के कथाकलि नृत्य मे वर्त्तमान है।

रंगमंच में नटो के गति-प्रचार (मूवमेंट), वस्तु-निवेदन (डिलीवरी), संभाषण (स्पीच) इत्यादि पर भी अधिक सूक्ष्मता से ध्यान दिया जाता था। और इन पर नाटचशास्त्र मे अलग-अलग अध्याय ही लिखे गये है। रगमंच पर जिस कथा का अवतरण किया जाता था, उसका विभाग भी समय के अनुसार और अभिनय की सुव्यवस्था का ध्यान रखते हुए किया जाता था।

ज्ञात्वा दिवसाम्तान्क्षणयाममुहूर्त्तलक्षणोपेतान्।
विभजेत् सर्वमशेषम् पृथक् पृथक् काव्यमंकेषु।।

प्रायः एक दिन का कार्य एक अंक मे पूरा हो जाना चाहिए और यदि न हो सके, तो प्रवेशक और अंकावतार के द्वारा उसकी पूर्ति होनी चाहिए। एक वर्ष से अधिक का समय तो एक अंक मे आना नही चाहिए। प्रवेशक, अंकावतार और

अपटीक्षेप का प्रयोग आजकल की तरह दृश्य या स्थान को प्रधानता देकर नही किया जाता था, किन्तु वे कथावस्तु के विभाजन-स्वरूप ही होते थे। पाँच अंक के नाटक रंगमंच के अनुकूल इसलिए माने जाते थे कि उनमे कथा-वस्तु की पाँचो सन्धियों का विकास होता था। और कभी-कभी हीन सन्धि नाटक भी रंगमच पर अभिनीत होते थे, यद्यपि वे नियम-विरुद्ध माने जाते थे। दूसरी, तीसरी चौथी सधियो का अर्थात बिन्दु, पताका और प्रकरी का लोप हो सकता था, किन्तु पहली और पाँचवी सन्धि का अर्थात् बीज और कार्य का रहना आवश्यक माना गया है। आरम्भ और फलयोग का प्रदर्शन रंगमच पर आवश्यक माना गया है।

रंगमच की बाध्य-बाधकता का जब हम विचार करते हे, तो उसके इतिहास से यह प्रकट होता है कि **काव्यो के अनुसार प्राचीन रंगमच विकसित हुए और रंगमंचों की नियमानुकूलता मानने के लिए काव्य बाधित नही हुए। अर्थात् रंगमंचों को ही काव्य के अनुसार अपना विस्तार करना पड़ा और यह प्रत्येक काल में माना जायगा कि काव्यो के अथवा नाटकों के लिए ही रंगमंच होते है। काव्यों की सुविधा जुटाना रंगमंच का काम हे। क्योंकि रसानुभूति के अनन्त प्रकार नियमबद्ध उपायो से नही प्रदर्शित किये जा सकते और रंगमंच ने सुविधानुसार काव्यों के अनुकूल समय-समय पर अपना स्वरूप परिवर्त्तन किया है। (और आगे भी करना होगा—सं०)**

मध्यकालीन भारत मे जिस आतंक और अस्थिरता का साम्राज्य था, उसने यहाँ की सर्व-साधारण प्राचीन रंगशालाओ को तोड़-फोड़ दिया। धर्मांध आक्रमणो ने जब भारतीय रंगमंच के शिल्प का विनाश कर दिया तो देवालयों मे सलग्न मण्डपो मे छोटे-मोटे अभिनय सर्वसाधारण के लिए सुलभ रह गए। उत्तरी भारत मे तो औरगजेब के समय मे ही साधारण सगीत का भी 'जनाजा' निकाला जा चुका था, किन्तु रंगमच से विहीन कुछ अभिनय बच गए, जिन्हे हम पारसी स्टेजो के आने के पहले भी देखते रहे है। उनमे मुख्यत नौटकी (नाटकी ?) और भाँड ही थे। रामलीला और यात्राओ का भी नाम लिया जा सकता है। सार्वजनिक रंगमचो के विनष्ट हो जाने पर यह खुले मैदानो मे तथा उत्सवो के अवसर पर खेले जाते थे। रामलीला और यात्रा तो देवता-विषयक अभिनय थे किन्तु नाटकी और भाँडो मे शुद्ध मानव-सम्बन्धी अभिनय होते थे। मेरा निश्चित विचार है कि भाँडो की परिहास की अधिकता सस्कृत भाण मुकुदानन्द और रससदन आदि की परम्परा मे है, और नाटकी या नौटकी प्राचीन राग काव्य अथवा गीति-नाट्य की स्मृतियाँ है। जैसे रामलीला पाठ्य-काव्य रामायण के आधार पर वैसी ही होती है, जैसे प्राचीन महाभारत और वाल्मीकि के पाठ्यकाव्यो के साथ अभिनय होता था। दक्खिन मे अब भी कथकलि अभिनय उस प्रथा को सजीव किये है। प्रवृत्ति वही पुरानी है,

परन्तु उत्तरीय भारत मे बाह्यप्रभाव की अधिकता के कारण इनमे परिवर्त्तन हो गया है और अभिनय की वह बात नही रही। हाँ, एक बात अवश्य इन लोगों ने की है और वह है चलते-फिरते रगमंचों की या विमानों की रक्षा।

वर्त्तमान रंगमंच अन्य प्रभावों से अछूता न रह सका, क्योंकि विप्लव और आतंक के कारण प्राचीन विशेषताएँ नष्ट हो चुकी थी। मुगल-दरबारों मे जो थोडी सी संगीत-पद्धति तानसेन की परम्परा से बच रही थी, उसमे भी बाह्य प्रभाव का मिश्रण होने लगा था। अभिनयो मे केवल भाण ही मुगल-दरबार मे स्वीकृत हुआ था; वह भी केवल मनोरंजन के लिए।

पारसी व्यवसायियो ने पहले-पहल नये रगमंच की आयोजना की। भाषा मिश्रित थी—इंद्र-सभा, चित्रा-बकावली, चद्रावली, हरिश्चद्र आदि के अभिनय होते थे, अनुकरण था रंगमंच मे 'शेक्सपीरियन स्टेज' का, क्योंकि वहाँ भी विक्टोरियन' युग की प्रेरणा ने रगमच म विशेष परिवर्तन कर लिया था। १९वीं शता०दी के मध्य मे कीन की सहायता से अंग्रेजी रगमच मे पुरावृत्त की खोजो के आधार पर शेक्सपियर के नाटको के अभिनय की नई योजना हुई, और तभी हेनरी इर्विग सदृश चतुर नट भी आए। किंतु साथ ही सूक्ष्म तथा गंभीर प्रभाव डालने वाली इब्सन की प्रेरणा भी पश्चिम मे स्थान बना रही थी, जो नाटकीय यथार्थवाद का मूल है।

भारतीय रगमच पर इस पिछली धारा का प्रभाव पहले-पहल बंगाल पर हुआ। किंतु इन दोनों प्रभावों के बीच म दक्षिण मे भारतीय रंगमंच निजी स्वरूप में अपना अस्तित्व रख सका। कथकलि-नृत्य मदिरों की विशाल सभाओ मे मर नही गया था। भावाभिनय अभी होते रहते थे। कदाचित् संस्कृत-नाटको का अभिनय भी चल रहा था, बहुत दबे-दबे। आंध्र ने आचार्यों के द्वारा जिस धार्मिक संस्कृति का पुनरावर्त्तन किया था, उसके परिणाम मे संस्कृत-साहित्य का भी पुनरुद्धार और तत्संबंधी साहित्य और कला की भी पुनरावृत्ति हुई थी। संस्कृत के नाटकों का अभिनय भी उसी का फल था। दक्षिण मे वे सब कलाएं सजीव थी; उनका उपयोग भी हो रहा था। हाँ, बाली और जावा इत्यादि के मदिरो मे इसी प्रकार के अभिनय अधिक सजीवता से सुरक्षित थे। तीस बरस पहले जब काशी में पारसी रंगमच की प्रबलता थी, तब भी मैंने किसी दक्षिणी नाटक-मडली द्वारा संस्कृत मृच्छकटिक का अभिनय देखा था। उसकी भारतीय विशेषता अभी मुझे भूली नही है। कदाचित् उसका नाम 'ललित-कलादर्श-मडली' था।[1]

---

१. यह लेख १९३६ के अंत मे लिखा गया और जुलाई १९३७ मे हिंदुस्तानी एकेडेमी की पत्रिका 'हिंदुस्तानी' के भाग ७ अक ३ मे प्रकाशित हुआ। मृच्छकटिक का वह अभिनय लेखक ने १९०६ मे देखा होगा। (सं०)

दृश्यांतर और चित्रपटों की अधिकता के साथ ही पारसी-स्टेज ने पश्चिमी 'ट्यूनों' का भी मिश्रण भारतीय संगीत में किया। उसके इस काम में बंगाल ने भी साथ दिया; किंतु उतने भद्दे ढंग से नही। बंगाल ने जितना पश्चिमी ढंग का मिश्रण किया, वह सुरुचि से बहुत आगे बढा। चित्रपटों मे सरलता उसने रक्खी; किंतु पारसी स्टेज ने अपना भयानक ढग बद नही किया। पारसी स्टेज मे दृश्यो और परिस्थितियो के सकलन की प्रधानता है। वस्तु-विन्यास चाहे कितना ही शिथिल हो, किंतु अमुक परदे के पीछे वह दूसरा प्रभावोत्पादक परदा आना ही चाहिये— कुछ नही तो एक असबद्ध फहड भँडैती से ही काम चल जायगा।

हिंदी के कुछ अकाल पक्व आलोचक जिनका पारसी स्टेज से पिंड नही छूटा है, सोचते है स्टेज मे यथार्थवाद! अभी वे इतने भी सहनशील नही कि फूहड परिहास के बदले जिससे वह दर्शको को उलझा लेता है—तीन-चार मिनट के लिए काला परदा खीचकर दृश्यातर बना लेने का अवसर रगमच को दे। हिंदी का कोई अपना रगमच नही है। जब उसके पनपने का अवसर था, तभी सस्ती भावुकता लेकर वर्त्तमान सिनेमा मे बोलनेवाले चित्रपटो का अभ्युदय हो गया, और फलत: अभिनयो का रगमच नही सा हो गया। साहित्यिक सुरुचि पर सिनेमा ने ऐसा धावा बोल दिया है कि कुरुचि को नेतृत्व करने का पूर्ण अवसर मिल गया है। उन पर भी पारसी स्टेज की गहरी छाप है। हाँ पारसी स्टेज के आरम्भिक विनय-सूत्रो मे एक यह भी था कि वे लोग प्राचीन इगलैंड के रगमचो की तरह स्त्रियो का सहयोग नही पसद करते थे। ?वी शताब्दी मे धीरे धीरे स्त्रिया रगमच पर इगलैंड मे आई, किंतु सिनेमा ने स्त्रियो को, रगमच पर अबाध अधिकार दिया। बालको को स्त्रीपात्र के अभिनय की वाछनीय प्रणाली से छुटकारा मिला, किंतु रगमचो की असफलता का प्रधान कारण है स्त्रियो का उनमे अभाव विशेषत. हिंदी-रंगमच के लिए। बहुत-से नाटक मडलियो द्वारा इसलिए नही खेले जाते कि उनके पास स्त्री-पात्र नही है, रगमच की तो अकाल मृत्यु हिंदी मे दिखाई पड रही है। कुछ मडलियाँ कभी-कभी साल मे एकाध बार वार्षिकोत्सव मनाने के अवसर पर, कोई अभिनय कर लेती है। पुकार होती है आलोचको की हिंदी मे नाटको के अभाव की। रगमच नही है, ऐसा समझने का कोई साहस नही करता क्योकि दोषदर्शन सहज है। उसके लिए वैसा प्रयत्न करना कठिन है, जैसा कीन ने किया था। युग के पीछे हम चलने का स्वाग भरते है, हिंदी मे नाटको का यथार्थ अभिनीत देखना चाहते है और यह नही देखते—कि पश्चिम मे अब भी प्राचीन नाटको के सवाक् चित्र बनाने के लिए प्रयत्न होता रहता है। ऐतिहासिक नाटको के सवाक्-चित्र बनाने के लिए उन ऐतिहासिक व्यक्तियो की स्वरूपना के लिए टनो मेक-अप का मसाला एक-एक पात्र पर लग जाता है। युग की मिथ्या धारणा से अभिभूत

नवीनतम की खोज में इब्सनिज्म का भूत वास्तविकता का भ्रम दिखाता है। समय का दीर्घ अतिक्रमण करके जैसा पश्चिम ने नाट्यकला में अपनी सब वस्तुओं को स्थान दिया है, वैसा क्रम-विकास कैसे किया जा सकता है, यदि हम पश्चिम के 'आज' को ही सब जगह खोजते रहेंगे ? और यह भी विचारणीय है कि क्या हम लोगों का सोचने का, निरीक्षण का दृष्टिकोण सत्य और वास्तविक है ? अनुकरण में फैशन की तरह बदलते रहना साहित्य में ठोस अपनी वस्तु का निमंत्रण नहीं करता। वर्त्तमान और प्रतिक्षण का वर्त्तमान सदैव दूषित रहता है, भविष्य के सुंदर निर्माण के लिए। कलाओं का अकेले प्रतिनिधित्व करने वाले नाटक के लिए तो ऐसी 'जल्दबाजी' बहुत ही अवाछनीय है। यह रस की भावना से अस्पृष्ट व्यक्ति-वैचित्र्य की यथार्थवादिता ही का आकर्षण है, जो नाटक के संबंध मे विचार करने वालों को उद्विग्न कर रहा है। प्रगतिशील विश्व है, किंतु अधिक उछलने मे पदस्खलन का भी भय है। साहित्य मे युग की प्रेरणा भी आदरणीय है, किंतु इतना ही अलम् नहीं। जब हम यह समझ लेते है कि कला को प्रगतिशील बनाये रखने के लिए हमको वर्त्तमान सभ्यता का--जो सर्वोत्तम है—अनुसरण करना चाहिए तो हमारा दृष्टिकोण भ्रमपूर्ण हो जाता है। अतीत और वर्तमान को देखकर भविष्य का निर्माण होता है, इसलिए हमको साहित्य मे एकागी लक्ष्य नही रखना चाहिए। जिस तरह हम वास्तविक या प्राचीन शब्दों मे लोकधर्मी अभिनय की आवश्यकता समझते हैं, ठीक उसी प्रकार से नाट्यधर्मी अभिनय को भी देश, काल, पात्र के अनुसार रंगमंच में संगृहीत रहना चाहिए। पश्चिम ने भी अपना सब कुछ छोड़कर 'नये' को नहीं पाया है।

श्री भारतेन्दु ने रंगमंच की अव्यवस्थाओ को देखकर जिस हिन्दी रंगमंच की स्वतन्त्र स्थापना की थी, उसमे इन सब का समन्वय था। उस पर सत्य-हरिश्चन्द्र, मुद्राराक्षस, नीलदेवी, चन्द्रावली, भारत-दुर्दशा, प्रेमयोगिनी सब का सहयोग था। हिन्दी रंगमच की इस स्वतन्त्र चेतना को सजीव रखकर रंगमंच की रक्षा करनी चाहिए। केवल नयी पश्चिमीय प्रेरणाएँ हमारी पथ-प्रदर्शिका न बन जायँ। हाँ, उन सब साधनों मे जो वर्त्तमान विज्ञान-द्वारा उपलब्ध है, हमको वंचित भी न होना चाहिए। आलोचकों का कहना है कि 'वर्त्तमान युग की रंगमंच की प्रवृत्ति के अनुसार भाषा सरल हो और वास्तविकता भी हो।' वास्तविकता का प्रच्छन्न अर्थ इब्सेनिज्म के आधार पर कुछ और भी है। वे छिपकर कहते हैं—हमको अपराधियों से घृणा नही, सहानुभूति रखनी चाहिए, इसका उपयोग चरित्र-चित्रण में व्यक्ति-वैचित्र्य के समर्थन मे भी किया जाता है। रंगमंच पर ऐसे वस्तु-विन्यास समस्या बनकर रह जायँगे। प्रभाव का असम्बद्ध स्पष्टीकरण भाषा की क्लिष्टता से भी भयानक है। रेडियो ड्रामा के संवाद भी लिखे जाने लगे हैं, जिनमे दृश्यों का संपूर्ण

लोप है। दृश्य वस्तु श्रव्य बनकर सवाद मे आती है, किंतु साहित्य मे एक प्रकार के एकांकी नाटक भी लिखने का प्रयास हो रहा है। वे यही समझ कर तो लिखे जाते है कि उनका अभिनय सुगम है। किंतु उनका अभिनय होता कहाँ है? यह पाठ्य छोटी कहानियों का ही प्रतिरूप नाट्य है। दृश्यो की योजना साधारण होने पर भी खिडकी के टूटे हुए काँच, फटा परदा और कमरे के कोने मे मकडी का जाला दृश्यों मे प्रमुख होते है—वास्तविकता के समर्थन मे!

भाषा की सरलता की पुकार भी कुछ ऐसी ही है। ऐसे दर्शको और सामाजिकों का अभाव नही, किंतु प्रचुरता है, जो पारसी स्टेज पर गायी गयी गज़लो के शब्दार्थों से अपरिचित रहने पर भी तीन बार तालियाँ पीटते है। क्या हम नही देखते कि बिना भाषा के अबोल-चित्रपटो के अभिनय मे भाव सहज ही समझ मे आते है और कथकलि के भावाभिनय भी शब्दो की व्याख्या ही है? अभिनय तो सुरुचिपूर्ण शब्दो को समझाने का काम रगमच मे अच्छी तरह करता है। एक मत यह भी है कि भाषा स्वाभाविकता के अनुसार पात्रो की अपनी होनी चाहिए और इस तरह कुछ देहाती पात्रो से उनकी अपनी भाषा का प्रयोग कराया जाता है। मध्यकालीन भारत मे जिस प्राकृत का सस्कृत से सम्मेलन रगमच पर कराया गया था, वह बहुत कुछ परिमार्जित और कृत्रिम-सी थी। सीता इत्यादि भी सस्कृत बोलने मे असमर्थ समझी जाती थी। वर्तमान युग की भाषा-सम्बन्धी प्रेरणा भी कुछ-कुछ वैसी ही है। किंतु आज यदि कोई मुगलकालीन नाटक मे लखनवी उर्दू मुगलो से बुलवाता है, तो वह भी स्वाभाविक या वास्तविक नही है। फिर राजपूतो की राजस्थानी भाषा भी आनी चाहिए। यदि अन्य असभ्य पात्र है, तो उनकी जगली भाषा भी रहनी चाहिए। और इतने पर भी क्या यह नाटक हिंदी का ही रह जायगा? यह विपत्ति कदाचित् हिंदी नाटको के लिए ही है।

मैं तो कहूँगा कि सरलता और क्लिष्टता पात्रो के भावो और विचारो के अनुसार भाषा मे होगी ही और पात्रो के भावो और विचारो के ही आधार पर भाषा का प्रयोग नाटको मे होना चाहिए, किंतु इसके लिए भाषा की एकतन्त्रता नष्ट करके कई तरह की विचित्र भाषाओं का प्रयोग हिंदी-नाटको के लिए ठीक नही। पात्रो की सस्कृति के अनुसार उनके भाव और विचारो मे तारतम्य होना भाषाओं के परिवर्तन मे अधिक उपयुक्त होगा। देश और काल के अनुसार भी सास्कृतिक दृष्टि से भाषा मे पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिये।

रगमच के सम्बन्ध मे यह भारी भ्रम है कि रगमच नाटक के लिए लिखे जायँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रगमच हो, जो व्यावहारिक है। हाँ, रगमंच पर सुशिक्षित और कुशल अभिनेता तथा मर्मज्ञ सूत्रधार के सहयोग की आवश्यकता है। देश-काल की प्रवृत्तियो का समुचित अध्ययन भी आवश्यक है। फिर तो पात्र रगमच पर अपना कार्य सुचारु-रूप से कर सकेंगे। इन सबके सहयोग से ही हिंदी-रंगमंच का अभ्युत्थान सभव है।



आरंभिक पाठ्य काव्य

नाट्य के अतिरिक्त जो काव्य है, उसे रीति-ग्रन्थों में श्रव्य कहते हैं। कारण कि प्राचीन काल में ये सब सुने या सुनाये जाते थे; इसलिए श्रुति, अनुश्रुति इत्यादि धर्म-ग्रन्थों के लिए भी व्यवहृत थे। किंतु आजकल तो छपाई की सुविधा के कारण उन्हें पाठ्य कहना अधिक सुसंगत होगा। वर्णनात्मक होने के कारण वे काव्य जो अभिनय के योग्य नहीं पाठ्य ही हैं।

प्लेटों के अनुसार काव्य वर्णनात्मक और अभिनयात्मक दोनों ही है। जहाँ कवि स्वयं अपने शब्दों में वर्णन करता है, वह वर्णनात्मक और जहाँ कथोपकथन उपन्यस्त करता है, वहाँ अभिनयात्मक। ठीक इसी तरह का एक और पश्चिमीय सिद्धांत है, जो कहता है कि नाटक संगीतात्मक और महाकाव्य है। परन्तु पाठ्य-विभेद नाट्य-काव्य के भीतर तो वर्त्तमान रहता है; हाँ नाट्य-भेद का वर्णनात्मक में अभाव है। पाठ्य में एक द्रष्टा की वस्तु की वाह्यवर्णना की प्रधानता है; यद्यपि वह भी अनुभूति से सम्बद्ध ही है। यह कहा जा सकता है कि यह परोक्ष अनुभूति है, नाट्य की तरह अपरोक्ष अनुभूति नही। जहाँ कवि अपरोक्ष अनुभूतिमय (Subjective) हो जाता है, वहाँ यह वर्णनात्मक अनुभूति रस की कोटि तक पहुँच जाती है। यह आत्मा की अनुभूति - विशुद्ध रूप मे 'अहम्' की अभिव्यक्ति का कारण बन जाती है। साधारणतः सिद्धांत में यह रहस्यवाद का ही अंश है।

इसी तरह बाह्य वर्णनात्मक अर्थात 'इदम' का परामर्श भी आत्मा के विस्तार की ही आलोचना और अनुभूति है, जीवन की विभिन्न परिस्थितियों को समझने की क्रिया है, 'इदम' को 'अहम' के समीप लाने का उपाय है। वर्णनों से भरे हुए महाकाव्य में जीवन और उनके विस्तारों का प्रभावशाली वर्णन आता है। उसके सुख-दुःख हर्ष-क्रोध, राग-द्वेष का वैचित्र्यपूर्ण आलेख मिलता है। जब हम देखते हैं कि वेद और वाल्मीकि दोनों ही आरम्भ मे गाये गये हैं, तब यह धारणा हो जाती है कि वे जीवन तत्व को सलझने के उत्साह हैं।

आरम्भ में बड़े-बड़े प्रभावशाली कर्मों का वर्णन कवियों ने अपनी रचना में किया। मानव के हर्ष-शोक की गाथाएँ गायी गयी। कही उन्हें महत्ता की ओर प्रेरित करने के लिए, कही अपनी दुःख की, अभाव की गाथा गाकर जी हल्का करने के लिए। वैदिक से लेकर लौकिक तक ऐसे श्रव्य-काव्यों का आधार होता था—

इतिहास। जहाँ नाट्य में आभ्यंतर की प्रधानता होती है, वहाँ श्रव्य में बाह्यवर्णन ही मुख्यतः अपेक्षित है। वह बुद्धिवाद से अधिक संपर्क रखनेवाली वस्तु बनती है; क्योंकि आनन्द से अधिक उसमे दुःखानुभूति की व्यापकता होती है और वह सुनाया जाता था, जनवर्ग को अधिकाधिक कष्टसहिष्णु, जीवन-संघर्ष मे पटु तथा दुःख के प्रभाव से परिचित होने के लिए। नाटको की तरह उसमे रसात्मक अनुभूति, आनन्द का साधारणीकरण न था। घटनात्मक विवेचनाओं की प्रभावशालिनी परम्परा मे उत्थान और पतन की कड़ियाँ जोडकर महाकाव्यों की सृष्टि हुई थी—विवेकवाद को पुष्ट करने के लिए।

ये वर्णनाएँ दोनो तरह की प्रचलित थीं। काल्पनिक अर्थात् आदर्शवादी, वस्तुस्थिति अर्थात् यथार्थवादी। पहले ढंग से लेखको ने जीवन को कल्पनामय आदर्शों से पूर्ण करने का प्रयत्न किया। समुद्र पाटना, स्वर्ग विजय करना, यहाँ तक कि असफल होने पर शीतल मृत्यु से आलिंगन करने के लिए महाप्रस्थान करना, इनके वर्णन के विषय बन गये। इन लोगो ने काव्य-न्याय की प्रतिष्ठा के साथ काल्पनिक अपराधो की भी सृष्टि की, केवल आदर्श को उज्ज्वल, विवेकबुद्धि को महत्त्वपूर्ण बनाने के लिए। भारतीय साहित्य मे रामायण तथा उसके अनुयायी बहुत-से काव्य प्राय: आदर्श और चारित्र्य के आधार पर ग्रथित हुए है। सब जगह 'कोन्वस्मिन् साप्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्, धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च' की पुकार है। चारित्र्य की प्रधानता उसकी विजय से अंकित की जाती है। रामायण काल का शोक श्लोक में जिस तरह परिणत हो गया, वह तो विदित ही है, परन्तु चरित्र मे आदर्श की कल्पना पराकाष्ठा तक पहुँच गयी है।

महाभारत मे भी करुण-रस की कमी नही है, परन्तु वह आदर्शवादी न होकर यथार्थवाद-सा हो गया है। और तब उसमे व्यक्ति-वैचित्र्य का भी पूरा समावेश हो गया है। उसके भीष्म, द्रोण, कर्ण, दुर्योधन, युधिष्ठिर अपनी चरित्रगत विशिष्टता मे ही महान है। आदर्श का पता नही, परन्तु ये महती आत्माएँ मानो निन्दनीय सामाजिकता की भूमि पर उत्पन्न होकर भी पुरुषार्थ के बल पर दैव, भाग्य, विधानों और रूढियों का तिरस्कार करती है। वीर कर्ण कहता है—

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्
दैवायत्तं कुले जन्म ममायत्त हि पौरुषम्।

उसके बाद आता है पौराणिक प्राचीन गाथाओं का साप्रदायिक उपयोगिता के आधार पर संग्रह। चारों ओर से मिलाकर देखने पर यह भी बुद्धिवाद का, मनुष्य की स्व-निर्भरता का, उसके गर्व का प्रदर्शन ही रह जाता है।

मानव के सुख-दुःख की गाथाएँ गायी गयी। उनका केन्द्र होता था धीरोदात्त

विख्यात लोकविश्रुत नायक। महाकाव्यों में महत्ता की अत्यन्त आवश्यकता है। महत्ता ही महाकाव्य का प्राण है।

नाटक में, जिसमें कि आनन्द-पथ का, साधारणीकरण का सिद्धांत था, लघुतम के लिए भी स्थान था। प्रकरण इत्यादि में जन-साधारण का अवतरण कराया जा सकता था परन्तु विवेक-परम्परा के महाकाव्यों में महानों की चर्चा आवश्यक थी।

लौकिक संस्कृत का यह पौराणिक या आरम्भिक काल पूर्णरूप से पश्चिम के 'क्लासिक' के समकक्ष था। भारत में इसके बहुत दिनों के बाद छोटे-छोटे महाकाव्यों की सृष्टि हुई। इसे हम तुलना की दृष्टि से भारतीय साहित्य का 'रोमांटिक'-काल कह सकते हैं, जिसमें गुप्त और शुंग-काल के सम्राटों की छत्रछाया में, जब बाहरी आक्रमण से जाति हीनवीर्य हो रही थी, अतीत को देखने की लालसा और बल ग्रहण करने की पिपासा जगने पर पूर्वकाल के अतीत से प्रेम, भारत की यथार्थवाद वाली धारा में कथा-सरित्सागर और दशकुमारचरित का विकास—विरहगीत—महायुद्धों के वर्णन संकलित हुए। कालिदास, अश्वघोष, दण्डी, भवभूति और भारवि का काव्यकाल इसी तरह का है।

हिंदी में संकलनात्मक महाकाव्यों का आरम्भ भी युगवाणी के अनुसार वीरगाथा से आरम्भ होता है। रासो और आल्हा, ये दोनों ही पौराणिक काव्य के ढंग के—महाभारत की परम्परा में है। वाल्मीकि का अवतार तो पीछे हुआ, रामायण की विभूति तो तुलसी के दलों में छिपी थी। यद्यपि रहस्यवादी सन्त आत्म-अनुभूति के गीत गाते ही रहे, फिर भी बुद्धिवाद की साहित्यिक धारा राष्ट्र-सम्बन्धी कविताओं, धार्मिक सम्प्रदायों के प्रतीकों को विकसित करने में लगी रही। कुछ सन्त लोग बीच-बीच मे अपने आनन्द-मार्ग का जय-घोष सुना देते थे। हजारों बरस तक हिंदी में बुद्धिवाद की ही तूती बोलती रही, चाहे पश्चिमी बुद्धिवाद के अनुयायी उसे भारतीय पतन-काल की मूर्खता ही समझकर अपने को सुखी बना लें। बाहरी आक्रमणों से भयभीत, अपने आनन्द को भूली हुई जनता साहित्य के आनन्द की साधना कहाँ से कर पाती ? सार्वजनिक उत्सव-प्रमोद बन्द थे। नाटचशालाएँ उजड़ चुकी थीं। मौखिक कहा-सुनी, मन्दिरों के कीर्त्तनों और छोटे-मोटे सांप्रदायिक व्याख्यानों के उपयोगी पद्यों का सृजन हो रहा था। भिन्नता बताने वाली बुद्धि साहित्य के निर्माण में, सम्प्रदायों का अवलम्बन लेकर, द्वैत-प्रथा की ही व्यञ्जना करने में लगी रही। हाँ, प्रेम विरह-समर्पण के लिए पिछले काल के संस्कृत रीति-ग्रन्थों के आधार पर वात्सल्य आदि नये रसों की काव्यगत अधूरी सृष्टि भी हो चली थी। यही श्रव्य या पाठ्य-काव्यों की सम्पत्ति थी। नाट्यशास्त्र में उपयोगी पाठ्य का विमर्श किया गया था। यह काव्यगत पाठ्य का ही साहित्यक विस्तार है, जिसमें रस, भाव, छन्द, अलंकार, नायिकाभेद, गुण-वृत्ति और प्रवृत्तियों का समावेश

है। जिनको लेकर श्रव्य-काव्य का विस्तार किया गया है, वे दस अंग नाट्याश्रयभूत हैं। अलंकार के मूल चार हैं—उपमा, रूपक, दीपक और यमक। इन्हीं आरम्भिक अलंकारों को लेकर आलंकारिकों ने सैकड़ों अलंकार बनाये। काव्यगुण, समता, समाधि, ओज, माधुर्य आदि की भी उद्भावना इन्ही लोगों ने की थी। नायिकाएँ जिनसे पिछले काल का साहित्य भरा पड़ा है, नाटकोपयोगी वस्तु है। वृत्तियाँ कौशिकी, भारती आदि भी नाट्यानुकूल भाषा-शैली के विश्लेषण हैं। और भी सूक्ष्म, देश-सम्बन्धी भारत की मानवीय प्रवृत्तियों की आवन्तिकी, दाक्षिणात्या, पांचाली और मागधी की भी नाट्यों में आवश्यकता बतायी गयी है। इस तरह प्राचीन नाट्य-साहित्य में उन सब साहित्य-अंगों का मूल है, जिनके आधार पर आलंकारिक साहित्य की आलोचना विस्तार करती है।

प्राचीन अद्वैत भावापन्न नाट्य-रसों को भी अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न इसी काल में हुआ। जीवन की एकांगी दृष्टि अधिक सचेष्ट थी। सन्तों को साहित्य में स्थान नही मिला। वे लाल बुझक्कड़ समाज के लिए अनुपयोगी सिद्ध हुए। नाचने, गाने-बजाने वाले, नटों, कुशीलवों से उनका रस छीनकर भाँडो और मुक्तक के कवियों ने निरंकार की विजय का डंका बजाया। कबीर ने कुछ रहस्यवाद का लोकोपयोगी अनुकरण आरम्भ किया था कि विवेक हुंकार कर उठा।

महाकवि तुलसीदास ने आदर्श, विवेक और अधिकारी-भेद के आधार पर युगवाणी रामायण की रचना की। उनका प्रश्न और उत्तर एक सन्देश के रूप में हुआ—'अस प्रभु अछत हृदय अधिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी।'

कहना न होगा कि दुःखों की अनुभूति से, बुद्धिवाद ने एक त्राणकारी महान् शक्ति का अवतरण किया। सबके हृदयों में उसका अस्तित्व स्वीकार किया गया; परन्तु परिणाम वही हुआ: जो होना चाहिए।

कभी-कभी राम के ही दो भेद बनाकर द्वंद्व खडा कर दिया जाता। कबीर के निर्गुण राम के विरुद्ध साकार, सक्रिय और समर्थ राम की अवतारणा तुलसीदास ने की। मर्यादा की सीमा राम और लीला पुरुषोत्तम कृष्ण का भी संघर्ष कम न रहा। ये दार्शनिक प्रतीक विवेकवादी ही थे, यद्यपि कृष्ण मे प्रेम और आनन्द की मात्रा भी मिली थी।

बीच-बीच में जो उलझने आनन्द और विवेक की साहित्य वाली धारा में पड़ीं, उनका क्रमोल्लेख न करके मैं यही कहना चाहता हूँ कि काव्यधारा 'मानव में राम है—या लोकातीत परम शक्ति है' इसी के विवेचन मे लगी रही। मानव ईश्वर से भिन्न नही है, यह बोध, यह रसानुभूति विवृत नही हो सकी।

किसी सीमा तक राधा और कृष्ण की स्थापना मे स्वात्मानन्द का ही विज्ञापन, द्वैत दार्शनिकता के कारण, परोक्ष अनुभूति के रूप में होता रहा। श्रीकृष्ण में नर्त्तक-

भाव का भी समावेश था, मधुरता के साथ। प्रेम के पुट में तल्लीनता ही द्वैतदर्शन की सीमा बनी। भारत के कृष्ण में अट्ठारह अक्षौहिणी के विनाश-दृश्य के सूत्रधार होने की भी क्षमता थी और नर्त्तक होने की रसात्मकता भी थी। वैदिक इन्द्र की पूजा बन्द करके इन्द्र के आत्मवाद को पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न श्रीकृष्ण ने किया था, किंतु कृष्ण के आत्मवाद पर बुद्धिवाद का इतना रंग चढ़ाया गया कि आत्मवाद तो गौण हो गया, पूजा होने लगी श्रीकृष्ण की। फिर विवेकवाद की साहित्यिक धारा को उनमें पूर्ण आलम्बन मिला। उन्हीं के आधार पर अपनी सारी भावनाओं को कुछ-कुछ रहस्यात्मक रूप से व्यक्त करने का अवसर मिला। मीरा और सूर, देव और नन्ददास इसी विभूति से साहित्य को पूर्ण बनाते रहे। रस की प्रचुरता यद्यपि थी, क्योंकि भारतीय रीति ग्रन्थों ने उन्हें श्रव्य में भी बहुत पहले ही प्रयुक्त कर लिया था, फिर भी नाट्य-रसों का साधारणीकरण उनमें नहीं रहा।

एक बात इस श्रव्य-काव्य के सम्बन्ध में और भी कही जा सकती है। अवध में कबीर के समन्वयकारक हिन्दू-मुसलमानों के सुधारक निर्गुण राम और तुलसीदास के पौराणिक राम के धार्मिक बुद्धिवाद का विरोध, भाषा और प्रांत दोनों साधनों के साथ, व्रजभाषा मे हुआ। कृष्ण मे प्रेम, विरह और संघर्ष वाले सिद्धांत का प्रचार करके भागवत के अनुयायी श्री वल्लभस्वामी और चैतन्य ने उत्तरीय भारत में उसी कारण अधिक सफलता प्राप्त की थी। उनकी धार्मिकता में मानवीय वासनाओं का उल्लेख उपास्य के आधार पर होने लगा था। फलतः कविता का वह प्रवाह व्यापक हो उठा। सुधारवादी शुद्ध धार्मिक ही बने रहे। रामायण का धर्मग्रन्थ की तरह पाठ होने लगा, परन्तु साहित्य-दृष्टि से जन-साधारण ने कृष्ण चरित्र को ही प्रधानता दी।

समय-समय पर आवरण में पड़ी हुई मानवता अपना प्रदर्शन करती ही है। मनुष्य अपने सुख-दुःख का उल्लेख चाहता है। वर्त्तमान खड़ी बोली उसी आत्मानुभूति को, युग की आवश्यकता के अनुसार— वह राष्ट्रीयता की हो या वेदना की—सीधे-सीधे कहने में लगी। कहना न होगा कि सीतल इत्यादि ने खड़ी बोली की नीव पहले से रख दी थी। सहचरी शरण—कही-कही कबीर और श्री हरिश्चन्द्र ने भी इसको अपनाया था।

हिन्दी के इस पाठ्य या श्रव्य-काव्य में ठीक वही अव्यवस्था है, जैसी हमारे सामाजिक जीवन में विगत कई सौ वर्षों में होती रही है। रसात्मकता नहीं, किन्तु रसाभास ही होता रहा। यद्यपि भक्ति को भी इन्हीं लोगों ने मुख्य रस बना लिया था, किंतु उसमें व्याज से वासना की बात कहने के कारण वह दृढ़ प्रभाव जमाने से असमर्थ थी। क्षणिक भावावेश हो सकता था। जगत और अंतरात्मा की अभिन्नता की विवृति उसमें नहीं मिलेगी। एक तरह मे हिन्दी-काव्यों का यह युग संदिग्ध और

अनिश्चित-सा है। इसमे न तो पौराणिक काल की महत्ता है और न है काव्य-काल का सौंदर्य। चेतना राष्ट्रीय पतन के कारण अव्यवस्थित थी। धर्म की आड़ में नये-नये आदर्शों की सृष्टि, भय से त्राण पाने की दुराशा ने इस युग के साहित्य में, अवध वाली धारा से मिथ्या आदर्शवाद और ब्रज की धारा से मिथ्या रहस्यवाद का सृजन किया।

मिथ्या आदर्शवाद का उदाहरण--

जानते न अधम उधारन तिहारो नाम,
और की न जाने पाप हम तो न करते !

मिथ्या रहस्यवाद —

ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावत।

इसका प्रभाव इतना बढा कि शुद्ध आदर्शवादी महाकवि तुलसीदास का रामायण काव्य न होकर धर्म-ग्रन्थ बन गया। सच्चे रहस्यवादी पुरानी चाल की छोटी छोटी मंडलियों मे लावनी गाने और चग खडकाने लगे।



यथार्थवाद और छायावाद

हिंदी के वर्त्तमान युग की दो प्रधान प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें यथार्थवाद और छायावाद कहते हैं। साहित्य के पुनरुद्धार-काल मे श्री हरिश्चन्द्र ने प्राचीन नाट्य-रसानुभूति का महत्त्व फिर से प्रतिष्ठित किया और साहित्य की भाव-धारा को वेदना तथा आनन्द में नये ढंग से प्रयुक्त किया। नाटकों में 'चन्द्रावली' में प्रेम-रहस्य की उज्ज्वल नीलमणि वाली रस-परंपरा स्पष्ट थी और साथ ही 'सत्य हरिश्चन्द्र' में प्राचीन फल-योग की आनंदमयी पूर्णता थी, किंतु 'नीलदेवी,' और 'भारत-दुर्दशा' इत्यादि में राष्ट्रीय अभावमयी वेदना भी अभिव्यक्त हुई।

श्री हरिश्चन्द्र ने राष्ट्रीय वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का भी चित्रण आरम्भ किया था। 'प्रेम-योगिनी' हिंदी में इस ढंग का पहला प्रयास है और 'देखी तुमरी कासी' वाली कविता को भी मैं इसी श्रेणी का समझता हूँ। प्रतीक-विधान चाहे दुर्बल रहा हो, परन्तु जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयत्न हिंदी मे उसी समय प्रारम्भ हुआ था। वेदना और यथार्थवाद का स्वरूप धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगा। अव्यवस्था वाले युग मे देव-व्याज से मानवीय भाव का वर्णन करने की जो परम्परा थी, उससे भिन्न सीधे-सीधे मनुष्य के अभाव और उसकी परिस्थिति का चित्रण भी हिंदी में उसी समय आरम्भ हुआ। 'राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है' वाला सिद्धांत कुछ निर्बल हो चला। इसी का फल है कि पिछले काल में सुधारक कृष्ण, राधा तथा रामचन्द्र का चित्रण वर्त्तमान युग के अनुकूल हुआ। यद्यपि हिंदी में पौराणिक युग की भी पुनरावृत्ति हुई और साहित्य की समृद्धि के लिए उत्सुक लेखकों ने नवीन आदर्शों से भी उसे सजाना आरम्भ किया, किंतु श्री हरिश्चन्द्र का आरम्भ किया हुआ यथार्थवाद भी पल्लवित होता रहा।

यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दु.ख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है कि साहित्य के माने हुए सिद्धांत के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख। भारत के तरुण आर्य-संघ में सांस्कृतिक नवीनता का आंदोलन करने वाला दल उपस्थित हो गया था। वह पौराणिक युग के पुरुषों के चरित्र को अपनी प्राचीन महत्ता का प्रदर्शन मात्र समझने लगा। दैवी शक्ति में तथा महत्त्व से हटकर अपनी

क्षुद्रता तथा मानवता मे विश्वास होना, सकीर्ण सस्कारो के प्रति द्वेष होना स्वाभाविक था। इस रुचि के प्रत्यावर्त्तन को श्री हरिश्चन्द्र की युगवाणी मे प्रकट होने का अवसर मिला। इसका सूत्रपात उसी दिन हुआ जब गवर्नमेट से प्रेरित राजा शिवप्रसाद ने सरकारी ढग की भाषा का समर्थन किया और भारतेदुजी को उनका विरोध करना पडा। उन्ही दिनो हिदी और बँगला के महाकवियो मे परिचय भी हुआ। श्री हरिश्चन्द्र और हेमचन्द्र ने हिंदी और बँगला मे आदान-प्रदान किया। हेमचन्द्र ने बहुत-सी हिंदी की प्राचीन कविताओ का अनुवाद किया और हरिश्चन्द्र ने 'विद्या-सुदर' आदि का अनुवाद किया।

जाति मे जो धार्मिक और साप्रदायिक परिवर्त्तनो के स्तर आवरण स्वरूप बन जाते है, उन्हे हटाकर अपनी प्राचीन वास्तविकता को खोजने की चेष्टा भी साहित्य मे तथ्यवाद की सहायता करती है। फलत आरम्भिक साहसपूर्ण और विचित्रता से भरी आख्यायिकाओ के स्थान पर—जिनकी घटनाएँ राजकुमारो से ही सम्बद्ध होती थी- मनुष्य के वास्तविक जीवन का साधारण चित्रण आरम्भ होता है। भारत के लिए उस समय दोनो ही वास्तविक थे- यहाँ के दरिद्र जन-साधारण और महाशक्तिशाली नरपति। किंतु जन-साधारण और उनकी लघुता के वास्तविक होने का एक रहस्य है। भारतीय नरशो की उपस्थिति भारत के साम्राज्य को बचा नही सकी। फलत उनकी वास्तविक सत्ता मे अविश्वास होना सकारण था। धार्मिक प्रवचनो ने पतन मे और विवेकदम्भपूर्ण आडम्बरो ने अपराधो म कोई रुकावट नही डाली। तब राजसत्ता का कृत्रिम और धार्मिक महत्त्व व्यर्थ हो गया और साधारण मनुष्य जिसे पहले लोग अकिंचन समझते थ वही क्षुद्रता म महान दिखलाई पडन लगा। उस व्यापक दु ख सवलित मानवता को स्पर्श करनेवाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता हे। इस यथार्थवादिता मे अभाव, पतन और वेदना के अश प्रचुरता से होते है।

आरम्भ मे जिस आधार पर साहित्यिक न्याय की स्थापना होती है—जिसमे राम की तरह आचरण करने के लिए कहा जाता है, रावण की तरह नही— उसमे रावण की पराज्य निश्चित है। साहित्य मे ऐसे प्रतिद्वद्वी पात्र का पतन आदर्शवाद के स्तभ मे किया जाता है, परन्तु यथार्थवादियो के यहाँ कदाचित यह भी माना जाता है कि मनुष्य मे दुर्बलताएं होती ही है और, वास्तविक चित्रो मे पतन का भी उल्लेख आवश्यक है। और फिर पतन के मुख्य कारण क्षुद्रता और निंदनीयता भी— जो सामाजिक रूढियो के द्वारा निर्धारित रहती है—अपनी सत्ता बनाकर दूसरे रूप मे अवतरित होती है। वास्तव मे कर्म, जिनके सम्बन्ध मे देश, काल और पात्र के अनुसार यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण रूप से न तो भले है और न बुरे है,

कभी समाज के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, कभी त्याज्य होते है। दुरुपयोग से मानवता के प्रतिकूल होने पर अपराध कहे जाने वाले कर्मों से जिस युग के लेखक समझौता कराने का प्रयत्न करते हैं, वे ऐसे कर्मों के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं। व्यक्ति की दुर्बलता के कारण की खोज में व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक अवस्था और सामाजिक रूढ़ियों को पकड़ा जाता है। और, इस विषमता को ढूढ़ने पर वेदना ही प्रमुख होकर सामने आती है। साहित्यिक न्याय की व्यावहारिकता मे वह संदिग्ध होता है। तथ्यवादी पतन और स्खलन का भी मूल्य जानता है। और वह मूल्य है— स्त्री नारी है और पुरुष नर है - इनका परस्पर केवल यही सम्बन्ध है।

वेदना से प्रेरित होकर जन-साधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न यथार्थवादी साहित्य करता है। इस दशा मे प्राय: सिद्धांत बन जाता है कि हमारे दुःख और कष्टों के कारण प्रचलित नियम और प्राचीन सामाजिक रूढ़ियाँ है। फिर तो अपराधों के मनोवैज्ञानिक विवेचन के द्वारा यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न होता है कि वे सब समाज के कृत्रिम पाप है। अपराधियों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न कर सामाजिक परिवर्त्तन के सुधार का आरम्भ साहित्य मे होने लगता है। इस प्रेरणा में आत्मनिरीक्षण और शुद्धि का प्रयत्न होने पर भी व्यक्ति के पीड़न, कष्ट और अपराधों से समाज को परिचित कराने का प्रयत्न भी होता है। और, यह सब व्यक्ति-वैचित्र्य से प्रभावित होकर पल्लवित होता है। स्त्रियों के सम्बन्ध में नारीत्व की दृष्टि ही प्रमुख होकर, मातृत्व से उत्पन्न हुए सब सम्बन्धों को तुच्छ कर देती है। वर्त्तमान युग की ऐसी प्रवृत्ति है। जब मानसिक विश्लेषण के इस नग्न रूप मे मनुष्यता पहुँच जाती है, तब उन्ही सामाजिक बन्धनों की बाधा घातक समझ पड़ती है और इन बंधनों को कृत्रिम और अवास्तविक माना जाने लगता है। यथार्थवाद क्षुद्रों का ही नही, अपितु महानो का भी है। वस्तुत: यथार्थवाद का मूल भाव है—वेदना। जब सामूहिक चेतना छिन्न-भिन्न होकर पीड़ित होने लगती है, तब वेदना की विवृति आवश्यक हो जाती है। कुछ लोग कहते है— साहित्यकार को आदर्शवादी होना ही चाहिए और सिद्धांत से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्त्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिए, यही आदेश करता है। और, यथार्थवादी सिद्धात मे ही इतिहासकार से अधिक कुछ नही ठहरता, क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की संपत्ति है। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था, किंतु साहित्यकार न तो इतिहासकर्त्ता है और न धर्मशास्त्र-प्रणेता। इन दोनों के कर्त्तव्य स्वतंत्र है। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है। साहित्य, समय की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है। दुःख-दग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है; इसीलिए असत्य अघटित घटना पर कल्पना को

वाणी महत्त्वपूर्ण स्थान देती है, जो निजी सौदर्य्य के कारण सत्य-पद पर प्रतिष्ठित होती हैं। उसमे विश्वमंगल की भावना ओत-प्रोत रहती है।

सास्कृतिक केन्द्रो मे जिस विकास का आभास दिखलाई पडता है, वह महत्त्व और लघुत्त्व दोनो सीमातो के बीच की वस्तु है। साहित्य की आत्मानुभूति यदि उस स्वात्म-अभिव्यक्ति, अमेद और साधारणीकरण का सकेत कर सके, तो वास्तविकता का स्वरूप प्रकट हो सकता है। हिंदी मे इस प्रवृत्ति का मुख्य वाहन गद्य-साहित्य ही बना।

कविता के क्षेत्र मे पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुदरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना[1] के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिंदी मे उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया। रीतिकालीन प्रचलित परम्परा से जिसमे बाह्य वर्णन की प्रधानता थी इस ढग की कविताओ मे भिन्न प्रकार के भावो की नये ढग से अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आतरिक स्पर्श से पुलकित थे। आभ्यन्तर सूक्ष्म भावो की प्रेरणा बाह्य स्थूल आकार मे भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावो के व्यवहार मे प्रचलित पदयोजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य विन्यास आवश्यक था। हिंदी मे नवीन शब्दो की भगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी। शब्द विन्यास मे ऐसा पानी चढा कि उसमे एक तडप उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया। भवभूति के शब्दो के अनुसार

व्यतिषजति पदार्थानान्तर कोपि हेतु।
न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतय सश्रयन्ते॥

बाह्य उपाधि से हटकर आतरहेतु की ओर कवि-कर्म प्रेरित हुआ। इस नये प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए जिन शब्दो की योजना हुई, हिंदी मे पहले वे कम समझे जाते थे, किन्तु शब्दो मे भिन्न प्रयोग से एक स्वतन्त्र अर्थ उत्पन्न करने की शक्ति है। समीप के शब्द भी उस शब्द-विशेष का नवीन अर्थ द्योतन करने मे

१ बोध की बहिरग-प्रत्यन्तर्भूमि वेदना (Awareness) अपनी स्वभाव-निरपेक्षता मे शून्यपदा है—आकाशवाची 'ख' मात्र है। 'सु' और 'दु' के उपसर्ग-योग उसके अनुकूल-वेदनीयत्व (सु+ख) एव प्रतिकूल वेदनीयत्व (दु+ख) के द्योतन करते है। किंतु व्यवहारत जो समाज की दशा और प्रतिक्रिया के योगफल की व्यजना है शब्दो के वर्त्तमान अर्थबोध प्राचीनो मे सर्वथा भिन्न है। मुतराम् सामाजिक दुखातिशयता वश व्यवहार मे आज वेदना से दुख का ही तात्पर्य रूढ हो उठा है। वस्तुत वेदना के उभय बाहु सुखावेदना और दुखावेदना है।

—सम्पादक

सहायक होते हैं। भाषा के निर्माण में शब्दों के इस व्यवहार का बहुत हाथ होता है। अर्थ-बोध व्यवहार पर निर्भर करता है, शब्द-शास्त्र में पर्यायवाची' तथा अनेकार्थवाची शब्द इसके प्रमाण हैं। इसी अर्थ-चमत्कार का माहात्म्य है कि कवि की वाणी में अभिधा से विलक्षण अर्थ साहित्य में मान्य हुए। ध्वनिकार ने इसी पर कहा है —'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।'

अभिव्यक्ति का यह निराला ढंग अपना स्वतन्त्र लावण्य रखता है। इसके लिए प्राचीनों ने कहा—

मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवांतरा
प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ।

मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है, वैसी ही कांति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत-साहित्य में छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था। कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में कहा है—

प्रतिभा प्रथमोद्भेदममये यत्र वक्रता
शब्दाभिधेययोरन्त. स्फुरतीव विभाव्यते ।

शब्द और अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और कांति का सृजन करती है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है। वैदग्ध्यभंगी भणिति में शब्द की वक्रता और अर्थ की वक्रता लोकोत्तीर्ण रूप से अवस्थित होती है। '(शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्—लोचन २०८)' कुन्तक के मत में ऐसी भणिति 'शास्त्रादिप्रसिद्ध-शब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकी'-होती है। यह रम्यच्छायांतरस्पर्शी वक्रता वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक में होती है। कुन्तक के शब्दों में यह 'उज्ज्वला छायातिशयरमणीयता' (१३३) वक्रता की उद्भामिनी है।

परस्परस्य शोभायै बहवः पतिताः क्वचित् ।
प्रकारा जनयन्त्येतां चित्रच्छायामनोहराम् ॥ ३४ ॥

—वक्रोक्तिजीवित २ उन्मेष ।

कभी-कभी स्वानुभव संवेदनीय वस्तु की अभिव्यक्ति के लिए सर्वनामादिकों का सुन्दर प्रयोग इस छायामयी वक्रता का कारण होता है—'वे आँखे कुछ कहती हैं।' अथवा—

निद्रानिमीलितदृशो मदमन्थराया
नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि ।
अद्यापि मे वरतनोर्मधुराणि तस्या-
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥

किंतु ध्वनिकार ने इसका प्रयोग ध्वनि के भीतर सुन्दरता से किया।

यस्त्वलक्ष्यक्रमो व्यंग्यो ध्वनिवर्णपदादिषु।
वाक्ये संघटनायां च सप्रबन्धेपि दीप्यते ।। (ध्वन्यालोक ६३–२)

यह ध्वनि प्रबन्ध, वाक्य, पद और वर्ण मे दीप्त होती है। केवल अपनी भंगिमा के कारण 'वे आँखे' में 'वे' एक विचित्र तड़प उत्पन्न कर सकता है। आनन्दवर्धन के शब्दों में—

मुख्या महाकवि गिरामलंकृति भृतामपि
प्रतीयमानच्छायैषाभूषा लज्जेव योषिता ।। (ध्वन्यालोक ३–३७)

कवि की वाणी में यह प्रतीयमान छाया युवती के लज्जा-भूषण की तरह होती है। ध्यान रहे कि साधारण अलंकार जो पहन लिया जाता है, वह नही है, किंतु यौवन के भीतर रमणी-सुलभ श्री की वहिन ह्री है—घूंघट वाली लज्जा नही। सस्कृत-साहित्य मे यह प्रतीयमान छाया अपने लिए अभिव्यक्ति के अनेक साधन उत्पन्न कर चुकी है। अभिनवगुप्त ने लोचन मे एक स्थान पर लिखा है—

... दुर्लभा छाया आत्मरूपता याति।

इस दुर्लभ छाया का सस्कृत के काव्योत्कर्ष काल मे अधिक महत्त्व था। आवश्यकता इसमे शाब्दिक प्रयोगों की भी थी किंतु आतर अर्थ-वैचित्र्य को प्रकट करना भी इसका प्रधान लक्ष्य था। इस तरह की अभिव्यक्ति के उदाहरण संस्कृत में प्रचुर है। उन्होंने उपमाओ मे भी आतर सादृश्य खोजने का प्रयत्न किया था। 'निरहंकार मृगाक, पृथ्वी गतयौवना, संवेदनमिवाम्बर', मेघ के लिए 'जनपदवधूलोचनै: पीयमान.' या कामदेव के कुसुम-शर के लिए 'विश्वसनीयमायुधं' ये सब प्रयोग बाह्य सादृश्य के अधिक आतर सादृश्य को प्रकट करनेवाले है। और भी — 'आर्द्र ज्वलित ज्योतिरहमस्मि, मधुनक्तमुतोषमि मधुमत् पार्थिवं रज' इत्यादि श्रुतियो मे इस प्रकार की अभिव्यंजनाये बहुत मिलती है। प्राचीनो ने भी प्रकृति की चिर-नि:शब्दता का अनुभव किया था —

शुचिशीतलचन्द्रिकाप्लुताश्चिरनि शब्दमनोहरा दिश।
प्रशमस्य मनोभवस्य वा हृदि तस्याप्यथ हेतुता ययु ।।

इन अभिव्यक्तियों मे जो छाया की स्निग्धता है, तरलता है, वह विचित्र है। अलंकार के भीतर आने पर भी ये उनमे कुछ अधिक है। कदाचित् ऐसे प्रयोगों के आधार पर जिन अलंकारो का निर्माण होता था, उन्ही के लिए आनन्दवर्धन ने कहा है— तेऽलंकारा. परां छायां यांति ध्वन्यंगता गता· (ध्वन्यालोक २—२८)

प्राचीन साहित्य में छायावाद अपना स्थान बना चुका है। हिंदी में जब इस तरह के प्रयोग आरम्भ हुए, तो कुछ लोग चौके सही, परन्तु विरोध करने पर भी

अभिव्यक्ति के इस ढंग को ग्रहण करना पड़ा। कहना न होगा कि ये अनुभूतिमय आत्मास्पर्श—काव्य-जगत् के लिए अत्यन्त आवश्यक थे। काकु या श्लेष की तरह यह सीधी वक्रोक्ति भी न थी। बाह्य से हटकर काव्य की प्रवृत्ति आंतर की ओर चल पड़ी थी।

जब 'वहति विकलं कायो न मुञ्चति चेतनाम्' की विवशता वेदना को चैतन्य के साथ चिरबन्धन में बाँध देती है, तब वह आत्मस्पर्श की अनुभूति, सूक्ष्म आंतर भाव को व्यक्त करने में समर्थ होती है। ऐसा छायावाद किसी भाषा के लिए शाप नहीं हो सकता। भाषा अपने सांस्कृतिक सुधारों के साथ इस पद की ओर अग्रसर होती है – उच्चतम साहित्य का स्वागत करने के लिए। हिंदी ने आरम्भ के छायावाद में अपनी भारतीय साहित्यिकता का ही अनुसरण किया। कुंतक के शब्दों में 'अतिक्रांत-प्रसिद्धव्यवहारसरणि' के कारण कुछ लोग इस छायावाद में अस्पष्टवाद का भी रंग देख पाते हैं। हो सकता है, जहाँ कवि ने अनुभूति से पूर्ण तादात्म्य नहीं कर पाया हो, वहाँ अभिव्यक्ति विशृंखल हो गई हो, शब्दों का चुनाव ठीक न हुआ हो, हृदय से उसका स्पर्श न होकर मस्तिष्क से ही मेल हो गया हो, परन्तु सिद्धांत में ऐसा रूप छायावाद का ठीक नहीं कि जो कुछ अस्पष्ट, छाया-मात्र हो, वास्तविकता का स्पर्श न हो, वही छायावाद है। हाँ मूल में यह रहस्यवाद भी नहीं है। प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिंब है, इसलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में ले आकर छायावाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धांत भी भ्रामक है। यद्यपि प्रकृति का आलंबन स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्य-धारा में होने लगा है, किंतु प्रकृति से सम्बन्ध रखनेवाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता।

छाया—भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचारवक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषतायें हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आंतर स्पर्श कर के भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कांतिमयी होती है।



१. 'काव्य और कला' से 'यथार्थवाद और छायावाद' पर्यन्त निबन्ध पूज्य पिताश्री के तिरोभाव के पश्चात् मार्च १९३९ मे संकलित होकर 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' नाम से प्रकाशित हुए। इसके साथ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी द्वारा लिखित प्राक्कथन अपना महत्त्व रखता है। अतएव, उसे प्रस्तावित आलेख पर्व में अन्य आलेखों के साथ प्रकाशित किया जायगा।—**रत्नशंकर प्रसाद**

प्राचीन आर्यावर्त्त—प्रथम सम्राट् इन्द्र और दाशराज्ञ युद्ध[1]

विश्वजिते धनजिते स्वर्जिते सत्राजिते नृजित उर्वराजिते ।
अश्वजिते गोजिते अब्जिते भरेन्द्राय सोमं यजताय हर्यतम् ।।
(ऋक्—२-२१-१)

एवा वस्व इन्द्रः सत्य. सम्राड्हन्ता वृत्रं वरिव. पूरवे क. ।
पुरष्टुत क्रत्वा नः शग्धि रायो भक्षीय तेऽवसो दैव्यस्य ।।
(ऋक्— ४-२१-१०)

पाश्चात्य विद्वानो ने संसार की सबसे महान् और प्राचीन पुस्तक 'ऋग्वेद' और उसके परिवार के [illegible] ग्रंथों का अनुशीलन करके हमारी ऐतिहासिक स्थिति को बतलाने की चेष्टा की है, और उनका यह स्तुत्य प्रयत्न बहुत दिनों से हो रहा है। किंतु इस ऐतिहासिक खोज से जहाँ हमारे भारतीय इतिहास की सामग्री बनने में बहुत-सी सहायता मिली है उसी के साथ अपूर्ण अनुसंधानो के कारण और किसी अंश मे सेमेटिक प्राचीन धर्म पुस्तक (Old Testament) के ऐतिहासिक विवरणों को मानदण्ड मान लेने से बहुत-सी भ्रांत कल्पनायें भी चल पडी है। बहुत दिनों तक पहले, ईसा के २००० वर्ष पूर्व का समय ही सृष्टि के प्राग् ऐतिहासिक काल को भी अपनी परिधि में ले आता था। क्योंकि ईसा से २००० वर्ष पूर्व जलप्रलय का होना माना जाता था और सृष्टि के आरंभ से २००० वर्ष के अनन्तर जल-प्रलय का समय निर्धारित था—इस प्रकार ईसा से ४००० वर्ष पहले सृष्टि का आरंभ माना जाता था। बहुत संभव है कि इसका कारण वही अन्तर्निहित धार्मिक प्रेरणा रही हो जो उन शोधकों के हृदय मे बद्धमूल थी। प्राय: इसी के वशवर्त्ती होकर बहुत से प्रकांड पण्डितों ने भी, ऋग्वेद के समय-निर्धारण मे संकीर्णता का परिचय दिया है। हर्ष का विषय है कि प्रत्नतत्त्व और भूगर्भ शास्त्र के नये-नये अन्वेषणो और आविष्कारों

—

१ आर्यावर्त्त और प्रथम सम्राट् इन्द्र 'कोशोत्सव स्मारक संग्रह' मे सवत् १९८५ में प्रकाशित हुआ और 'दाशराज्ञ युद्ध' गंगा के [illegible]ंक मे पोष संवत् १९८८ में प्रकाशित हुआ। उभय निबन्ध आर्य संस्कृति के आरम्भिक अध्यायो पर एकतान चिन्तन की फलश्रुति में प्रस्तुत है—सुतरा क्रमबद्ध रूप से एकीकृत किया गया है। (सं)

ने मानव जाति के प्राग्-ऐतिहासिक काल को और उसके साथ ही आर्य संस्कृति को भी अधिक पुरातन सिद्ध कर दिया है। फलतः उस काल की सीमा विस्तृत हो चली है।

F. G. C. Hearenshaw अपने संसार के इतिहास में लिखते हैं—"पिछले कई वर्षों से मिस्र की प्राचीनता में विश्वास बढ़ रहा था। उसके मितीवार इतिहास का क्रम तो प्रायः ईसा पूर्व ४००४ वर्ष से चला, पर इसके भी हजारों बरस पहले से वहाँ के लोग सुसंगठित जीवन व्यतीत कर रहे थे। अब वर्त्तमान काल की खोजों और उपलब्धियों ने प्राचीनता का अधिकार बैबिलोनिया की सभ्यता को देने का निश्चित अभिमत दिया है। इसके अतिरिक्त बैबिलोनिया की सभ्यता के पूर्व उमसे भी कुछ अधिक पुरानी सभ्यता इलाम की है।"[१]

सभ्यता का प्रश्न हल करने के लिए अवशिष्ट चिह्नों से काम लिया जाता और यही उसकी प्राचीनता के मापक है। अभी कुछ दिनों पहले तक भारतवर्ष में खोदाई का काम पूर्णतः न होने के कारण ईसा पूर्व छठीं शताब्दी से पहले के कोई चिह्न न मिले थे और इस कारण आर्य संस्कृति की प्राचीनता में संदेह किया जाता था। केवल ऋग्वेद के मंत्रों से सामाजिक और साहित्यिक विकास के अनुमान पर अधिक से अधिक २००० वर्ष ईसा पूर्व की आर्य सभ्यता में पाश्चात्य अपना विश्वास प्रकट कर रहे थे। हरप्पा और मोहंजोदरो की हाल की खोदाई ने—कुछ पत्थर के टुकड़ों को ही प्रामाणिक महत्ता देने वालों की—आँखें खोल दी है, जिसकी प्राचीनता को डॉ० मार्शल जैसे विद्वानों ने भी पैंतीस सौ ईसवी पूर्व की माना है। प्रायः इतना ही समय ब्रीस्टेड (Breasted) आदि विद्वान् मिस्र के पिरामिडों को देते है। सर मार्शल लिखते है—"जैसे-जैसे खोदाई का कार्य अधिक विस्तृत हो गया, यह प्रमाणित होने लगा कि भारत से मेसोपोटामियाँ का सम्बन्ध केवल संस्कृति की समानता के आधार पर नही था, किंतु दोनों देशों में गाढ़तम व्यापारिक और अन्य संपर्कों के

---

१. Egypt untile the last few years has been generally regarded as having the best title to priority : its calender was fixed in or about 4004 B. C. and for a thousand years before that it had lived a more or less settled life. But the weight of modern evidence seems to be definitely establishing a claim to a still earlier antiquty on behalf of the civilisation of Babylonia, while behind the Babylonian civilisation there seems to lie a more primitive civilisation of Elam (p. 33. World History—F. G. C. Hearenshaw)

कारण था। इसीलिए 'इंडो-सुमेरियन सभ्यता' शब्द को हटा कर उसके स्थान पर 'सिंधु की सभ्यता' रखा गया।"[1]

इस 'इंडो-सुमेरियन' सभ्यता का विश्वास करने का कारण, प्रोफेसर इलियड स्मिथ जैसे विद्वानों की सम्मति है। वे लिखते हैं—"सुमेरिया की मूल जाति की पूर्वीय और पश्चिमीय शाखायें ही क्रमशः भारत और ब्रिटिश द्वीपपुंज एवं आयर्लैंड में पहुँची[2]।" उसी ग्रंथ की भूमिका में लिखा है—"आधुनिक खोजों ने यह सिद्ध कर देने की चेष्टा की है कि बेबिलोनिया के सुमेरियन, प्राग् ऐतिहासिक काल के मिस्र-निवासी, उन्नत प्रस्तर युग के यूरोपीय तथा दक्षिण फारस और भारत के आर्य एक ही जाति के मनुष्य थे।"[3]

अभी तक सुमेरिया की सभ्यता को सबसे प्राचीन मानने के कारण 'इंडो-सुमेरियन' नाम देना निर्बाध समझा जाता था, किंतु अत्यंत नयी खोजों ने ऐतिहासिकों को सिंधु की एक स्वतंत्र सभ्यता मान लेने के लिए विवश किया। इस प्रकार इन शोधों के आधार पर ही अब वह कहा जा सकता है कि अवशिष्ट चिह्नों के द्वारा भी भारत अपनी प्राचीनता प्रमाणित कर सकता है। यद्यपि आर्यों की आत्मवाद-प्रणाली अत्यंत प्राचीन काल से ही भौतिक सत्ता के प्रदर्शनों में उतनी श्रद्धा न रखती थी, ऐसा मेरा अनुमान है, ऋषियों की वाणी मे माननीय महत्त्व को अमर

१. With the progress of exploration, however, it has become evident that the connection with Mesopotamia was due, not to actual identity of culture bul to intimate commercial or other intercourrse between the two countries. For this reason the term "Indo-Sumerian" has now been discarded and "Indus" adopted in its place (B. H. U. Magazine 1928).

२. This distinguished ethnologist is frankly of opinion that the Sumerians were the congeners of the pre-dynastic Egyptians of the mediterranean (or Brown race) the eastern branch of which reaches to India and the western to British Isles and Ireland (P. 7, Myths of Babylynia)

३. The result of modern research tend to establish a remote racial connection between the Sumerians of Babylonia, the Prehistoric Egyptians and the Neolithic (late stoneage) inhabitants of Europe as well as the southern Persians and the "Aryans" of India. (P. XXX—Myths of Babylonia).

कर रखने की शक्ति पर ही उनका विश्वास था, फिर भी कौन कह सकता है कि कितने स्मृति-चिह्न अभी दबे पड़े हैं। कितने ही बर्बर आक्रमणों से आर्य साहित्य का जितना विनाश हुआ है, उसका अनुमान करना भी कठिन है। इसलिए ऐतिहासिक विवरणों का अभाव होना कुछ असम्भव नही। यद्यपि 'परजीटर' (Pargeter) आदि ने पुराणों की प्रामाणिकता मे अधिक विश्वास प्रकट किया है तथापि सम्यता के उद्‌गम को, जहाँ तक हो सके, पश्चिम मे स्थापित करने की प्रेरणा ने शोधकों को उनसे सहमत नही होने दिया। यद्यपि भौतिक अवशिष्ट चिह्नों पर ही इन शोधक विद्वानों का अधिक विश्वास है, जैसा हम ऊपर कह आये है, तथापि, वे अनुसन्धान मे पुस्तक, अभिलेख और विवरणों के सम्बन्ध में अपनी मूल मनोवृत्ति से प्रभावित हुए बिना न रह सके। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी मे होने वाले मिस्र देशवासी धर्मयाजक मनेथो (Manetho) ने अपने देश के इतिहास में जिन राजाओ के तीस वंशों का वर्णन किया है, उन्हे प्रामाणिक मान लेने के लिए प्रोफेसर फ्लिण्डर्स पिट्री (Flinders Petre) ने अधिक आग्रह किया है। बाबुल का धर्म याजक बेरोसस (Berosus) ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी मे हुआ, जिसने ग्रीक भाषा मे अपने देश का कुछ वृत्तात लिखा था। अब उसके आधार पर उक्त देश का इतिहास बनाने और धार्मिक सामंजस्य स्थिर करने का प्रयास किया जाता है। उसी तरह ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी के ग्रीक राजदूत मेगास्थनीज ने भारतीय इतिहास का समय तत्कालीन पुराणो के आदिम रूप से निर्धारित किया है और उस पूर्व काल मे भी भारतीयो के प्राचीन इतिहास का विवरण महीनो और वर्षों के साथ राजाओ की संख्या के उल्लेख से पूर्ण है। मेगास्थनीज ने ६४५१ वर्ष और ३ महीने चन्द्रगुप्त से पहले १५४ राजाओ का राज्य करना लिखा है, किंतु भारतीय इतिहास लिखने वाले पाश्चात्य विद्वान् इस ओर ध्यान भी नही देना चाहते।

मिस्र, चैल्डिया, बेबिलोनिया, इलाम आदि देश अपने धार्मिक अनुष्ठान और जातियों के सहित कुछ मिट्टी और पत्थर के चिह्न छोड कर मिट गये, पर आर्यावर्त्त या सिंधु की गोद मे अभी आर्य जाति अपने धर्मानुष्ठानो के साथ जीवित है।

तिलक ने ज्योतिष के आधार पर अपने अन्वेषणों से यह प्रमाणित किया है कि बहुत से वेदमन्त्र छः हजार वर्ष ईसा पूर्व से पीछे के नही है। मेगास्थनीज के भारतीय इतिहास के विवरण से अविरुद्ध होने के कारण भी हमारी सम्यता उक्त काल से और पहले की मानी जा सकती है।

इसलिए बाइबिल-वर्णित जलप्रलय वाले नूह की सन्तान—हेम, सेम या यापत के वंशधरों का उल्लेख करके संसार के प्राग् ऐतिहासिक काल के आर्यो का इतिहास बनाया जाना अधिक भ्रमात्मक ही सिद्ध होगा। क्योंकि, ऋग्वेद की ऋचाओं मे

जल-प्रलय का वर्णन नहीं मिलता, जैसा पीछे के अथर्व के मन्त्रों में उसका उल्लेख है। मैरा विश्वास है कि सुमेरिया के जलप्लावन मे 'पीर निपिश्तीम्' का जो वर्णन है, वह एक कल्पना है, जो जलप्लावन से बच जाने के बाद वहाँ के निवासियों ने गढी थी। जलपुत्र या जलशक्ति का नाम ऋग्वेद मे अपान्नपात् है। अवेस्ता मे भी अपान्नपात् जल के देवता माने गये हैं। द्वितीय मण्डल का पैतीसवा सूक्त उन्ही की प्रार्थना मे है। वहाँ वे जलपुत्र हैं। सुमेरियावालो ने जलप्रलय से बचने पर इन्ही आर्य देवता को त्राणकर्ता का रूप दिया था। उनके पीर निपिश्तीम् (Pir Nepishtim) भी जल के बीच मे द्वीप के रहने वाले देवता थे। जैसा आगे चलकर दिखलाया गया है—ये सुमेरियावासी भी आदिम आर्य सन्तान ही थे, उससे इनका ऋग्वैदिक देवता से परिचित होना असम्भव नही। किंतु अपनी रक्षा का सम्बन्ध, जो उन्होने उक्त देवता से जोड दिया है, उससे प्रतीत होता है कि वह घटना ऋग्वेद से पीछे की है अन्यथा, ऋग्वेद मे भी जलप्रलय का प्रसंग आता।

अभी तक यही विश्वास था कि ऋग्वेद से पीछे के शतपथ ब्राह्मण मे जिस जलप्रलय का वर्णन मिलता है वह सेमेटिक जाति के बैबिलोनियावालो से उधार लिया हुआ है, किंतु मैक्डानल के विचार से यह एक अनावश्यक कल्पना है।[१] अब मैक्डानल के विचार की पुष्टि भूगर्भ शास्त्र के विद्वानो द्वारा भी होने लगी है। हिमालय की खोज करके लौटे हुए Dr. E Tinkler का अभिमत १८ अक्तूबर सन् २८ के 'पायनियर' मे प्रकाशित हुआ है। उनका विचार है कि बालू मे दबे हुए प्राचीन नगर के चिह्न इस बात को प्रमाणित करते है कि हिमालय और उसके प्रात मे भी जलप्रलय वा ओध का होना निश्चित-सा है।

'सिंधु की सभ्यता' प्राचीन सुमेरियन सभ्यता से सस्कृति की विशेषता के कारण जब विभिन्न मान ली गयी है, तब वह मेना (Mena) के मिस्र विजय[२] (ब्रीस्टेड Breasted के मतानुसार) ३४०० बी० सी० से पूर्व की ही प्रमाणित होगी। मिस्र की प्राथमिक सभ्यता से पहले ही सिधु की घाटी मे नागरिक सभ्यता का विकास हो चुका था, जिसके लिए और भी हजारो वर्ष पहले का समय चाहिये। वह सिधु की सभ्यता ऋग्वेद के आर्यों की सप्तसिधु वाली सभ्यता से भिन्न नही प्रमाणित होगी।

जब हम देखते है कि ग्रीको के हरक्युलिस की जन्मभूमि मेगास्थनीज़ के

१ It is generally regarded as borrowed from a Semitic source, but this seems to be an unnecessary hypothesis.

(P 139, Vedic Mythology)

२ इस निबंध की अंतिम पाद टिप्पणी द्रष्टव्य (सं०)

कथनानुसार आर्यावर्त्त है, टाह (Ptah)[1] ने पूर्व से ही आकर मिस्र में सभ्यता फैलायी, और सुमेरिया के आदि-निवासी और भारत के आर्य एक ही वंश के हैं तब हम उस प्राचीन ऋषि के इस कथन को क्यों न सत्य मान लें—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षरेन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

अब सबसे पहले हमें उस देश को खोजना होगा जहाँ ये अग्रजन्मा उत्पन्न हुए। आर्यों के अग्रजन्मा देव थे; ऐसी ही अनेक विद्वानों और आर्य-शास्त्रों की सम्मति है। देवगण की प्रधान भूमि का पता आर्य साहित्य में 'मेरु' नाम से लगता है।

मेरु

कहा जाता है कि मेरु पर देवताओं का स्वर्ग है। पांडवों के महाप्रस्थान की यात्रा में उत्तर कुरु के समीप ही मेरु और स्वर्ग का वर्णन मिलता है। आदिपर्व (१२२ अध्याय) के अनुसार पांडव पहिले किंपुरुष-वर्ष पहुँचे, फिर उत्तर-हरिवर्ष गये, और तब उत्तर-कुरु के द्वार पर पहुँचे। इस उत्तर-कुरु को विजय करने से वे रोके गये और उनसे कहा गया कि यह देवभूमि है। यहीं से कुछ उपहार लेकर वे लौट आये। 'बृहत्संहिता' में उत्तर प्रदेश के प्रसंग में कहा गया है—

उत्तरतः कैलासो हिमवान् वसुमान् गिरिर्धनुष्मांश्च।
क्रौंचो मेरुः कुरवो तथोत्तराः क्षुद्रमीनाश्च ॥ १४-२४ ॥

मेरु और उसके पास ही उत्तरकुरु का वर्णन है। कई प्राचीन ग्रंथों में मेरु के समीप ही उत्तर-कुरु का नाम आने से प्रतीत होता है कि ये दोनों देश और पर्वत—पास-पास के हैं। यह उत्तर-कुरु प्रदेश भारतीय उपाख्यानों में पवित्र और पूर्वजों का देश माना जाता है। भीष्म-पर्व (महाभारत) मे इसका विशद वर्णन हैं। यहाँ के लोग शुक्ल (गौरवर्ण), अभिजात, सम्पन्न, नीरोग और दीर्घ-जीवी होते हैं। इस प्रदेश का अनुसंधान लग जाने से मेरु का पता भी चल सकता है। सामश्रमी महोदय लिखते हैं—"अस्ति चान्यः कुरुवर्ष. स नूनं मेरुसम्बद्धः"[2]—किंतु. वे उत्तरकुरु को तिब्बत मानते हैं। परन्तु तिब्बत की प्राचीन सीमा आजकल की शासन-सीमा से निर्दिष्ट नहीं की जा सकती। वर्त्तमान तिब्बत काश्मीर के द्वारा उसी भूमि से संलग्न है जिसे हम आगे चलकर बतावेंगे।

युधिष्ठिर के राजसूय में तंगण देश के निवासियों ने कुछ उपहार दिये थे। ये लोग मेरु और मंदराचल के बीच बहनेवाली शैलोदा-नदी के तट के रहने वाले थे

१. संभव है त्वष्टाः से त्वष् के लोप से त्वष्टाः टाह (Ptah) हो गया हो। (सं०)
२. अस्ति चान्यः कुरुवर्ष. स नूनं मेरु सन्निहित.— यह पाठ ऐतरेयालोचन के द्वितीय संस्करण (कलकत्ता १९०६) के पृष्ठ ४२ पर प्राप्त है। (सं०)

(सभापर्व ५२ अध्याय)। इधर 'बृहत्संहिता' में तंगण वर्त्तमान कुल्लू के पास ही निर्दिष्ट किया गया है 'अभिसारदरदतंगणकुलूतसैरिध्रवनराष्ट्राः' (१४–२९)

ग्रीकों ने अभिसार देश (Abissorion) सिंधु और झेलम के बीच में माना है और काकेशस (हिन्दूकुश) पर्वत के पाददेश में बसने वाली जातियों का उल्लेख करते हुए मेगास्थनीज ने शैलोदा (Soleadae) जाति का भी वर्णन किया है। यह शैलोदा नदी-तट की जाति है, जिसका वर्णन सभापर्व (५२ अध्याय) में है।

वेंदिदाद फरगर्द १ में पारसियों की पवित्र भूमि का वर्णन है। अहुरमज्द कहते है—तीसरी पवित्र भूमि जो मैंने बनायी वह दृढ़ और पवित्र मोरु[1] है। चौथी और भूमि उन्नत पताकावाली बखधी (वाल्हीक) है।[2] पाँचवी अच्छी भूमि निशय है, जो मोरु और बखधी (वाल्हीक) के बीच मे है।[3]

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मेरु और बाल्हीक (आधुनिक बलख के बीच 'निशय' प्रदेश था। ऐतरेय ब्राह्मण में हिमालय के उत्तर के दो विराज् प्रदेशों का साथ ही वर्णन किया गया है, वे है—उत्तर-कुरु और उत्तर-मद्र (८-३-१४) उत्तर शब्द का प्रयोग जो इन देशो के नाम के साथ आता है उसका तात्पर्य मै वही समझता हूँ कि ये हिमालय के उत्तर मे है, और इसका कारण है—मद्र, कुरु और कोशल का हिमालय के दक्षिण मे भी अस्तित्व ! स्यालकोट (शाकल) को मद्र की राजधानी और अयोध्या को कोशल की राजधानी कहते है। ऐसे ही प्रदेशों का संगठन सिंधु के उस पार भी था। फारस के एक बड़े अंश को प्राचीन काल मे 'मीडिया' (Media) कहते थे। यह संभवत. उत्तर-मद्र था, और अफगानिस्तान तथा फारस का कुछ अंश आरकोशिवा (Archosea) कहलाता था। यह उत्तर-कोशल था। इसी उत्तर-कोशल में सरयू (हरिरूद- Harirud) के तट पर वह अयोध्या रही होगी जिसका संकेत अथर्व के १०-२-३१ मंत्र मे—"अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या"—से किया गया है। अवेस्ता मे कहा है कि छठी पवित्र

---

१. The third of the good lands and Countries which I, Ahura Mazda, created was the strong holy Mouru –
(Darmesteter, Vendidad p 5.)

२. The fourth of the good lands and countries which I, Ahura Mazda, created, was the beautiful Bakhdhi with high lifted banners, (The Avestha Vendidad, p. 5.)

३. The fifth of the good lands and countries which, I Ahura Mazda, created was Nisaya that lies between Mouru and Bakhdhi (Vendidad. p. 5.)

भूमि वर छोड़ाने वाली हरयू (सरयू) है। इसके नीचे टिप्पणी में हरयू का प्राचीन पारसीक रूप हरैवा तथा फिरदौसी के अनुसार हरिरूद माना गया है।[1] हिंदूकुश के पास बलख से लेकर स्वात और उत्तरी काश्मीर तक के प्रदेश को प्राचीन उत्तर-कुरु कहा जा सकता है। क्योंकि जिस निशय प्रदेश का वर्णन पारसियों ने किया है उसी का ठीक-ठीक प्रसंग ग्रीकों के ग्रंथ में भी पाया जाता है।

सिकंदर जब हिंदूकुश (Indian Cacaussus) पर्वत पर पहुँचा तो ग्रीक लोगों ने उसे काकेशस का विजेता माना। वाल्हीक के पास ही भरत के ननिहाल केकय का वर्णन वाल्मीकि में भी आया है। वह गिरिव्रज हिंदूकुश के खबक या कोहदामन (कोशन) के समीप रहा होगा। कोहदामन का उल्लेख मुगलों की चढ़ाई में भी मिलता है। भरत की यात्रा में इसी को 'सुदामानं च पर्वतं' कहा है। संभवतः केकय देश के समीप होने से सिकन्दर के साथियों ने उसे काकेशस कहा है। हिंदूकुश से उतर कर सिकन्दर ने वर्त्तमान चारिकार के समीप 'अलेग्जेड्रिया' नाम का नगर बसाया। पर्दिकस को सिंधु की ओर जाने के लिए कहकर स्वयं कुभा की ओर चला और चित्राल की घाटी में पहुँचा, क्रटेरस को कुनार की घाटी सर करने की आज्ञा दी और स्वयं बाजौर पहुँच कर मसागा (Message) का ध्वंस किया, जो वर्त्तमान मालकंद गिरिपथ के समीप है। फिर उसने निशा प्रदेश और मेरु-विजय करने की इच्छा प्रकट की। वर्तमान स्वात और पंजकोड़ा के ऊपर के इस प्रदेश को Hyperborrians (उत्तर कुरु) के नाम में ग्रीकों ने निर्दिष्ट किया है। 'ऐतरेयालोचन' में आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी इसी 'सुवास्तु' (Suvat) को आर्यों की आदिभूमि मानते हैं—आर्यावासस्तदाप्यर्य सुवास्तुप्रदेश एवासीत्—(ऐतरेयालोचन, २४)। इसकी प्रधान नगरी उक्त काल में भी पारसीकों द्वारा कथित निशय (Nasiaya) नाम से विख्यात थी और इसके समीप के शैल को 'मेरोस' (Meros) कहते थे। इस मेरोस (Meros) या मेरु को अब कोहमोर कहते हैं। ग्रीकों ने इस विराट् शैल को त्रिश्रृंग कहा है और ऋग्वेद ने भी इसे त्रिककुद माना है। विष्णु-पुराण में इसी त्रिककुद को त्रिकूट नाम से अभिहित किया है। मेरु का वर्णन करते हुए विष्णुपुराण में लिखा है—

१. The Tenth of the good lands and Countries which I Ahura Mazda, created, was the beautiful Harahvaiti (foot note) Harauvate; Apaxawaia, corrupted into Arrokhag (name of the country in the Arabic literature) and Arghand (in the modern name of the river Arghand ab) (Vendidad p. 7.)

"त्रिकूट: शिशिरश्चैव पतंगो रुचकस्तथा।
निषधाद्या दक्षिणतस्तस्य केसरपर्वता: ॥"

इसी त्रिककुद का उल्लेख ऋग्वेद में 'यद्व प्रसर्गे त्रिककुम्निवर्तदप' के रूप में आया है (१-१२१-४)।

तिलक के कथनानुसार मेरुप्रदेश उत्तरीय ध्रुव में है। परन्तु इस सिद्धांत को आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी और अविनाशचन्द्र दास नही मानते। क्योंकि पारसी लोगों के ही कथनानुसार अवेस्ता के आर्य्यानावायजो (आर्य-निवास) में हिमप्रलय होने पर नायक यम आर्यों को लेकर वार प्रदेश की ओर गये। यह वार प्रदेश उत्तरीय ध्रुव के समीप की साइबीरिया मानी जा सकती है; क्योकि वहीं के लिये अवेस्ता में लिखा है—"अहुरमज्द ने उत्तर दिया, वहाँ प्राकृत और अप्राकृत प्रकाश है। कभी-कभी चन्द्र, सूर्य और नक्षत्रों के दर्शन नही होते, लम्बी उषा में वर्ष भर का एक दिन होता है।[1] और इधर ऐतरेय मे मिलता है कि कश्यप नाम के आदित्य 'महामेरु' नामक पर्वत पर सदा रहकर उसे प्रकाशित करते है। इसलिए मेरुप्रदेश वह नही हो सकता, जहाँ छह महीने का दिन और छह महीने का रात होती है। 'यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिव:। लोका यत्र ज्योतिष्मन्त: ॥' ऋग्वेद (९-११३-९) में उक्त प्रदेश को सदा ज्योतिष्मान् बताया है। छह महीने का दिन और छह महीने की रात वाले 'वार' प्रदेश की गणना वह नही कर सकता जो उसके पहले आर्य-निवास वा मेरुप्रदेश के चौबीस घटे वाले दिन-रात के देशो मे नही रह चुका है।

संसार का इतिहास लिखने वाले Hearenshaw का मत है कि अब तक के प्रमाणों से यही कहा जा सकता है कि मध्य एशिया मे आदिम मनुष्य की उत्पत्ति हुई।[2]

तुलनात्मक शब्दशास्त्र के जन्मदाता एडिलंग (Adelung), जिनका शरीरात १८०६ में हुआ, कश्मीर को मानव-जाति का पालना बताते थे और उसी को स्वर्ग समझते थे।[3]

१. There are uncreated lights and created lights The one thing missed there is the sight of the stars, the moon, and the sun and a year seems only as a day (p. p. 19 and 20, Vendldad).
२. Regions of central Asla, and it was there, so far as at present we can tell, that, from among the anthropoids, Primitive Man emerged (p. 12).
३. Adelung, the father of comparative philology who died in

जिस सोम का व्यवहार प्राचीन भारत में होता था, वह काश्मीर के उच्च शिखरों पर उत्पन्न होता था और इन हरी-भरी गहरी घाटियों तथा उच्च शिखरों की भूमि में आर्य लोग ऋग्वेद के मंत्रों के संकलन-काल से भी पहले रहते थे ।[१]

इसलिये देवों का स्वर्ग तथा पारसीकों का प्रथम आर्य-निवास (Ariyana-Vaijo) अफगानिस्तान, कश्मीर तथा बलख के बीच की रमणीय भूमि थी । इसी की समीपवर्ती शैलमाला तथा उच्च भूमि मेरु के परिवार रूप से आर्य-साहित्य मे अत्यन्त पवित्र मानी गयी है । लिंग पुराण में लिखा है—

मानसोपरि माहेंद्री प्राच्यां मेरोः स्थिता पुरी ।
दक्षिणे भानुपुत्रस्य वरुणस्य तु वारुणे ॥
सौम्ये सोमस्य विपुला तासु दिग्देवताः स्थिताः ।
अमरावती संयमिनी सुषा चैव विभा क्रमात् ॥
दक्षिणां प्रक्रमेद् भानु क्षिप्तेषुरिव धावति ।

मानसरोवर के ऊपर मेरु के पूर्व महेंद्र की नगरी अमरावती, मेरु के दक्षिण यम की नगरी संयमिनी, मेरु के पश्चिम मे वरुण की नगरी सुषा Sussa ?) और मेरु के उत्तर सोम की नगरी विभा है । मेरु की प्रदक्षिणा करते हुए सूर्य क्रम से इन नगरियो के ऊपर से जाते है । विष्णु पुराण (अध्याय ९) मे भी इसी तरह का वर्णन है । छठे श्लोक की टीका में—"सूर्य प्रत्यहं मेरु प्रदक्षिणीकुर्वन्नपि" इत्यादि से मेरु की प्रदक्षिणा का स्पष्ट उल्लेख है, सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायन होने का यही पौराणिक कारण बतलाया गया है ।

श्री शंकराचार्य ने—"स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता द्विस्ता-वदूर्ध्व उदेतार्वाङ्स्तमेता माध्यानामेव तावदाधिपत्यम् स्वाराज्य पर्येता ।" (छान्दोग्य ३-१०-४) के भाष्य मे इसका यथाकथंचित् समाधान करते हुए लिखा है—"मान-सोत्तर मूर्धनि मेरो प्रदक्षिणावृत्तितुल्यत्वात् ।" फिर आगे चलकर लिखते है– 'सर्वेषा च मेरुरुत्तरतो भवति ।" मानसरोवर के उत्तर मे मेरु की स्थिति मानकर और सूर्य

1806, placed the cradle of mankind in the valley of the Kashmere which he identified with paradise (The origin of Aryans).

१. The Som used in India certainly grew on mountains probably in the Himalyan highlands of Kashmere. It is certain that Aryan tribes dwelt in this land of tall summits of deep valleys in very early times, probably earlier than that when the Rig hymns were ordered or collected—Ragozin 170 Vedic India.

को उसकी प्रदक्षिणा करते हुए समझकर भी मेरु को सबसे उत्तर मानने की कल्पना आचार्य को भूगोल-भ्रमण संबन्धी नये आविष्कारों के कारण हुई होगी। किंतु जब सब से उत्तर में मेरु है तो फिर ऊपर के प्राचीन पौराणिकों के विचारानुसार उक्त मेरु के भी सौम्य अर्थात् उत्तर मे सोम की नगरी विभा कहां होगी ? किंतु आचार्य ने स्वयं इस सिद्धांत मे विरोध देखा और इसी के परिहार के लिए उन्होंने स्पष्ट चेष्टा भी की—"अत्रोक्तः परिहारः आचार्यै. ।" किंतु इस उपनिषद्, पुराण और ज्योतिष संबन्धी विरोध का स्पष्ट समन्वय नही किया जा सकता।

ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वी का अपने अक्षों पर भ्रमण सिद्ध करने वाले नवीन सिद्धांत के साथ सूर्य की मेरु प्रदक्षिणा वाले प्राचीन विचार का सामंजस्य स्थिर करने के लिए सुमेरु और कुमेरु की कल्पना पीछे से की गयी है। क्योकि, पूर्व काल मे ऐसा माना जाता था कि पृथ्वी अचला है और उसके मध्य मे कनक-पर्वत मेरु का निर्देश करके चारो दिशाओ मे इन्द्र, यम, वरुण और चन्द्र की चार नगरियां मानते थे। सूर्य मेरु के चारो ओर दक्षिणावर्त्त घूमते हुए इन्ही पर से होते हुए परिक्रमा करते है। इसी विचार से विष्णु पुराण मे लिखा है कि जम्बूदीप के बीचोबीच मेरु पर्वत है --

जम्बूद्वीप· समस्तानामेतेषा मध्यसस्थित ।
तस्यापि मेरुर्मैत्रेय मध्ये कनक पर्वत ।।
भारतं प्रथम वर्ष तत किंपुरुष स्मृतम् ।
हरिवर्ष तथैवान्य मगोर्दक्षिणतो द्विज ।।
रम्यकं चोत्तरे वर्ष तस्यैवानुहिरण्यकम् ।
उत्तरा कुरवश्चैव यथा वै भारते तथा ।।

मेरु के समीप दक्षिण मे प्रथम भारतवर्ष है, उसी के पास किंपुरुष है। महाभारत के अनुसार किंपुरुषवर्ष यमुना के उद्गम के पास है। इसी प्रकार पश्चिम और उत्तर के वर्षों का भी वर्णन है। उत्तर-कुरु आदि मेरु से संलग्न है।

अवगाढ़ा उभयतः समुद्रौ पूर्व-पश्चिमौ ।
जम्बूद्वीपे महाराजः षडिमे कुलपर्वताः ।।
हिमवान् हेमकूटश्च, निषधो, नील एव च ।
मेरुश्च शृंगवाश्चैव सर्वे रत्नाकरा· शुभाः ।।
देवः स्वा नगरी निन्यं मानसोत्तरमूर्धनि ।
मेरुं तु पश्यति विभुस्ततस्थो मेरुगता पुरीम् ।।
उदक्शृगवतोर्धे तु याम्येन कुरुसंज्ञितम् ।
वर्ष तु कथितं दिव्यं सर्वोपद्रववर्जितम् ।।

ऊपर के अवतरणों से प्रमाणित होता है कि मेरु और उत्तर कुरु का ठीक वैसा

ही सम्बन्ध है जैसा कि ग्रीकों ने मेरु-विजय, निशा-प्रदेश और 'हाइपर बोरियन्स' (Hyperborrians) के प्रसंग में लिखा है। इसी मेरु के सम्बन्ध में असुरों और देवों के युद्ध का वर्णन है। ग्रीकों ने भी इसी प्रदेश को देखकर कहा था कि पिता दानवेश (Dainesus) ने एक बार स्वर्ग विजय किया था, अब दूसरी बार सिकन्दर ने किया। यह कोहमोर वैदिक त्रिककुद और पौराणिक त्रिकूट का एक शृंग है। त्रिकूट के ये तीनों उच्च शृग पेशावर से ही दिखाई देते हैं। यही पर स्वर्ग-सुख का आनन्द लेने के लिए सिकन्दर ने दस दिन बड़ा भारी महोत्सव मनाया था। उक्त प्रदेश की निसर्ग-रमणीयता का उल्लेख करके ग्रीकों ने बड़े उल्लास से कहा था कि सचमुच यही पृथ्वी का स्वर्ग है।

इस मेरु और स्वर्ग के सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थकारों का उल्लेख करते हुए मेगास्थनीज़ ने लिखा है कि निशय-देश और मेरु भारतवर्ष की सीमा के अन्तर्गत माने जाते है और भारत की यही सीमा सिकन्दर के आक्रमण के समय भी मानी जाती थी। यह तो थी मूलभूमि; पर इसके पूर्ण विस्तृत रूप के लिए पिछले काल में और भी दो नाम मिलते हैं—आर्यावर्त्त और भारत। यद्यपि इसके संबन्ध में पुराणों मे कितने ही विवरण दिये गये है, किंतु अधिक संगत यही मालूम होता है कि वैदिक भरत-जाति की आवास-भूमि होने के कारण ही इसे भारतभूमि कहने लगे थे। समयों का इतना विशेष अंतर है कि इस नाम के साथ काल का निर्देश नही किया जा सकता। भृगुप्रोक्त मनुस्मृति मे उस काल के आर्यावर्त्त की सीमा वर्त्तमान भारत से संकुचित ही दिखायी देती है। हिमालय और विघ्याचल के बीच की ही भूमि को आर्यावर्त्त मानते थे। संभवत: दक्षिण के प्रायद्वीप से भारत का उस काल में सम्बन्ध नही था, और उधर निषध पर्वत माला हिमालय का ही परिवार मानी जाती थी। यहाँ हिमालय साधारण नाम है। स्वर्ग और मेरु का निर्देश करने के अनन्तर हमे यह भी देखना पड़ेगा कि आर्यावर्त्त का वैदिक विस्तार कितना था। जिन भौगोलिक नदियो और पर्वतो का वर्णन वैदिक साहित्य मे मिलता है उनसे अधिकृत भूमि को वैदिक काल का आर्यावर्त्त मान लेने मे कोई आपत्ति नही हो सकती।

अविनाशचन्द्रदास ने वैदिक काल के इस देश को 'सप्तसिधु' नाम से अभिहित किया है। अधिक ध्यान देने से तो यह मालूम पड़ता है कि उक्त मेरु प्रदेश और तत्संलग्न सप्तसिंधु में आर्यो की घनी बस्ती थी। किंतु, उतनी ही सीमा में आर्य-विस्तार को संकुचित रखने के लिए वैदिक काल के अन्य भौगोलिक प्रमाण वारण करते हैं। दास ने अपने 'ऋग्वेदिक इंडिया' में बड़ी विद्वत्ता से भूगर्भ आदि शास्त्र के आधार पर सिद्ध किया है कि प्राचीन सप्तसिधु चारों ओर समुद्रों से घिरा था। उन्होंने उसी प्रदेश को आर्यभूमि माना है—जैसा कि आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने पांडित्य-

वैदिक आर्यावर्त्त

पूर्ण 'ऐतरेयालोचन' में निर्देश किया था। उक्त दोनों महोदयों ने सिंधु की सहायक नदियों को ही ऋग्वेद के मंत्र 'प्रसप्तसप्त त्रेधा हि चक्रमुः प्रसृत्वरीणामति सिंधुरोजसा" (१०-७५-१) तथा "त्रिः सप्त सस्रा नद्यो"—(१०-६४-८) मंत्रों में वर्णित नदियाँ मान लिया है। किंतु मेरा अनुमान है कि ये त्रेधा—तीन सप्तक मंत्रार्थ के अनुसार ही अलग-अलग तीन स्थानों में होने चाहिये। और, ये तीनों सप्तक—अपनी सहायक नदियों के साथ—गंगा, सिंधु और सरस्वती के हैं।

ऋग्वेद के "अनु प्रत्नस्योकसो हुवे"—(१-३०-९) इत्यादि में प्रत्न-ओक= प्राचीन वास-भूमि का जो अर्थ लगाया जाता है; और जिससे यह सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है कि इन लोगों की आदि-भूमि कहीं दूसरी रही, ठीक नहीं। सामश्रमीजी ने "पुराणमोकः सख्यं शिवं वां युवोर्नरा द्रविणं जह्नाव्याम्" (३-५८-६) को उद्धृत करके यह दिखलाया है कि समय-समय पर व्यक्तिविशेषों की वास-भूमि का इसमे उल्लेख है, न कि आर्यों के सामूहिक आवास का। पुराण-ओक गंगा तट पर भी ऋग्वेद के मंत्र से प्रमाणित है। यह गगा का सप्तक यमुना, सदानीरा आदि सहायक नदियों से बनता था। कीकट आदि तक की नदियाँ इसमे गिनी जा सकती हैं। इस सप्तक की पूर्व सीमा सदानीरा थी। सिंधु की सात नदियों का सप्तक प्रसिद्ध है। तीसरा सप्तक सरस्वती का होगा—ऐसा अनुमान है, क्योंकि, ऋग्वेद के छठें मंडल का ६१ वाँ सूक्त सरस्वती की महिमा का गान करता है। उसमें 'उत नः प्रिया प्रियासु सप्त स्वसा सुजुष्टा' (१०) कहकर सरस्वती सात बहनों वाली मानी गयी है। सिंधु के सप्तक वाली सरस्वती से ही काम नही चल सकता। क्योंकि आगे चलकर उसी सूक्त मे "प्र या महिम्ना महिनासु चेकिते द्युम्नेभिरन्या अपसामपस्तमा" (१३) इस उक्ति से और सबों से यह अपस्तमा प्रभूत जलवाली मानी गयी है। उधर 'प्र सप्तसप्त' वाले मंत्र में—'अति सिन्धुरोजसा' है, इसलिए इस सरस्वती को सिंधु के सप्तक वाली सरस्वती से हम भिन्न मानते हैं।

पंजाब की सरस्वती के अतिरिक्त, एक दूसरी सरस्वती भी थी। अवेस्ता में जिन पवित्र देशों का वर्णन है, उनमे सप्तसिंधु अलग वर्णित है। जैसे— पंद्रहवाँ उत्तम देश हप्तहिंदव है।[१] दसवाँ उत्तम प्रदेश हरह्वती है। हरह्वती के दो अपभ्रंश रूप मिलते है—अर्रोखाग (अरबी साहित्य मे प्रयुक्त देश नाम और अरगंद (जो आधुनिक 'अरंगद-आब' नदी के नाम से पाया जाता है)।[२]

---

१. Fifteenth of ·the good lands and Countries which I, Ahura Mazda, created; was the Seven Rivers (F. 9 Vendidad).

२. The Tenth of the good lands and countries which I, Ahura Mazda, created, was the beautiful Harahvaitih.

हरहृदव जिस प्रकार सप्तसिंधु का विकृत रूप है, वैसा ही हरह्वैती-सरस्वती का है। अरगंदाब, अफगानिस्तान के कंदहार प्रांत की एक बड़ी नदी है। वर्तमान काल के मानचित्र में हारूत से लेकर कंदहार तक की नदियों का एक सप्तक आप अच्छी तरह से देख सकेंगे, जिसके नीचे (Zirreh) का दलदल और एक रेगिस्तान भी है। अविनाशचन्द्र दास ने—"एका चेतत् सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात्"—(७-९५-२) के आधार पर पंजाब की सरस्वती का राजपूताना समुद्र में गिरना लिखा है। किंतु और मंत्रों में समुद्र में गिरने का वर्णन नहीं मिलता। अतः जिस प्रकार सामश्रमी ने "रसाद्वित्वं तु नूनमङ्गीकार्यम्" से 'रसा' नाम की दो नदियाँ मान लेने की सम्मति प्रकट की है, वैसे ही सरस्वती के लिए भी आवश्यक मानना होगा। जैसा हम ऊपर दिखला आये हैं कि सरस्वती अपस्तमा है; वैसे ही और भी प्रमाण उसके अपनी सहायक नदियों में प्रबल होने के मिलते हैं। 'प्र क्षोदसा धायसा सस्र एषा सरस्वती धरुणमायसी पूः। प्रबाबधाना रथ्येव याति विश्वा अपो महिना सिन्धुरन्याः"—(७-९५-१)। इसमे अपने साथ की नदियों से यह प्रबल और एक दूसरी सिंधु के सदृश मानी गयी है। इस प्रकार यह सरस्वती का सप्तक दक्षिण पश्चिमी अफगानिस्तान मे ठहरता है।

इसमें दास के मत से भी कोई असंभावना नहीं दिखाई देती है। यद्यपि उन्होंने प्राचीन सप्तसिंधु के आर्यावर्त्त को चतुस्समुद्र से घिरा हुआ माना है, फिर भी वे लिखते हैं कि "सप्तसिंधु उत्तर पश्चिम की ओर गांधार प्रांत के द्वारा पश्चिमी एशिया या एशियामाइनर से मिला हुआ था।" (ऋग्वेदिक, इण्डिया पृ० ३६०)। इसलिये चारों समुद्रों वाली सीमा का सिद्धांत हमारे गांधार के सारस्वत प्रदेश के लिए बाधक नहीं होता।

ऊपर कहे हुए गंगा, सिंधु और सरस्वती के तीनों सप्तको की भूमि, वैदिक काल के आर्यों की लीला भूमि थी। जह्नाव्य अर्थात् गंगा की घाटी, सिंधु और सरस्वती के पवित्र मंगलमय तथा परम-प्रिय प्रदेशों के अतिरिक्त अन्य प्रदेशों से भी संहिता-काल के आर्य लोग अपरिचित नहीं थे। अथर्व संहिता के पंचम कांड मे परुष, महावृष, मूजवत्, वाह्लीक इत्यादि के नाम तो आये ही हैं, इनके अतिरिक्त तत्कालीन आर्यावर्त्त के अत्यन्त पूर्व स्थित मगध का भी उल्लेख मिलता है। परन्तु

(F. N.) Harahvaiti; Apaxvaiia; eorrupted into the Arrokhag (Name of the Country in the Arabic literature) and Arghand (in the modern name of river Arghand-ab)—(p. 7. vendidad).

ऋक् संहिता मे मगध का भी • कीकट नाम से उल्लेख है—"कि ते कृण्वति कीकटेषु गावो" (३-५३-१४) ।*

दास कीकट को ऋक्कालीन प्रदेश नही मानना चाहते । वे कहते हैं, पांचाल कोशल आदि भी उस काल के प्रदेश नही थे (पृ० ५६१) । किंतु विशेष नाम न होने से क्या हुआ जब ऋग्वेद के प्राचीन मण्डल (क्योकि दसवे मण्डल को लोग पीछे का मानते हैं)—३।५८।६ मे 'जह्नाव्य' गंगा के प्रदेशो का उल्लेख है, सो भी पुराण-मोक:—प्राचीन वासभूमि कहकर ! अतः गंगा के समीप का वह देश ऋक्-काल का अवश्य है जिसकी पूर्व सीमा मे कीकट (दक्षिणी बिहार) देश था । उधर 'आवदिन्द्र यमुना तृत्सवश्च' (७-१८-१९) में यमुना तीरवर्ती देश का भी उल्लेख है; फिर पाचाल, कोशल, मगध का नाम न होने से कुछ बिगडता नही । हो सकता है, अत्यन्त पूर्व स्थित होने के कारण इनकी बस्ती घनी न रही हो और इन नामों से अलग-अलग स्वतन्त्र राष्ट्र न स्थापित हुए हो ।

ऐतरेय मे उत्तर-मद्र का भी उल्लेख है । उत्तर-मद्र को इसी लेख मे पहले मध्य-कालीन मीडिया से अभिन्न माना गया है । उत्तर-मद्र पश्चिम मे और मगध पूर्व मे आर्यों के प्रभाव-क्षेत्र स सलग्न थे । पश्चिम मे तो 'समुद्र रसया सहाहु.' (१०-१२१-४) मे वर्णित रसा अर्बिस्तान, रूम या मेसोपोटामिया की, समुद्र मे मिलनेवाली टिगरिस नदी का भी नाम आया है, क्योकि अवेस्ता के अनुसार यह रंघा प्रदेश भी पवित्र माना गया है ।

यद्यपि सरमा के उपाख्यान-सम्बन्धी ऋग्वैदिक सूक्तो मे रसा के उस पार असुरों की आवास-भूमि का उल्लेख है; परन्तु उत्तर-मद्र की स्पष्ट सूचना नही मिलती । यह प्रदेश ऋक् संहिता-काल मे उतना नही बसा था, हो सकता है कि इसी कारण ऋक्काल मे इसकी स्वतन्त्र आख्या न बनी हो । ऋक्-काल मे सरस्वती की घाटी मे भी रहनेवाले आर्यों से संघर्ष ही चल रहा था । इसलिये सरस्वती को 'वृत्रघ्नी' कहा है । ऋक्-मंत्र १०-२७-१७ मे सामश्रमी ने आक्षस नदी का भी उल्लेख माना है । इसलिये उक्त प्रमाणो से गगा से लेकर वर्त्तमान हेलमद की घाटी और वाह्लीक से लेकर दक्षिण के ऋक्-कालिक राजपूताना के समुद्र तक हम आर्यों की एक घनी बस्ती मानते हे, जिसके बीच मे मेरु स्थित है । मगध, अग तथा मीडिया और मेसोपोटामिया के प्रदेश भी आर्य-क्षेत्र कहे जा सकते है, किंतु इन प्रदेशों मे आर्यों को अनार्यों तथा अपनी ही जाति के भिन्न मतावलंबी अधार्मिको से बराबर युद्ध और सघर्ष करना पड़ता था ।

यहाँ मुझे थोड़ा सा उस बढ़ते हुए विचार पर भी अपनी सम्मति प्रकट कर देनी है; जिसे आजकल बहुत प्रधानता दी जा रही है । वह है आर्यो के पहले भारत-वर्ष के एक अत्यन्त प्राचीन द्रविड़ सभ्यता मानने का सिद्धात —सो भी ऋग्वेद-काल

•

में। किंतु अत्यन्त प्राचीन काल में आर्य-द्रविड़ सभ्यता का संघर्ष असम्भव थी; क्योंकि द्रविड़ (कृष्ण) जाति की जन्मभूमि दक्षिणी महाद्वीप, राजपूताना समुद्र के द्वारा, प्राचीन आर्यावर्त्त से अलग था और वह महाद्वीप वर्त्तमान अरब, दक्षिणी भारत और अफ्रीका को एक में मिलाए था। प्राचीन ऋग्वेद में आप कितने ही समयों के तारतम्य को स्पष्ट देख सकेंगे, किंतु उसके साथ ही 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का सिद्धांत स्पष्ट बतलाता है कि मुख्यत: आर्य संस्कृति एक थी, जिसे न माननेवाले उसी प्राचीन जाति के लोग भी अनार्य कहलाते थे। ऋग्वेद के आर्यावर्त्त में वैदिक सभ्यता वाले आर्यों को इन्हीं उच्छृंखल धर्म-विहीनों से युद्ध करना पड़ता था, जो प्राय: दस्यु जीवन की ओर अधिक प्रवृत्त रहते थे।

जैसा पहले कहा गया है, दक्षिणी द्रविड़ों मे या उनकी सभ्यता से आर्यों का संघर्ष होना मानने के लिए कोई विशेष कारण नहीं है, क्योकि एक तो राजपूताना समुद्र बीच का व्यवधान था दूसरे द्रविड़ों का अधिक आकृति-सम्बन्ध भी उन सुमेरियन और सिंधु के अवशिष्ट चिह्नों को छोड़ जानेवाले मनुष्यों से नही मिलता। द्रविड़ एक स्पष्ट दक्षिणी महाद्वीप की जाति है जिसका मूल उद्गम दक्षिणी अफ्रीका की कालाहारी अधित्यका (Kalahari platcau in South Africa) है, जैसा कि Camron cadle expedition के प्रयास से सिद्ध किया जा रहा है।[1] यह दक्षिणी द्रविड़ सभ्यता स्वतन्त्र रूप से कहीं भी उस प्राथमिक अवस्था के ऊपर न उठी जिसे उन्होंने पहली बार अन्य जाति से ग्रहण किया था। कब-कब, कहाँ-कहाँ, आर्यावर्त्त के दिव्य विजेताओं और अफ्रीका के कृष्णों से रक्त-मिश्रण के द्वारा न्यूनाधिक श्वेत-कृष्ण-जातियाँ बनी, इसका अनुमान करना कठिन है।

इस प्राचीन सप्तसिंधु के अन्तर्गत मेरु प्रदेश मे ही अग्रजन्मा उत्पन्न हुए। मेरु पर ही स्वर्ग था। पश्चिमी विद्वानों ने हमारे उस प्राचीन इतिहास को 'माइथालोजी' मान रखा है। उनमें इस धारणा के कारण हमारे निरुक्तकार भी है। निरुक्त संभवत: उस काल में बना जब कि प्राचीन वैदिक मन्त्रों के अर्थ लोगों को विस्मृत हो चले थे। क्योंकि, उसमें कहीं-कहीं एक-एक शब्द की व्याख्या चार-चार प्रकार से की गयी है। इसमें निरुक्तकारों का एक और भी उद्देश्य था, वह था वेदों का अपौरुषेयत्व प्रमाणित करना। किंतु स्वयं निरुक्तकार अपने पूर्ववर्ती—वेदों के अर्थ-निर्णय में—एक ऐतिहासिक मत भी मानते थे—'तत्को वृत्र: मेघ इति नैरुक्ता: त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिका।' वैदिक मन्त्रों के ये अर्थ उपनिषद् और ब्राह्मण-काल की कल्पनायें

1. I am able definitely to confirm that man emerged in the lap of this mother earth in this strange wild country. (Dr. Cadle' Pioneer 17th october 1928).

हैं। जब बहुदेववाद और कर्मकांड-संबंधी मन्त्रों का एकेश्वरवाद के साथ समन्वय होने लगा था और जब 'उंषा वा मेध्यस्य शिरः' के सिद्धांत का प्रचार हुआ, प्राचीन ऋग्वेद आदि की मात्राएँ तक गिनी गयीं और वे अपौरुषेय बना दिये गये। यद्यपि ऋग्वेद में ही एकेश्वरवाद तो क्या शुद्ध दार्शनिक विचारों तथा आत्मानुभूति की भी झलक दिखाई देती है, किंतु देवों का स्वतंत्र अस्तित्व और उनका इतिहास मान लेने के लिए पिछले काल के एकेश्वरवादी और अपौरुषेयवादी प्रस्तुत न हुए।

अब भी सनातनधर्म का बहुदेववाद मूल में प्राचीन ऐतिहासिकों का अनुयायी है और आर्यसमाज एकेश्वरवादी निरुक्त का अनुगमन करता है, जिसके अनुसार देवों को वे रूपक द्वारा मूर्त्तिमान की गयी सर्व-शक्तिमान की शक्तियाँ मानते हैं।

वेदों का अध्ययन करने वाले पाश्चात्य विद्वानों ने भ्रमवश प्राचीनतर ऐतिहासिक संप्रदाय को न मानकर हमारा इतिहास भ्रामक बना देने के लिए निरुक्त के अर्थ को ही पथ-प्रदर्शक माना है। साथ ही 'माइथालोजी' मानते हुए भी उन्हें ऋङ् मन्त्रों से भूगोल, नदियों और ज्योतिष-संबंधी गणनाओं के आधार पर आर्य-इतिहास और समय निर्धारण की सूझी है। तात्पर्य यह है कि प्राचीन ऐतिहासिकों का मत सर्वथा निर्मूल न हो सका। रँगोजिन ने वैदिक इंडिया के ३०३ पृष्ठ पर लिखा है—'बहुत से साधारण वैदिक नामों का एक ही सपाटे मे अप्राकृतिक शक्तियों और अमर्त्यों से जो संबंध लगाया जाता है, वह ठीक नही। वास्तव मे कितने ही अंतरिक्ष युद्धों का संबंध प्राकृत मर्त्य वीरों के भयानक संघर्षों से है।'[1]

उस प्राचीन वैदिक अथवा वर्त्तमान संसार के प्राग्-ऐतिहासिक काल में आर्यावर्त्त के आर्यों में आकाशी देवताओं की उपासना प्रचलित थी। संभव है वीरपूजा भी उस उपासना का प्रधान अंग रही हो। भौतिक शक्तियों में उनकी प्रबल उपास्य बुद्धि थी और इन सब देवताओं के राजा अथवा एकाधिपति वरुण माने जाते थे। वरुण के राजत्व का वैदिक मन्त्रों में कई बार उल्लेख मिलता है। वरुण की उपासना आकाश की सर्वप्रथम शक्ति के रूप में चन्द्रमा की उपासना से संबद्ध थी। मित्र के रूप में तो सूर्य की उपासना प्रचलित थी ही। पर आकाश का, जो इस संसार के आवरण रूप में दिखायी पड़ता है, सम्पूर्ण विभव नक्षत्र मण्डल के साथ रात्रि में ही

१. And it becomes patent that probably a majority of the common names, which are sweepingly set down as names of feinds and other supernatural agents, really are those of tribes, peoples and men while many an alleged atmospheric battles turns out to have been an honest sturdy, hand to hand conflict between bonafide mortal champions (Vedic India 303).

प्रकट होता है। उस समय चन्द्रमा की ही प्रधानता रहती है। चन्द्रमा में सुधा, ओषधियों की जीवन-सत्ता मानने वाले लोग थे। असुर शब्द की व्युत्पत्ति '(असून् प्राणान् रक्षति) भी इसी का द्योतक है।' क्योंकि वेदों में वरुण प्राय: असुर उपाधि से संबोधित किये गये हैं। इस प्रकार के असुरोपासकजन प्राण-रक्षक केवल आकाशस्थ वरुण की प्रधानता मानते थे। उस प्राचीन काल में विचारधारा का आकस्मिक परिवर्त्तन हुआ और ज्ञान की विभिन्नता से सामाजिक और धार्मिक संघर्ष चला। तब उन अग्रजन्माओं में दो प्रधान भेद हुए।[1] एक प्राचीन वरुण के अनुयायी असुर और दूसरे इन्द्र के नेतृत्व में देवगण : और, त्वष्टा के नेतृत्व में असुर लोग रहने लगे। इन्हीं त्वष्टा अर्थात् जरथुष्ट्र, जरत्वष्ट्रि को प्राचीन अहुर्मज्द (Ahurmazd) असुर महत् के उपासक पारसी आर्यों ने अपना आचार्य माना।[2] वाह्लीक में इन लोगों का

१. इस संदर्भ में अवलोकनीय होगा —

"जीवन का लेकर नव विचार
जब चला द्वंद्व था असुरों में प्राणों की पूजा का प्रचार
उस ओर आत्मविश्वास-निरत सुर-वर्ग कह रहा था पुकार —
'मैं स्वयं सतत आराध्य आत्म-मंगल-उपासना मे विभोर
उल्लासशील मैं शक्ति-केंद्र, किसकी खोजूं फिर शरण और
आनंद-उच्छलित-शक्ति-स्रोत जीवन-विकास वैचित्र्य भरा
अपना नव-नव निर्माण किये रखता यह विश्व सदैव हरा
प्राणों के सुख-साधन में ही संलग्न असुर करते सुधार
नियमों में बँधते दुर्निवार

था एक पूजता देह दीन
दूसरा अपूर्ण अहंता में अपने को समझ रहा प्रवीण
दोनों का हठ था दुर्निवार, दोनों ही थे विश्वास-हीन-
फिर क्यों न तर्क को शस्त्रों से वे सिद्ध करें —क्यों हो न युद्ध
उनका संघर्ष चला अशांत वे भाव रहे अब तक विरुद्ध
मुझमें ममत्वमय आत्म-मोह स्वातंत्र्यमयी उच्छृंखलता
हो प्रलय-भीत तन रक्षा में पूजन करने' की व्याकुलता
वह पूर्व द्वंद्व परिवर्त्तित हो मुझको बना, रहा अधिक दीन
सचमुच मैं हूँ श्रद्धा-विहीन।"

कामायनी—इड़ासर्ग (सं०)

२. One of them, Isatvastra, a son of the second wife, subsequently,

प्रधान धार्मिक केंद्र था। पिछले काल में यहाँ की अग्निशाला और देव मन्दिर का एक नया रूप हो गया था। किंतु बौद्धों से पहले प्राचीन काल में यह अहुर्मज्द का प्रधान उपासना मन्दिर था। इब्न फजलुल्लाह अलउमरी मिस्री ने अपनी मसालिकुल अब्सार के ममालिकुल अम्सार में बल्ख (वाह्लीक) के इस मन्दिर का नाम नौबहार दिया है। उसके बनाने वाले भारत के किसी राजा का उल्लेख करते हुए वह लिखता है कि यहाँ पर नक्षत्रों की पूजा करने वाले लोग आते थे, जो चंद्र-पूजक थे। इसके प्रधान पुजारी का नाम बरमक होता था। बर-मग से मगों में श्रेष्ठ याजक लक्षित होता है। मग लोग ही मज्द धर्मावलंबी कहे जाते थे - जो परवर्त्ती काल का—ईरान का धर्म था।

ऋग्वेद मे त्वष्टा और इंद्र के संघर्ष का स्पष्ट विवरण है, जिसके मूल में एक क्षुद्र घटना थी—'त्वष्टुर्गृहेअपिबत्सोममिन्द्रः' (ऋक् ४-१८-३)—सोम के लिए इंद्र और त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप में कलह हुआ था। इस प्रकार प्राचीन आर्यावर्त्त में ही उन अग्रजन्माओं में पारस्परिक युद्ध होकर दो विभाग हो गये और सरस्वती तट पर वृत्र-असुर के मारे जाने से असुरोपासक आर्य धीरे-धीरे पश्चिमी ईरान की ओर मीडिया तक हटने को बाध्य हुए। ऋग्वेद मे त्वाष्ट्र को दास कहा गया है।[1] यही त्वाष्ट्र वृत्रासुर था, जिसका वध इंद्र ने किया। यो तो इसका नाम वृत्र था। परन्तु अहिशब्द से भी यह संबोधित किया गया है। "तस्माद् वृत्रोऽथ यदप्रात्समभवत्तस्मादहिस्तंदनुश्च दनायूश्च मातेव च पितेव च परिजगृहतुस्तस्माद् दानव इत्याहुः"—(शतपथ, १-५-२-९) अर्थात् दनु और दनायु ने माता-पिता के समान उसको अपनाया इसलिए उसे दानव भी कहते है। दास, असुर और दानव ये सभी विरोध-सूचक शब्द हैं।

ऋग्वेद के—"इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं"—(१-३२-१) इत्यादि मन्त्रों में इन्द्र के वीर्य और पौरुष का वर्णन है। उसमें वृत्र को मारकर सप्तसिंधु के जलों को मुक्त करने की भी चर्चा है जो उसी सूक्त के बारहवें मन्त्र "अजयो गा अजयः शूर सोममवासृजः सर्तवे सप्तसिंधून्"—में उल्लिखित है। जिस प्रकार त्वाष्ट्र असुर-वीर था, उसी प्रकार ऐतिहासिकों के मत से इन्द्र कई जगह संबोधित किये गये हैं। ऋग्वेद के

---

became head of the priestly class. (p. p. 15 and 16, Zoroaster by Bernard H. Springell)

१. सनेम ये त ऊतिभिस्तरन्तो विश्वाः स्पृध आर्यण दस्यून्।
अस्मभ्यं तत्त्वाष्ट्रं विश्वरूपमरन्धयः साख्यस्य त्रिताय॥
(ऋक् २-११-१९)

मण्डल १०, सूक्त १२० में इन्द्र की उत्पत्ति के संबन्ध में लिखा है "तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेष नृम्णः" (मन्त्र १)। यह नृम्ण (पौरुष की मूर्त्ति अथवा मनुष्यों से संपर्क रखने वाला) भुवन में ज्येष्ठ उच्च स्थान अर्थात् मेरु प्रदेश में उत्पन्न हुआ। इन्द्र के पार्थिव सदन का भी उल्लेख है "प्रति प्र याहीन्द्र मीळ्हुषो नृन्महः पार्थिवे सदने यतस्व (१-१६९-६)।" इंद्र की उत्पत्ति का भी उल्लेख मिलता है। "पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत। इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्त्ता वज्री पुरुष्टुतः" (१-११-४)। इन्द्र के लिये दीर्घायु होने की भी प्रार्थना मिलती है—"परि त्वा गिर्वणो गिर इमा भवन्तु विश्वतः।

वृद्धायुमनुवृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयः (१-१०-१२)।" इन्द्र के लिये सुन्दर नासिका वाला और अयस् का वज्र धारण करने वाला तथा सुन्दर घोड़ों के रथ पर उसके चलने की प्रशंसा अनेक मन्त्रों में मिलती है—"ऋत्वा महाँ अनुष्वधं भीम आ वावृधे शवः। श्रिय ऋष्व उपाकयोर्नि शिप्री हरिवान्दधे हस्तयोर्वज्रमायसम् (१-८१-४) त्वमिन्द्र नर्यो याँ अवो नृन्तिष्ठा वातस्य सुयुजो वहिष्ठान् यन्ते काव्य उशना मन्दिरं दाद् वृत्रहणं पार्यं ततक्ष वज्रम् (१-१२१-१२)"—"न त्वा वाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते" (७-३२-२३)। इसमें इन्द्र के समान किसी के न होने का उल्लेख है। सुदास पैंजवन से इन्द्र की मैत्री का भी वर्णन मिलता है, जब कि सुदास ने इन्द्र से मैत्री के लिये प्रार्थना की थी—"वयमिन्द्र त्वायवः सखित्वमा रभामहे (१०-१३३-६)। "इन्द्र का सम्बन्ध मनुष्यों से था—"इन्द्र क्षितीनामसि मानुषीणां विशां—(३-३४-२)।" दिवोदास इत्यादि आर्यों के युद्ध में इन्होंने बहुत सहायता दी थी। यह सम्राट् भी हुए—"आवदिन्द्रं यमुना तृत्सवश्च"—(७-१८-१९) का अर्थ करते हुए सामश्रमी ने लिखा है—'यः इन्द्रः सम्राट्......' इत्यादि। पिछले काल में इसी कारण सम्राटों का 'ऐन्द्र महाभिषेक' होने लगा और इन्द्र एक पदवी बन गयी।

त्वष्टा वेदों में विश्वकर्मा अर्थात् आविष्कारक कहे गए हैं। वैदिक काल का एक प्रमुख व्यक्ति होने के कारण इनके बहुत से अनुयायी थे, किंतु इन्द्र का सम्प्रदाय भी प्रबल हो चला था और इसमें था—धर्म सम्बन्धी गहरा मतभेद !

त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को भी सोम के लिए इन्द्र ने मारा था। 'गाथा अहुनावैती' और 'स्पेंतमैन्यु' में सोम की निंदा का कारण त्वष्टा के पुत्र का वध हो सकता है। दास ने इस ऐतिहासिक घटना को 'माईथाज्ञाँजी' से मिला दिया है। वे यह तो मानते हैं कि पुत्रवध से त्वष्टा और उनके अनुयायियों ने इन्द्र का विरोध किया, परन्तु साथ ही वे कहते हैं कि इन्द्र की पूजा भी बन्द कर दी गयी। पर मैं समझता हूँ कि तब तक इन्द्र की पूजा का आरम्भ ही नहीं हुआ था। यही घटना तो इन्द्र को विशेषता देती है, जो पीछे जाकर उनकी पूजा का कारण बन गयी है।

वरुण भी तो त्वष्टा के अनुयायियों में एक ही प्रकार से पूजित नहीं हुए, भिन्न-भिन्न देशों में उनकी पूजा का प्रकार बदलता रहा।

इसी त्वष्टा और इन्द्र के विरोध ने धीरे-धीरे देवासुर-संग्राम का रूप धारण कर लिया, नहीं तो पहले इनमें मेल ही था। रामायण में तो यहाँ तक लिखा है—

"असुरास्तेन दैतेयाः सुरास्तेनादितेः सुताः।
हृष्टाः प्रमुदिता आसन् वारुणीग्रहणात्सुराः॥" (वाल्मीकि)

शतपथ के अनुसार देवता और असुर दोनों ही प्रजापति की सन्तान थे। किंतु यह सोम सम्बन्धी झगड़ा बहुत बढ़ा। त्वष्टा की उस समय आर्यों में विशेष प्रतिपत्ति थी परन्तु इन्द्र अधिक बलशाली थे। इस झगड़े में एक रहस्य और भी था। इन्द्र के कुछ नवीन धार्मिक विचार थे, संभवतः वे सृष्टि के प्रथम आत्मवादी थे। उपनिषदों की इन्द्र-विरोचन-कथा में इसका दार्शनिक रूप मिलता है, परन्तु ऋग्वेद में तो (१०-११९) आत्मस्तुति-परक एक सूक्त ही इन्द्र का है। यद्यपि लोगों ने उसे भ्रम से सोम पिये हुए इन्द्र की बहक मान लिया है, परन्तु—"अहमस्मि महामहोऽभिनभ्यमुदीषितः" (१२) इत्यादि प्रयोगों को मैं तो ठीक वैसा ही समझता हूँ जैसा पिछले काल मे श्रीकृष्ण का आत्मविभूति का वर्णन गीता मे है। क्योंकि, ऋग्वेद १० मण्डल का ४८ वाँ सूक्त भी इसी भावना से ओत-प्रोत है। देखिए—प्रथम मन्त्र "अहं भुव वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः। मां हवन्ते पितरं त जन्तवोऽहं दाशुषे वि भजामि भोजनम्।" इसके ऋषि भी स्वयं इन्द्र हैं।

वरुण भी देव! सो भी कैसे? आकाशस्य! संसार से बहुत ऊँचे। एक स्वतन्त्र महत्ता से इस आत्मवाद का संघर्ष होना अनिवार्य था। ऐसे आत्मवादी प्रत्येक काल के 'शरियत' मानने वालों के कोपभाजन और नास्तिक बने हैं। त्वष्टा (Zarthustra) ने वाह्लीक के पास अपने प्राचीन धर्म का दृढ दुर्ग बनाया और धर्म का संस्कार कर असुर-उपासना प्रचलित की।

"वरुत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमविं जज्ञाना ँ रजसः परस्मात्।
मही ँ साहस्रीमसुरस्य मायामग्ने मा हिं ँ सीः परमे व्योमन्॥"
(यजुर्वेद, १३-४४)

उक्त मंत्र में त्वष्टा और वरुण का सम्बन्ध और उनकी साहस्री माया का स्पष्ट उल्लेख है। इस सम्बन्ध में ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के स्वराज्यसूक्त (८०) का यह मन्त्र भी देखिये—"अभिष्टने ते अद्रिवो यत्स्था जगच्च रेजते। त्वष्टा चित्तव मन्यव इन्द्र वेविज्यते भियार्च्चन्ननु स्वराज्यम्॥" --(१४) "नहि नु यादधीमसीन्द्रं को वीर्या परः। तस्मिन्नृम्णमुत क्रतुं देवा ओजांसि सन्दधुरर्च्चन्ननु स्वराज्यम्॥" (१५) मन्त्र-संख्या १४ में साम्राज्य या स्वराज्य स्थापन करने वाले इन्द्र के भय से त्वष्टा को

काँपते कहा है और १५ में देवों द्वारा इन्द्र में पूर्ण मनुष्यता (नृम्ण) और ओज के स्थापन की घोषणा है।

इन्द्र और दाशराज्ञ युद्ध

काशी नागरी प्रचारिणी के कोशोत्सव स्मारक संग्रह मे प्रकाशित 'प्राचीन आर्यावर्त्त और उसका प्रथम सम्राट्' नाम के लेख में यह दिखाया जा चुका है कि उस अत्यन्त प्राचीन वैदिक काल मे आर्यो के दो शाखाओं में विभक्त होने का कारण, त्वष्टा और इन्द्र का संघर्ष था। त्वष्टा वेदों मे विश्वकर्मा अर्थात् आविष्कारक कहे गये हैं। वैदिक काल के एक प्रमुख व्यक्ति होने के कारण इनके बहुत से अनुयायी भी थे; किंतु इन्द्र का सम्प्रदाय भी प्रबल हो चला था, और इसमे कारण था धर्म-सम्बन्धी गहरा मतभेद। त्वष्टा का सम्प्रदाय ईश्वरीय महत्ता से पूर्ण धर्म का शासन स्वीकार करता था; किंतु इन्द्र आत्म-विश्वास के प्रचारक और आत्मवाद के समर्थक थे। संभव है कि, उस प्राचीन काल मे इन दोनो सिद्धांतो के साथ-साथ कुछ फुटकर आचार-विचार भी, अपनी विशेषताओं के कारण, मतभेद बढाने मे सहायक रहे हों; जैसे, सोम सम्बन्धी भली-बुरी धारणाये किंतु प्रत्येक बड़े-बड़े धार्मिक विरोधो के मूल में सिद्धात सम्बन्धी मतभेद -युद्धों का होना अनिवार्य बना देता है।

ऋग्वेद में इस धार्मिक संघर्ष का स्पष्ट परिचय मिलता है। वरुण उस प्राचीन काल में एक माननीय देवता थे और त्वष्टा इत्यादि वरुण पूजा के प्रधान समर्थक थे। वरुण और त्वष्टा का सम्बन्ध अनेक वैदिक मन्त्रों मे मिलता है। वरुण राजा और असुर कहकर पूजित थे। वसिष्ठ-कुल के लोग इस उपासना के प्रधान याजक थे। यही असुर-वरुण असीरिया के उपास्य देवता असुर, ईरान के अहुरमज्द, वेबिलोन के अस्मरमआजश और सुमेरिया क ई-ओंस थे। वैदिक आर्यो से अलग होकर पिछले काल मे ईरानी आर्यों के द्वारा प्रचलित यही असुरवरुण की उपासना अनेक रूपो मे पश्चिमी एशिया के प्राचीन सभ्य देशो मे फैली और इधर इन्द्र-पूजा वा इन्द्र का सम्प्रदाय वैदिक आर्यो मे प्रधानता ग्रहण करने लगा। कुछ ऐतिहासिकों का अनुमान है[1] कि, इन्द्र-पूजा चैल्डियन लोगो से सीखी गयी। इम्दिगिर जो चैल्डियन लोगो के आँधी-गरज के देवता है, आर्यों के यहाँ आकर इन्द्र बन गये। इसके विवरण मे उनका यह कहना है कि आर्यो के पहले भारत-भूमि दक्षिणी अनार्यद्रविड़ों के स्थान पर तुरानी द्रविड़ो के द्वारा अधिकृत थी और कौशिक लोग इन्द्र-पूजा के प्रचारक थे। इन कौशिको को वे 'कुसाइट' के साथ सबद्ध बताते हैं। 'कुसाइट' लोगों को कुछ विशेष कारणो से वे तूरानी-द्रविड़ मानते है। यहाँ पर

इन्द्र और दाशराज्ञ युद्ध

1. J. B. O. R. S. Page 221. Vol. VI. Pt 9.

हम इन विद्वानों को उसी भ्रम में सम्मिलित देखते हैं, जिसने रैंगोजिन जैसे विद्वान् को भी पुरु-वंशियों को अनार्य-वंशीय मानने के लिए प्रेरित किया था। पुरु, अनार्य द्रविड़ नहीं थे, इसका प्रमाण तो आगे दिया ही जायगा, यहाँ तो हमें इन्द्र-पूजा की विशेषता पर ही ध्यान देना है। कहा जाता है कि, ऋग्वेद के तीसरे मण्डल में वरुण का स्तव बहुत ही कम मिलता है और जो कुछ थोड़ा-सा उल्लेख भी है, वह इन्द्र के पीछे या विश्वेदेव के मन्त्रों में है। कौशिक लोग भारत मे ही अन्य देशों में गये, यह तो वे भी स्वयं मानते हैं। तब इन्द्र-पूजा चैल्डिया से आर्यों में न आकर भारतीय कौशिकों के द्वारा ही चैल्डिया में गयी होगी—यह कल्पना अधिक संगत मालूम होती है। विश्वामित्र इन्द्र-पूजा के प्रधान प्रचारक थे और अधिक संभव तो यह है कि इन्द्र के समय में ही उनके बाहुबल से प्रवर्त्तित उस नवीन अभ्युदय काल में वे इन्द्र के व्यक्तिगत समर्थक रहे हों। कौशिकों के और पौरवों के द्रविड़ होने की कल्पना वेदों में नहीं पायी जाती। हाँ, इसके विरुद्ध पौरवों के आर्य होने का प्रमाण वैदिक मन्त्रों में, प्रचुरता से, मिलता है। ऋग्वेद में दिवोदास पुरु को आर्य कहा गया है[1] और कौशिकों के सूक्तों में आर्यों (भरतों) की रक्षा के लिए बहुत-सी प्रार्थनायें भी मिलती हैं।

वरुण की पूजा से हटकर इन्द्र का अनुयायी होने का प्रमाण भी मिलता है। ईरानी आर्य 'अहुरमज्द' या असुर-वरुण की प्रशंसा करते हुए इन्द्र को पाप-मति कहते हैं। ठीक उसी तरह वरुण की उपासना से हटकर इन्द्र-पूजा की ओर आकृष्ट होते हुए आर्यों का उल्लेख ऋग्वेद के चौथे मण्डल के ४२ वें सूक्त (२,५ और ७ मन्त्रों) में है। ऋषि ने वरुण और इन्द्र का संवाद कराया है और उसमें वरुण के ऊपर इन्द्र को ही प्रधानता दी है।[2] इसी तरह दसवें मण्डल के १२४वें सूक्त (३ और ४ मन्त्रों) में भी वरुण को छोड़कर इन्द्र का आश्रय ग्रहण करने का स्पष्ट उल्लेख है[3]।

१. त्वमिमा वार्या पुरु दिवोदासाय सुन्वते। भरद्वाजाय दाशुषे॥ (ऋक् ६-१६-५)

२. वरुण—अहं राजा वरुणो मह्यं तान्यसुर्याणि प्रथमा धारयन्तः।
ऋतुं सचन्ते वरुणस्य देवा राजामि कृष्टेरुपमस्य वव्रेः।२। (ऋक् ४-४२-२)
इन्द्र—मां नरः स्वश्वा वाजयन्तो मां वृताः समरणे हवन्ते।
कृणोम्याजिं मघवाहमिन्द्र इयर्मि रेणुमभिभूत्योजाः।५। (ऋक् ४-४२-५)
ऋषि—विदुष्टे विश्वा भुवनानि तस्य ता प्र ब्रवीषि वरुणाय वेधः
त्वं वृत्राणि शृण्विषे जघन्वान्त्वं वृताँ अरिणा इन्द्र सिन्धून्।७।
(ऋक् ४-४२-७)

३. शंसामि पित्रे असुराय शेवमयज्ञियाद्यज्ञियं भागमेमि (ऋक् १०-१२४-३)
बह्वीः समा अकरमन्तरस्मिन्निन्द्रं वृणानः पितरं जहामि (ऋक् १०-१२४-४)

ऊपर के प्रमाणों से यह स्पष्ट देखा जाता है कि,* इन्द्र के अनुयायी वरुण-पूजा से मुंह मोड़ रहे थे और इसी कारण त्वष्टा के पुत्र वरुणोपासक वृत्र ने असुरों का नेतृत्व ग्रहण किया। यह तो पौराणिक गाथाओं से स्पष्ट है कि, सुरा के लिए ही देवासुर संग्राम हुआ था। देवासुर-संग्राम के फलस्वप आर्यावर्त्त में आंतरिक कलह भीषण हो चला। प्राचीन आर्यों में कुल-शासन-प्रथा प्रचलित थी, जिसमें कुल मुख्य था, और पुरोहितों की प्रधानता रहती थी। छोटे-छोटे आर्यों के दल विभक्त भूखण्डों में अपने परिवार के साथ बसते थे। वरुणोपासना, अपनी प्राचीनता के कारण, इन कुलों में प्रायः प्रचलित थी। देवासुर संग्राम होने के समय ऐसा अनुमान होता हैं कि इन कुलों में से धर्मभीरुओं ने (जो प्राचीन उपासना से विरोध करने का साहस न रखते थे) असुरों का पक्ष ग्रहण किया था। उन लोगों का यह विशिष्ट दल टूट कर सामूहिक रूप से असुर-संप्रदाय संगठित हुआ था। कुल और वंश की तथा आर्य आभिजात्य की मर्यादा का स्थान धार्मिक एकता ने ले लिया था।' उन लोगों ने अपनी प्राचीन शासनप्रणाली का अंत करके राजपद को एकनिष्ठ बनाया; किंतु वैदिक आर्यो ने—जो देव कहे जाते थे—अपनी पुरानी प्रथा प्रचलित रखी थी। इसका प्रमाण ऐतरेय ब्राह्मण (३-१४) में मिलता है।[1]

स्त्री, भूमि और आचार सम्बन्धी वैमनस्य तथा अन्य कारणों से भी परस्पर विरोध होना कभी-कभी अनिवार्य हो उठता है। यदि उसमें धार्मिक उत्तेजना भी मिल गयी, तब तो विरोध में अधिक तीव्रता बढ़ती ही है। आर्यो में गृह-युद्ध होने के, उस समय जहाँ और बहुत से कारण रहे होंगे, उनमें देवासुर संग्राम से हुई हानियों की स्मृति भी कुलों में सजीव रही होगी। कर्मकांड कराने वाले पुरोहितो की भिन्न-भिन्न क्रियाओं को प्रधानता देने की भी प्रतिद्वन्द्विता इसमें अधिक काम कर रही थी - फलस्वरूप दाशराज्ञ-युद्ध हुआ। ऋग्वेद के सातवें मण्डल में इस दाशराज्ञ-युद्ध का उल्लेख है।[2] इस दाशराज्ञ-युद्ध मे सुदास से अन्य दस राजाओं का

देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतन्तत एतस्यां प्राच्यां दिश्ययतन्त तांस्ततोऽसुरा अजयंस्ते दक्षिणस्यां दिश्ययतन्त तांस्ततोऽसुरा अजयंस्ते प्रतीच्यां दिश्ययतन्त तांस्ततोऽसुरा अजयंस्त उदीच्यां दिश्ययतन्त तांस्ततोऽसुरा' अजयंस्त उदीच्यां प्राच्यां दिश्ययतन्त ते ततो न पराजयन्त सैषा दिगपराजिता तस्मादेतस्यां दिशि यतेत वा यातयेद्वेश्वरो हानृणाकर्तोः, इति ते देवा अब्रुवन्न-राजतया वै नो जयन्ति राजानं करवामहा इति (ऐतरेय ब्राह्मण, तृतीय अध्याय, ३ खण्ड)

२: एवेन्नु कं मिन्धुमेभिस्ततारेवेन्नु कं भेदमेभिर्जघान।
एवेन्नु कं दाशराज्ञे सुदासं प्रावदिन्द्रो ब्रह्मणा वो वसिष्ठाः॥
(ऋक् ७-३३-३)

घोर संग्राम हुआ था। इस युद्ध में इन्द्र ने सुदास की रक्षा और सहायता की थी। देवासुर संग्राम में, सरस्वती-तट पर वृत्र के मारे जाने का उल्लेख ऋग्वेद में है और इसीलिए सरस्वती की महिमा में उसे वृत्रघ्नी कहा गया है।[1] किंतु उस वृत्रयुद्ध में कितने ही खंड-युद्ध, इंद्र और वृत्र के अनुयायियों में हुए, जिनमें सुदास के पिता दिवोदास और वृत्र के अनुयायी शंबर भी लड़े थे। इंद्र ने दिवोदास के लिए शंबर के ९९ दुर्ग नष्ट किये थे।[2] और दिवोदास की ही रक्षा के लिए तुर्वशों और यदुओं को भी नष्ट किया था। तुर्वशों और यदुओं के साथ यह युद्ध सरयू तट पर हुआ था।[3] दिवोदास की तरह त्रसदस्यु के पिता आर्जुनि कुत्स ने भी शुष्ण और वृत्रानुयायी कुयव से युद्ध किया था।[4]

उक्त मन्त्रों से यह प्रमाणित होता है कि यदु, तुर्वशु और पुरु आदि तथा भरतों का प्रमुख आर्य-वंश इन्द्र के पक्ष और विपक्ष में, वृत्र-युद्ध के समय, किस प्रकार लड़ चुके थे। जब इन्द्र की प्रचण्ड शक्ति के द्वारा वृत्र की धार्मिक सत्ता का आर्यावर्त्त के त्रिसप्तक प्रदेश से नाश हुआ और असुरोपासक लोग ईरान तथा उसके पश्चिम में हटने के लिए बाध्य हुए, (परा चिच्छीर्षा ववृजुस्त इन्द्रायज्वानो यज्वभिः

उद्द्यामिवेत्तृष्णजो नाथितासोऽदीधयुर्दाशराज्ञे वृतासः।
वसिष्ठस्य स्तुवत इन्द्रो अश्रोदुरुं तृत्सुभ्यो अकृणोदु लोकम्॥ (ऋक् ७-३३-५)
युवां हवन्त उभयास आजिष्विन्द्रं च वस्वो वरुणं च सातये।
यत्र राजाभिर्दशभिर्निबाधितं प्र सुदासमावतं तृत्सुभिः सह॥ (ऋक् ७-८३-६)

१. यस्त्वा देवि सरस्वत्युपब्रूते धने हिते। इन्द्रं न वृत्रतूर्ये॥ (ऋक् ६-६१-५)
उत स्या नः सरस्वती घोरा हिरण्यवर्तनिः। वृत्रघ्नी वष्टि सुष्टुतिम्॥
(ऋक् ६-६१-७)

२. अया वीती परि स्रव यस्त इंदो मदेष्वा। अवाहन्नवतीर्नव॥ (ऋक् ९-६१-१)
पुरः सद्य इत्थाधिये दिवोदासाय शम्बरम्। अध त्यं तुर्वशं यदुम्॥
(ऋक् ९-६१-२)

३. उत त्या तुर्वशायदू अस्नातारा शचीपतिः। इन्द्रो विद्वाँ अपारयत्।
(ऋक् ४-३०-१७)
उत त्या सद्य आर्या सरयोरिन्द्र पारतः। अर्णाचित्ररथावधीः।
(ऋक् ४-३०-१८)

४. त्वं ह त्यदिन्द्र कुत्समावः शुश्रूषमाणस्तन्वा समर्ये।
दासं यच्छुष्णं कुयवं न्यस्मा अरन्धय आर्जुनेयाय शिक्षन्॥ (ऋक् ७-१९-२)
त्वं धृष्णो धृषता वीतहव्यं प्रावो विश्वाभिरूतिभिः सुदासम्।
प्र पौरुकुत्सिं त्रसदस्युमावः क्षेत्रसाता वृत्रहत्येषु पूरुम्॥ (ऋक् ७-१९-३)

स्पर्धमाना: । प्र यद्दिवो हरिव: स्थातुरुग्र निरव्रतां अधमो रोदस्योः—ऋक् १-३३-५), तब भी उस युद्ध की कटु-स्मृति और कुल-मुखियों का वध भिन्न-भिन्न आर्यवंशों में विरोध के कारण-स्वरूप विद्यमान था। जैसा कि, हम पहले कह आये हैं, कुछ धार्मिक पुरोहितों के संघर्ष के कारण प्राचीन कुल सम्बन्धी बुराइयों को लेकर आर्यावर्त्त में जो गृह-युद्ध हुआ—वही दाशराज्ञ-संग्राम है। त्रिसप्तक प्रदेश मे यद्यपि इन्द्र के अनुयायियों की प्रधानता हो चली थी, फिर भी वृत्र-हत्या मे हानि उठाये हुए यदु, तुर्वशु, अनु, द्रुह्यु आदि आर्य-वंश रक्त का प्रतिशोध चाहते थे, वृत्र-युद्ध मे भरत-जाति के प्रमुख दिवोदास ने इन्द्र की सहायता की थी, जिससे आर्यों के भिन्न-भिन्न वंशों को क्षति उठानी पडी। इसी कारण आर्यों की मूल भरत-जाति के नेता दिवोदास के वश से अन्य आर्य-बल द्वेष करने लगे और उक्त काल मे दिवोदास के साहसी तथा उद्दण्ड कुमार सुदास मे तथा उनके कुलपुरोहित वसिष्ठ से विरोध भी हो गया, जिसके कारण सुदास ने विश्वामित्र को अपना कुल-पुरोहित और प्रधान याजक बनाना चाहा। विश्वामित्र ने अपने तीसरे मण्डल के सूक्तो मे सुदास का यज्ञ कराने की बात कही है। कुछ लोगो का अनुमान है कि, वसिष्ठ की होम-धेनु छीन लेने का यह तात्पर्य है कि, विश्वामित्र ने सुदास आदि राजाओ के कुल की पुरोहिती ले ली थी और यही वसिष्ठ के होम-धेनु हरण करने की कथा का मूल है। सुदास और वसिष्ठ से जो विरोध हुआ था, उसका उल्लेख विष्णुपुराण के चौथे अध्याय मे है।[1] यही नाम वाल्मीकीय रामायण मे सौदास के रूप मे मिलता है, जिन्होने वसिष्ठ को शाप देने के लिए जो जल ग्रहण किया था, उसे अपने पैरो पर गिराकर कल्माषपाद की उपाधि ग्रहण की थी।[2] अम्बरीष और त्रिशंकु की कथाये भी प्रसिद्ध है। इन सबसे यह निष्कर्ष निकलता है कि, वसिष्ठ के हाथ से उन दिनो की

१. आगताय च वसिष्ठाय निवेदितवान्। स चाचिन्तयत्, अहो! राज्ञोऽस्य दौ:शील्यम्। येनैतन्मासमस्माकं प्रयच्छति। किमेतद् द्रव्यजातमिति ध्यानपरोऽभूत्, अपश्यच्च तन्मानुषमांसम्। ततश्च क्रोधकलुषीकृतचेता राजानं प्रति शापमुत्ससर्ज, यस्मादभोज्यमस्मद्विधाना तपस्विनाम् अवगच्छन्नपि भवान् मह्यं ददाति, तस्मात् तवैवात्र लोलुपा बुद्धिर्भविष्यतीति ॥ (विष्णुपुराण ४.४-२७) ततश्च स कल्माषपादसंज्ञामवाप, वसिष्ठशापाच्च षष्ठे काले राक्षसभावमुपेत्याटव्या पर्यटन् अनेकशो मानुषानभक्षयत् ॥ (विष्णुपुराण ४-४-३२)

२. ततः क्रुद्धस्तु सौदासस्तोयं जग्राह पाणिना। वसिष्ठं शप्तुमारेभे भार्या चैनमवारयत् ॥ राजन्प्रभुर्यतोऽस्माकं वसिष्ठो भगवानृषि। प्रतिशप्तुं न शक्तस्त्वं देवतुल्यं पुरोधसम् ॥ ततः क्रोधमयं तोयं तेजोबलसमन्वितम्। व्यसर्जयत धर्मात्मा ततः पादौ सिषेच च ॥ तेनास्य राज्ञस्तौ पादौ तदा

पुरोहिती छीनी जाकर विश्वामित्र के हाथों जा रही थी। शुनःशेफ वाली कथा से प्रकट है कि वरुणोपासना के सम्बन्ध में ही वसिष्ठ और विश्वामित्र का झगड़ा तीव्र हुआ और वरुण की बलि के लिए लाया गया शुनःशेफ मुक्त हुआ तथा उसमें विश्वामित्र की विजय हुई।[1] विश्वामित्र की ओर प्राचीन राजकुल अधिक आकृष्ट हुए। विश्वामित्र इन्द्र को अधिक महत्ता देते थे, जैसा कि, उनके तीसरे मण्डल के सूक्तों में अधिक दिखाई देता है। ऐसा मालूम होता है कि, महावीर इन्द्र के अत्यन्त प्रशंसक होने के कारण इन्द्र की सहायता पाने की आशा रखने वाले राज-कुल विश्वामित्र को ही अधिक मानने लगे। इन्द्र की सहायता उस काल के वृत्र-युद्धों के बाद अत्यन्त आवश्यक हो गयी थी; क्योंकि वही उस समय प्रधान राज-शक्ति के केन्द्र थे।[2] दूसरी ओर वसिष्ठ के सूक्तों से उनकी धार्मिक विधियों में संदिग्धता प्रमाणित होती है। ऐसा जान पड़ता है कि वे पुरोहिती के लिए अत्यन्त चंचल चित्त हो रहे थे। इन्द्र की प्रशंसा में कहे गये उनके बहुत से सूक्त हैं; किंतु वरुण के लिए भी कम नहीं है। कहीं-कहीं तो उन्होंने अपनी द्विविधाजनक मनोवृत्ति से उत्पन्न अनेक किंवदन्तियों तथा जनरवों से अपनी व्याकुलता का भी स्पष्ट उल्लेख किया है, जिसमें उन्होंने- अपने को झूठे देवों की उपासना करने वाला; यातुधान, मायावी इत्यादि कहने वालों से -अपनी रक्षा करने की प्रार्थना की है।[3]

उस समय मायावी वरुण के समर्थक होने के कारण इन्द्र के अनुयायियों के द्वारा वसिष्ठ के लिए ऐसी बातें कही जाती थीं और विश्वामित्र इन्द्र की सहकारिता के कारण अधिक प्रशंसित होते थे। वसिष्ठ कभी सुदास के विरोध के कारण अपने

कल्माषतां गतो। तदाप्रभृति राजासौ सौदासः सुमहायशाः (वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकांड ६५ सर्ग, २९-३२)

१. वसिष्ठ विश्वामित्र संघर्ष, शुनःशेफ-अंबरीष की कथा के सन्दर्भ में वाल्मीकीय रामायण के बालकांड के ५३-६० सर्ग अवलोकनीय। (सं०)

२. युध्मस्य ते वृषभस्य स्वराज उग्रस्य यूनः स्थविरस्य घृष्वे।
अजूर्यतो वज्रिणो वीर्याणीन्द्र श्रुतस्य महतो महानि॥ (ऋक् ३-४६-१)
महाँ असि महिष वृष्ण्येभिर्धनस्पृदुग्र सहमानो अन्यान्।
एको विश्वस्य भुवनस्य राजा स योधया च क्षयया च जनान्॥ (ऋक् ३-४६-२)

३. यदि वाहमनृतदेव आस मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने।
किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोघवाचस्ते निर्ऋथं सचन्ताम्॥
(ऋक् ७-१०४-१४)

यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट॥ (ऋक् ७-१०४-१६)

प्राचीन घराने की मान-मर्यादा की रक्षा के लिए चल-चित्त होकर इन्द्र का समर्थन करते हैं और कभी वरुण से अपने प्राचीन धर्म से विचलित होने के कारण, अपराधों को क्षमा चाहते है।[1] कभी तो वरुण से अपनी पुरानी सहकारिता का उल्लेख करते हुए उनसे कृपा की प्रार्थना करते हैं और कभी इंद्र की प्रशंसा भी करते देखे जाते हैं। वसिष्ठ के समय मे ही अग्नि की एक उपासना पद्धति प्रचलित हुई थी, जो नव-जात थी और जिसे 'इन्द्राग्नी' कहते थे। यह वरुण-पूजा से अवश्य ही भिन्न प्रकार की उपासना रही होगी।[2] किन्तु विश्वामित्र,[3] वरुण के उतने प्रशंसक न होने के कारण, इन्द्र-पक्ष के राज-कुलों के प्रधान पुरोधा हो गये और भरतवंश के प्रमुख राजकुमार सुदास ने वसिष्ठ से विरोध करके जब विश्वामित्र को अपना प्रधान याजक बनाया, तब तो उनकी महत्ता अन्य पुरोहित कुलों के डाह के लिए यथेष्ट कारण हुई। सुदास की उच्छृंखलता के कारण या और किसी कारण से वसिष्ठ ने उस यज्ञ में भाग नही लिया। ऐसा अनुमान है कि वह सुदास का अश्वमेध-यज्ञ था, जिसे विश्वामित्र ने कराया।[3]

अश्वमेध-यज्ञ इन्द्र के ही प्रीत्यर्थ किया जाता था और वह अश्वमेध-यज्ञ, हरिवंश के अनुसार, जनमेजय के द्वारा वर्जित किया गया। अश्वमेध राज-सत्ता की प्रधानता का द्योतक एक प्राचीन आर्य-अनुष्ठान था। इन्द्र के अनुयायी भरत-वंशीय

१. किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत्स्तोतारं जिघांससि सखायम्।
प्र तन्मे वोचो दूळभ स्वधावोऽव त्वानेना नमसा तुर इयाम्॥ (ऋक् ७-८६-४)
क्व त्यानि नौ सख्या बभूवुः सचावहे यदवृकं पुरा चित्।
बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते॥ (ऋक् ७-८८-५)
यत्किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि।
अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः॥ (ऋक् ७-८९-५)
२. शुचिं नु स्तोमं नवजातमद्येन्द्राग्नी वृत्रहणा जुषथाम्।
उभा हि वां सुहवा जोहवीमि ता वाजं सद्य उशते धेष्ठा॥ (ऋक् ७-९३-१)
३. महाँ ऋषिर्देवजा देवजूतोऽस्तभ्नात्सिन्धुमर्णवं नृचक्षाः।
विश्वामित्रो यदवहत्सुदासमप्रियायत कुशिकेभिरिन्द्रः॥ (ऋक् ३-५३-९)
हंसा इव कृणुथ श्लोकमद्रिभिर्मदन्तो गीर्भिरध्वरे सुते सचा।
देवेभिर्विप्रा ऋषयो नृचक्षसो वि पिबध्वं कुशिकाः सोम्यं मधु॥ (ऋक् ३-५३-१०)
उप प्रेत कुशिकाश्चेतयध्वमश्वं राये प्र मुञ्चता सुदासः।
राजा वृत्रं जङ्घनत्प्रागपागुदगथा यजाते वर आ पृथिव्याः॥ (ऋक् ३-५३-११)
य इमे रोदसी उभे अहमिन्द्रमतुष्टवम्।
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्॥ (ऋक् ३-५३-१२)

सुदास ने जब उसका आरम्भ किया, तब वरुणोपासना से प्रेम रखने वाले, अन्य आर्य राजकुलों के साथ घनिष्ठता रखने के कारण, वसिष्ठ का यज्ञ में याजक पद को अस्वीकार कर देना बहुत संभव है। और वह ऐसा अवसर था कि इन्द्र की सहायता करने वाले भरत-प्रमुख राजन्य के विरुद्ध अन्य प्रतिस्पर्धी राजकुल सहज ही उत्तेजित हो सकते थे। जिस सरयू-तट के युद्ध में यदु-तुर्वशों के नेता अर्ण और चित्ररथ मारे गये थे, उसकी स्मृति अभी मलिन नहीं हुई थी। वसिष्ठ से सुदास का झगड़ा भी हो गया था। इसी समय सुदास ने अश्वमेध का भी अनुष्ठान किया। इससे बढ़कर दाशराज्ञ-युद्ध के लिए और कौन अवसर आता? ऋग्वेद के तीसरे मंडल के ५३ वें सूक्त के जिन मंत्रों की बातें कही गई हैं, वे इसके साक्षी हैं। 'अश्वं राये प्र मुञ्चता सुदासः' इसी घटना का संकेत करता है। विश्वामित्र के कहे हुए इसी सूक्त के २०, २१, २२ और २३ मंत्र वसिष्ठ के अनुयायी लोगों में वर्जित और अश्राव्य हैं। सातवें मंडल के १०४ वें सूक्त में जो मंत्र, अपने ऊपर किये गये आक्षेपों से सुरक्षित होने के लिए वसिष्ठ ने प्रार्थना रूप से कहे हैं, वे भी अधिकतर विश्वामित्र की ही ओर संकेत करते हैं। तीसरे मंडल के ५३ वें सूक्त में तो विश्वामित्र ने यहाँ तक कहा है कि '... गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति' (३।५३।२३)। वसिष्ठ के बाँधे जाने, छूटने और उनके पुत्रों के मारे जाने की भी कथा प्रसिद्ध है। उक्त अश्वमेध की पुरोहिती को लेकर वसिष्ठ का जो अपमान हुआ, उससे भी इस युद्ध को अधिक सहायता मिली। एक प्रकार से यह अश्वमेध रण-निमंत्रण था। फलतः यमुना से लेकर शुतुद्रि (शतद्रु) और परुष्णी के तटों पर कई युद्ध हुए, जिनमें सुदास एक ओर और अन्य दस राजा एक ओर होकर लड़े—इसी का नाम दाशराज्ञ युद्ध है।

इस दाशराज्ञ-युद्ध के लड़ने वाले दस राजा कौन थे, इस सम्बन्ध में कई मत हैं। दाशराज्ञ-युद्ध के संबंध में रैंगोजिन का मत है कि—तृत्सु प्रधान आर्य, आक्रमणकारी जाति के लोग हैं, जिन्होंने पंजाब पर पहले आक्रमण किया था। द्रविड़ जाति के पुरु लोग अन्य राजाओं के साथ मिलकर उस आक्रमण को रोकने के लिए लड़ते थे और इस युद्ध में उनके प्रधान पुरु थे। भरत जाति भारत की प्राचीन रहने वाली अनार्य जाति थी, जिसे विश्वामित्र ने शुद्ध किया था। अनु, स्पष्ट ही कोल जाति के थे। इन लोगों ने पुरु-जाति के प्रमुख कुत्स के नेतृत्व में सुदास तृत्सु से युद्ध किया। सी० वी० वैद्य महोदय का मत है कि, जो आर्य पंजाब में आकर पहले बसे थे, सूर्यवंश के थे। भरत सूर्यवंशी है और प्रथम आने वाले वे ही हैं। सिंधू नदी से सरयू तक वे फैल गये। मैकडानल् के अनुसार वह अयोध्यावाली सरयू है। वे सूर्यवंशी खैबर की घाटी से पंजाब में आये, पीछे आने वाली दूसरी टोली के आर्य चंद्रवंशी थे, जो गंगा की दरी होते हुए चित्राल गिरि-पथ से आये। सरस्वती-तट पर उन्होंने राज्य स्थापित किया; इसका प्रमाण—

भाषाशास्त्र की दृष्टि से ग्रियर्सन और हार्नले के अनुसार—वैद्यजी ने दिया है कि — यही चंद्रवंशी आर्य धीरे-धीरे दक्षिण में फैले, जिनकी भाषा-अवधी राजधानी और पंजाबी से भिन्न है। वैद्यजी का यह भी कहना है कि प्रयाग में चंद्रवंशियों के आदि पुरूरवा की राजधानी बताना पुराणों का भ्रम है, ये लोग गिलगिट-चित्राल के पथ से आकर पहले-पहल अम्बाला, सरहिंद स्थानों में बसे। फिर ये दक्षिण की ओर फैले। पहले आये हुए सूर्यवंशी भरतों का पीछे आये हुए चन्द्रवंशी यदु, तुर्वशु आदि से युद्ध हुआ। यदु, तुर्वशु पूर्व में सरयू तक बस चुके थे, जिनसे भरतों का युद्ध हुआ। अमेरिका की पांच जातियों के युद्ध का उदाहरण देकर वैद्यजी ने यह प्रमाणित करना चाहा है कि इन यदु, तुर्वशु, अनु, द्रुह्यु और पुरु इत्यादि नवागत चन्द्रवंशी आर्यों के साथ पांच अनार्य (पक्थ. भलान, भनन्तालिन, विषाणिन् और शिव) जातियों का गुट्ट[1] भरतवंशी राजा के विरुद्ध संघटित हुआ; अर्थात् वह दाशराज्ञ-युद्ध पहले के आये हुए सूर्यवंशी और पीछे के आये हुए चन्द्रवंशी आर्यों का भूमि-लिप्सा के लिए पारस्परिक युद्ध हुआ, जिसमें सूर्यवंशी भरतों की ही विजय रही।

संक्षेप में रैगोजिन इत्यादि पाश्चात्यों के मत में दाशराज्ञ-युद्ध अनार्य भारतीयों पर विदेशी आर्यों का आक्रमण है और वैद्यजी ने उसमें इतना संशोधन और किया है कि, युद्ध मे कुछ अनार्य भले ही सम्मिलित रहे हों; किंतु प्रधानतः उसमें आक्रमणकारी और आक्रांत, दोनों ही आर्य थे। इस कल्पना के द्वारा वैद्यजी ने सूर्य-वंश और चन्द्र-वंश के पौराणिक आख्यान की संगति लगा ली है। इन दोनों समीक्षकों के मत के मूल में पाश्चात्य शोधकों की वही मनोवृत्ति या विचारधारा है, जो भारत को आरंभ में अनार्य देश मानकर उस पर विदेशी आर्यों का आक्रमण करना युक्ति-युक्त समझती है, जिससे यह प्रमाणित हो जाय कि आर्य लोग यहाँ के अभिजन नहीं, प्रत्युत विदेशी हैं।

प्राचीन आर्यावर्त्त त्रिसप्तक प्रदेश में सीमित था। सरस्वती, सिंधु और गंगा की सहायक नदियों से सजला-सफला भूमि वैदिक काल के आर्यावर्त्त की सीमा के भीतर मानी जाती थी। किंतु, सरस्वती से मेरा तात्पर्य पंजाब की सरस्वती से नहीं है। अफगानिस्तान की 'हिलमंद' नदी ऋग्वेद की सरस्वती है। वर्त्तमान भारत के मानचित्र को सामने रखकर ऋग्वेद काल की ऐतिहासिक आलोचना असंभव है। उस समय की ऐतिहासिक घटनाओं को समझने के लिए ऊपर कहे हुए त्रिसप्तक प्रदेश के

सरस्वती का सप्तक

---

१. आ पक्थासो भलानसो भन्तालिनासो विषाणिनः शिवासः।
आ योऽनयत्सधमा आर्यस्य गव्या तृत्सुभ्यो अजगन्युधा नृन्॥ (ऋक् ७-१८-७)

आर्यावर्त्त (जो हिमालय और विंध्य के मध्य में था) को आँखों के सामने रखना होगा। तब यह कहना व्यर्थ है कि, आर्य लोग कहीं दूसरे स्थान से आये थे; क्योंकि खैबर की घाटी तब भारतवर्ष की उत्तर-पश्चिम की सीमा नहीं थी। ऐसा समझ लेने पर दाशराज्ञ युद्ध को विदेशी आर्यो और भारतीय द्रविड़ों का युद्ध न कहकर आर्यावर्त्त के आर्यो का ही गृह-युद्ध कहना संगत होगा। दाशराज्ञ के सम्बन्ध में जिस त्रसदस्यु का उल्लेख हुआ है, वह सुवास्तु प्रदेश का था, जिसे अब स्वात कहा जाता है।

इसी सुवास्तु प्रदेश को सत्यव्रत सामश्रमी ने आर्यो का मूल स्थान बताया है। 'तुग्व' सुवास्तु प्रदेश का एक प्रसिद्ध तीर्थ माना जाता था। रैगोजिन का यह कहना असंगत है कि पुरु लोग पश्चिम के रहने वाले द्रविड़ जाति के थे। उन लोगों की अध्यक्षता मे अन्य राजाओं ने तृत्सुओं से युद्ध किया; क्योकि पौरवों का सरस्वती के दोनों तटों पर रहना ऋग्वेद से प्रमाणित है।[1] इस मत्र मे पुरु जाति का उल्लेख 'पूरवः' बहुवचन से है। ऋग्वेद काल की सरस्वती (हिलमंद) के दोनों तटों पर इनका राज्य था। ये पुरु लोग वृत्रयुद्ध मे दिवोदास और इन्द्र के सहकारी थे। उस युद्ध में पुरुवंशी कुत्स शुष्ण से और दिवोदास शंबर से लडे थे[2]। त्रसदस्यु का स्वात की घाटी तक अधिकार होने का प्रमाण भी हम ऊपर दे आये है। तब यदि यह माना जाय कि, वर्त्तमान हिलमंद और स्वात प्रदेश की रहने वाली पुरु जाति भारत पर आक्रमण करती है, तो रैगोजिन के अनुसार द्रविड पौरवों का पंजाब के आर्यो पर उलटा आक्रमण हो जाता है। वास्तव में तो इन लोगों की भ्रांत कल्पना यह है कि, विदेशी आर्यो ने भारतीय द्रविडों पर आक्रमण किया। जिन तृत्सुओं को रैगोजिन ने आक्रमणकारी आर्य बताया है, वे तृत्सु आर्य-सैनिक नहीं; किंतु भरतों के पुरोहित थे और इसीलिए वसिष्ठ को प्रधान या आदि तृत्सु भी कहा गया है।[3]

वैद्यजी का कहना है कि, चद्रवंशी आर्य अर्थात् पुरु, तुर्वशु, अनु और द्रुह्यु आदि गंगा की घाटी से होते हुए कुरुक्षेत्र मे आये और यहाँ पर बसने और राज्य

---

१. उभे यत्ते महिना शुभ्रे अन्धसी अधिक्षियन्ति पूरवः।
सा नो बोध्यवित्री मरुत्सखा चोद राधो मघोनाम्॥ (ऋक् ७-९६-२)

२ त्वं कुत्सं शुष्णहत्येष्वाविथारन्धयोऽतिथिग्वाय शम्बरम्।
महान्तं चिदर्बुदं नि क्रमीः पदा सनादेव दस्युहत्याय जज्ञिषे॥ (ऋक् १-५१-६)

३ दण्डाइवेद्गोअजनास आसन्परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः।
अभवच्च पुरएता वसिष्ठ आदित्तृत्सूनां विशो अप्रथन्त॥ (ऋक् ७-३३-६)
किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत्स्तोतारं जिघांससि सखायम्।
प्र तन्मे वोचो दूळभ स्वधावोऽव त्वानेना नमसा तुर इयाम्॥ (ऋक् ७-८६-४)

करने के लिए उन्हें सूर्यवंशी भरतों से लड़ना पड़ा। आप पुराणों मे वर्णित प्रयाग को पौरवों की आदि राजधानी भी नही मानते; किंतु चौथे मण्डल के ३० वे सूक्त में वर्त्तमान सरयू तट पर यदु-तुर्वशों का भरतों से युद्ध होने का उल्लेख आप प्रमाण में देते है। आश्चर्य की बात होगी कि, गंगा से पूर्व की नदी का तो दाशराज्ञ युद्ध से संबन्ध लगाया जाय, किंतु गंगा का कोई उल्लेख न हो। वास्तव मे तो दाशराज्ञ-युद्ध की पूर्वीय सीमा यमुना नदी ही थी 'आवदिन्द्रं यमुना तृत्सवश्च प्रात्रभेदं सर्वताता मृषायत् अजासश्च शिग्रवो यक्षवश्च बलिं शीर्षाणि जभ्रुरश्व्यानि (ऋग्वेद ७।१८।-१९)। दाशयज्ञ-युद्ध संबंधी सूक्तों मे परुष्णी और यमुना का ही उल्लेख मिलता है। विश्वामित्र के तीसरे मण्डल के ३३वे सूक्त में भरतों के एक और युद्ध का उल्लेख है। यदि उसे भी दाशराज्ञ युद्ध का एक अश माना जाय, तो सतलज और व्यास के तटो पर भी युद्ध का होना प्रमाणित है। जिस यदु-तुर्वशो के युद्ध का होना सरयू तट पर कहा जाता है, वैद्यजी उसे वर्त्तमान अयोध्या के समीप की सरयू समझते है; यह ठीक नही। ऋग्वेद की सरयू[1] अफगानिस्तान की हरिरूद या अवेस्ता की हरयू है। वही यदु-तुर्वशो से युद्ध हुआ था। यादवो का उस सरयू तट पर रहना इससे भी प्रमाणित होता है कि वे वृषपर्वा आदि असुरों के सम्बन्धी थे। असुरों के देश के समीप वही सरयू हो सकती है, वर्त्तमान अयोध्या के समीप की सरयू नही। और पुरु लोग तो स्पष्ट ही ऋग्वेदीय मंत्रो मे आर्य कहे गये है। जिन प्रमाणों के आधार पर रैगोजिन यदुतुर्वशो को अनार्य या द्रविड़ मानते है अथवा वैद्यजी उन्हे भरतो के विरोधी चंद्रवंशी समझते हैं, वे भ्रामक हैं, क्योंकि यदु-तुर्वशु जाति के लोग भी इंद्र के द्वारा सुरक्षित किये गये हैं।[2]

वैद्यजी का यह कहना भी सुसंगत नही है कि, भरत सूर्य-वंशी राजा थे; या उनके वंशज सुदास से नवागत चंद्रवशी आर्यों का युद्ध हुआ। भाषाशास्त्र के अनुसार आर्यो की जिस दूसरी टुकडी के भारत मे आने की कल्पना की गयी—वह अधिक विश्वसनीय नही है, क्योकि वर्त्तमान भारत के मानचित्र का और प्राचीन आर्यावर्त्त की सीमा का विभेद ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। अब यह देखना होगा कि, भरत को सूर्यवंश का प्रमाणित करने मे वैद्यजी कहाँ तक सफल हुए है। उनका कहना है कि, निरुक्त के अनुसार भरत का अर्थ सूर्य है और साथ ही आदि-भरत मे एक व्यक्तित्व मानकर पौरवो के आदिपुरुष पुरु से संघर्ष होने का भी अनुमान करते है; किंतु वैदिक काल का इतिहास ढूंढ़ने मे निरुक्त के अर्थ का अवलम्बन नितांत भ्रमपूर्ण

१. उत त्या सद्य आर्या सरयोरिन्द्र पारतः। अर्णाचित्ररथावधीः॥ (ऋक् ४-३०-१८)
२. त्वमाविथ नर्यं तुर्वशं यदुं त्वं तुर्वीतिं वय्यं शतक्रतो।
त्वं रथमेतशं कृत्व्ये धने त्वं पुरो नवतिं दम्भयो नव॥ (ऋक् १-५४-६)

होगा। जिस वृत्र को ऐतिहासिक लोग असुर, त्वष्टा का पुत्र मानते हैं, उसे निरुक्तकार मेघ बतलाते हैं। ऐसी रूपकीय कल्पनाओं से इतिहास का बनना असम्भव हो जायगा। दूसरा प्रमाण वे पुराणों से भरत के स्वायंभुव मनु के पौत्र होने का देते हैं। इसे मान लेने पर उन्हीं के कथनानुसार भरत को सूर्यवंशी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि पुराणों के अनुसार सूर्यवंश के आदिपुरुष वैवस्वत मनु थे। स्वायंभुव मनु के वंशज का सूर्य-वंशी बनना असम्भव है।

वैद्यजी का यह भी मत है कि, चन्द्रवंशी आर्यों की पांच जातियां थीं और यही वैदिक साहित्य में 'पंचजनाः' के नाम से पुकारी गयी हैं। अनु, द्रुह्यु, पुरु, यदु और तुर्वशु को एक मन्त्र में एकत्र देखकर उन्होंने इस सिद्धांत की कल्पना की है।[1] किंतु इसमें इन लोगों के चन्द्रवंशी होने का कोई प्रमाण नहीं। पुराणों में इन्हें चन्द्रवंशी और दिवोदास या सुदास को पौराणिक वंशावली में सूर्यवंश का देखकर भरतों को सूर्य-वंशी मान लेने का वे आग्रह करते हैं—यद्यपि भरत जाति पुराणों के द्वारा चन्द्र-वंश की ही स्पष्टतः मानी जाती है। इधर वाल्मीकि ने नहुष और उनके पुत्र ययाति को सूर्यवंश में माना है। दिवोदास तथा उसके पुत्र 'प्रतर्दन' का उल्लेख विष्णुपुराण के चौथे अंश के आठवें अध्याय में चन्द्र-वंशावली में किया गया है।

इस प्रकार वैदिक राजाओं की नामावली लेकर, पिछले काल की घटनाओं का उनमे संबन्ध जोड़कर, जो पौराणिक वंशावली पुराण-प्रादुर्भाव-काल में प्रस्तुत की गयी है, उससे वैदिक काल के इतिहास का निर्णय करना ठीक नहीं है। और जब कि, चन्द्र और सूर्यवंश का उल्लेख वेदों में स्पष्ट नही मिलता, तब वैद्यजी का यह प्रयत्न केवल पश्चिमीय मत (जो आर्यो के बाहर से आने का है) का समर्थन मात्र है। आर्यो का दो टोली में आने का वैद्यजी ने सूर्य और चन्द्र-वंश में सामंजस्य किया है। वस्तुतः यह दाशराज्ञ युद्ध भरत जाति के प्रमुख राजा के विरुद्ध अन्य आर्य राज-कुलों का विद्रोह या आर्यो और अनार्यो, चंद्रवंशियों तथा सूर्य-वंशियों का युद्ध नहीं। ऋग्वेद के ७ वें मण्डल के १८ वें सूक्त के आधार पर दाशराज्ञ-युद्ध में लड़ने वाले दस राजाओं का जो चयन किया गया है, वह समीचीन नहीं। दाशराज्ञ का स्पष्ट उल्लेख तो ७ वें मण्डल के ३३ और ८३ सूक्तों में है। इन दोनों सूक्तों में उन दस राजाओं का नाम नही।[2] हां, ८३ वें सूक्त में यह तो

१. यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु यद्द्रुह्युष्वनृषु पूरुषु स्थः। (ऋक् १-१०८-८)

२. एवेन्नु कं सिन्धुमेभिस्ततारेवेन्नु कं भेदमेभिर्जघान।
एवेन्नु कं दाशराज्ञे सुदासं प्रावदिन्द्रो ब्रह्मणा वो वसिष्ठाः॥ (ऋक् ७-३३-३)
युवां हवन्त उभयास आजिष्विन्द्रं च वस्वो वरुणं च सातये।
यत्र राजभिर्दशभिर्निबाधितं प्र सुदासमावतं तृत्सुभिः सह॥ (ऋक् -८३-६)

अवश्य मिलता है कि सुदास से लड़ने वाले दसों राजा यज्ञ विरोधी थे[1] तब हमारे उस मत को वह दृढ़ आधार मिलता है कि, सुदास के अश्वमेध-यज्ञ के विरोध में ही यह दाशराज्ञ युद्ध हुआ। सुदास का वह यज्ञ यमुना के तट पर पूर्ण हुआ, जहाँ पर इन्द्र को अश्व के सिर उपहार में मिले।[2] यदि १८ वे सूक्त के अनुसार ही दस राजाओ का चयन करना संगत हो, तो उक्त सूक्त में पुरु, अनु, द्रुह्यु, भृगु, मत्स्य, विकरण, शिग्रु, यदु, तुर्वशु और अज लोगों के नाम स्पष्ट ही मिलते है, और ये आर्य जाति के नाम है। फिर उसी सूक्त मे उल्लिखित पाँच अनार्यो को (पक्थ, भलान, भनन्तालिन, विषाणिन, शिव इत्यादि को) भी जोड देने से दस न होकर ये पंद्रह राजा हो जाते है। पक्थ, भलान आदि अनार्य तो उसी सूक्त में गायें चुराने वाले कहे गये है। ऐसा मालूम होता है कि जब भरतवंशी आपस में लकड़ियों की तरह छितराये हुए थे और परस्पर लड रहे थे, तब इन अनार्यों को भी इनकी गाये चुराने का अवसर मिला होगा[3]। वास्तव मे तो यह युद्ध इंद्रानुयायी सुदास और यज्ञ न करने वाले वृत्रानुयायी अन्य आर्य कुलो मे हुआ था। दाशराज्ञ संबंधी ८३ वे सूक्त (९ मत्र) मे इनके वृत्रानुयायी होने का स्पष्ट उल्लेख है 'वृत्राण्यन्यः समिथेषु जिघ्नते'।

इस युद्ध के संबंध मे ही संभवतः वसिष्ठ विपाशा-तट पर छोड गये और राजनीति के अनुसार उन्हे दक्षिणा भी दी गयी। तब उन्होने भी कहा कि, मनुष्यो! सुदास के अनुयायी बनो, जैसा कि, तुम लोग उसके पिता को मानते थे[4]। ऐसा अनुमान होता है कि, तृत्सुओं की पुरोहिती बनी रही, किंतु भरतों के आचार्य का पद विश्वामित्र को मिला। विश्वामित्र भरतों के दीक्षा गुरु हुए और वसिष्ठ-वंशी कर्मकाडी पुरोहित बने रहे। विश्वामित्र इंद्र के परम प्रशंसक थे और उन्ही की प्रेरणा से इद्र ने सुदास की सहायता की। विश्वामित्र ने उस युद्ध मे शतद्रु-तट पर जो सहायता सुदास को दी उसका प्रमाण है—तीसरे मण्डल का तेतीसवा सूक्त जिसके ११ और १२ मंत्रों में भरतों के शतद्रुपार होने का वर्णन है। विश्वामित्र ने तो यहाँ तक कहा है कि

१. दश राजानः समिता अयज्यवः सुदासमिन्द्रावरुणा न युयुधुः। (ऋक् ७-८३-७)

२. आवदिन्द्रं यमुना तृत्सवश्च प्रात्र भेद सर्वताता मुषायत।
अजासश्च शिग्रवो यक्षवश्च बलिं शीर्षाणि जभ्रुरश्व्यानि॥ (ऋक् ७-१८-१९)

३. दण्डाइवेद्गोअजनास आसन्परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः।
अभवच्च पुरएता वसिष्ठ आदित्तृत्सूनां विशो अप्रथन्त॥ (ऋक् ७-३३-६)

४ इमं नरो मरुतः सश्चतानु दिवोदासं न पितरं सुदासः।
अविष्टना पैजवनस्य केतं दूणाशं क्षत्रमजरं दुवोयु॥ (ऋक् ७-१८-२५)

कुशिकों के कारण ही इंद्र सुदास पर प्रसन्न हुए[1]। इंद्र की सहायता से ही सुदास को उस दाशराज्ञ युद्ध में विजय मिली। और उन इन्द्र को तुष्ट करने वाले विश्वामित्र ही थे—स्वयं उन्होंने कहा है कि "य इमे रोदसी उभे अहमिन्द्रमतुष्टवम् विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्" (३-५३-१२)

कुछ लोगों का अनुमान है कि दाशराज्ञ युद्ध ३१०२ बी० सी० में हुआ और उसी युद्ध का स्मरण-स्वरूप महाभारत-युद्ध है क्योंकि यह भी पौरवों के ही गृह-कलह का रूपांतर है। किंतु दाशराज्ञ युद्ध को अलग मानने के बहुत से कारण है। बह 'भारत-युद्ध' नहीं है। यह वैदिक युद्ध, इंद्र और वृत्रासुर अथवा देवासुर-संग्राम का ही पिछला अंश है, जिसे ७५०० बी० सी० से कम का अनुमान नही किया जा सकता। पूना के एक शोधक विद्वान् भी इसे ६००० बी० सी० से पीछे का नही मानते।

इस युद्ध के बाद आर्य लोगो के बहुत से दल—अपने मतभेद लिये -आर्यावर्त्त से बाहर चले गये—और, उन्होंने नये उपनिवेश बसाये।

आर्यों के नये उपनिवेश-वृहत्तर आर्यावर्त्त

आर्यों की वाणिज्य करने वाली जाति के पणि लोग उस संघर्ष में असुरों से मिल गये थे। यही लोग संभवत: प्राग्-ऐतिहासिक काल के "फिनीशियन" लोगों के पूर्वज थे। ऋग्वेद (मण्डल १० के १०८वें सूक्त) मे उनका उल्लेख है।[2] इसी संघर्ष के कारण आज भी जरत्स्थुट्र के अनुयायी धर्म में दीक्षित होते हुए प्रतिज्ञा करते है—"हम देवों को भगाते है और अपने को जरथुस्त्रीय देवविरोधी स्वीकार करते है"।[3] उधर ऋग्वेद में इंद्र-शत्रुओं के निर्वासन की चर्चा है—"उतब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत। दधाना इन्द्र इद्दुव:" (ऋक् १-४-५)

इस प्रकार प्राचीन काल के पूज्यमान असुर पिछले काल में वेदों में विरोधी माने गये। और देव लोग ईरानी आर्यों के यहाँ शत्रु समझे गये। आजकल ईरानी संस्कृति में देव-जादा या काला-देव, सफेद-देव उसी ध्वनि का द्योतक है, एवं अवेस्ता

१. महाँ ऋषिर्देवजा देवजूतोऽस्तम्नात्सिन्धुमर्णवं नृचक्षा:।
विश्वामित्रो यदवहत्सुदासमप्रियायत कुशिकेभिरिन्द्र:॥ (ऋक् ३-५३-९)

२. इन्द्रस्य दूतीरिषिता चरामि मह इच्छन्ती पणयो निधीन्व.।
अतिष्कदो भियसा तन्न आवत्तथा रसाया अतर पयासि॥
(ऋक् १०-१०८-२ इत्यादि)

३. I drive away the Devas. I profess myself a Zarthustrian, an expeller of Devas, a follower of the teachings of Ahura a hymn-singer, a praiser of Amshaspands (p 55, Zoroaster).

के अनुसार इंद्र, शौर्व (शर्व ?) तथा नासत्य दुष्टात्माओं में गिने जाते हैं। "हाग" का भी विचार था कि अहुरमज्द का धर्म प्राचीन बहु-देववाद मूलक वैदिक विचारों से एक धार्मिक विद्रोह-रूप था। यद्यपि ऋग्वेद मे मंत्रों के संकलन से यह सूचित होता है कि उस काल मे वैदिक धर्म समन्वयवादी हो गया था। उसमे सब प्रकार की भावनाओं के मंत्र मिलते हैं। फिर भी ईरानी आर्यों ने उसी धर्म के एक प्राचीन समुदाय को विकसित कर स्वतंत्र उपासना का प्रचार किया, उसमें वरुण-असुर की प्रधानता थी और सोमपान इत्यादि के संबंध मे कुछ नये सुधार किये गये थे। वैदिक आर्यों में इस तरह दो परस्पर-विरोधी संप्रदाय बन गये। इसके प्रमाण दोनों के धर्मग्रंथों मे मिलते हैं।

यह ईरानी धर्म, वरुण की प्रधानता के कारण, एकेश्वरवादी होने पर भी द्वैत अथवा द्वंद्व को मानने वाला था। अहुर (असुर) सब मलिनताओ से परे पवित्रात्मा और अह्रिमान उसका प्रतिद्वंद्वी दुष्टात्मा। इस प्रकार संसार के भले-बुरे काम बाँट दिये गये। यही सर्पाकृति अह्रिमान पिछले काल मे अन्य धर्मों के शैतान का रूप धारण करता है, जो स्वर्ग नष्ट करने के लिये उद्यत था। सम्भवत इस स्वर्गनाश का सम्बन्ध अवेस्ता-वर्णित जल-प्रलय से है।

एक प्रसिद्ध ग्रंथ (Conflict between religion and science) मे लिखा है कि इस द्वंद्व का समाचार यहूदियो ने पहले-पहल बैबिलोनिया मे, जहाँ वे बंदी थे, ७ वीं-८ वी शताब्दी ईसवी पूर्व में सुना। प्राचीन बैबिलोनिया, असीरिया और मीडिया के आर्यों की, अहुर व असुर की उपासना मे साम्य देखकर, विशेषकर यहूदियों के मुख से बैबिलोनिया-द्वंद्व की गाथा सुनने के आधार पर यहूदियों की धर्म-पुस्तक को सीमा का 'पत्थर समझने वाली भूल से यह कहा जाता है कि अपने ध्वंसावशेषों के द्वारा अपनी प्राचीनता का प्रमाण देनेवाले सुमेरिया देश से ही यह धर्म-संस्कार फैला है।[१] यहूदियों का जेहोवा भी ईरानी असुर-वरुण का नामांतर है।[२]

१. If the View is accepted that Ashur is Anshar, it can be urged that he was imported from Sumeria—(p, 327, Myths of Babylonia).

२. For, as an ethical god Varun may be placed next to the Israelite Yehweh, and the difference the decay of Varun and the strenuous & successful fight of Hebrew prophets to uphold the supremacy of Yehweh needs more consideration (Universal History : Ch. 21, Stanley G. Cook).

फिर आगे चलकर (पृष्ठ ३३८) लिखा है कि यह तो हो सकता है कि असुर उपासक सम्प्रदाय के विकास में उन्नत विचार वाले बैबिलोनिया के धर्माचार्यों की छाप हो और फारस का मित्र-धर्म भी उसी प्राचीन संस्कृति वाले देश के संदेश-वाहकों के प्रचार का परिणाम हो।[१]

प्राचीन शिनीर या सुमीर को वर्तमान सभ्यता का जनक मानने के लिए इस प्रकार बहुत से विद्वानो ने अनुरोध किया है, उसके मूल मे यही सब कारण हैं। उनके मत से असुर का धर्म पारसियों ने बैबिलोनिया से सीखा। 'Darmesteter' जैसे अवेस्ता के अनुवादक ने तो यहाँ तक कह डाला है - इस धर्म पर ग्रीक, यहूदी और कितने ही धर्मों का प्रभाव है। और Prof Geldner का मत है कि ये गाथाएँ ही सबसे पुरानी है जिन्हें कि 'जरथुस्त्र' का सन्देश कहा जा सकता है। उनके सम्बन्ध मे Darmesteter का मत है कि वे अधिक से अधिक ईसवी पूर्व पहली शताब्दी की है।[२]

किंतु पक्षपातपूर्ण संकीर्ण विचार में कितना सत्य है, नीचे का अवतरण देखने से उसका पता लग जायगा, और यह जरथुस्त्र का धर्म वा सम्प्रदाय कितना प्राचीन है, यह भी आप जान सकगे। जैकब ब्रायण्ट नामी एक सुधी लेखक अपने 'एनालिसिस ऑफ ऐश्येट माईथोलाजी' मे बहुत से प्रामाणिक लेखकों को उद्धृत करता है, जैसे— प्लिनी दि एल्डर, प्लुटार्क, प्लेटो, यूडाक्सस इत्यादि, और वह इस सिद्धान्त पर पहुँचता है कि 'जरथुस्त्र' नाम एक नही अनेक व्यक्तियों का है।

प्लिनी मूसा से कई हजार वर्ष पहले जरथुस्त्र को मानता है। प्लुटार्क उसे ट्राय-युद्ध से ५००० वर्ष पहले का कहता है। यूडाक्सस जरथुस्त्र को प्लेटो की मृत्यु से ६००० वर्ष पूर्व का मानता है। प्लेटो की मृत्यु ३४८ बी० सी० मे हुई।[३]

---

१. It may be therefore that the cult of Ashur was influenced in its development by the doctrines of advanced teachers from Babylonia, and that persian Mithraism was also the product of missionary efforts extended from that great and ancient cultural area (p. 338, Myths of Babylonia).

२. They can hardly be older than the first century before our era or even before Philo of Alaxandria, for the neo-platonic ideas and beings are found in them just in the philonian stage (p. IXV, Vendidad).

३. Jacob Bryant, a very careful writer, and as accurate as the knowledge of his day permitted him to be in his well-known

अब आप विचार कर सकते हैं कि जिस धर्म के आधार पर पवित्र-विज्ञान के आकार का निर्माण प्लेटो ने किया और ग्रीस के जिन प्राचीन दार्शनिकों ने जिस जरथुस्त्र धर्म से बहुत कुछ लिया वह पारसी धर्म उनसे भी पीछे का है; ऐसा मानने में पक्षपात है या नहीं ? ट्राय का युद्ध १३०० या १४०० ईसवी पूर्व का माना जाता है। उससे भी ६००० वर्ष पूर्व अर्थात् ७५०० ईसवी पूर्व में जरत्त्वष्ट्र (प्राचीन-त्वष्टा) का होना, ग्रीक दार्शनिकों और इतिहासकारों ने माना है। मेगास्थनीज के दिए हुए राजवंश-संख्या और समय-निरूपण से भी वही मिलता है, जिसका समर्थन हमारे पुराणों की तालिका करती है। फिर उस समय को क्यों न माना जाय ? यदि त्वष्टा का धार्मिक संघर्ष इतना प्राचीन है तो यह बात स्वयं प्रमाणित हो जाती है कि प्राचीन सुमेरिया, इजिप्ट और बैबिलोनिया आदि में प्राचीन असुर-उपासना का धर्म इन्ही मीडिया में विताड़ित आर्यों के धर्म का प्रतिबिंब है। इन सब देशों मे मित्र-वरुण की उपासना ईरानी धर्म-याजकों के प्रचार के द्वारा प्रचलित हुई। और उनकी सभ्यता से ये सब देश आलोकित हुए। अतः यह Indo-Iranian-Period इससे सात-आठ हजार वर्षों से भी प्राचीन है। इसी काल में सुमेरियन सभ्यता का प्रभात होता है। अब आवश्यक है कि सुमेरिया इत्यादि के संस्कृति-केन्द्र होने की परीक्षा की जाय।

त्वष्टा के अनुयायी वृत्र या अहि का निवास ऋग्वेद में निण्य लिखा है : "वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घ तम आशयदिन्द्रशत्रु." (ऋक्, १-३२-१०)। यह निण्य प्राचीन सुमेरिया का 'निन्न' नामक स्थान है। अवेस्ता के अनुसार भी Azi Dohak अहि Bawri बावेरु (बैबिलोन) मे रहता था। सरमा के उपाख्यान से भी असुर-

analysis of the Ancient Mythology, published in 1807, in which he deals at some length with the subject of Zoroaster, quotes such fairly reliable writers as Pliny the elder, Plutarch, Plato and Eudoxus amongst many others and comes to the conclusion that the name of Zarthusthra or Zerdusht as given by some must have been borne by more than one person and this is possibly correct. It would also account for the tradition that Zarthusthra was accorded immortality as a result of his intimate communications with the creator, Ormuzd. Pliny places him many thousand years before Moses. Plutarch tells us that he lived 5000 years before the death of plato which occurred in 348 B. C.—(p. 11, Zoroaster).

निवास का रसा के उस पार होना प्रमाणित है। सुमेरु प्रदेश से हटाये जा कर असुर संप्रदायवालों ने वरुण की नगरी सुषा (Sussa), इलाम की राजधानी के पास ही के प्रदेश को फिर से सुमेर नाम दिया। और Land of noiri ही आर्य-साहित्य में प्रसिद्ध निरय (असीरिया का ऊपरी प्रदेश) रहा ही तो क्या आश्चर्य है--"असुर्या नाम ते लोका अंधेन तमसावृता:" (ईशोपनिषत् -३)[1]।

छांदोग्य की विरोचन और इंद्र की ज्ञान प्राप्ति वाली कथा का तात्पर्य मनोरंजक है। स्पष्ट है कि देवों के नायक इंद्र आत्मवाद तक पहुँचे किंतु प्रजापति के कहने पर कि 'जलपात्र में देखो'—केवल अपना मुह देखकर असुर नायक विरोचन देहात्मवादी हुए। एवंविध असुर शरीर को मुख्य मानने लगे तथा उनमें मृत शरीर को भिक्षा, अलंकार से सजाकर सुरक्षित रखने की प्रथा चली। ईजिप्ट के ममी निर्माण के मूल में छांदोग्य की इस कथा की छाया है अंततः असीरिया की धार्मिक सभ्यता के संबंध में Myths of Babylonia and Assyria के लेखक को लिखना पड़ा—"संभव है कि असीरिया के धार्मिक संस्कारों का दूसरा उद्‌गम फारस हो, क्योंकि असीरिया के असुर भी ठीक फारस के अहुरमज्द के समान पंखदार चक्र में राजा के ऊपर छाया किये हुए दिखाई देते है। पवित्र वृक्ष भी पारसियों की 'माइथोलोजी' के अनुसार ही असीरिया मे सम्मानित था।[2] यहाँ तक कि प्राचीन असीरिया के राजाओं के नाम भी सेमेटिक नही थे।"

असीरिया की सभ्यता सुमेरिया और बैबिलोन की सभ्यता से पीछे १३००-१४०० बी० सी० की मानी जाती है। इसलिए इन विद्वानों ने उस पर ईरानी

१. इसी मंत्र के उत्तरार्द्ध—"तां स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनः" (३)—के 'आत्महनो जनाः' में असुर्या=असीरिया में जाने वाले मूल असुर जाति के उन जनों की एक सहज परिभाषा भी अनुमेय है—जो इन्द्र के आत्मवाद के विरोधी और वरुणोपासना की प्राचीन परंपरा के कट्टर अनुयायी रहे। आत्मसत्ता के वे प्रतिघ इन्द्रानुयायिनी परंपरा मे-"आत्महनो जना" के रूप में स्मर्तव्य हुए जिनका निवेश असुर्या (असीरिया) विगतार्थ वैचारिक परंपरा के अंधकार से आच्छादित और आत्मवाद के अभिनव आलोक से सर्वथा रहित होने से यहां 'अंधेन तमसावृता.' कहा गया। (सं०)

२. Another possible souree of cultural influence is Persia. The Supreme God Ahura-Mazda (Ormazd) was, as has been indicated, represented, like Ashur, hovering over the King's head, enclosed in a winged disk or wheel, and the sacred tree figured in persian Mythology. (p. 355, Myths of Babylonia).

सभ्यता की छाप मान लेने में कोई बाधा नही देखी। इसके और भी कारण हैं। Dr. Hugo Winkler ने मैत्रायणों (Mittanians) के एक शिलालेख का उद्धार किया है। उसका समय ईसा पूर्व १४वी शताब्दी अनुमान किया जाता है। वह शिलालेख एशिया माइनर, वर्तमान अंगोरा के समीप Bogazkoi मे इंद्र, वरुण, नासत्य आदि आर्य नामों को अपनी छाती मे छिपाये पड़ा था। यही तक नही, इन मैत्रायणों की ही सहकारी एक और जाति हिटाइट (Hittite) थी, जिसने अपनी शूरता से प्राचीन सुमेरिया और बैबिलोनिया के असुर राजाओं को विकंपित कर दिया था। 'Story of Assyria' मे Ragozin लिखते है कि- "चैल्डिया और असीरिया के शिलालेखों मे हिटाइट लोगो का नाम 'खत्ती' लिखा है। इसमे संदेह नही कि यह उल्लेख मेसोपोटामिया मे हिटाइट लोगों के प्राथमिक आक्रमण का प्रमाण है।"[1]

इसी का समर्थन 'Myth of Babylonia' के लेख से देखिए- "मेस्पेरो जैसे प्रामाणिक लोगो की भी सम्मति है कि हत्ती या हिटाइट लोगो का जो उल्लेख बैबिलोनिया की 'बुक ऑफ ओमेनस' नाम की प्राचीन पुस्तक मे है, वह अक्काद (Chaldia) के प्रथम सार्गन के भी पहले का है।"

आगे चलकर उसी लेखक ने लिखा है -"विंकलर विश्वास करते है कि मित्तानी (मैत्रायण) राज्य हट्टी लोगो की पहली लहर के द्वारा स्थापित किया गया था जो पूर्व से आये थे।' इन हिटाइट क्षत्रियो के उपास्यदेवता थे शतक्रतु (Sutekh) और तार्क्ष्य (Torku)। तार्क्ष्य गरुड का वैदिक नाम है।"

इन पाश्चात्य विद्वानो के ही विचार से ये मैत्रायण और खत्ती एक ही जाति के थे। 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' के जाति विभाग के अनुसार भी ये लोग सेमेटिक नही थे।

१. As 'Khatti' is the name invariably given to the Hittites in the chaldean and Assyrian inscriptions, there can be no doubt that this is a record of an early Hittite invasion in Mesopotamia—(p. 34, The story of Assyria).

२. Some authorities including Maspero are of opinion that the inclusions of the Hatti which is found in the Babylonian Book of Omens belong to the earlier age of Sargon of Accad—(p. 264, Myk hs of Babylonia).

३. Winkler believes that Mittani kingdom was first established by early waves of Hatti people who migrated from east (p 268, myths of Babylonia).

परन्तु देखना चाहिये कि उस जाति का असली नाम कितनी चालाकी से छिपाया जाता है। 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' में व्यवहृत विकृत Hittites का प्रचार किया गया है। २८०० ईसा पूर्व यानी 'सार्गन' के पहले भी जो उनका नाम क्षत्रिय (Khatti) था, उसका कहीं प्रयोग नहीं। मेरा अनुमान है कि ये आर्य किसी धर्म-सम्प्रदाय के प्रति उतना आग्रह नहीं रखते थे, जितना अपनी शूरता और विजयों के प्रति! उन्होंने अपना नाम केवल क्षत्रिय ही रखा था।

हीरेनशा (Hearenshaw) अपने संसार के इतिहास (पृष्ठ १९) में लिखते हैं—"सबसे पहले एशिया माइनर की लोहे की खान को खोदने वाले हिटाइट (खत्ती) लोग ही थे। इस लोहे की सभ्यता के आदि आविष्कारक आर्य—क्षत्रिय ही थे[1]।"

'Indian Mythical legend' की भूमिका में लिखा है—"साधारणतः यह मानी हुई बात है कि आर्य लोगो ने ही घोड़े को पहले पालतू बनाया जिसके कारण आगे चलकर बहुत से साम्राज्य बने और बिगड़े[2]।"

मिश्र के इतिहास मे भी आर्यों के द्वारा ही घोड़े के प्रचार का उल्लेख मिलता है (Egyption Myth and Legend--page 264)। Hyksos ने २२०० ईसा पूर्व मे मिश्र देश मे राज्य किया और इन्हीं आक्रमणकारी इक्ष्वाकुओं (Hyksos) ने घोड़े से मिस्र देश को परिचित कराया था। इसके पहले के पिरामिड बनाने वाले राजाओं मे Sonkhkor = शंखकार जैसे आर्यध्वनि वाले नाम मिलते हैं। सुमेरिया की जाति के ही ये प्रागैतिहासिक काल के निवासी माने जाते है। नीलनद की सभ्यता ने पिरामिड बनाने वाले को अधिक से अधिक ४००० से ३००० बी० सी० के बीच मे उत्पन्न किया है। परन्तु सिन्धु की सभ्यता ने (मार्शल के अनुसार) ४००० से ३००० बी० सी० का प्रमाण दे दिया है। इसलिए यह मानने मे कोई बाधा नही है कि 'ओसेरिस' पूजक मिस्र निवासियों की प्रागैतिहासिक काल की सभ्यता भी इन्हीं असुर उपासकों के उस 'विराट् द्वंद्व' का एक अंश मात्र रही।

H. G Wells ने जिस 'Sargon of Accad' को विजेताओं मे सर्वप्रथम

१. Asia Minor was the region where iron mines were first worked and that the Hittites were the people who first conveyed this gift of the Gods to men—(Indian Mythical Legend).

२. It is generally believed that the Aryans were the tamers of the borse which revolutionised warfare in ancient days and caused the great empires to be overthrown and new empires to be formed - (p. XXX, Indian mythical legend).

माना है उसके प्रसिद्ध हम्मूरब्बी के सिंहासनों को कँपाने वाले यही क्षत्रिय थे जिन्हें Hittite कहकर पाश्चात्य शोधकों ने घपले में डाल रखा है। Khatti जाति की सभ्यता ३००० बी० सी० से पहले की है।[1] यहूदियों के सर्व-प्रधान व्यक्ति Abraham ने Ephron खत्ती से भूमि ली थी। अस्तु।

यह मानी हुई बात है कि प्रसिद्ध सार्गन ने चैल्डिया में सेमेटिक वंश की स्थापना की थी। इसके पहले के शासन करने वाले सेमेटिक नहीं थे। सार्गन के पहले भी—३००० ई० पूर्व में—क्षत्रियों की सभ्यता सुदूर पश्चिमी दक्षिणी एशिया मे सूसा से आरमीनिया तक सर्वत्र व्याप्त थी। ये भी आर्यो के समान पितृ-देवों की ही उपासना करते थे, सेमेटिक लोगों के समान मातृ-उपासक नहीं थे।[2]

आरमीनिया के वान प्रदेश के शिलालेखों की भाषा से Dr. Syce ने प्रमाणित कर दिया है कि पूर्वकालिक आर्मीनियम लोग न तो सेमेटिक थे न तूरानी थे, उनका विचार है, और यह विचार प्रतिदिन पुष्ट होता जा रहा है कि वे क्षत्रिय वंश की एक शाखा थे।[3]

आरमीनियन लोग अब तक आर्य जाति के माने जाते है, और उस प्रारम्भिक काल में भी भाषा के विचार से वे सेमेटिक नहीं थे। आर्य-भाषा-भाषियों की विजय का संकेत उस प्राचीन प्रागऐतिहासिक काल मे सुमेरिया और इलाम के लेखों मे देखकर पाश्चात्य लोग आश्चर्य तो प्रकट करते है, परन्तु वहाँ की स्पष्ट आर्य-सत्ता को स्वीकार करने मे उन्हें संकोच होता है।

इन ऊपर के अवतरणों से मुझे यह दिखला देना था कि सुमेरिया और असीरिया, ईजिप्ट तथा बाबुल मे प्रारम्भिक काल से ही आर्य-सस्कृति का प्राधान्य था और वे उन्हीं आर्यो की सन्तान थे, जिन लोगो ने प्राचीन आर्यावर्त्त से देव-असुर द्वंद्व होने के कारण सुदूर देशो मे जाकर अपने लिए घर बनाया और उन देशों मे बसने वाली आदिम जातियों से मिलकर धार्मिक आदान-प्रदान के द्वारा एक नवीन—आर्यो से बिल्कुल स्वतन्त्र-सम्प्रदाय प्रवर्त्तित किया। और, यह भी प्रमाणित करना

१. Myths of Babylonia, (p. 263).

२. Myths of Babylonia, (p. 105).

३. Mr. Syce has conclusively shown from the language of monuments at Van (वाण असुर ?) that the Froto-Armenians were not semites neither were they. Turanians. He thinks and the conclusion is gaining wider and firmer ground that they were a branch of the great Hittite family. (p. 205, The story of the Nations series Assyria).

है कि ये असुरोपासक अपने प्राचीन इतिहास को धीरे-धीरे भूल चले—कुछ तो धार्मिक मतभेद के कारण और कुछ समय के इतने लम्बे अन्तर से। इनके धर्मों के मूल में वही असुरोपासना थी, यद्यपि धीरे-धीरे उसमें अनार्य या सेमेटिक जाति के संसर्ग से अत्यन्त प्राचीन समय में कुछ नयी बातें भी घुस पड़ी थीं; जैसे, स्त्रियों का छाती पीटकर रोना, 'Ailnu Ailnu' कहते हुए चिल्लाना। यह प्रथा असीरिया में प्रचलित थी। सम्भवतः शतपथ (काण्ड ३, प्रपाठक १), में—'तेऽसुरा आत्तवचसः हेऽलवो-हेऽलवो इतिव्वदन्तः पराबभूवुः....अमुर्या हैषा वाग्" (सायण ने लिखा है—'असुर्या असुरेष्वाहिता') इसी का संकेत है। ऐसी ही एक प्रथा बालक-बलि की भी उन लोगों में थी[1]। यह बालक-बलि पूर्णरूप से सेमेटिक पूजा थी। पिछले काल के भारतीय उपाख्यानों मे क्या, ऐतरेय मे ही एक ऐसा प्रसंग आया है—रोहिताश्व की बलि का। यह जानकर आश्चर्य होगा कि उस बलि के द्वारा तर्पणीय देवता भी असुर वरुण ही थे जिसके लिए शुनःशेफ की बलि होती। मालूम पड़ता है, संतानार्थी आज भी जिस प्रकार आसुरी मनौतियाँ करते हैं उसी प्रकार हरिश्चन्द्र भी किसी असुरयाजक के चक्र में पड़ गये थे। किंतु विश्वामित्र ने यह अनार्य और आसुर-कर्म आर्यावर्त्त में न होने दिया और शुनःशेफ की मुक्ति करा दी। बालक प्रह्लाद के वध की किंवदन्ती भी हिरण्यकश्यप असुर से ही सम्बन्ध रखती है।

ऐसे बहुत से अनार्य आचार भी उन असुरों के क्रिया-कलाप में थे, किंतु प्रधान असुर आकाशी वरुण की उपासना तब भी सबसे प्रधान थी।

प्राचीन काल में सुमेरियनों का स्वर्ग भी जल में था। सुमेर लोग दजलाफरात की सन्धि में बसने वाले थे। G. Leonard woolsey का कथन है—

The original home of the Sumerians is unknown. They came from a hill country somewhere in central Asia and so widely spread that kinsfolk of those whom we find later in Mesopotamia were already settled in the north west provinces of India. How they came in Mesopotamia we do not know. Whether they dashed down through Elamite hills or came by sea skirting the eastern shore of Persian gulf as is perhaps more likely." (Universal history of the world, 5—12).

Considering the human sacrifices and especially of children were a standing institution• among other semetic cannanitic races. There can be little doubt that originally in prehistorically remote times this decree was understood literally and acted upon—(p. 124, The Story of Assyria).

इन्द्र उस काल के विरोधी देवनायक थे जब कि त्वष्टा वरुण-संप्रदाय के आचार्य थे और इस द्वंद्व की रंगभूमि आर्यावर्त्त थी। इसके प्रमाण ऋग्वेद और सुमेरियन सभ्यता के पूर्ववर्ती जरथुस्त्र के उद्धरणों में विद्यमान है। पिछले काल तक—मौर्यों के समय में भी—सरस्वती-तट आर्य सीमा मे था, फिर उसके हटने का कारण आर्यों की कोई प्रवृत्ति नही जान पड़ती। क्योंकि, सप्तसिंधु या आर्यावर्त्त से हटकर ही पश्चिम में असुर उपासकों को अपनी सभ्यता का प्रचार करना पड़ा। आर्यावर्त्त तो अपने धर्म के अवांतर भेदों के साथ जहाँ का तहाँ अविचल रहा। यह इन्द्र-वृत्र का युद्ध संसार के प्रागैतिहासिक काल का भले ही हो, परन्तु आर्य जाति का इतिहास है। Indian Myth में इन्द्र के सम्बन्ध मे लिखा है कि इन्द्र अत्यन्त प्राचीन देवता थे, वे प्रस्तर युग में पूजे जाते थे।[1]

सुमेरिया का ई-ओंस असुर वरुण का विकृत रूप है[2]। प्राचीन चैल्डिया मे वही ईरानी उपासना 'अस्सर मआजश' के नाम मे प्रचलित थी। Ea-onnes ठीक वैसे ही Artisan के देव थे जैसे त्वष्टा थे। वरुण और वे फारस की खाडी के देवता थे। वहीं से उन्होंने सुमेरिया मे पदार्पण किया। प्राचीन सुमेरिया मे वे आदि निवासियों को घर बनाना इत्यादि सिखाने के लिए आये थे (Indian Myth)। वरुण के उपासक त्वष्टा के अनुयायियों ने वहाँ पहुँच कर सभ्यता का प्रचार किया— इस विवरण मे तो ऐसा ही प्रतीत होता है। क्योकि, सर जान मार्शल भी वर्त्तमान काल की खोजों से इसी सिद्धांत के समीप पहुँच रहे हैं।[3]

ईजिप्ट की प्राचीन गाथाओं मे एक अत्यन्त प्राचीन देवता 'टाह' की पूजा का

---

१. It is possible that he may have been invoked and propitiated by Neolithic or even by paleolithic flint knippers—(p. 2, Indian Myth).

२. Indian Varun was similarly a sky God as well as an ocean God before systematizing Brahmanic teachers relegated him to a permanent abode at the bottom of sea. It may be that Ea-onnes and Varun were of common origin. (p 31, Myth of Babylonia).

३. The opinion has lately been gaining ground that the cradle of Sumerian and Egyptian civilization is to be sought some where east of Mesopotamia—migrations then undoubtedly were and those on a large scale and nothing is more probable than that the teeming populations of Northern India expanded westward through across the Iranian plateau and northward to the plains of Trans-Caspia—(Sir John Marshell, The Benares Hindu University magazine. 92).

उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि ईजिप्ट मे यह एक आक्रमणकारी जाति के द्वारा ले आये गये और अत्यन्त प्राचीन प्राग्-ऐतिहासिक काल मे वे शिल्पियों के देवता कहकर पूजित हुए।[1]

यह Ptah शब्द त्वष्टा का स्मारक है। सबसे पहले मेम्फिस मे इन्ही का मंदिर बना और ईजिप्ट के यही प्रधान देवता माने गये। Osiris Assor-ah भी मिश्र की असुर उपासना के अंग थे। उनमे चन्द्रमा की वैसी ही शक्ति मानी जाती थी जैसी वरुण मे।[2]

इस प्रकार आर्यावर्त्त से विताडित त्वष्टा और वरुण की साहस्री माया के परशिया, मेसोपोटामिया, बैबिलोनिया, सुमेरिया, असीरिया और ईजिप्ट मे फैलने का प्रमाण ऋग्वेद और अवेस्ता मे मिलता है। बैबिलोनिया का Baal भी ऋग्वेद में वर्णित इन्द्र-शत्रु बल की प्रतिकृति है। बल के जीतने और बलभिद आदि उपाधि धारण करने के प्रायः उल्लेख है। ऋग्वेद मे कहीं-कहीं ऐसा भी ध्वनित होता है कि यह वृत्र का भाई था।[3]

तम्यूज की कथा और उसके मारे जाने का प्रसंग भी असीरिया मे अधिक प्रचलित था। यह तम्यूज भी दानवो का राजा था। ऋग्वेद में वृत्र का एक संकेत 'तमस्' भी है। बैबिलोनिया मे भी दुष्टात्माओं का उच्च देवताओं से युद्ध करने के प्रसंग का उल्लेख मिलता है, जिसमे तम्यूज के मारे जाने का वर्णन है। यह तम्यूज बैबिलोनिया के मृत और पराजित देवता थे, जिनकी पूजा उस सम्प्रदाय के अनुयायी करते थे। उनके यहाँ उसके लिए शोक भी मनाया जाता था। एक प्रकार से यह 'नृम्ण' इन्द्र की विजय की स्वीकृति थी जिसे आसुरी सभ्यता मानती थी।

साराश यह है कि महावीर इन्द्र की विजयों ने प्राचीन आर्यावर्त्त के 'त्रिसप्तक-नद-प्रदेश' से असुर उपासकों को हटा दिया। ईरान मे वह असुर उपासना, 'अहुर-मज्द' धर्म, फूला-फला। यह ऐतिहासिक प्रसंग ७'५०० ईसा पूर्व से भी पहले का है। पिछले काल मे भी मैत्रायण, इक्ष्वाकु और क्षत्रिय जैसी आर्य धर्मानुयायी जातियाँ कभी-कभी उन असुर देशो मे भी अपनी विजय वैजयन्ती उड़ा आती थी।

१. It is possible that Ptah was imported into Egypt by an invading tribe in prehistoric times He was an artisan God according to tradition. Egypt's first temple was erected to Ptah by King Mena -(Egyptian myth and legend Introduction, XII)

२ Egyptian myth की भूमिका।

३. देवी यदि तविषी त्वावृधोतय इन्द्रं सिषक्त्युषस न सूर्यः। यो धृष्णुनाशवसा बाधते तम इयर्ति रेणु वृहदर्हरिष्वणिः —ऋग् १–५६–४ (सं०)

आर्य-सभ्यता के इतिहास का वह प्रारम्भिक अध्याय है, जब इन्द्र ने आत्मवाद का प्रचार किया, जब असुरों पर विजय प्राप्त की और आर्यावर्त्त मे जब साम्राज्य-स्थापन किया ।

'त्रिसप्तक प्रदेश' की बसनेवाली भिन्न-भिन्न आर्य सस्थाओ का, जो अपना स्वतन्त्र शासन करती थी और आपस मे लडती थी, सम्राट् बनकर इद्र ने एक मे व्यूहन किया और वैदिक काल की भरत, तृत्सु, पुरु आदि वीर मण्डलियाँ एक 'इंद्रध्वज' की छाया मे अपनी उन्नति करने लगी । ससार मे इद्र पहले सम्राट् थे । पिछले काल मे असुरो ने उन प्राचीन घटनाओ के सस्मरण से अपना पुराण चाहे विकृत रूप मे बनाया हो परन्तु है वह सत्य इतिहास, आर्यो का ही नही अपितु मनुष्यता का, जब मनुष्य मे आकाशी देवता पर से आस्था हटकर आत्मसत्ता का विश्वास उत्पन्न हुआ ।[1]

---

१. वैदिक वाङ्मय और अन्य देशो की अनुश्रुतियो के आधार पर इस निबध मे प्राचीन आर्यवास और आर्यो के परवर्त्ती उपनिवेशो के सन्दर्भ मे उस मूल वैचारिक द्वद्व का विवेचन हुआ है जो देवासुर-सग्राम से दाशराज्ञ-युद्ध पर्यन्त एक लम्बे सघर्ष मे परिणत हुआ । वह द्वद्व मानव-समाज के प्राय समस्त परवर्त्ती द्वद्वो का प्रजापति बना और चेतना के धरातल पर विभाजन की जो रेखा उसने खीच दी, उसी को खीचते-तानते मानव-समाज वर्गो म बँटता और द्वद्व-बहुल होता गया । उस वैचारिक सघर्ष के आकाशी युद्धो के रूपक मे—आज प्राप्त उल्लेखो से विस्मित होना ठीक नही । अयुतो वर्ष व्यापी उस बहुस्तरीय सघर्ष एव उसके परिणामो की ऐतिहासिक विवेचना अनेक दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है । पुरानी मान्यताओ को दृढता से पकड रखने वाले—असुर कहे जाने वाले—आर्यो के पश्चिमाभिमुखी अभियान के क्रम मे स्थापित हुए उनके नये उपनिवेशो का जो परिशोध इस विवेचना के द्वारा प्रस्तुत हुआ है उसके सहारे अनेक उपलब्धियाँ सभावित है । परवर्त्ती शोधोपलब्धियाँ इस निबन्ध की स्थापना को पुष्ट करती जा रही है और अब, एक आक्रामक जाति के रूप मे आर्यो के यहाँ आने और भारत को उपनिवेश बनाने की मिथ्या धारणा निरस्तप्राय है । डा० केटिल ने कालाहारी अधित्यका (दक्षिणी अफ्रीका) के अपने शोध-सन्दर्भ मे जो यह कहा है कि—'इस विचित्र जंगली प्रदेश मे मनुष्य उत्पन्न हुआ' उसका यह अभिप्राय नही हो सकेगा कि समग्र पृथ्वी पर फैली मानव जाति का वही अग्रजन्मा है ।

पीत जाति की भूमि चीन मे भी प्रागैतिहासिक नर-ककाल पाये गये हैं । मध्यचीन के आन्ह्वेई प्रात का नर कंकाल दो लाख वर्ष पुराना और पीकिंग-

मनुष्य (Beijing man) छः लाख वर्ष पहले का कहा जा रहा है। भूमध्यरेखा के समीप उष्ण-मरु और रूक्ष वायुमण्डल में कृष्णवर्णा जाति और उत्तरीय ध्रुव के समीप शीतप्रधान आर्द्र वातावरण मे पीतवर्णा जाति के उद्भव और प्रसार स्पष्ट है। कुछ दिनों पूर्व Indian Physic Journal 'प्रमाण' मे प्रोफेसर यू० आर० राव ने पृथ्वी पर जीवोत्पत्ति का कारण चुम्बकीय-क्षेत्र को बताया है। निश्चय ही भिन्न शक्ति-तरंग वाले अनेक चुम्बकीय-क्षेत्र इस पृथ्वी पर होंगे और जीवोत्पत्ति मे कारणभूत वस्तुत: वे क्षेत्र नही प्रत्युत उन्हे केन्द्र बनाकर ऊर्जित होने वाले उनकी शक्ति तरंगे है। भिन्न भिन्न तरंगों मे भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवोत्पादन की क्षमता होगी : और, अन्य जीवों मे विलक्षण चेतना-सम्पन्न मनुष्य की उत्पत्ति के मूल मे कुछ विशिष्ट शक्ति-तरग वाले चुम्बकीय-क्षेत्रो का होना आवश्यक है। तब, ऐसा केवल चीन अथवा अफ्रीका मे ही न होगा। पृथ्वी के धरातलीय विपर्यासो ने कब, कहाँ और कैसे-कैसे क्षेत्र-परिवर्त्तन किये और उनका जैव-विकास को कैसा योग मिला यह तो भौतिक विज्ञान का विषय है किंतु अभी तक सामान्य सूचना मे आये तथ्यो का फलयोग कुछ ऐसा ही संकेत देता है।

चीन और अफ्रीका अर्थात पीत और कृष्ण जाति के भू-खण्डों पर मिले नर-कंकालो ने एक और गंभीर प्रश्न यह उपस्थित कर दिया है कि उस मानव जाति का केन्द्र और उसके प्रागैतिहासिक अवशेष कहाँ है जिनका वर्ण श्वेत से ताम्र पर्यन्त भौगोलिक प्रभावो से परिवर्तित अनेक आभासों से रंगीन, हमे आज प्राप्त है : और जो गंगा से नील की घाटी और स्कैंडिनेविया पर्यन्त आज भी पृथ्वी की सर्वाधिक प्रभविष्णु महाजाति अथवा आर्य-जाति है। प्रागैतिहासिक अवशेषो की ऐसी अलभ्यता के कारण आर्यो की प्राचीनता और उनकी मौलिक भूमि के सम्बन्ध मे अनेक भ्रान्त धारणाएं बनती चली आ रही हैं : उसके समाधान का समुचित उपचार इस निबन्ध का मूल्यवान विषय है।

प्रायः तीन वर्ष पूर्व तनजानिया (अफ्रीका) के लेतोली क्षेत्र में डा० मेरी लीके ने कुछ अति प्राचीन मानुष चिह्न पाये है जिनका उल्लेख पश्चिमी-मिशिगन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर द्वारिकेश ने १२ जून १९८२ के टाइम्स आफ इण्डिया में किया है। रेडियो-कार्बन-परीक्षण से वे चिह्न छत्तीस लाख वर्ष पुराने सिद्ध हुए हैं। इस निबन्ध मे कथित मूल द्रविड़भूमि के इन मानुष-चिह्नों का आज उस Shivalik Man के Rama Picthus से जो सम्बन्ध लगाया जा रहा है उससे भी आर्य-द्रविड संघर्ष की भूमि अफ्रीका ही ठहरती है—आर्यावर्त्त किंवा उसका सप्तसिंधु प्रदेश नही। हिमालय के परिसर अथवा मेरु-प्रदेश से

आर्य-मानवों का अफ्रीकी-अभियान दक्षिणी और उत्तरी अफ्रीका के निवासियो के वर्ण की भिन्नता प्रमाणित करती है। इस महाजाति की प्रागैतिहासिक वास्तविकताओं को केवल इस कारण से नकारा नही जा सकता कि उसके वैसे पुरातन अवशेषों का अभाव है। उस सिंधु सभ्यता के अति दूर-पूर्वजों अथवा आर्य-अग्रजन्माओं की प्रागैतिहासिक वस्तुता कहाँ गई ? इस प्रश्न के साथ ही हमें उन प्रलय संबंधिनी अनुश्रुतियों को नहीं भूलना चाहिये जो सभी पश्चिमीय देशों में आर्य-मूल वाली जाति-शाखाओ के स्मृति-संस्कारो मे रक्षित चली आ रही है। उस महाजाति का जब —कामायनी के अनुसार— 'गया सभी कुछ' तब वैसी प्रलयाधीन हो चुकी मानव समष्टि के आदि-कालीन भौतिक अवशेषों का मिलना क्या दुष्कर न होगा ? वह तो अपनी इयत्ता को--'बचाकर बीज रूप से सृष्टि, नाव पर झेल प्रलय का शीत'— (स्कन्दगुप्त-पचम अंक, पचम दृश्य) स्थापित किये है। स्कन्दगुप्त के इसी गीत मे इस महाजाति के इस पश्चिमीय अभियान का भी संकेत स्पष्ट है जहाँ कहा गया है—'अरुण केतन लेकर निज हाथ, वरुण-पथ मे हम बढे अभीत'। मनु ने मानवी सृष्टि अर्थात् मानव-जाति के आर्य भाग की वैवस्वती संतान धारा (ऐक्ष्वाकु अथवा मिश्र या हिक्कोस) के वरुण-पथ किंवा असीरिया, बेबिलोनिया, ईजिप्ट आदि की ओर जाने का संकेत एक प्रागैतिहासिक सत्य है।

हिमालय के Shivalik man का Rama Picthus आज गहन अनुसधान का विषय बनता जा रहा है। ईजिप्ट की प्राचीन अनुश्रुति है कि उनके पूर्वज उस पुण्ट देश से आये थे जहाँ बाघ, चीते, बंदर और लगूर बहुतायत से होते (Historians History of the world) है। यह पुण्ट या पुण्य देश प्राचीन आर्य-वास ही हो सकता है। शिवालिक पहाड़ियो मे ये सभी जन्तु बहुतायत मे होते हैं। अनुश्रुति है कि केसरीनन्दन कपिशूर हनुमान का जन्म मेरु पर हुआ। मेरु-प्रसंग मे केसर-पर्वत का उल्लेख विष्णुपुराण मे हुआ है। संभव है उनके पिता का केसरी नाम मेरुवर्ती केसर-पर्वत से सम्बन्धित और स्थान-वाची हो। आर्यो ने ही अश्वों को आरोहणोपयोगी और एक पालतू पशु बनाया : और, मिश्र मे भी अश्वो का प्रचार आर्यो के द्वारा ही हुआ। फिर, भविष्य पुराण का यह कथन--'सरस्वत्याज्ञया कण्वो मिश्रदेशमुपाययौ (४-२१-१६)' काल्पनिक गाथा नही प्रत्युत एक महत्त्व के ऐतिहासिक तथ्य का प्रकटीकरण है।

इस निबन्ध में वर्त्तमान हरक्वैती को वैदिक सरस्वती कहा गया है जिसके परिसर से काण्व समुदाय मिश्र को गया होगा। काण्वों की मूल-भूमि का वहाँ 'पूर्व के पुण्य देश' के रूप में स्मृति-शेष रहना फिर स्वाभाविक है। आर्यो की

दो शाखाओं चंद्रवंशीय श्वेत और सूर्यवंशीय रक्त वर्णों की एक मिश्र प्रजाति द्वारा अधिकृत होने से उस देश का मिश्र नामकरण सार्थक है। दोनों जातियों में जो परस्पर विग्रह या उच्चावच भाव था उसको वहाँ के प्रथम राजा मेना ने समाप्त किया। अब, देखा जाय कि मिश्र का वह प्रथम शासक मेना क्या आर्य-वंशीय है ? आर्य परंपरा मे प्राय: मातृ नाम से भी संतान सम्बोधित हुआ करते थे, जैसे जबाला का पुत्र जाबालि। व्यक्ति या मानव-समूह के नाम पर स्थानों की संज्ञा होती है। ऐसा सोचा जा सकता है कि मेना (मेनका) पदवाच्य किसी मातृसत्ताक जाति विशेष से सम्बन्धित होने से—हिमालय का एक विशिष्ट अंशभाग होने से -मेनका को हिमालय की पत्नी और उसके वास-पर्वत को हिमालय-पुत्र मैनाक कहा जाता रहा हो। आज भी हिमालय के कुछ भागों में मातृ-सत्तापरक समाज है। फिर, यह भी संभव है कि मिश्र का यह आदि-शासक मेना उसी मैनाक प्रदेशीय जाति की संतान रहा हो। प्रलय में 'गया सभी कुछ' मानकर संतोष करनेवालों की— आर्यों की भावमयी श्रुतियों, अनुश्रुतियों एवं रूपकीय गाथाओं मे उस समृद्ध संस्कृति के अपार्थिव-अवशेष संस्कार-रूप में जीवित है, जो इतिहास की रेखाओं को पुष्ट कर सकते है। अगले लेख 'आदि पुरुष' (कामायनी का आमुख) की यह पंक्ति 'आज के मनुष्य के समीप तो उसकी वर्त्तमान संस्कृति का क्रमपूर्ण इतिहास ही होता है, परन्तु उसके इतिहास की सीमा जहाँ से प्रारंभ होती है ठीक उसी के पहले सामूहिक चेतना की दृढ़ और गहरे रंग की रेखाओं से, बीती हुई और भी बातों का उल्लेख स्मृति-तट पर अंकित रहता है'—इस प्रसंग में ध्यातव्य और मननीय है। प्रतीकों और रूपकों में समाज और उसके इतिहास के तथ्यों को रक्षित रखने की यहाँ परम्परा रही है। अनुश्रुति है कि इन्द्र ने सभी पर्वतों के पंख काट दिये, केवल मैनाक छूट गया। यह भी संभव है कि इंद्र ने किसी अभियान विशेष की अनुमति और उसके लिए अपना प्रश्रय केवल मैनाकों को दिया हो और अन्य लोगों को उससे वारित किया हो। मैनाक को छोडकर शेष पर्वतों के पंख काटने का रूपक-रहस्य इस प्रकार अनुमेय हो सकता है। और, वहीं की मेनका-कुल की संतति ने मिश्र जाने पर भी अपने मातृसत्ताक चिह्न को संजोए रखकर मेना के रूप में उभय आर्य-वर्गों को एकीकृत कर शासन किया हो तो विस्मय क्या ? जैसे 'हिक्सोस' से इक्ष्वाकु का बोध होता है वैसे 'मेना' के मूल मे भी हिमालय की मेनका-संतति हो सकती है। इक्ष्वाकुओं की भी मूल भूमि हिमवंत प्रदेश मे थी; इस प्रदेश- हिमानीपाद (शिवालिक)— से अपनी देव-कल्पनाओं और अपने आध्यात्मिक विचारों के साथ लोग गये। नामों का

सादृश्य और मान्यताओं का सादृश्य भी स्पष्ट है। यहाँ के प्रमुख धर्म-यौजक 'मनेथो' का नाम भी कुछ ऐसा ही सादृश्य रखता है। एक देवता सत्ती का भी उल्लेख पाया जाता है जो वहाँ एक कबीले से संबंधित है। Flinders Petric ने सत्ती को वहाँ लाये गये विदेशीय देवताओ की कोटि मे रखा है—(Encyc. of Rel and Ethics, Vol 5, Page 250)। वह देवराज्ञी मानी जाती थी। मेना मे मेनका किंवा उसकी आत्मजा पार्वती-धारा के समानातर सती-धारा का भी वहाँ विद्यमान रहना सभव है, भले ही सती एक छोटे समूह द्वारा ही आराधित रही हो। यदि उसके देवराज्ञी-भाव को ही प्रमुख माना जाय तो शची का परिवर्त्तित रूप भी सती हो सकता है : किंतु, प्रत्येक दशा मे इस देवता की आर्यस्रोतृता स्पष्ट है।

इधर मध्य-प्रदेश के प्राय: ६००-७०० के वर्गमील के क्षेत्र मे बिखरी अनेक शैल-गुहाये और उनकी प्रस्तर-भित्तियो पर बने चित्र आज शोध करने वालों को अपनी रेखाओ मे कुछ प्रागैतिहासिक कथा बता रहे है। शीत, आतप और वर्षा से रक्षा करने वाली गुहा अनन-प्रभु की गोद कही गयी है—

थी अनंत की गोद सदृश विस्तृत गुहा वहाँ रमणीय
उनमें मनु ने स्थान बनाया सुदर स्वच्छ और वरणीय

फिर, उसकी संतति मानव मे अपने गुहा-निकेतों को निरतर परिष्कृत और सज्जित करते जाने की प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक है।—गुहामानव निरा जंगली नही रहा, उसकी सभ्यता के सतत विकास का प्रमाण सवेदनों के समस्वर बिबो को संजोने वाले भावबोध की अभिव्यक्ति की चेष्टा मे उरेही गयी ऐसी आकृतियो मे रक्षित है। वैसे ही कुछ उरेही आकृतियाँ मध्यप्रदेश के पहाडगढ गुहा मे पाई गई है। वहाँ अकित एक ऐसा पशु जीवशास्त्रियों के सम्मुख पहेली बना है जिसकी आधी देह मृग की और आधी वृषभ की है। उस चित्र को बनाने वाले ने पृथ्वी पर संचरित किसी ऐसे प्राणी को निश्चय देखा सुना होगा। एक अन्य चित्र मे रथ का अकन है जो अपने अगली पहियों के छोटे होने के कारण अवश्य ही किसी तीव्रगामी और युद्धोपयोगी रथ की प्रतिच्छवि है। रेडियोकार्बन परीक्षण के द्वारा ये अंकन पच्चीस हजार वर्ष पुराने सिद्ध हुए है। तब, आर्य्य सभ्यता का इस भूमि पर इसके पर्याप्त पूर्व से विकास रहा होगा। क्योकि यह निर्विवाद है कि घोड़ों का बाहन के रूप मे प्रयोग आर्यो द्वारा ही आरम्भ किया गया है। पश्चिम मे उस ईजिप्ट तक—जहाँ का प्रथम शासक मेना था—इस पशु का आर्यो के द्वारा ले जाया जाना सिद्ध हो चुका है। ऋग्वेद मे अश्व-पर्याय के रूप मे भी मेना का उल्लेख है।

फिर, इस भूमि पर पच्चीस हजार वर्ष अथवा इससे पहले या बाद किसी अनार्य जाति के निवास और उस जाति पर कहीं बाहर से आकर आर्यों का आक्रमण मानना कथमपि संगत नही। सुतराम् इस निबन्ध में प्राचीन आर्य-वास कहीं अन्यत्र नही माना गया, प्रत्युत स्कंदगुप्त नाटक के एक गीत में भी इस निबंध के लेखक द्वारा कहा गया है—'कही से हम आये थे नहीं, हमारी जन्मभूमि थी यही' (पंचम अंक, पंचम दृश्य)। श्रेय अथवा सत्यज्ञान ही संकल्पात्मक अनुभूति के रूप में कवि में उपस्थित होता है जिसकी अभिव्यक्ति ही काव्य है (द्रष्टव्य —काव्य और कला)। और काव्य केवल छंदों में ही नही बमता : दृष्ट किंवा अनुभूतसत्य का कवन अर्थात् संक्षेपण और उसका शब्दात्मक संप्रेषण या उसकी अभिव्यक्ति अपने किसी भी रूप में काव्य पदावाच्य ही है।

आर्य-वास संबंधिनी इस स्थापना के पक्ष में अनेक साक्ष्यों में से यह एक उदाहरण के रूप में है। हिमानीपाद 'शिवालिक' के निवासी मानव की पश्चिम यात्रा असीरया-बेबिलोनिया होकर ही अफ्रीका तक हुई होगी और उस परंपरा में क्षत्रियों (खत्तो) कुशिकों (कुसाइट्स) और मैत्रायणों (मित्तानियन्स) के परवर्त्ती अभियान रहे होंगे जिनका उल्लेख इस निबंध मे सप्रमाण आया है।

आज किसी अज्ञात संकोचवश आर्य के स्थान पर 'शिवालिक मानव' कहकर उनके जिस पश्चिमाभिमुखी अभियान को Rama Picthus की संज्ञा दी जा रही है--उस अभियान के अध्ययन के पर्याप्त संकेत इस निबंध में हैं। आवश्यकता केवल थोपी गई पश्चिमीय मान्यताओं की धूल झाड़कर एक निरपेक्ष अन्वेषण की है। 'कामायनी' में हिमालय के भौतिक आयतन की जो भावात्मक उपमा -'मानों तुंग तरंग विश्व की, हिमगिरि की वह सुढर उठान''— दी गई है उसकी लाक्षणिकता भी इस प्रसंग मे ध्यातव्य होगी।

अपने प्राचीन आर्य-वास से निकल कर इस महाप्राण जाति ने मध्य-एशिया-- श्वेत रूस से स्पेन पर्यंत पश्चिम में और उत्तर में स्कैंडिनेविया से दक्षिण में उत्तरी अफ्रीका तक अपनी मानवता का विस्तार किया है। चंद्रगुप्त में कार्नेलिया के उस कथन की अपने सामान्यार्थ के अतिरिक्त कुछ विशेष अर्थवत्ता है, जहाँ यह कहती है--'अन्य देश मनुष्यो की जन्मभूमि है, यह भारत मानवता की जन्मभूमि है'। (तृतीय अंक-द्वितीय दृश्य)। कदाचित् मनुष्य और मानव में व्यंजना की विलक्षणता से कुछ अर्थभेद भी है। विभिन्न-भू भागों की कृष्ण-पीत जातियाँ मनुष्य तो हैं किन्तु मानव नहीं। उन्हें मानवीय संस्कार अभी वांछित हैं- वे मानवीकरण के योग्य है :

इसी अभिप्राय से ऋचा-निर्दिष्ट 'कृणुध्वं विश्वामार्यम्' की भावना लेकर आर्य-मानवों के अन्य-क्षेत्रीय संचार हुए। उन विभिन्न देशों में बसने वाली जातियों के आनुपूर्वी इतिहास, उनकी सामाजिक परंपराओं, धार्मिक मान्यताओं का अतीत एकायन-प्राय है। अवश्य अपनी इयत्ताओं में उन्होंने अपने पृथक् व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित किया है किंतु भिन्न देशीय वातावरण के संस्कारों की परतें उधरने पर मौलिक आर्य-स्फुलिंग स्पष्ट हो जाते हैं और वैदिक संकल्प 'कृणुध्व विश्वमार्यम्' के अनेक चरणों की सिद्धि अपनी साकारता में प्रत्यक्ष होती है।

इस निबन्ध मे विवेचित त्रिसप्तक और उसकी नदियों की भौगोलिक अवस्थिति के प्रसंग मे -बिहिस्तून, नक्शेरुस्तम और पर्सिपोलिस मे प्राप्त ईसा पूर्व ५२२-४८६ के दारयवहुष तथा क्षयार्ष (साखामनीष=हखामनी) राजाओं द्वारा उत्कीर्ण कराए गए स्तम्भ लेख अवलोक्य हैं जहाँ सरयू (हरेव:) और सरस्वती (हरह्वती) के उल्लेख है अर्थात प्रागैतिहासिक काल के ये वैदिक नदी-नाम इतिहास के ज्ञात काल के आरम्भ तक जाग्रत रहे (अवलोक्य-सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स भाग १, कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा १९४२ मे प्रकाशित)

—रत्नशंकर प्रसाद



आदि पुरुष

(कामायनी का आमुख)

आर्य साहित्य मे मानवों के आदि पुरुष मनु का इतिहास वेदो से लेकर पुराण और इतिहासो मे बिखरा हुआ मिलता है। श्रद्धा और मनु के सहयोग से मानवता के विकास की कथा को, रूपक के आवरण मे, चाहे पिछले काल मे मान लेने का वैसा ही प्रयत्न हुआ हो जैसा कि सभी वैदिक इतिहासो के साथ निरुक्त के द्वारा किया गया, किन्तु मन्वन्तर के अर्थात् मानवता के नवयुग के प्रवर्त्तक के रूप में मनु की कथा आर्यो की अनुश्रुति मे दृढता से मानी गयी है। इसलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है।

प्राय लोग गाथा और इतिहास मे मिथ्या और सत्य का व्यवधान मानते हैं; किन्तु सत्य मिथ्या से अधिक विचित्र होता है। आदिम युग के मनुष्यों के प्रत्येक दल ने ज्ञानोन्मेष के अरुणोदय मे जो भावपूर्ण इतिवृत्त सग्रहीत किये थे, उन्हें आज गाथा या पौराणिक उपाख्यान कहकर अलग कर दिया जाता है, क्योंकि उन चरित्रों के साथ भावनाओ का भी बीच-बीच मे सम्बन्ध लगा हुआ-सा दीखता है। घटनाएँ कहीं-कही अतिरंजित-सी भी जान पडती है। तथ्य-संग्रहकारणी तर्क-बुद्धि को ऐसी घटनाओ मे रूपक का आरोप कर लेने की सुविधा हो जाती है। किंतु उनमें भी कुछ सत्यांश घटना से संबद्ध है ऐसा तो मानना ही पडेगा। आज के मनुष्य के समीप तो उसकी वर्त्तमान संस्कृति का क्रमपूर्ण इतिहास ही होता है; परन्तु उसके इतिहास की सीमा जहाँ से प्रारम्भ होती है ठीक उसी के पहले सामूहिक चेतना की दृढ़ और गहरे रंगो की रेखाओ से, बीती हुई और भी पहले की बातों का उल्लेख स्मृति-पट पर अमिट रहता है, परन्तु कुछ अति-रंजित-सा। वे घटनाएँ आज विचित्रता से पूर्ण जान पडती है। सम्भवत इसीलिए हमको अपनी प्राचीन श्रुतियों का निरुक्त के द्वारा अर्थ करना पड़ा, जिससे कि उन अर्थों का अपनी वर्त्तमान रुचि से सामंजस्य किया जाय।

यदि श्रद्धा और मनु अर्थात मनन के सहयोग मे मानवता का विकास रूपक है, तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है। आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते है। तब भी, उसके तिथिक्रम मात्र से सतुष्ट न होकर, मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के द्वारा इतिहास

की घटना के भीतर कुछ देखना चाहते हैं। उसके मूल में क्या रहस्य है ? आत्मा की अनुभूति ! हाँ, उसी भाव के रूप-ग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बन कर, प्रत्यक्ष होती है। फिर, वे सत्य घटनाएँ स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभाव मे परिणत हो जाती हैं। किन्तु, सूक्ष्म अनुभूति या भाव, चिरंतन सत्य के रूप मे प्रतिष्ठित रहता है, जिसके द्वारा युग-युग के पुरुषों की और पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति होती रहती है।

जल-प्लावन भारतीय इतिहास में एक ऐसी ही प्राचीन घटना है, जिसने मनु को देवों से विलक्षण, मानवों की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया। वह इतिहास ही है। **'मनवे वै प्रातः'** इत्यादि से इस घटना का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण के आठवे अध्याय मे मिलता है। देवगण के उच्छृङ्खल स्वभाव, निर्बाध आत्मतुष्टि मे अन्तिम अध्याय लगा और मानवीय भाव अर्थात् श्रद्धा और मनन का समन्वय होकर प्राणी को एक नये युग की सूचना मिली। इस मन्वन्तर के प्रवर्त्तक मनु हुए। **मनु, भारतीय इतिहास के आदि पुरुष हैं। राम, कृष्ण और बुद्ध इन्हीं के वंशज हैं।** शतपथ ब्राह्मण मे उन्हे श्रद्धादेव कहा गया है, 'श्रद्धादेवो वै मनुः' (का० प्र० १) भागवत मे इन्ही वैवस्वत मनु और श्रद्धा से मानवीय सृष्टि का प्रारंभ माना गया है।

"ततो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञायामास भारत
श्रद्धाया जनयामास दश पुत्रान् स आत्मवान्।" (९-१-११)

छादोग्य उपनिषद् मे मनु और श्रद्धा की भावमूलक व्याख्या भी मिलती है। 'यदा वै श्रद्धधाति अथ मनुते नाऽश्रद्धधन् मनुते' यह कुछ निरुक्त की-सी व्याख्या है। ऋग्वेद मे श्रद्धा और मनु दोनो का नाम ऋषियो की तरह मिलता है। श्रद्धा वाले सूक्त मे सायण ने श्रद्धा का परिचय देते हुए लिखा है, 'कामगोत्रजा श्रद्धानामर्षिका।' श्रद्धा कामगोत्र की बालिका है, इसलिए श्रद्धा नाम के साथ उसे कामायनी भी कहा जाता हे। मनु, प्रथम पथ-प्रदर्शक और अग्निहोत्र प्रज्वलित करने वाले तथा अन्य कई वैदिक कथाओ के नायक है : –मनुर्हवा अग्रे यज्ञेनेजे यदनुकृत्येमाः प्रजा यजन्ते (५-१ शतपथ)। इनके सम्बन्ध मे वैदिक साहित्य मे बहुत-सी बाते बिखरी हुई मिलती है, किंतु उनका क्रम स्पष्ट नही है। जल-प्लावन का वर्णन शतपथ ब्राह्मण के आठवे अध्याय से आरम्भ होता है, जिसमे उनकी नाव के उत्तरगिरि हिमवान प्रदेश मे पहुँचने का प्रसंग है। वहाँ ओध के जल का अवतरण होने पर मनु भी जिस स्थान पर उतरे उसे 'मनोरवसर्पण' कहते है ! 'अपीपरं वै त्वा, वृक्षे नावं प्रतिबध्नीष्व, तं तु त्वा मा गिरौ सन्तमुदकमन्तश्चैत्सीद् यावद् यावदुदकं समवायात्– तावत् तावदन्ववसर्पासि इति स ह तावत तावदेवान्ववसर्प। तदप्येतदुत्तरस्य गिरेर्मनोरवसर्पणमिति। (८-१)

श्रद्धा के साथ मनु का मिलन होने के बाद उसी निर्जन प्रदेश में उजडी हुई सृष्टि को फिर से आरम्भ करने का प्रयत्न हुआ। किंतु असुर पुरोहित के मिल जाने से इन्होंने पशु-बलि की 'किलाताकुली—इति हासुर ब्रह्मावासतुः। तौ होचतु श्रद्धादेवो वै मनुः—आवं नु वेदावेति। तौ हागत्योचतुः—मनो बाजयाव त्वेति।'

इस यज्ञ के बाद मनु मे जो पूर्व परिचित देव-प्रवृत्ति जाग उठी - उसने इड़ा के संपर्क में आने पर उन्हें श्रद्धा के अतिरिक्त एक दूसरी ओर प्रेरित किया। इड़ा के सम्बन्ध में शतपथ में कहा गया है कि उसकी उत्पत्ति या पुष्टि पाक यज्ञ से हुई और उस पूर्ण योषिता को देखकर मनु ने पूछा कि 'तुम कौन हो?' इड़ा ने कहा, 'तुम्हारी दुहिता हूँ।' मनु ने पूछा कि 'मेरी दुहिता कैसे?' उसने कहा, 'तुम्हारे दही, घी इत्यादि के हवियों से ही मेरा पोषण हुआ है।' 'ता ह मनुरुवाच—'का असि?' इति। 'तव दुहिता' इति। 'कथं भगवती? मम दुहिता'? इति। (शतपथ ६ प्रपाठक ३ ब्राह्मण)।

इड़ा के लिए मनु को अत्यधिक आकर्षण हुआ और श्रद्धा से वे कुछ खिंचे। ऋग्वेद में इड़ा का कई जगह उल्लेख मिलता है। यह प्रजापति मनु की पथ-प्रदर्शिका मनुष्यों का शासन करने वाली कही गयी है। "इड़ामकृण्वन्मनुषस्य शासनीम्" (१-३१-११ ऋग्वेद)। इड़ा के सम्बन्ध में ऋग्वेद में कई मंत्र मिलते है। सरस्वती साधयन्ती धियं न इड़ा देवी भारती विश्वतूर्त्तिः तिस्रो देवीः स्वधयार्वर्हिरेदमच्छिद्रं पान्तु शरणं निषद्य।" (ऋग्वेद २-३-८) "आनो यज्ञं भारती तूय मेत्विड़ा मनुष्वदिह चेतयन्ती। तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु।" (ऋग्वेद १०-११०-८) इन मन्त्रों में मध्यमा, वैखरी और पश्यन्ती की प्रतिनिधि भारती, सरस्वती के साथ इड़ा का नाम आया है। लौकिक संस्कृत मे इडा शब्द पृथ्वी अर्थात् बुद्धि, वाणी आदि का पर्यायवाची है—"गो भू वाचस्त्विड़ा इला"—(अमर)। इस इड़ा या वाक् के साथ मनु या मन के एक और विवाद का शतपथ में उल्लेख मिलता है जिसमें दोनों अपने महत्व के लिए झगड़ते है "अथानो मनसश्च" इत्यादि (४ अध्याय ५ ब्राह्मण)। ऋग्वेद में इड़ा को धी, बुद्धि का साधन करने वाली, मनुष्य को चेतना प्रदान करने वाली कहा है। पिछले काल में संभवतः इड़ा को पृथ्वी आदि से सम्बद्ध कर दिया गया हो, किंतु ऋग्वेद ५-५-८ में इड़ा और सरस्वती के साथ मही का अलग उल्लेख स्पष्ट है। "इड़ा सरस्वती मही तिस्रो देवी मयोभुवः" से मालूम पड़ता है कि मही से इड़ा भिन्न है। इड़ा को मेधसावाहिनी नाड़ी भी कहा गया है।

अनुमान किया जा सकता है कि बुद्धि का विकास, राज्य-स्थापना इत्यादि इड़ा के प्रभाव से ही मनु ने किया। फिर तो इड़ा पर भी अधिकार करने की चेष्टा के कारण मनु को देवगण का कोपभाजन होना पड़ा। "तद्वै देवानां आग आस" (७-४ शतपथ)। इस अपराध के कारण उन्हें दण्ड भोगना पडा 'तं रुद्रोऽभ्यावत्य विव्याध'

(७-४ शतपथ)। इड़ा देवताओं की स्वसा थी। मनुष्यों को चेतना प्रदान करने वाली थी। इसीलिए यज्ञों मे इड़ा-कर्म होता है। यह इड़ा का बुद्धिवाद श्रद्धा और मनु के बीच व्यवधान बनाने में सहायक होता है। फिर बुद्धिवाद के विकास में अधिक सुख की खोज में, दुःख मिलना स्वाभाविक है। यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास मे रूपक का भी अद्‌भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए—सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नही। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का संबन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है। 'श्रद्धां हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु' (ऋग्वेद १०-१५१-४)। इन्ही सबके आधार पर 'कामायनी' की कथा-सृष्टि हुई है। हाँ, 'कामायनी' की कथा-शृंखला मिलाने के लिए कही-कहीं थोडी-बहुत कल्पना को भी काम में ले आने का अधिकार, मैं नही छोड सका हूँ।

परिशिष्ट



- हाशिये की टिप्पणियाँ
- व्यक्तित्व एवम् कृतित्व सारिणी
- वंश विवरण

हाशिये की टिप्पणियाँ

श्री द्विजेन्द्रलाल राय की कालिदास और भवभूति नामक पुस्तक के हिन्दी अनुवाद (मई १९२१ में प्रकाशित) के कुछ पृष्ठों पर अधोलिखित टिप्पणियाँ हैं। किसी अन्य पुस्तक पर पूज्य पिता श्री ने कोई टिप्पणी नहीं लिखी है, इसलिए भी इनका विशेष महत्त्व है।

जहाँ, श्री राय शेक्सपीयर के द्वारा प्रस्तुत चरित्र-संरचना के सन्दर्भ में कालिदास के चरित्रों पर तुलनात्मक-प्राय विचार करते हैं वहाँ (पृष्ठ २२ पर) टिप्पणी है— **"शेक्सपीयर के पात्र बलवती वासनाओं के मानव रूप हैं। कालिदास के पात्र मनुष्य हैं, उनकी वासनाओं का उन्हीं में अवसान है।"**

पृष्ठ ६१ की टिप्पणी है—**"स्त्री का प्रकृत रूप और वास्तविक सत्ता जिसके आगे पुरुष को सिर झुकाना पड़ेगा ही—वह क्या है? गोद में बालक लिए स्त्री।"** कामायनी में श्रद्धा, मनु और मानव के प्रसंगों के उपचार में ऐसी ही दृष्टि है।

दुष्यन्त और शकुन्तला के पुनर्मिलन में भरत के पहले आने के प्रसंग पर पृष्ठ ६३ की टिप्पणी है—**"मिलन का आरम्भ भरत से कराया है, यह भी स्नेह का वर्द्धन है।"**

शाकुन्तल के तृतीय अंक में शकुन्तला की ओर से दुष्यन्त के प्रति प्रणय-निवेदन को श्री राय उचित नहीं मानते और उसे कुलटा का लक्षण तक कह देते हैं और, मिरांडा के द्वारा फर्डिनांड के प्रति उद्गार को प्रणय की भिक्षा नहीं प्रत्युत दान मानते हैं। पृष्ठ ७० के इस प्रसंग पर टिप्पणी है—**"उदार द्विजेन्द्र यहाँ गरम हो गए हैं। पाश्चात्य सभ्यता की दुहाई देकर उन्होंने यही कहा है कि स्त्री को प्रेम-याचना का अधिकार नहीं, यदि करे तो निर्लज्ज है।"** इस टिप्पणी के सन्दर्भ में 'काव्य और कला' निबन्ध के पाँचवें अनुच्छेद मे दार्शनिक संस्कृति से रुचिभेद का उल्लेख करते कहा गया है—**"पुरुष सर्वथा निर्लिप्त और स्वतन्त्र है। प्रकृति या माया उसे प्रवृत्ति या आवरण में लाने की चेष्टा करती है; इसलिए आसक्ति का आरोपण स्त्री में ही है। स्त्रीत्व में प्रवृत्ति के कारण नैसर्गिक आकर्षण मानकर उसे प्रार्थिनी बनाया गया है।"**

मेघदूत के प्रसग मे श्री राय के कथन—'किन्तु मेघदूत मे तो वे प्रेम का सयत अनुराग दिखा सकते थे। मगर उन्होने वह नही दिखाया।' इस पर टिप्पणी है—**"संयत अनुराग दक्षिण नायक की प्रेयसी का कितना बड़ा साक्ष्य है यह आप नहीं समझ सके।"**

पूर्व और पश्चिम के प्रेम और काम सम्बन्धी विचार पर श्री राय की मीमासा के उत्तर मे पृष्ठ ७१ की टिप्पणी है—"Shelly Etc **उस देश में हुए जहाँ सम्बन्ध और काम अभिन्न थे। पुरुष भी प्रेम का प्रतिदान करने को उतना ही बाध्य था जितनी स्त्री।"**

श्री द्विजेन्द्र जहाँ शकुन्तला के व्यवहार को किसी तापसी के अयोग्य समझकर कुत्सा करते है (पृष्ठ–८३) उस पर टिप्पणी है **"जो चरित्र मानव समाज की गति के अनुरूप होगा वही शिक्षा दे सकेगा—शकुन्तला और दुष्यन्त सा पतन और उत्थान सामाजिकता का आधार स्तम्भ है।"**

सतेज नहीं हुआ—चटकीला नहीं रहा—इससे चमत्कार नहीं है—क्यों? पृष्ठ–९० की यह टिप्पणी, सीता-निर्वासन के प्रसग मे है। वाल्मीकि और भवभूति की सीता के विश्लेषण मे है। श्री द्विजेन्द्र ने भवभूति की सीता के विषय मे कहा है "राम के दिए हुए निर्वासन-दण्ड को सीता ने किस भाव से ग्रहण किया यह भवभूति ने बिल्कुल ही नही दिखलाया।" उस टिप्पणी के अन्त का 'क्यो' अर्थगर्भित है कदाचित यहाँ वक्रोक्ति भी है। इसी क्रम मे पृष्ठ ९९ पर जहाँ श्री द्विजेन्द्र ने शकुन्तला को एक सजीव नारी और सीता को पाषाणी प्रतिमा कहा, शकुन्तला को एक चरित्र और सीता को एक धारणा मानते कहा है कि 'निर्वासन सत्य भी उनके अटल प्रेम को वेध नही सका, निष्ठुरता उस प्रेम को डिगा नही सकी। किन्तु उस प्रेम ने कोई कार्य नहीं किया, वह प्रेम ज्योत्सना की तरह गतिहीन है, सूरजमुखी की तरह पर-मुखापेक्षी है, विरह की तरह करुण है और हसी की तरह सुन्दर है। भवभूति ने नाटक का विषय चुना चरम। किन्तु वह विषय इतना उच्च है कि कवि की कल्पना वहाँ तक नहीं पहुँचती।' इस प्रसग मे एक छोटी सी टिप्पणी है—**"क्योंकि अन्तर्विरोध नही है।"** वह हो भी नही सकता क्योकि सीता मे अद्वयी भाव की सिद्धि है, वह राममयी है। सीता की ऐसी सात्विक सम्वर्धना के बाद भी सीता के प्रेम ने कोई कार्य नही किया यह कहकर श्री द्विजेन्द्र राम के समूचे कृतित्व को नकार देते है। इसका यही कारण है कि वे सामान्य नाट्यभूमि के और उस कौशल के अभ्यस्त है—अन्तर्विरोध जिसका प्राण है- और, उसी का वहाँ अभाव है।

उत्तर रामचरित के पात्रो को गिनाते श्री द्विजेन्द्र ने किसी मे नाट्योपयोगी चरित्र-विकास का अभाव बताया है। वहाँ टिप्पणी है (पृष्ठ–१०२)—**"सीता ही**

लक्ष्य है, राम की निन्दा तो लव के मुख से भी कराई गई है। राम निकषोपल है सीता कनक रेखा—"। अर्थात राम के निकषपर सीता सदैव कसी गई, उसी पर परीक्षित की गई। सर्वस्व समर्पण करने वाली हतभागिनी नारी में समस्त दोष एकायन मान बैठने की प्रवृत्ति समाज में हजारों वर्षो से रूढ़ हो गई थी। इधर इन टिप्पणियों के लेखक 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' के व्यायक रहे। राम को निकषोपल और सीता को कनकरेखा के वाचन का व्यग्य दूर तक जाता है जिसका विवेचन यहाँ नहीं करना है। किन्तु, सीता पर नाटक लिखने का आग्रह कदाचित इन्ही कारणों से उन्हे स्वीकार न हुआ। हिमाशुराय सीता पर एक उच्च-कोटि की फिल्म बनाना चाहते थे। इस पर मुंशी प्रेमचन्द से उनकी बात हुई। मुंशीजी ने बम्बई से १–१०–१९३४ को लिखा था कि 'अगर आप सीता पर कोई फिल्म लिखना चाहे तो मैं हिमाशुराय से जिक्र करूँ। मेरे ख्याल मे सीता का जितना सुन्दर चित्र आप खींच सकते है दूसरा नही खीच सकता (अवलोक्य—प्रसाद के नाम पत्र, पृष्ठ–६३)। "नारी नरकस्य द्वारं" मानने वाले समाज मे यदि वे 'सीता' पर कुछ लिखते तो भारी हंगामा होता जिसकी उन्होने सदैव उपेक्षा की।

अन्तर्विरोध के प्रसंग मे श्री द्विजेन्द्र के मत से वे सहमत थे। पृष्ठ १०७ पर टिप्पणी है **"अन्तर्विरोध से वाह्य युद्ध का प्रादुर्भाव है किन्तु वाह्य युद्ध का शीघ्र अवसान होता है—कवि के ईप्सित को शीघ्र समीप लाता है और अन्तर्युद्ध का अवसान नहीं, इसी कारण जय-पराजय दिखाना वा समझौता कराना कवि का उद्देश्य होगा, केवल द्वन्द चला रखने से कभी छुट्टी नहीं।"**



व्यक्तित्व एवं कृतित्व सारिणी

वैक्रमाब्द	वयस	व्यक्तित्व पक्ष	पारिवारिक पक्ष
१९४६	०	आविर्भाव पाँचवे मास मे अन्नप्राशन के समय अन्य वस्तुओ को छोड कलम उठा लेना।	आनन्दमङ्गल
१९४९	३	संगमर्मर के धवल नन्दी से खेलना	केदारक्षेत्र; काशी:, विन्ध्यक्षेत्र, और महाकाली : कलकत्ता में सात वर्ष के वय तक चूड़ा-कर्म।
१९५१ श्रीपंचमी	५	बाबा शैवध्वज के द्वारा अक्षरारम्भ। ततः मास्टर मोहिनीलाल 'रसमयसिद्ध' की घरेलू पाठशाला मे हिन्दी और काव्यशास्त्र की शिक्षा। 'रसमयसिद्ध' की अनेक साहित्यिक कृतियों में 'सिद्धमनोरंजन' का प्रभाव की दृष्टि से महत्व। मानवीय वृत्तियों—काम-क्रोधादि का उसमें रूपकात्मक चित्रण है। इस बीज का पल्लवन कामना नाटक में हुआ। जिसका वृहत्तम परिप्रेक्ष्य लिए कामायनी में विकास हुआ। प्रबोध चन्द्रोदय और संकल्प सूर्योदय का अध्ययन इस दिशा के संकेत में सहकारी हुआ। अन्य कृतियों मे छनती-छनती कैसे एक घनीभूत प्रस्तुति कामायनी में साराशतः हुई यह विचार्य है : और, समस्त प्रसाद	

साहित्य अपने भिन्न कृतियों के कलेवर में–कृतित्व के चिन्तन और विचार की दृष्टि से—एक ही महासंहिता है : जिसके अन्तराल मे पूर्वापर एवम् ...ास्कारिक अभिन्न संबंध अनुस्यूत है। उसी पाठशाला मे आठ वर्ष की अवस्था मे रचित छन्द– हारे सुरेस, रमेस, धनेस, गनेसहू सेस न पावत पारे, पारे हे कोटिक पातकी पुज 'कलाधर' ताहि छिनो लिखि तारे, तारेन की गिनती सम नाहि सु जेते तरे प्रभु पापी बिचारे, चारे चलै न विरचिहू के जो दयालु ह्वै शंकर नैकु निहारै।' इसी के समस्वर— 'चित्राधार'—'तुव चरनन मे लोटि जगत क सीस पाँव दै रहि हौं—' किन्तु, उपास्य-उपासक का भेद विगलनोन्मुख है और एक दिन वे कह देते है I feel I doct(-)= require it now 'पूर्वपक्षतया येन विश्वमाभास्य भेदतः। अभेदोत्तर पक्षान्तं नीयते तंस्तुमः शिवम्॥' अभेद सिद्धि मे घोरावस्था से अघोरावस्था के बिन्दु पर पहुचने पर ही 'तुम सब हो मेरे अवयव जिसमे कुछ नही कमी है' की दशा कामायनी मे आई क्वीस कालेजिएट स्कूल में। कक्षा ६ के बाद पारिवारिक-विग्रह-वश १९०२ मे स्कूल छूटा। रामगोपाल

वैक्रमाब्द	वयस	व्यक्तित्व पक्ष	पारिवारिक पक्ष
		बाबा द्वारा संस्कृत के आर्षग्रन्थों की शिक्षा और विभिन्न ग्रन्थ-विशेषज्ञों द्वारा संस्कृत-वाङ्मय के शास्त्रीय और प्रस्थान परक अध्ययन अग्रज के जीवन पर्यन्त चालू रहे ।	
१९५४-५५ तक		आठ वर्ष की वय में अष्टाध्यायी पूरी एवम् समग्र अमरकोष कण्ठस्थ,	
१९५७		पिता का तिरोधान अग्रज के निर्देशानुसार पिता के औद्ध्र्वदैहिक कृत्य किए	
१९५८ से १९६०			पारिवारिक-विग्रह, चूड़ाकर्म अनेक तीर्थो मे । नैमिषारण्य, मान्धाता-धारा-क्षेत्र, महाकाल, मध्य-भारत मे भीषण अकाल और भुखमरी के दृश्यों का आयु पर्यन्त प्रभाव । अवलोक्य-स्कंदगुप्त में पर्णदत्त का कथन । 'अन्न पर स्वत्त्व है भूखों का' । जबलपुर से अमरकण्टक तक चैत की चांदनी मे नर्मदा-पथ की जल-यात्रा । बन्दूकची के उद्धारार्थ नर्मदा में कूद पडना । झारखण्ड : वैद्यनाथ : मैं चूड़ाकर्म के बाद झारखण्डी नाम से पुकारे जाने लगे ।
१९६२	१६	'कलाधर' उपनाम से भारतेन्दु पत्र	पौष कृष्ण ७ माता श्रीमती

वैक्रमाब्द	वयस	व्यक्तित्व पक्ष	पारिवारिक पक्ष
		में 'सावन-पंचक' का प्रकाशन (प्रथम प्रकाशित कविता)। अबतक गद्दी पर लिखी गई प्रायः चार सौ रचनाए अग्रज के भ्रूभग पर भट्ठे मे जला दिया। '	मुन्नी देवी का तिरोधान। उनके और्ध्वदेहिक कृत्य किए।
१९६३	१७	प्रेमपथिक (ब्रजभाषा), प्रेमराज्य, उर्वशी चम्पू के लेखन।	
१९६४	१८	कलाधर-काल की समाप्ति। प्रसाद-	अग्रज साहु शम्भुरत्नका निधन (भाद्र कृष्ण ८)। प्रथम विवाह बलोचहा (गोरखपुर) के श्री मथुरा-प्रसादजी की कन्या विन्ध्यवासिनी से सवत् १९६४ के फाल्गुन मे हुआ।
१९६५	१९	नाम के प्रचलन का रहस्य—द्रष्टव्य कानन कुसुम की 'अवतरणिका'।	
१९६६	२०	भारतेन्दु-पत्र को लेकर उसको पुनरुज्जीवन देने की विफल चेष्टा के अनन्तर श्रावण सुदी २ से 'इन्दु' का प्रकाशन। उर्वशी चम्पू का प्र० प्र०, प्रेमराज्य का प्र० प्र०, चन्द्र-गुप्त मौर्य निबन्ध का, जिसका व्यवहार नाटक की भूमिका के रूप मे हुआ का प्र० प्र०।	उक्त १९०३ ईसवी के पारिवारिक विभाजन मे तीन पक्ष रहे—द्वितीय पक्ष म अग्रज साहु शम्भुरत्न और अवयस्क श्री जय-शकर प्रसाद। अन्य पक्ष को अचल सम्पत्ति और हुण्डी महाजनी का व्यवसाय मिला। द्वितीय पक्ष को चूकि सुँघनी साहु फर्म मिली अत: दोनो शिवालय की सेवा पूजा तथा पारिवारिक ऋण १९६२००।= का देना भी मिला। विभाजन के चार वर्ष बाद ही अग्रज
१९६७	२१	प्रथम नाटक सज्जन इन्दु मे (कला २, किरण ८–११) प्रका-शित। 'विसर्जन' कविता फाल्गुन १९६७ ज्येष्ठ १९६८ के सयुक्ताक मे, १९१० ई० के मार्च से पहले इसका रचनाकाल है। 'जाहु विस्मृति अस्तशैल —' यहा से व्रजभाषा विसर्जित हुई।	

विक्रमाब्द	वयस	सर्जनात्मक पक्ष	पारिवारिक पक्ष
			साहु शम्भुरत्न दिवंगत हो गए। एक ओर साहित्य सृजन की बलवती अभीप्सा और उसके लिए अध्यवसाय दूसरी ओर व्यवसाय के अतिरिक्त ऋण भार से मुक्त होने की चिन्ता। अतएव, दो इलाके और चौक की बड़ी कोठी बेचने से प्राप्त अस्सी हजार तथा शेष की व्यवसाय से पूर्ति कर प्रायः ढाई लाख रुपए का ऋण सं० १९७६ तक पाट दिया।
१९६९	२३	छाया कहानी संग्रह, काननकुसुम का प्र० प्र०,[1] कल्याणी परिणय ना० प्र० पत्रिका में प्रकाशित।	
१९७०	२५	प्रेमपथिक : खड़ी बोली:, करुणालय,	
१९७२	२६	राज्यश्री के प्र० प्र०।	घर के उस नये खण्ड के निर्माणार्थ जो दस वर्ष बाद हुआ। नगरपालिका से भूमि परिवर्त्तन।
१९७३	२७		यक्ष्मा से २२-८-१९१६ को श्रीमती विन्ध्यवासिनी का निधन।
१९७४	२८	कानन-कुसुम-काल समाप्त।	बलोचहा : गोरखपुर : के श्री शिवप्रसाद जी की कन्या श्रीमती सरस्वती से द्वितीय विवाह (फाल्गुन संवत् १९७३)

१. प्र० प्र०=प्रथम प्रकाशन।

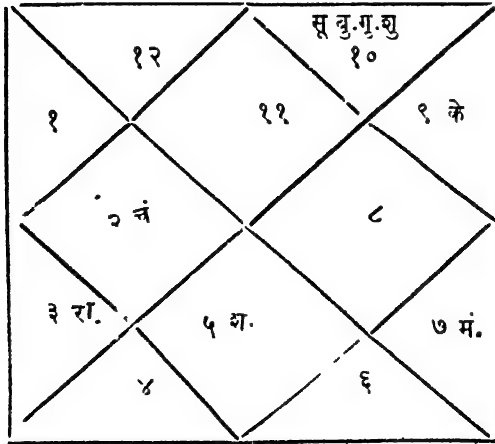
विक्रमाब्द	वयस	सर्जनात्मक पक्ष	पारिवारिक पक्ष
१९७५	२९	....	प्रसूतिज्वर से चैत सुदी ४, १९७५, (१४ अप्रैल १९१८) को श्रीमती सरस्वती का निधन। एक घण्टे बाद छः दिवसीय शिशु भी गत। उसी चिता को शव समर्पित।
१९७६	३०	....	विन्ध्य मे महासरस्वती—पीठ के समीप अज्ञातवास। माघ मे गया-श्राद्ध (१९१८ के दिसम्बर मे)। फाल्गुन मे श्री रघुवर दयालजी की कन्या कमला (देवरिया)—से तृतीय विवाह। दीनबन्धु ब्रह्मचारी और स्वामी जी (इटावा के) का सम्पर्क। औपनिषदिक मनन मे तीव्रता –
१९७७	३१	.	मार्गशीर्ष की भैरवाष्टमी को मृत शिशु का प्रसव।
१९७८	३२	विशाख का प्र० प्र०।	....
१९७८	३२	जुलाई से पूर्व आँसू का लेखन।	१ जनवरी १९२२ को पुत्र (रत्नशंकर प्रसाद) का जन्म।
१९७९	३२	अजातशत्रु का प्र० प्र०।	....
१९८२	३५	आँसू का प्र० प्र० : चिरगाँव	इटावा के स्वामीजी से संसर्ग।
१९८३	३६	जनमेजय का नागयज्ञ एवं प्रतिध्वनि का प्र० प्र०। प्रकाशन नई की व्यवस्था।	घर के नगे खण्ड का निर्माण जहाँ कृतित्व का तीसरा सप्तक पूरा हुआ। लिखित त्यागपत्र
१९८४	३७	इन्दु का पुनर्प्रकाशन जो जनवरी	

विक्रमाब्द	वयस	सर्जनात्मक पक्ष	पारिवारिक पक्ष
		से मई पर्यन्त चला। एक सप्ताह में लिखित नाटक कामना का प्र० प्र०। श्रीपंचमी को कामायनी का आरम्भ। उभय का पूर्वापर सम्बन्ध ध्यातव्य।	देकर आनुवंशिक—जातीय चौधराने का विसर्जन श्री अम्बिका प्रसाद से तीव्र मतभेद। 'स्वर्ण तू पृथ्वी का सुन्दर पाप है' कहते अंगूठी उतार कर अपनी भाभी को देना (अवलोक्य-कामना)
१९८५	३८	करुणालय, महाराणा का महत्त्व, स्कन्दगुप्त के प्र० प्र०। चित्राधार का द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण।	
	४०	आकाशदीप, कंकाल, आँधी, एक घूँट के प्र० प्र०।	
१९८८	४२	चन्द्रगुप्त नाटक प्र० प्र०, तितली मुद्रणाधीन।	गंगासागर, कलकत्ता, पुरी-यात्रा (१९३१ दिसम्बर से जनवरी १९३२)
१९९०	४४	ध्रुवस्वामिनी, लहर प्र० प्र०।	
१९९१	४५	तितली प्र० प्र०, अग्निमित्र का लेखन, फाल्गुन में महाशिवरात्रि को कामायनी का परिसमापन।	लखनऊ यात्रा दिसम्बर १९३६ कान्यकुब्ज कालेज मे अन्तिम काव्य-पाठ। २८ जनवरी १९३७ से शय्याग्रस्त, १३ फरवरी को यक्ष्मा का निदान।
१९९२	४६	इन्द्रजाल, प्र० प्र० अग्निमित्र रोककर—इरावती का लेखन।	
१९९३	४७	कामायनी का प्र०प्र० (मार्च में) २२ जुलाई १९३५ को ग्रन्थ मुद्रणाधीन हुआ था।	
१९९४	४७	वर्ष नौ मास एक दिन	कार्त्तिक शुक्ला एकादशी संवत् १९९४ को ब्राह्म मुहूर्त में तिरोधान।

॥ श्रीः ॥

(जन्माङ्गम्)

माघ मासे शुभे शुक्लेपक्षे तिथौ दशम्यां गुरुवासरे रोहिणी नक्षत्रे ब्रह्मनाम योगे श्री सूर्योदयादिष्टम् ४।५ कुम्भ लग्नोदये परमधार्मिक श्री शंकरोपासक श्रीयुत् शिवरत्न साहु तदात्मज तद्गुणविशिष्ट देवीप्रसाद साहु तस्य पाणिगृहीतभार्याया: पूर्वोक्त समये द्वितीय पुत्रमजीजनत् ।



श्री कुलदेवतायै नमः

हमारी वंश परम्परा अपने मूल स्थान कन्नौज से जिस कारण वशात् उन्मूलित हुई उसकी ऐतिहासिक वस्तुता उस 'प्रायश्चित्त' नाटक मे रक्षित है जो १९१४ मे इन्दु के जनवरी अंक मे आदित. प्रकाशित हुआ था। इस नाट्य रचना के पीछे लेखकीय मनोभूमि मे कुछ सास्कारिक रहस्य निहित-सा लगता है : क्योकि कोई आसन्नभूत हेतु प्रत्यक्ष नही। यदि वैसी दशा का चित्रण अभीष्ट रहा तो कालकाचार्य-कथा भी सुलभ रही जहाँ गर्दभिल्ल मे प्रतिशोध लेने मे मुनि ने शको को बुलाया और उस अहिंसा-प्रेमी ने मातृभूमि पर हिंसा का प्रकाण्ड अनुष्ठान किया। इसलिए कन्नौज मे वंशविस्थापन की घनीभूत पोडा यदि इस नाटक की कारणभूमि मानी जाय तो असंगत नही।

गंगा और यमुना की धाराओ के मध्य की भूमि अन्तर्वेद पदवाच्य है। इसके राजनगर-कन्नौज को महोदय भी कहा गया है। सस्कृत साहित्य मे 'महोदय सुन्दरीणा' कहकर इसी की अन्त पुरिकाओ का उल्लेख मिलता है। गुप्त सम्राट यवनों को परास्त कर अश्वमेध कर चुके थे, तत्पश्चात् पाँच-छः शतियो बाद उत्तर गुप्त काल मे हूण उत्तरापथ मे झाँकने लगे थे। उस परवर्ती काल मे राजशक्ति साकेत के साथ-साथ कान्यकुब्ज मे केन्द्रित होने लगी थी—क्योकि यह मगध का गोपुर था। इसी कान्यकुब्ज पर आधिपत्य के लिए गुर्जर-प्रतिहार, राष्ट्रकूट और पाल सभी उत्सुक रहा करते थे और यहाँ का राजा भारत-सम्राट कहा जाता था (अवलोक्य—टाड राजस्थान)। जयचन्द को यहाँ के अन्तिम अधिपति को—परास्त कर गोरी ने इसी महोदय मे जैसा आतंक फैलाया उससे जनता सामूहिक पलायन के लिए विवश हो गई—एक जातीय निष्क्रमण हुआ। फलस्वरूप आसाम और मध्यप्रदेश तक कन्नौज मूल के विभिन्न वर्णो के हिन्दू आज भी पाये जाते है। मध्य-युग अर्थात् ई० ६००-१२०० किवा हर्ष से जयचन्द तक कन्नौज ने उत्तरीय भारत मे कुसुमपुरी (पाटलिपुत्र) का स्थान ले रखा था। संस्कृति और साहित्य, कला एव शिल्प सभी की यह उत्कर्ष-भूमि बनी थी—जो उस यवन-आँधी मे बिखर गई। यही से हमारे वंश-मूल के पुरखे धर्म और प्रतिष्ठा सँजोते जाह्नवी के जल-मार्ग से पूर्व की ओर बढ़े। उन्हें सुरक्षित व्यवसाय की भूमि चाहती थी जहाँ—वह गन्ना सुलभ रहे जो मूल-स्थान कन्नौज मे भी उनका जीवोपाय रहा।

जहाँ तक सीधा राजमार्ग और सम्पत्ति वाली बस्तियाँ मिलीं—बनारस के पूर्व तक, गोरी की फौजें धावा मार रही थीं। इस वात्या से बचते हुए वे अन्तर्वेदीय जन यवन अभियानों से प्रभावित क्षेत्र और पथ से दूर पूर्व मे बसना चाहते थे और वैसी भूमि भी वांछित रही जहाँ से व्यवसाय हो सके। विलक्षणतः, नियति ने उन्हें उसी स्थल-बिन्दु पर रोक लिया जहाँ तब से प्रायः साढ़े सात सौ वर्ष पूर्व अपने पिता कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य के अवसान के बाद विमाता अनन्त देवी और हूणों की दुरभिसन्धि से खिन्न—स्कन्दगुप्त ने पृथ्वी पर सोकर रातें बिताई थी : और, जहाँ उसने हूणों से मातृभूमि के उद्धार का संकल्प लिया था। 'भितरी' के स्तम्भ लेख की पंक्तियाँ हैं— 'पितरि दिविमुपते विलुप्तां वंश लक्ष्मी···· विचलित कुललक्ष्मी स्तंभनायोद्यतेन····हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता····भीमावर्त्तकरस्य शत्रुषु शरा।" और जहाँ 'श्रोत्रेषुगाग ध्वनि' पड़ती है वहाँ स्कन्दगुप्त ने शार्ङ्गपाणि की प्रतिमा स्थापित कर गुप्त-शासन को सुप्रतिष्ठित करते अपने महत् अभियान को अग्रसर किया। उसी 'सैदपुर भितरी' की भूमि पर अपनी विचलित कुल-लक्ष्मी के प्रतिष्ठापनार्थ हमारे पूर्वजो ने कन्नौज से आकर प्राय तीन शताब्दियो तक अधिवास किया।

इस 'भितरी' को अग्रेजी के लेखन-वाचन ने 'भिटारी' बना दिया। और शोध-जगत मे उसका 'भिटारी' वाचन रूढ हो गया। 'स्कन्दगुप्त' नाटक की भूमिका मे 'भिटारी' का प्रयोग इसीलिए हुआ है कि समकालीन 'अंग्रेजीदाँ' इस नामसंज्ञा के शब्द-व्यवहार को अपने ढग से ही ग्रहण करे। नाम व्यवहार के अनावश्यक प्रपंच मे मूलवस्तु अर्थात वहाँ के स्तम्भ-लेख का प्रसंग उलझे नही अन्यथा पूज्य पिताश्री भितरी को भिटारी क्यों कहते ? यह कथमपि नही कहा जा सकेगा कि वह भितरी उन्हे अज्ञात था जहाँ पूर्व पुरुषो ने शतियाँ बिताइ। वहाँ के कतिपय लोगों से हमारे यहाँ गाढ़ सम्पर्क रहा और अधुनापि है। मेरे एक बन्धु ने कहा कि उसका प्रकृत नाम 'भीमोत्तरी' है किन्तु स्तम्भ-लेख की पन्द्रहवी-सोलहवी पंक्ति मे 'भीमावर्त्तकरस्य शत्रुषुशरा' भी इस सन्दर्भ मे विचार्थ है। शार्ङ्गपाणि की प्रतिमा भी वहाँ प्राप्त हुई थी।

अस्तु, हमारे पूर्वजो को वह स्थान भी सोलहवी शती मे छोडना पडा जिसका मौलिक पूर्व-नाम अब शोध का विषय बना है। अवश्य ही गुप्तकाल मे उस स्थान का नाम अन्य रहा होगा जहाँ स्कन्दगुप्त ने शार्ङ्गपाणि की स्थापना की थी, कही स्कन्दपुर की अपभ्रष्ट संज्ञा तो सैदपुर नही ? सम्भव है तब उसकी स्कन्दपुर की आख्या बन गई हो जिसे सैयद-पठान प्रभुता ने सैदपुर मे रूपान्तरित कर दिया हो, जैसे गाधिपुर गाजीपुर हो गया। यदि ऐसा नही है तो भी स्कन्दगुप्त के महान चरित्र से जुड़े इस पूत-स्थल का स्कन्दपुर के रूप मे अब व्यवहार करना—सांस्कृतिक पुनर्जागरण से संवादित और समीचीन होगा। मुगल-पठान सघर्ष वाले शेरशाही

काल मे सोलहवी शती के मध्य पूर्वजों को वहाँ से हटना पड़ा और पुनः गंगा के तट से काशी के पश्चिम कुछ ही आगे अवस्थित मौजा बैरवन मे हमारे वंश का दूसरा पड़ाव पड़ा। दूसरा इसलिए कि अठारहवी शती लगते-लगते प्राकृतिक प्रकोप वशात् वहाँ से भी विस्थापित होकर काशी मे विश्वनाथ की शरण में आना पडा, किन्तु कन्नौज से काशी पर्यन्त जाह्नवी की लहरे सदैव साथ रही। सम्भव है सैदपुर से इस पश्चिमाभिमुखी अभियान का अभिप्राय पुन कन्नौज वापस जाने का रहा हो और प्रतिकूल कारणों ने काशी के प्रत्यन्त से आगे न बढ़ने दिया हो।

बैरवन में प्रायः दो सौ वर्षो तक उसी चीनी व्यवसाय मे पीढियाँ बीती जो कन्नौज से चालू रहा। उसके कुछ दूर पश्चिम मोहनसराय की बाजार मे विक्रय केन्द्र रहा जहाँ थोक माल की भी बिक्री होती थी। कही-कही यह उल्लेख आया है कि 'प्रसाद जी के पूर्वज मोहनसराय से बनारस आकर बसे।' वास्तविकता यह है कि निवास और कारखाना राजमार्ग से पूव बैरवन मे रहा। निकटवर्ती महराजगंज मे भी एक बडा कारखाना रहा। उस मोहनसराय मे माल का गोदाम और थोक-फुटकर बिक्री का स्थान रहा जहाँ बनारप अथवा काशी के उपकण्ठ पर व्यवसायी सार्थवाहो का पडाव होता था। भारवाही पशुओं के चारा पानी और बैपारियो के भोजन-विश्राम का यह स्थल—मोहनसराय एक वणिक-तीर्थ रहा। फौजो और शाही सवारियों के आवागमन से भी इस बाजार की श्री-वृद्धि होती रही—किन्तु कभी-कभी लूटपाट भी हो जाती थी।

पूज्य पिताश्री ने औरंगजेब के बनारस आने के प्रसंग म बताया था कि पुराने कागजो में औरंगजेब का एक शाही फरमान भी रहा है। औरंगजेब के किसी फरमान के अपने यहाँ होने का केवल यही कारण हो सकता है कि जब वह प्रच्छन्न रूप में शहर बनारस के कोतवाल के दमन के लिए सफर मे रहा तब उसने मोहनसराय में पडाव किया होगा और वहाँ से कुछ आदमियो का अस्थायी बल संघटित कर अपने बनारस पहुँचने के पहले यहाँ तैनात कर दिया होगा जिससे कोतवाल को उसकी 'गफलत' मे सहसा गिरफ्तार करके दण्ड दिया जा सके। घटना यों है कि शहर बनारस के कोतवाल ने एक रूपवती ब्राह्मण-कन्या को पकड़वा मँगाया और उससे निकाह की तैयारी मे था। उस समय औरगजेब का पड़ाव इलाहाबाद-बनारस के मध्य रहा, जहाँ ब्राह्मण पिता ने जाकर फरियाद की। औरंगजेब ने उसे आश्वस्त करते कहा—'तुम बेफिक्र रहो, ऐन मौके पर पहुँचूगा, लेकिन इसकी खबर किसी को मुतलक न हो।' वह साँड़िनी पर सवार होकर लवाज़मात छोड़ एकाकी चल पड़ा। इसी दौड़ में वह मोहनसराय मे रुका होगा और अपने अभियान के लिए वही से कुछ आदमियो का प्रबन्ध करने मे हमारे पूर्वज उसके सहायक हुए होगे—इसी प्रसंग मे उसने वहा कोई फरमान जारी किया

होगा। किन्तु, शहर बनारस के उस कोतवाल के, अतिचार के प्रतिकार मे सहायक होने का कोई प्रतिदान पूर्वजो को स्वीकार न हुआ और वह फरमान कागजो के अम्बार मे पडा रहा जिसका उल्लेख पूज्य पिताश्री ने किया था। शहर कोतवाल निकाह की बेसब्री मे जहाँ महफिल जमाए बैठा था वह स्थान आज भी पुरानी अदालत कहा जाता है। औरंगजेब उसकी घेरेबन्दी कराके एकाकी भीतर घुसा। कन्या चीख रही थी, कोतवाल नशे मे धुत्त था। उसके सिपाही औरंगजेब को रोक नही पाए न पहचान सके। कोतवाल ने गरज कर कहा 'कौन मरदूद आया है'? औरगजेब ने कमरबन्द से जब अपने शाही सिरपेच को अमामे पर लगाया और जफील दो—आदमियो को भीतर आने का संकेत किया— तब कोतवाल की समझ मे आया कि यह 'मरदूद' कौन है। जो लोग महफिल से भागे उनमे से कुछ मारे गए। चौक वाली सडक पर की दो कब्रे और सुंघनी साहु की दूकान के सामने मसजिद के कोने की एक कब्र उसी घटना की शहादत आज भी दे रही है। कोतवाल को उसने कुन्दीगर टोला की गली के मोड पर दीवाल मे चुनवा दिया। उस दीवाल के एक छोटे-से ताखे मे उस कोतवाल की स्मृति आज शहीद बनकर पुजवाती है, जिसे उस 'मरदूद' औरगजेब ने चुनवा कर ब्राह्मण-कन्या का उद्धार किया -और उसके विवाह के लिए प्रचुर धन भी दिया था। घीहट्टा के पास की सराय मे उसने खाना खिलाने वाली भठियारिन को भी धन दिया कि उस सराय को पक्की बनवाए। यह मुहल्ला घीहट्टा के स्थान पर तभी से औरगाबाद कहा जाने लगा।

बैरवन और महराजगज मे स्थापित चीनी कारखानो के अन्तिम पुरुष श्री मनोहर साहु रहे। इनके जीवन के शेष दिनो मे -अठारहवी शती के उत्तरार्द्ध मे—कानपुर जा रही माल नाव चीनी गगा मे डूब गई, फलत. व्यवसाय उच्छिन्न हो गया। कारखानो मे केवल शीरा और जूमी बचा—पूंजी भी नहीं रही जिससे उत्पादन हो सके। बैरवन के कारखाने के आसपास कुछ कृषि-भूमि थी जिसका उपयोग प्राय. चीनी उत्पादन से सम्बन्धित रहा। अब उस पर हल चलने लगा और कारखानो में बचे शीरे-जूसी मे बनी पीनी तम्बाकू समीपवर्ती बाजार मोहन-सराय मे बिकने लगी। मोहनसराय बनारस से प्राय. पाँच कोस दूर कलकत्ता से पेशावर जाने वाले मुख्य मार्ग (ग्राण्ड ट्रक रोड) पर अवस्थित है। बनारस आने और यहा से जाने वालो का एक पड़ाव था जिसे यात्री और फौजी सैनिक पोषित करते और कभी-कभी लूट भी लेते थे। बन-बन कर उजडने और फिर बसने वाले इस केन्द्र पर विस्थापित और पुनः स्थापित होनेवाली हमारी वश-परम्परा के शेष-पुरुष श्री मनोहर साहु विपन्न-प्राय जीवन का यापन पुरुषार्थ और साहस से करने लगे। इनके चार पुत्र रहे : ज्येष्ठ श्री गणेश साहु कानपुर मे बाकी पडी रकमो की वसूली के लिए गए किन्तु वही बस गए। कदाचित लहना वसूल करके लाते तो

पूजी के अभाव में व्यवसाय समाप्त न हुआ होता और परिवार भी तितर-बितर न होता—किन्तु मानव स्वभाव ! दूसरे पुत्र श्री भिक्षुक और चौथे पुत्र श्री बिहारी बनारस में क्रमश: वरुणा तट पर और औरंगाबाद मे बसे। तीसरे पुत्र श्री जगन साहु पिता का हाथ बटाते रहे। मोहनसराय के अध्यवसाय को पारिवारिक योगक्षेम के लिए अपर्याप्त देखकर वे उत्पादनों को बनारस लाकर बेचते और यहां से कुछ खूशबू मसाले भी तम्बाकू के लिए ले जाते। फलत: इस संकल्प की सिद्धि मे वे—जगन साहु अरुणोदय होते-होते माल और कांटा-बटखरा सिर पर लेकर चलते और सूर्यास्त तक बैरवन लौट जाते।

तब के बनारस का नकशा देखने से ज्ञात होगा कि लखनऊ-इलाहाबाद की मार्गसन्धि से शहर बनारस मे घीहट्टा (औरगजेब द्वारा पक्की सराय बनवाए जाने के बाद औरंगाबाद) के चौराहे से सीधे पूर्व दालमण्डी होती सडक रानीकुंआ तक जाती है, जहां से चली पतली गलिया आज भी विद्यमान है। दालमण्डी के मध्य से जो मार्ग दक्षिण की ओर घुघरानी गली—चाहमहिमा होते हौजकटोरा से गगा तट तक जाती थी उसी पर एक तिरमुहानी है—जहा तीन मुहल्लों की सन्धि है—बडादेव, टेढ़ीनीम और हौजकटोरा की। इसी तिरमुहानी पर श्री जगन साहु जहाँ तम्बाकू बेचते थे वही उनके पौत्र द्वारा स्थापित गणपतेश्वर लिंग का शिवालय विद्यमान है।

व्यवसाय के लिए स्थलमार्ग तब निरापद नही रह गया था। जब तक अनेक व्यवसायी एक काफिला बनाकर न चले और आरक्षी साथ न रहे सुरक्षित यातायात असम्भव था। भारत का दुर्ग-द्वार तो टूट चुका था, शको और हूणो का स्थान तातार, मंगोल, इरानी, दुर्रानी, तुर्क, अफगान लेने गए। बैरवन के समीप की काशी के प्रत्यन्त की बाजार मोहनसराय की जिस राजमार्ग पर अवस्थिति है वही कलकत्ता से पेशावर वाली सड़क ग्रैण्ड-ट्रंक रोड है। आये दिन सैनिकों का भी कियत्कालिक पड़ाव वहा होता था। हुक्के पर पीने वाली और चूने से मलकर खाने वाली तम्बाकू का 'अमल' सैनिकों और असैनिको मे प्रचलित रहा। अफगानी और अंग्रेज फौजियों को नसवार अर्थात् सूंघने का भी अभ्यास रहा। वास्कोडिगामा मे अमेरिका और तम्बाकू की जानकारी संग-संग की और जिस तम्बाकू को वे अपनी भाषा में 'कूया तम्बा' कहते थे उसे योरुप मे प्रचारित करने लगे। यद्यपि वहां के सभ्य समाज में तब यह निन्दनीय ही रहा किन्तु अमल की वस्तु होने के कारण इसे व्यावसायिक बढत मिलती गई। पुर्तगाली व्यापारियों ने सूरत में अपनी जो पहली कोठी खोली उसमें यह पदार्थ आने लगा, वहाँ से प्रचारित होते-होते दिल्ली के शाही दरबार में भी यह प्रविष्ट हो गया। सूरत की कोठी के व्यवसाय का यह एक मुख्य पदार्थ हो गया था इसी कारण इसे सुरती कहा जाने लगा,

और पुर्तगाली 'कूया तम्बा' ने 'तम्बाकू' का रूप ले लिया। अपने मूल जन्म स्थान क्यूबा मे वहा के निवासी अंग्रेजी के वाई अक्षर के आकार के बने लकड़ी के उपकरण से इसका धूम्रपान करते थे। हुक्का उसी का प्रतिसंस्कृत रूप है।

श्री जगन साहु के उत्पादन की लोकप्रियता बढ़ती गई। जितना माल वे प्रातः लाते सब दोपहर तक बिक जाता। तब, वही माल बनाने के लिए किराये पर उन्होने घर लिया। उसकी बाहरी दालान मे दूकान चली। क्रमशः बैरवन से सम्पर्क कम होने लगा। महराजगज का कारखाना तो समाप्त हो ही चुका था किन्तु बैरवन मे कारखाने की भूमि और खेत बचा रहा, घर और कारखाना गिर कर डीह बन गया जिस पर अद्यनापि शिवलिंग स्थापित है मेरे पितामह के काल तक खेत पर स्वामित्व रहा, किन्तु उन्होने स्थानीय पुरोहित को उसे दान कर दिया। डीह और पुराने कारखाने का समीपवर्ती ध्वस अभी विद्यमान है जिसे स्थानीय लोग 'सुघनी साहु का डीह' कहते है।

सुँघनी साहु कुल की जाति-सज्ञा 'कान्यकुब्ज वैश्य हलवाई' है। उसके आविर्भाव और विकास का एक सक्षिप्त सिहावलोकन आवश्यक हो रहा है। प्रसाद-साहित्य के सन्दर्भ मे इसकी प्रासगिकता का यथार्थ ध्रुवस्वामिनी की रचना मे निहित है। एक ऊँची जाति के महानुभाव ने कभी व्यग करते कहा 'प्रसाद जी आपलोगो की जात मे तो सगाई भी चलती है', उत्तर था। 'लेकिन भगाई नही'। यह हँसी-मजाक की बात तो आई गई पार भई- किन्तु दे गई उस 'ध्रुवस्वामिनी' को जिसमे पुनर्भू अर्थात सगाई के प्रसंग का शास्त्र-परक और व्यवहार-सिद्ध विवेचन हुआ है। कभी-कभी ऐसे व्यग भी प्रसाद-वाङ्मय की श्री-वृद्धि कर गए है। जैसे, उन्हे मालिश कराते देखकर मुशी प्रेमचन्द ने कहा था। 'प्रसाद जी आप तो गुण्डे जैसे लगते हैं'। हास्य-विनोद के बाद मुशी जी ने 'हस' के कहानी अक के लिए एक कहानी की फरमायश की। कुछ समय बाद मुशीजी को कहानी अक के लिए 'गुण्डा' कहानी मिली।

अस्तु, इस जाति-सज्ञा के तीन शब्दो मे प्रथम शब्द कान्यकुब्ज स्थानवाची, दूसरा वैश्य वर्णवाची और तीसरा श्रेणीवाची शब्द हलवाई है। आर्यो की पुराकालीन समाज सरचना मे समष्टिवाची शब्द जन और विश रहे। व्रजन गुण विशिष्ट जो वर्ग रहा उससे जन सस्था का बोध होता है और यह कभी बडा वर्ग रहा क्योकि सख्या विस्तार के साथ नये नये क्षेत्रो की-- जो प्रायः जगल रहे—खोज और उन्हे आवास और कृषि के योग्य सुधारने के आवश्यकता रही। विश वर्ग मे वे आए जो सुधरी भूमि को उपयोगी बनाने के लिए भिन्न भिन्न स्थानो पर ग्राम-सस्थित होते गए। उनका वर्ग व्यवस्थात्मक व्यवसाय का रहा। और अधिक उन्नत व्यवस्था ने कार्य-विभाजन को अनिवार्य कर दिया। जो बौद्धिक कार्य मे लगे उन्होने विश के शेष भाग से अपनी कुछ पृथक इयत्ता स्थिर कर ब्राह्मण हुए। रक्षा और शासन के

निमित्त जो आगे बढ वे क्षत्रिय हुए और विश का शेष एव बडा भाग वैश्यो का बना जिससे कर्मानुसार श्रेणियाँ बनी किन्तु उनमे उच्चाबच का भाव अभी नही रहा। रथकार, कुलाल कर्मार आदि-आदि अपने स्तरो पर कार्य करते हुए समान थे किन्तु हाथ से या परिश्रम का काम करने वालो को—जब अपने को उच्च समझने वालो ने, शासन करने वालो ने हेय समझ अपने हितो म उनम ऊँच-नीच के भाव भरे तब उनमे वे प्रवृत्तियाँ जागी जिन्होने वर्णो और जातियो के भेद किए किन्तु अभी श्रेणियाँ सगठित रही कारण उनका आधार आर्थिक था। श्रेणियाँ व्यवसाय पर आधारित रही और व्यवसाय का मूल था अर्थ। पश्चिम मे इसी को 'गिल्ड' कहते है। श्रेणी के अध्यक्ष प्रवर कहे जाते थे। श्रेणियो मे अथवा उससे नत्तत कर्मो मे सयुक्त होने मे किसी को रोक नही रही, जैसा कि स्वन्दगुप्त के इन्दौर ताम्रपत्र मे (भण्डारकर सूची १२७९) विदित होता है इन्द्रपुर निवासिन्यास्तैलिक श्रेण्या जीवन्त प्रवराया—इन्द्रापुरक वणिभ्या क्षत्रियाचलनर्म भृकुण्ठ सिहाभ्यामाधारठान' का उल्लेख प्रमाणित करता है कि तैलिक श्रेणी म क्षत्रिय भी सम्मिलित होकर अपने वर्ण की इयत्ता को यथावत रखता था। आज भी हलवाई श्रेणी व व्यवसाय मे अनक वर्णा के जो लोग सम्मिलित है उनकी इयत्ताए स्वतत्र है। किन्तु, उपरोक्त श्रेणियाँ उपजाति के रूप मे रूढ होती गई और श्रेणी-कर्म से विरत होकर भी औपजातिक शृखला से व्यक्ति अथवा कुल आबद्ध रहा जैसे, 'मघनी साहु-कुल'। प्रथम स्थानवाची शब्द कान्यकुब्ज प्रमुख है जो वैश्या के अतिरिक्त ब्राह्मणो और क्षत्रियो मे भी अपना वर्चस्व रखता है। श्रेणीवाची हलवाई शब्द मूलत अरबी भाषा का है जिसका प्रचलन मुसलमानी हमलावरो के प्रभुत्व-काल से पहले नही माना जा सकता है। इसके पूर्व पक्वान्नपण्याः, आपूपिका और औदनिका तीन निरामिष भोज्य पदार्थ बनाकर बेचने वालो की सज्ञा थी, और आमिष भोज्य के व्यवसायी पाक्वामासिक कहे जाते थे। आमिष और निरामिष मे केवल पदार्थगत भेद रहता था। जैन प्रभाव ने इसमे ग्राह्य-अग्राह्य की रेखा भी खीच दी। केवल उन्ही के यहाँ आमिषाहार वर्जित रहा है। मूल हिन्दू धर्म-शास्त्रो मे आमिष का निषेध नही था। प्रत्युत, श्राद्ध और पारण मे मास-मत्स्य विहित ही नहीं कही-कहीं आवश्यक भी रहे। सूकर-मास का पिण्ड-दान श्रेष्ठ कहा गया। बुद्ध को गृहपति चुन्द कम्मारपुत्त ने कदाचित इसी श्रेष्ठता के कारण 'सूकर-माद्दव' का पिण्ड-पात दिया था। अवैदिक व्रात्यो की निषेधपरक दृष्टि आर्य-सस्कृति को आत्मसात् करने लगी। हिसा-मूलक यज्ञवाद से अहकारमूलक अहिंसावाद का जनमानस मे द्वन्द्व और उसके भावी परिणामो का आकलन कर तथागत बुद्ध ने जिस मध्यम-मार्ग का विधान किया वह भी मध्य से हटकर वाम-दक्षिण होता गया। अस्तु, पक्वान्नपण्या. आदि निरामिष-खाद्य व्यवसायी श्रेणी मे संगठित वैश्यो की औपजातिक सज्ञा कालान्तर मे हलवाई पदवाच्य हुई। यही श्रेणी पक्वान्न के मुख्य

उपादान शर्करा (चीनी) का भी उत्पादन करती रही : जो विपुल साधन सम्पन्न रहे वे तो चीनी के कारखानेदार हुए किन्तु उसी श्रेणी के अल्प वित्त वाले 'पक्वान्न पण्याः' बने। थोड़ी पूंजी से भी वे अपना काम चला लेते थे। प्रातः से सायं या रात्रि होते-होते उनके लाभ-हानि का चिट्ठा तैयार हो जाता फिर दूसरे दिन से वही क्रम चलता। हाँ, 'कच्चा बाना' होने से दो-चार दिनों से अधिक की खपत का माल तैयार करना इस व्यवमाय में सम्भव नही था, चीनी तो हजारों बोरे बनाकर रखी जा मकती थी, मिठाई नही। अस्तु, हमारे पूर्वज यद्यपि पक्वान्नपण्याः श्रेणी के थे जिसका नामान्तरण हलवाई हुआ किंतु उसी श्रेणी में चीनी उत्पादकों की जो कोटि रही उमी से हमारे पूर्वजों की आर्थिक व्यवस्था बँधी रही : और, कौटिल्य कथित 'पक्वान्नपण्याः या आपूपिकाः' के कार्य कभी नही किए गए। किन्तु श्रेणियों ने जब उपजातियों का स्वरूप ग्रहण किया तब से रोटी बेटी के प्रसंग मे उसी श्रेणीगत उपजाति से हम अद्यापि प्रग्रहीत है।

बैरवन वामी श्री मनोहर साहु के तृतीय पुत्र श्री जगन साहु का टेढ़ीनीम की तिरमुहानी पर तम्बाकू बेचने और वही स्थान लेकर आवाम करने और तम्बाकू का कारखाना चलाने का पहले उल्लेख किया जा चुका है—वे श्री जगन साहु सात पुरुष पूर्व के व्यक्ति रहे जिनके उद्यम और अध्यवसाय से व्यवसाय बढ़ता गया और उनके पुत्र श्री गुरुसहाय के कार्य काल में भूसम्पदा अर्जित होती गई। श्री गुरुसहाय के दिवंगत होने के बाद उनकी पत्नी श्रीमती केसरा ने अपने पुत्रों (श्री गणपति और गोवर्द्धन) से कहा कि उस भूमि को लेकर उम पर शिवालय बनवाओ जहाँ बैठकर तुम्हारे पितामह ने व्यवसाय आरंभ किया था। 'माता, भूमि तो सद्यः ले लेंगे किन्तु शिवालय बनवाने में विशेष द्रव्य लगेगा उसकी व्यवस्था करके वह भी हम लोग करेंगे'। माता केसरा ने कहा तुम लोगों को इस काम की केवल व्यवस्था करनी है रुपया नही लगाना है वह मैं दूंगी। अशर्फियों से भरे दो बटुए उनके पास रक्षित रहे। पुत्रों ने आश्चर्य से कहा कि हम लोगों ने इतने संकट झेले तब आपने यह नही निकाला। 'तब निकालती तो आज जिम स्थिति में तुम हो वह न आती केवल अशर्फियाँ बेचते खाते और यह भी तो एक दिन समाप्त हो जाता तब क्या करते? इससे शिवालय बनेगा और अपने पितामह की कर्म भूमि पर शिवलिंग स्थापन करो यह पीढ़ी दर पीढ़ी अक्षय कीर्ति देगा।' भूमि ली गई पत्थर आए संगतराश जुटे और श्रीमती केसरा देवी कार्य निर्देश करने लगी उनकी पहली आज्ञा थी 'भोजन करके काम लगाओ और काम से छूटने पर चँना गुड़ लेकर जाओ'। बड़े-बड़े हण्डों में उन कर्मियों के लिए वे भोज्य सामग्री प्रस्तुत रखती थी। इस प्रकार गणपतेश्वर लिंग प्रतिष्ठा हुई। यह अठारहवी शती के उत्तर भाग की कथा है। प्रायः उसी काल में अहिल्याबाई के द्वारा १७८५ में विश्वनाथ लिंग भी प्रतिष्ठित हुआ था।

पिता श्री गुरुसहाय के निधनोपरान्त उभय पुत्रा श्री गणपति एवं श्री गोवर्द्धन मे परस्पर सौहार्द का अभाव होता गया। तब तक ये लोग २४ किता मकानों और हरहुआ स्थित एक बाग के स्वामी हो चुके थे। श्री गणपति साहु को, जिनका निधन चैत्र शु० सप्तमी स० १८१८ को हुआ, एक मात्र पुत्र श्री शिवरत्न साहु थे वे टेढीनीम - हौजकटोरा छोड कर गोवर्द्धनसराय म बस गए और शिवालय बनवाकर शिवरत्नेश्वर लिंग की स्थापना की। सवत् १८६१ मे अपने भाई श्री गणपति साहु का निधन होने के पश्चात् श्री गोवर्द्धन साहु ने भतीजे से सवत् १८६२ म बटवारा कर लिया जिसकी अन्तिम स्वीकृति ई० १८७५ मे हाईकोर्ट द्वारा भी हो गई।

इस विग्रह के मूल मे हौजकटोरा की दुकान का उल्लेख उक्त फैसले मे स्पष्ट है कोई साम्पत्तिक विवाद नही था। किन्तु गोलादीनानाथ के तुल्य एक गोला स्थापित करने के उद्देश्य से जो दो सौ गज जमीन टीक उसी मे मटी भी गई थी वह नही हो सका न तो बाग हरहुआ का विस्तार ही। सन १८५५ मे उक्त बाग लिया जा चुका था वह लखनउ-बनारस के मार्ग पर स्थित है। गदर के समय वहा भी गोरी फौज से सघर्ष हुआ और एक गदर सैनिक वहाँ आहत होकर गिरा जिसे श्री गणपति साहु अपने बाग म ले आए और शुश्रूषा की किन्तु इतना अधिक रक्तस्राव हो चुका था कि उसकी जीवन-रक्षा न हो सकी अन्त म उसने कहा आप लोगो ने मेरी हिफाजत की खुदा हाफिज अब मै चला जा यह मेरी कडाबीन बतौर यादगार के रखना इसने सैकडो फिरगियो को मौत के घाट उतारा है या खुदा इन बच्चो को खुशहाल रख - कहकर सैनिक ने दम तोड दिया। वह कडाबीन अन्य कडाबीनो के मध्य हमारे यहाँ बडे आदर से रखी जाती थी। किन्तु जब १८७८ मे आर्म्स ऐक्ट लागू हुआ तब मेरे पितामह ने लाइसेंस लेकर असलह रखना स्वीकार न किया और पूज्य पिताश्री के कथनानुसार शिवालय वाले कूप म सोलह कडाबीनें छोड दी गई। उस गदर काल के पूर्व की हवेलिया या बडे भवनो के मुख्य द्वार पर प्रायः कडाबीन की मार की तिरकसी बनी रहती थी और भी पूर्व काल म इसके द्वारा तीर भी छोडे जा सकते थे इसीलिए 'तिरकसी' का एक वास्तुपरक महत्त्व था। आज भी हमारे प्राचीन सदर दरवाजे के ऊपर तीन तिरकसियाँ और कुछ हट कर एक चौड़ी तिरकसी बनी है। पारिवारिक विग्रह के कारण गोला दीनानाथ के समकक्ष गोला बनाने की बात स्थगित रह गई, हरहुआ के बाग के विस्तार मे कोई रुचि न रही और हौजकटोरा की दूकान तथा अन्य सम्पत्ति श्री गोवर्द्धन के भाग मे चली गई। श्री शिवरत्न साहु ने गोवर्द्धनसराय म स्थायी आवास और शिवालय बना लिया, व्यवसाय चौक कोहना एवम् नारियल बाजार से होने लगा, साथ ही हौजकटोरा का व्यवसाय श्री गोवर्द्धन साहु सँभाल न पाये क्योकि पिता के कनिष्ठ पुत्र होने से इच्छाओ की पूर्ति ही उनकी सक्रियता का क्षेत्र बना था साथ ही मतभेद

का मुख्य कारण उनका मांसाहार बना जो उनके पिता और अग्रज के लिए खेद का विषय था। यद्यपि शैवों के लिए मांसाहार निषिद्ध नहीं, हाँ पलाण्डु का परम निषेध है। उनके पिताश्री गुरुसहाय और अग्रज श्री गणपति साहु की परवर्त्ती सन्ततिधारा पूर्णतः निरामिष रही। अन्ततः श्री गोवर्द्धन साहु की शाखा में वित्त के भोग और नाश के क्रम ने व्यवसाय और सम्पदा का कवलन कर लिया। रसोई के जिन चाँदी के बर्त्तनों मे गंगा जल से भोजन बनकर और देव-भोग अर्पित होता था उसमें मांस का पकना देख अन्न भोग बन्द कर दिया गया और मात्र फलाहार का नैवेद्य निवेदत होने लगा—किन्तु कितने दिन। शिवरत्नेश्वर लिंग की स्थापना गोवर्द्धनसराय में कर लेने के पश्चात् श्री शिवरत्न साहु ने हौजकटोरा से नाता तोड लिया। उनकी शाखा के शेष पुरुष श्री राजाराम निस्सन्तान रहे। श्री गोवर्द्धन साहु जब तक रहे तब तक दिन के भोजन के लिए वे गोवर्द्धनसराय आते थे क्योंकि पत्नी नही रह गई थी और घर मे कोई ऐसी परिवार की महिला नही थी जो दिन का भोजन चावल दाल का बनाकर उन्हें खिलाए अन्य किसी के हाथ का कच्चा भोजन ग्राह्य नही। सुतरा, वे अपने दल में आठ-दस हथियार बन्द लोगो के साथ मध्याह्न भोजन के लिए आते एक पीढ़ा उनके लिए और एक उनकी भुजाली के लिए रखा जाता था बैठ कर जब वे पुकारते 'हाँ दुलहिनिया ले आव हम बइठल हई' तब मेरी प्रपितामही थाली लाकर रखती। वे चुपचाप भोजन कर हाथ मुँह धोकर महादेव—महादेव कहते भुजाली उठाकर चल देते। उनकी लाग डाँट कुछ दुर्द्धर्ष लोगो से रहा करती थी इसलिए दस-बीस पट्ठे सदैव रहते थे। श्री शिवरत्न साहु पर एक जिमीदार के हमले पर उसमे एक जबरदस्त फौजदारी हो चुकी थी जिसमे सात लाशे गिरी। कुछ ऐसे जीवन क्रम मे वे व्यवसाय मे विरत होने को बाध्य भी थे। तब संचित कब तक चलता ?

वित्त की तीन अवस्थाएँ कही गई है—दान, भोग और नाश अन्तिम दोनों भोग और नाश तो श्री गोवर्द्धन साहु के भाग मे गई और पहली अवस्था दान की उनके भतीजे श्री शिवरत्न साहु मे उदित हुई। गंगा स्नान से लौटते-लौटते द्रव्य तो बट ही जाता लोटा और शरीर का वस्त्र भी प्रायः उतर जाता था। यह क्रम व्यवसाय मे कोई हिसाब नही रहने देता था। उन्होंने अपना एक सीधा रास्ता बना लिया था कि जो आय दान के बाद बचे उसे तहखाने मे छोड़ते जाना और वर्ष भर कर्मचारियों का वेतन और सामान्य घर खर्च छोड़ किसी को हिसाब न देना जहाँ से माल और जिन्सें आती जायं जमा करते जाना। धनतेरस के एक दिन पहले तहखाने से सिक्के निकलवाकर तौल करा-करा के ५००, १००० की बोरियों में बन्द कराना और साल भर का जिसका जो बकाया है सब का योग कराके बोरियों को शकट पर लदवाकर एक शकट पर अपने तथा बही लेकर मुनीम के साथ बैठ घूम-घूम कर

सबका हिसाब चुकता कर देने के बाद फिर देखना अब क्या शेष है जो रुपया बचता है वह तथा कारखाने में जो माल शेष है वह मुनाफा है, इतने से काम के लिए घंटों माथा-पच्ची करने की जगह —'शिवशिव जपत मन आनंद मगन होय—' उनका जीवन दर्शन रहा। किन्तु उनके छहो आत्मज इससे असन्तुष्ट रहे। उन लोगों का कथन रहा कि आपकी दानवृत्ति पर हम कोई अंकुश नही लगाते किन्तु हमें हिसाब रखने दें कि दान की ओट मे कर्मचारी चुरा तो नही रहे है। उनका उत्तर था अरे जो चुराता है अपना ही चुराता है हमारा क्या सभी तो महादेव-महादेव तुम लोग जिसमें सन्तुष्ट हो सको वैसा प्रबन्ध करो। तब एक सर्राफ खजाञ्ची नियत हुआ वहाँ से साहुजी बाँटते थे और वह अपना पुर्जा गद्दी पर भेज कर भुगतान मँगा लेता था। हिसाब तिमाही-छमाही और दीवाली पर होता था। एक पत्र मेरे पूज्य पितामह साहु देवीप्रसाद का अपने भाइयों के नाम है जिसमे अन्य बातो के साथ खजाची के बकाये के देने का उल्लेख है कि कार्तिक सुदी १ सवत् १९४१ को खजाची का बाकी देना २७७१०।।।=) था। ज्ञातव्य है कि श्री शिवरत्न साहु का तिरोधान चैत वदी ७ संवत् १९४० को हुआ था। सवत् १९४० की दीवाली का हिसाब साफ होने के बाद यह प्राय चार मास का बकाया है जो कार्तिक सुदी १ सवत् १९४१ के हिसाब मे आ रहा है। इसके अतिरिक्त घर के दरवाजे पर भी एक तमाखू सुर्ती की दूकान उनके दान के निमित्त खुलवा दी गई थी जिस पर विस्मयजनक रूप से गली मे सत्तर-अस्सी रुपए की बिक्री प्रति दिन होती और साहुजी वहाँ भी बैठकर उसे वितरित करते रहते। पूज्य पिताश्री कहा करते थे कि उनका वार्षिक दान का व्यय प्राय: एक लाख रहा। जब उनके ज्येष्ठ पुत्र को विषधर सर्प ने डँस लिया वे शिवालय मे पूजन पर थे। लोग जाकर चिल्लाने लगे उन्होंने एक बार आँख खोल कर देखा और दीया मे चरणामृत बिल्वपत्र रखकर इंगित किया। वह चरणामृत देने के बाद विष समाप्त हो गया। कुछ देर के बाद जब वे शिवालय से घर में आए तब पूछा —'काहे चिल्लात रहले का भयल रहल पूजा मे बाधा देहले'। लोगो ने कहा तब कदाचित् उन्हे घटना स्मरण हुआ। कभी-कभी तो भिक्षुक उन्हे पीट भी देते थे और वे हँसकर भगा देते कि किसी को ज्ञात न हो अन्यथा यह बुरी तरह पिटेगा। ऐसे अद्भुत स्वभाव सम्पन्न का जब शरीर पूरा होने को हुआ तब उन्होने भोजन बन्द कर दिया और दो-तीन दिन बिल्वपत्र गंगा जल लेते रहे फिर बोलना भी बन्द कर दिया। किसी व्याधि का लक्षण नही था, अपने एक मित्र को कुछ इंगित किया वे समझ गए कि उनकी इच्छा केदारेश्वर मे जाने की है, तब लोग वहाँ ले गए मन्दिर की उत्तरी दालान मे एक खम्भे से टिक कर वे बैठे (वह खम्भा मुझे पूज्य पिताश्री ने बताया था) और रात बीतते-बीतते देहत्याग कर दिया।

उनके ज्येष्ठ पुत्र साहु शीतल प्रसाद ने समयानुसार अच्छी शिक्षा पाई और वे

क्वींस कालेज में अध्यापन करने लगे। यह सूचना पाकर एक दिन साहुजी क्वींस कालेज के अंग्रेज प्रिंसिपल के पास गए। एक भारतीय वृद्ध को देख उसने प्रश्न कि ा। 'वेल बुड्ढे क्या चाहते हो', 'एक सवाल का जवाब', बोलो, 'क्या आपके यहाँ पागल भी पढ़ाते हैं', 'हमारे यहाँ कोई पागल नही है', 'साहब जरा अपने मास्टर शीतल प्रसाद को बुलाइए' वे बुलाए गए और कमरे मे आते ही अपने पिता को देखकर सहमगए। साहब को कुछ असामान्य-सा लगा पूछा—'मिस्टर शीतल प्रसाद देखो ये क्या कहते है—' 'ये मेरे पिताजी है', 'बैठिए बैठिए ये शीतल प्रसाद बहुत अच्छा पढाते है हम इनको प्रोमोशन की सिफारिश कर चुके है', 'सो सब ठीक है पहले इनसे पूछिए इनके यहाँ कितने आदमी काम करते है' उस समय कारखाने मे स्त्री-पुरुष मिलाकर डेढ सौ व्यक्ति रहे, वह उन्होने बताया 'तब आप ही बताए कि जिसके यहाँ इतने आदमी काम करते हो वह दूसरी जगह नौकरी करे तो वह क्या पागल नही? यह पढाएँ कोई हर्ज नही लेकिन तनख्वाह न ले हाँ गरीब बच्चो की कुछ सहायता करे'। 'यह कैसे होगा सरकारी नियम है' 'तब जो तनख्वाह दे इनसे रसीद लिखा कर अपनी मर्जी से बच्चो की मदद मे खर्च करे' इस पर मास्टर साहब और प्रिंसिपल सहमत हो गए और नौकरी बरकरार रह गई। उनके अनुज वैजनाथ प्रसाद अपने नियमित व्यवसाय मे लगे रहे। उसी समय कोई काशी का मुकदमा रहा उसमे जिस दिन विजय हुई उसी दिन श्री शिवरत्न साहु को तृतीय पुत्र उत्पन्न हुए अत उनका नाम ही जित्तू पड गया। चतुर्थ पुत्र मेरे पूज्य पितामह श्री देवी प्रसाद रहे, पाँचवे साहु गिरिजा शकर औ छठवे साहु गौरी शकर, और एक कन्या भी रही जिसका विवाह अहरौरा साहु अचू लाल के यहाँ हुआ। मेरे पूज्य पितामह के जीवन काल मे ही उनके तीनो अग्रज दिवगत हो गए थे और अपने दो अनुजो को साथ लेकर वे दूकान कारखाना चलाते थे। ई० १९०० म उनके दिवगत हो जाने पर परिवार विघटन के कगार पर पहुँच गया और १९०३-१९०८ तक विपुल धन नाश के बाद जो निर्णय हुआ उसके अनुसार मेरे ताऊजी साहु शम्भुरत्न एवम् पूज्य पिताश्री (जो तब अवयस्क रहे) को सुघनी साहु फर्म शिवालयो का प्रबन्धन और १९२००० रुपयो वह सामूहिक का ऋण दय मिला जिसका भुगतान ब्याज सहित पूज्य पिताश्री ने १९१६-१७ तक कर दिया। अपने अग्रज के निधन के पश्चात् उनके सम्मुख प्रथम कर्त्तव्य इस ऋण का शोध और उसी के साथ-साथ व्यवसाय का सन्तुलन और साहित्य सृजन रहा। अन्य कतिपय प्रसगो पर कुछ विस्तार से 'चित्राधार' के अथवृत्तक और 'कानन कुसुम' की अवतरणिका मे लिख चुका हूँ—यहाँ सक्षेप मे कुल का इतिहास मात्र उल्लेख्य रहा।

इति शिवम्

श्री पञ्चमी २०४८ —रत्नशंकर प्रसाद

श्री मनोहर साहु

जाति गँधवी गाव

क्वींस
कालेज
'बेल ः
भी पर
प्रसाद
सहमत
कहते
है हम
पूछिए
मिलाव
यहाँ इ
नही ?
सहायत
लिखा
प्रिसिप
अपने ।
उसमे
अत· उ
रहे, प
जिसक
काल ः
लेकर ·
परिवा
नाश के
पिताश्रं
१९२०
पूज्य पि
उनके
का सन
'चित्राध
यहाँ सं

श्री पर

संस्मरण पर्व

तृतीय अनुवर्त्त

संस्मरण पर्व

समकालीनों के प्रसाद-चिन्तन

. (व्यक्तित्व के अध्ययनार्थ)

इस अनुवर्त्त मे आकलित संस्मरणों के अध्ययन से पूज्य पिताश्री के व्यक्तित्व की रूपरेखा के बहुत कुछ समीप हुआ जा सकेगा; इनमें कृतित्व के रंग भी उभरते हैं—जो--किसी कृती से सन्दर्भित संस्मरण मे स्वाभाविक है। इनका काल-विस्तार दूसरे, तीसरे और चौथे दशक के सात वर्षो तक किंवा १९१० से १९३७ तक फैला है। और यही वह समय है, जिसमे जन-भाषा एवं साहित्य-भाषा के विकास, वैचारिक संक्रान्ति की शृंखला - जिससे समाज की वृत्तियाँ प्रभावित रही—अग्रसर हुई थी। समकालीन समाज की उत्क्रान्त प्रगति मे —विगतार्थ रूढियो और बन्धनो के उच्छेद की दृढ अभीप्सा के जागरण से यह काल विस्तार श्रीमन्त है। पूज्य पिताश्री के समकालीनो द्वारा उरेहे गए चित्रो की गहरी, पुष्ट और रंगीन रेखाओं में अवगाहन से उस दुर्द्धर्ष जिजीविषा का परिचय मिल सकता है जो प्रसाद-वाङ्मय मे प्राण रूपेण प्रतिष्ठित है।

मै, सभी संस्मरण लेखको के 'दरसपरस' से भाग्यवन्त— उन पूज्यपुरुषो को अपना सविनय नमन देते आज हर्षित हूँ जिनके गरिमा-पदों को मेरी छोटी उगलियाँ कभी नाप चुकी है। आज, उन क्षणों के भाव-स्पर्श ने मुझे सप्तति की रेखा पर पहुँचते-पहुंचते हठात् शैशव-कैशोर के वृत्त मे खींच कर 'आसप्तति कैशोर' को चरितार्थ कर दिया : और, परम माहेश्वर, उत्पल देव की इन आलोक-सिद्ध पंक्तियों का भी कुछ अनुभव-सा करा दिया—

आत्मा मम भवद्भक्तिसुधापानयुवाऽपि सन्
लोकयात्रारजोरागात्पलितैरिव धूसरः

श्रीकृष्ण जयन्ती २०४८

रत्नशंकर प्रसाद

—यह हमारे युग-प्रवर्तक प्रसादजी के शुभ्र, शान्त सौन्दर्य का पवित्र यशःकाय है, जिसे हिन्दी-साहित्य में और सम्भवतः विश्व-साहित्य में भी जरामरण का भय नहीं है।

—छायावाद केवल स्वप्न सम्मोहन बनकर रह जाता, यदि प्रसादजी उसमें कामायनी जैसे महान् काव्य-सृष्टि की अवतारणा न कर जाते।

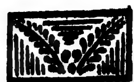
—सुमित्रानन्दन पन्त

'कानन कुसुम' में छायावादी कविता का जो स्रोत निकला था, वह आगे बढ़कर निर्झर के राशि-राशि जल प्रपात की तरह झरना के रूप मे बहने लगा। 'झरना' नामक कविता-संग्रह में विशुद्ध छायावाद का रस हिन्दी साहित्य में प्रथम बार परिपूर्ण रूप से छलकता हुआ दिखायी दिया।

—इलाचन्द्र जोशी



जयशङ्कर प्रसाद की स्मृति में



आदरणीय प्रसादजी के प्रति

—'निराला'

हिन्दी के जीवन हे, दूर गगन के द्रुततर
ज्योतिर्मय तारा-से उतरे तुम पृथ्वी पर;
अन्धकार कारा यह, बन्दी हुए मुक्ति धन;
भरने को प्रकाश, करने को जनमन चेतन;
जीना सिखलाने को कर्म निरत जीवन से,
मरना निर्भय मन्दहासमय महामरण से;
लोक सिद्ध व्यवहार ऋद्धि से दिखा गये तुम,
छोड़ा है छिड़ने पर सुघर कलामय कुंकुम
उठा प्रसंग-प्रसंगान्तर रंग रंग से रँगकर
तुमने बना दिया है वानर को भी सुन्दर,
किया मूक को मुखर, लिया कुछ, दिया अधिकतर,
पिया गरल, पर किया जाति-साहित्य को अमर।
तुम वसन्त-से मृदु, सरसी के सुप्त सलिल पर,
मन्द अनिल से उठा गये हो कम्प मनोहर,
कलियों में नर्तन, भौंरों में उन्मद गुंजन,
तरुण-तरुणियों में शतविध जीवन-व्रत भंजन,
स्वप्न एक आँख में, मन में लक्ष्य एक स्थिर
पार उतरने की संसृति में एक टेक चिर,
अपनी ही आँखों का तुमने खींचा प्रभात,
अपनी ही नई उतारी संध्या अलस-गात,
तारक-नयनों की अन्धकार-कुन्तला रात,
आई, सुरसरि-जल-सिक्त मन्द-मृदु बही वात।
कितनी प्रिय बातों से वे रजनी-दिवस गये कट
अन्तराल जीवन के कितने रहे, गये हट।
सहज सृजन से भरे लता-द्रुम किसलय-कलि-दल,
जगे जगत के जड़ जल से वासन्तिक उत्पल।

पके खेत लहरे, सोना ही सोना चमका,
सुखी हुए सब लोग, देश में जीवन दमका,
हुआ प्रवर्तन खुली तुम्हारी ही आँखों से
उड़ने लगे विहग, ज्यों युवक मुक्त पाँखों से,
खोये हुए राह के, भूले हुए कभी के
बढ़े मुक्ति की ओर भाव पा अपने जी के।
फूटा ग्रीष्म तुम्हारे जीवन का, दिङ्मण्डल
तपा, चली लू, लपटें उठने लगीं, अमंगल;
फैला, आहों से लोगों की पृथ्वी छाई
बढ़ा त्रास, फिर अपलापों की बारी आई;
रहित बुद्धि से लोग असंयत हुए अनर्गल
किन्तु नहीं तुम हिले, तुम्हारे उमड़े बादल;
गरजे सारा गगन घेर बिजली कड़का कर
काँपे वे कापुरुष सभी अपने अपने घर।
धारा झर झर झरी, घटा फिर फिर घिर आई
सौ सौ छन्दों में फूटी रागिनी सुहाई,
सावन की, निर्बल दबके दल-के-दल वे जन,
अपने घर में करते भला बुरा आलोचन।
भरी तुम्हारी धरा हरित साड़ी पहने ज्यों
युवती देख रही हो नभ को नहीं जहाँ क्यों ?
आई शरत तुम्हारी, आयत - पंकज - नयना
हरसिंगार के पहन हार ज्योतिर्मय-अयना।
एक बार फिर से लोगों को सिन्धु स्नात कर
निकला हुआ दिखा काशी में 'इन्दु' मनोहर—
विजय तुम्हारी, लिये हृदय में लाञ्छन सुन्दर
अस्त हो गया कीर्ति तुम्हारी गा अविनश्वर।

-निराला

·सादर स्मरण

—महादेवी वर्मा

महाकवि प्रसाद का जब-जब स्मरण आता है, तब-तब मेरे सामने एक ही चित्र अंकित हो जाता है।

हिमालय के ढाल पर, उसकी गर्वीली चोटियों से ममता करता हुआ एक सीधा-ऊँचा देवदारु का वृक्ष था। उसका उन्नत मस्तक हिम-आतप-वर्षा के प्रहार झेलता था। उसकी विस्तृत शाखाओं को आँधी-तूफान झकझोरते थे और उसकी जड़ों से एक छोटी पतली जलधारा आँखमिचौनी खेलती थी। ठिठुरानेवाले हिमपात, प्रखर धूप और मूसलधार वर्षा के बीच में भी उसका मस्तक उन्नत रहा, और आँधी और बर्फीले बवंडर के झकोरे सहकर भी वह निष्कम्प-निश्चल खड़ा रहा; पर जब एक दिन संघर्षों में विजयी के समान आकाश मे मस्तक उठाए, आलोक-स्नात वह उन्नत और हिमकिरीटिनी चोटियों से अपनी ऊँचाई नाप रहा था, तब एक विचित्र घटना घटी। जिस उपेक्षणीय जलधारा का प्रहार हलकी गुदगुदी के समान जान पड़ता था, उसी ने तिल-तिल करके उसकी जड़ों के नीचे खोखला कर डाला और परिणामतः चरम विजय के क्षण में वह देवदारु, अपने चारों ओर के वातावरण को सौ-सौ ज्योतिश्चक्रों में मथता हुआ धरती पर आ रहा।

सभी महान् प्रतिभाशाली साहित्यकारों के जीवन मे संघर्ष रहना अनिवार्य है; पर बड़े-बड़े संघर्ष उनकी जीवनी शक्ति को क्षीण कम कर पाते है। यह तो ऐसी छोटी बाधाओं का सम्मिलित परिणाम होता है, जिनकी ओर वे सर्वथा उपेक्षा का भाव रखते है। प्रसादजी इसके अपवाद नही थे।

मेरे चित्र की पृष्ठभूमि म उनका साहित्य, मेरा कुछ घण्टों का परिचय और कुछ प्रचलित स्तुति-निन्दापरक कथाएँ ही है। छायावाद-युग की दृष्टि से उनके साहित्य से मेरा अपरिचय सम्भव नहीं था और स्थान की दृष्टि से प्रयाग से काशी दूर नही थी; परन्तु कुछ अज्ञात कारणों से मैंने उन्हे प्रथम और अन्तिम बार तब देखा, जब वे 'कामायनी' का दूसरा सर्ग लिख रहे थे और मैं 'सान्ध्यगीत' लिख चुकी थी। पर, उनका यह दर्शन भी न किसी अखिल भारतीय साहित्य-सम्मेलन के विवादी मेघगर्जन में हुआ और न किसी अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन मे सातों स्वर-समुद्रों

के मंथन के बीच, न भाषण के अजस्र प्रवाह में, न फूल-मालाओं के घटाटोप में। काशी में उनका दर्शन अपनी कवित्व-हीनता में विचित्र है !

भागलपुर से प्रयाग आते-जाते मार्ग में जब-तब काशी पड़ जाती थी। एक बार प्रसाद के दर्शनार्थ ही मैंने कुछ घंटों के लिए यात्रा भंग की; पर मैं और मेरे साथ आनेवाला नौकर, दोनों ही काशी की सड़कों और गलियों से सर्वथा अपरिचित थे। कवि प्रसाद को सब जानते होंगे, इसी विश्वास से कई ताँगेवालों से पूछताछ की, पर परिणाम कुछ न निकला। निराश होकर अब स्टेशन के वेटिंग रूम मे लौटनेवाली थी, तब एक ने प्रश्न किया—"क्या सुँघनी साहु के घर जाना है ?"

सुँघनी साहु का रूढ़ अर्थ ग्रहण करने मे मैं असमर्थ रही। समझा, तम्बाकू के चूर्ण का नास लेनेवाले कोई साहूकार होगे ! फिर अर्थ को और स्पष्ट करने के लिए पूछा—"सुँघनी साहु क्या काम करते है !"—तम्बाकू की दूकान करते है—सुनकर ताँगेवाले पर अकारण ही क्रोध आने लगा--प्रसाद जैसा महान् कवि, तम्बाकू की दूकानदारी जैसा गद्यात्मक कार्य कैसे कर सकता है ! कुछ स्वगत और कुछ ताँगेवाले के अज्ञात कानों के लिए कहा—"मुझे किसी तम्बाकू की दूकानवाले सेठजी के यहाँ नही जाना है। जिनके यहाँ जाना है, वे कविता लिखते है।" ताँगेवाला भी साधारण नहीं था, इसी से उसने परास्त न होने की मुद्रा मे उत्तर दिया—"हमारे सुँघनी साहु भी बड़े-बड़े कवित्त लिखते हैं !" तब मैंने सोचा—सम्भव है, ऐसे कवित्त लिखने मे ख्यात सुँघनी साहु, प्रसाद जैसे कवि से अपरिचित न हों ! स्टेशन पर कई घटे बिताने से अच्छा है कि सुँघनी साहु से पता पूछ देखूँ।

आकाश को नीले कपड़े की चीरों में विभाजित कर देनेवाली, काशी की गलियों में प्रवेश कर मुझे सदा ऐसा लगता है, मानो मैं किसी विशालकाय अजगर के उदर में घूम रही हूँ, जिसने अपनी साँसों से मुझे ही नही, कुछ दूकानो को भी अपने भीतर खींच लिया है और अब वाहर आने का एक मात्र द्वार, उसका मुख, बन्द हो गया है।

अन्त में जहाँ तक ताँगा जा सका, वहाँ तक ताँगे मे, उसके उपरान्त कुछ दूर पैदल चलकर हम एक सफेद पुते हुए मकान के सामने पहुँचे, जो अतिसाधारण और असाधारण के बीच की मध्यम स्थिति रखता था। कहलाया, प्रयाग से महादेवी आई है ! सोचा, यदि गृहस्वामी प्रसादजी ही होंगे तो मेरा नाम उनके लिए सर्वथा अपरिचित न होगा, और यदि कोई सुँघनी साहु ही हैं तो शिष्टाचार के नाते ही बाहर आ जाएँगे !

प्रसादजी स्वयं ही बाहर आए। उनका चित्र उन्हें अच्छा हृष्ट-पुष्ट स्थविर बना देता है, पर स्वयं न वे उतने हृष्ट जान पड़े और न उतने पुष्ट ही। न अधिक ऊँचा न नाटा, मझोला कद, न दुर्बल न स्थूल, छरहरा शरीर; गौर वर्ण; माथा

ऊँचा और प्रशस्त; बाल न बहुत घने न बिरल, कुछ भूरापन लिये काले; चौड़ाई लिये मुख; मुख की तुलना में कुछ हल्की, सुडौल नासिका; आँखों में उज्ज्वल दीप्ति ओठों पर अनायास आनेवाली बहुत स्वच्छ हँसी; सफेद खादी का धोती-कुरता। उनकी उपस्थिति में मुझे एक उज्ज्वल स्वच्छता की वैसी ही अनुभूति हुई, जैसी उस, कमरे में सम्भव है जो सफेद रंग से पुता और सफेद फूलों से सजा हो !

उनकी स्थविर जैसी मूर्ति की कल्पना खंडित हो जाने पर मुझे हँसी आना ही स्वाभाविक था। उस पर जब मैंने अनुभव किया कि प्रसादजी ही सुँघनी साहु हैं, तब हँसी को रोकना असम्भव हो गया। उन दिनों मैं बहुत अधिक हँसती थी, और मेरे सम्बन्ध में सब की धारणा थी कि मैं विषाद की मुद्रा और डबडबाई आँखों के साथ आकाश की ओर दृष्टि किये, हौले-हौले चलती और बोलती हूँ !

मेरी हँसी देखकर या मुझे मेरे भारी-भरकम नाम के विपरीत देखकर प्रसादजी ने निश्छल हँसी के साथ कहा—"आप तो महादेवी जी नहीं जान पड़तीं !" मैंने भी वैसे ही प्रश्न में उत्तर दिया- -"आप ही कहाँ कवि प्रसाद लगते हैं, जो चित्र में बौद्ध भिक्षु जैसे हैं !"

उनकी बैठक में ऐसा कुछ नही दिखाई दिया, जिसे सजावट के अन्तर्गत रखा जा सके। कमरे में एक साधारण तख्त और दो-तीन सादी कुर्सियाँ, दीवाल पर दो-तीन चित्र, अलमारी में कुछ पुस्तकें। यदि इतने महान कवि के रहने के स्थान में मैंने कुछ असाधारणता पाने की कल्पना की होगी तो मेरे हाथ निराशा ही आई।

उन दिनों वे 'कामायनी' का दूसरा सर्ग लिख रहे थे। क्या लिख रहे हैं, पूछने पर उन्होंने प्रथम सर्ग का कुछ अंश पढ़कर सुनाया। वेदों में अनेक कथानक बहुत नाटकीय हैं और उनमें से किसी पर भी एक अच्छा महाकाव्य लिखा जा सकता था। उन्होंने ऐसा कथानक क्यों चुना है, जिसमें कथासूत्र बहुत सूक्ष्म है – ऐसी जिज्ञासाओं के उत्तर में उन्होंने कामायनी सम्बन्धी अपनी कल्पना की कुछ विस्तार से व्याख्या की।

उनकी धारणा थी कि अधिक नाटकीय कथाओं की रेखाएँ इतनी कठिन हो गई हैं कि उन्हें अपने दार्शनिक निष्कर्ष की ओर मोड़ना कठिन होगा। युग की किसी समस्या को प्राचीन कलेवर में उतारना तभी सम्भव हो सकता है, जब प्राचीन मिट्टी लोचदार हो। जो प्राचीन कथा कठिन होकर एक रूप-रेखा पा लेती है, उसमें वह लचीलापन नहीं रहता जो नई मूर्तिमत्ता के लिए आवश्यक है। इन्द्र का व्यक्तित्व उनकी दृष्टि में बहुत आकर्षक और रहस्यमय था परन्तु उसकी नाटकीय और बहुत कुछ रूढ़ कथावस्तु, कामायनी के संदेश को वहन करने में असमर्थ थी।

ऋग्वेदकालीन वरुण के व्यक्तित्व और विकास के सम्बन्ध में भी उन्होंने अपना विश्लेषण दिया। वैदिक साहित्य और भारतीय दर्शन मेरा प्रिय विषय रहा है, अतः

तत्सम्बन्धी बहुत-सी जिज्ञासाएँ मेरे लिए स्वाभाविक थी। परन्तु सभी चर्चाओं में मैंने अनुभव किया कि प्रसादजी दोनों के सम्बन्ध में आधुनिकतम ज्ञान ही नहीं, अपनी विशेष व्याख्या भी रखते हैं। वे कम शब्दों में अधिक कह सकने की जैसी क्षमता रखते थे, वैसी कम साहित्यकारों में मिलेगी।

उनके बहुश्रुत होने का प्रमाण तो स्वयं उनका साहित्य है, परन्तु दर्शन, इतिहास, साहित्य आदि के सम्बन्ध में, इतने कम शब्दों में इतने सहज भाव मे वे अपने निष्कर्ष उपस्थित कर सकते थे, कि श्रोता का विस्मित हो जाना ही स्वाभाविक था।

लौटने का समय देख जब मैंने विदा ली तो ऐसा नही जान पड़ा कि मैं कुछ घंटों की परिचित हूँ। प्रसादजी ताँगे तक पहुँचाने आए और हमारे, दृष्टि के ओझल होने तक खड़े रहे। अपने साहित्यिक अग्रज को फिर देखने का सुयोग मुझे नही प्राप्त हो सका। वे कही आते-जाते नही थे और मैंने एक प्रकार से 'क्षेत्र संन्यास' ले लिया था।

और उसी बीच प्रसादजी के अस्वस्थ होने का समाचार मिला; पर बहुत दिनों तक किसी को यह भी ज्ञात नही हो सका कि रोग क्या है। अन्त में क्षय की सूचना भी हिन्दी-जगत के लिए चिन्ता का कारण नही बन सकी। हमारे वैज्ञानिक युग में नितान्त साधनहीन के लिए ही यह रोग मारक सिद्ध होता है। प्रसादजी के साथ साधनहीनता का कोई सम्बन्ध किसी को ज्ञात नहीं था, इसी से अन्त तक सबको उनके स्वस्थ होने का विश्वास बना रहा।

जब 'कामायनी' का प्रकाशन हो चुका था और हिन्दी जगत एक प्रकार से पर्वोत्सव मना रहा था, तब उनके महाप्रयाण की बेला आ पहुँची।

मैं स्वयं कई दिन से ज्वरग्रस्त थी। एक बन्धु ने भीतर सन्देश भेजा कि वे अत्यन्त आवश्यक सूचना लाये है। किसी प्रकार उठकर मैं बाहर के दरवाजे तक पहुँची ही थी कि सुना, प्रसादजी नही रहे! कुछ क्षण उनके कथन का अर्थ समझने में लग गए और कुछ क्षण द्वार का सहारा लेकर अपने आपको सँभालने मे।

बार-बार उनका अन्तिम दर्शन स्मरण आने लगा और साथ ही साथ उस देवदारु का, जिसे जल की क्षुद्र धारा ने तिल-तिल काटकर गिरा दिया था।

प्रसाद का व्यक्तिगत जीवन अकेलेपन की जैसी अनुभूति देता है, वैसी हमें किसी अन्य सम-सामयिक साहित्यकार के जीवन के अध्ययन से नही प्राप्त होती।

उन्हें एक सम्पन्न पर ऋणग्रस्त प्रतिष्ठित परिवार में जन्म मिला और भाई-बहिनों में कनिष्ठ होने के कारण कुछ अधिक मात्रा में स्नेह-दुलार प्राप्त हो सका। किशोर अवस्था में वे एक ओर शारीरिक स्वास्थ्य के लिए बादाम खाते और कुश्ती लड़ते रहे और दूसरी ओर मानसिक विकास के लिए कई शिक्षकों से संस्कृत,

फारसी, अंग्रेजी आदि का ज्ञान प्राप्त करते रहे। पर इसी किशोरावस्था में उन्हें पारिवारिक कलह की कटुता का अनुभव हुआ। इतना ही नहीं, उनके किशोर कंधों पर ही पारिवारिक उत्तरदायित्व, अर्थव्यवस्था और ऋण का भार आ पड़ा। ऐसा लगता है, यही दुर्वह भार सारे दुलार, स्वास्थ्य और विद्या का स्वाभाविक प्राप्य था!

तरुणाई में ही वे माता-पिता, बड़े भाई, दो पत्नियो और एकलौते पुत्र की वियोग-व्यथा झेल चुके थे। यह बचपन से तारुण्य के अन्त तक फैली हुई बिछोह की परम्परा उनके भावुक मन पर कोई दुखनेवाली चोट नही छोड़ गई थी, ऐसा कथन मनुष्य के स्वभाव के प्रति अन्याय होगा, और यदि वह मनुष्य एक महान साहित्यकार हो तो इस अन्याय की मात्रा और अधिक हो जाती है।

बहुत सम्भव है कि सब प्रकार के अन्तरंग-बहिरंग संघर्षों मे मानसिक सन्तुलन बनाये रखने के प्रयास में ही उन्हें उस 'आनन्दवादी' दर्शन की उपलब्धि हो गई हो, जिसके भीतर करुणा की अन्त: सलिला प्रवाहित है!

चाँदनी से धुले ज्वालामुखी के समान ही, उनके भीतर की चिन्ता उनके अस्तित्व को क्षार करती रही हो तो आश्चर्य नही। उनकी अन्तर्मुखी वृत्तियाँ या 'रिजर्व' भी इसी ओर संकेत करता है। पारिवारिक विरोध और 'प्रतिष्ठा की भावना' के वातावरण में पलनेवाले प्राय: गोपनशील हो ही जाते है। उसके साथ यदि कोई गम्भीर उत्तरदायित्व हो तो यह संकोच उनके मनोभावों और बाह्य वातावरण के बीच में एक आग्नेय रेखा खींच देता है। कण-कण कटती हुई शिला के समान उनकी जीवनी शक्ति रिसती गई और जब उन्होंने जीवन के सब संघर्षों पर विजय प्राप्त कर ली, तब वे जीवन की बाजी हार गए, जिसमे हार जाने की संभावना भी उनके मन में नही उठी थी।

क्षय कोई आकस्मिक रोग नही है, वह तो दीर्घ स्वास्थ्यहीनता की चरम परिणति ही कहा जा सकता है! अस्वस्थ रहते हुए भी वे एक ओर अपनी लौकिक स्थिति ठीक करने में संलग्न थे और दूसरी ओर 'कामायनी' में अपने सम्पूर्ण जीवन दर्शन को भावात्मक अवतार दे रहे थे।

सम्भवत: रोग के निदान ने उनके सामने दो विकल्प उपस्थित किये। ऐसी चिकित्सा प्रचुर व्यय-साध्य होती है। और कभी-कभी रोग का अन्त रोगी के साथ होने पर भी परिवार को आत्मीय जन की वियोग-व्यथा के साथ विपन्नता का भार भी वहन करना पड़ता है।

उनके सामने अकेला किशोर पुत्र था और अपने किशोर जीवन के संघर्षों की स्मृति थी। यह निष्कर्ष स्वाभाविक है कि वे अपने किशोर पुत्र के भविष्य पर किसी दुर्वह भार की काली छाया डालकर अपने इतिहास की पुनरावृत्ति नहीं करना

चाहते थे। तब दूसरा विकल्प यही हो सकता था कि वे पतवार फेंककर तरी समुद्र में इस प्रकार छोड़ दें कि वह दिशाहीन बहती हुई जीवन-मरण के किसी भी तट पर लग सके। उन्होंने इसी को स्वीकार किया, और अपने अदम्य साहस और आस्था से मृत्यु की उत्तरोत्तर निकट आनेवाली पगचाप सुनकर भी विचलित नहीं हुए।

पर जीवन और मृत्यु के संघर्ष का यह रोमांचक पृष्ठ हमारे मन में एक जिज्ञासा की पुनरावृत्ति करता रहता है—क्या इतने बड़े कलाकार का कोई ऐसा अन्तरंग मित्र नहीं था, जो इस असम द्वन्द्व के बीच में खड़ा हो सकता था!

सम्भवतः घर मे ऐसा कोई बड़ा व्यक्ति नही था, जिसका निर्णय निर्विवाद मान्य होता! सम्भवतः किशोर पुत्र के लिए पिता के हठ पर विजय पाना कठिन था! पर क्या ऐसे आत्मीय बन्धु का भी उन्हे अभाव था, जो उनके दुराग्रह को अपने सत्याग्रही विरोध से परास्त कर क्षय के चिकित्सा-केन्द्रों तथा विशेषज्ञों का सहयोग सुलभ कर देता!

कार्य से कारण की ओर चले तो विश्वास करना होगा कि नही था। सम्पन्न, मधुरभाषी और हँसमुख व्यक्ति के साथ आनन्दगोष्ठी मे बैठकर हँस लेना सबके लिए सहल हो सकता है, परन्तु किसी संक्रामक रोग से ग्रस्त मित्र की निष्प्रभ आँखों में मृत्यु के सन्देश के अक्षर पढ़कर उसे बचाने के लिए कोई बाजी लगाना कठिन हो जाता है!

प्रसाद जैसे मनस्वी और संकोची व्यक्ति के लिए किसी से स्नेह और सहानुभूति की याचना भी सम्भव नही थी। 'चन्द्रगुप्त' में सिंहरण के निम्न शब्दों में बहुत कुछ प्रसाद के मन की बात भी हो तो आश्चर्य नही —

'अपने मे बार-बार सहायता करने के लिए कहने मे मानव-स्वभाव विद्रोह करने लगता है। यह सौहार्द और विश्वास का सुन्दर अभिमान है। उस समय मन चाहे अभिनय करता हो संघर्ष से बचने का, किन्तु जीवन अपना संग्राम अंध होकर लड़ता है। कहता है—अपने को बचाऊंगा नही, जो मेरे मित्र हो, आवे और अपना प्रमाण दें!'

सम्भव है, कवि प्रसाद का जीवन भी अपना सग्राम अंध होकर लड़ा हो और उसने अपने आपको बचाने का कोई प्रयत्न न किया हो! उन्हें किसी की प्रतीक्षा रही या नही, इसे आज कौन बता सकता है! व्यावहारिक जीवन मे एक का हित दूसरे के हित का विरोधी भी हो सकता है। ऐसे व्यक्तियों की प्रसाद सम्बन्धी स्मृति, उनकी अपनी चोटो की स्मृति—अधिक हो सकती है, प्रसाद की विशेषताओं की कम।

भारतेन्दु के उपरान्त प्रसाद की प्रतिभा ने साहित्य के अनेक क्षेत्रों को एक साथ

स्पर्श किया है। करुण-मधुर गीत, अतुकान्त रचनाएँ, मुक्त छन्द, खंड-काव्य, महाकाव्य, सभी उनके काव्य के बहुमुखी प्रसार के अन्तर्गत हैं। लघु कथा के वैचित्र्य से लम्बी कहानियों की विविधता तक उनका कथा-साहित्य फैला है। 'कंकाल' उपन्यास के विषम नागरिक यथार्थ से 'तितली' की भावात्मक ग्रामीणता तक उनकी औपन्यासिक प्रतिभा का विस्तार है।

एकांकी, प्रतीक रूपक, गीति नाट्य, ऐतिहासिक नाटक आदि मे उन्होंने नाटकीय स्थितियों का संचयन किया है। उनका निबन्ध-साहित्य किसी भी गम्भीर दार्शनिक चिन्तक को गौरव देने मे समर्थ है।

साहित्यिक प्रतिभा के साथ उनकी व्यवहार बुद्धि भी कुछ कम असाधारण नहीं थी। धूमिल नये युग के काव्य और विचार को आलोक की पृष्ठभूमि देने के लिए ही उन्होंने 'इन्दु' और 'जागरण' जैसे पत्रों की कल्पना को मूर्त्त रूप दिया। 'भारती भण्डार' का जन्म भी उनकी उसी बुद्धि का परिणाम है, जिसने युग की प्रत्येक सम्भावना को परखकर उसका उचित दिशा मे उपयोग किया। उनका जीवन, उनके कार्य को देखते हुए, घट में समुद्र का स्मरण दिलाता है।

बुद्धि के आधिक्य से पीडित हमारे युग को, प्रसाद का सबसे महत्वपूर्ण दान 'कामायनी' है—अपने काव्य-सौन्दर्य के कारण भी और अपने समन्वयात्मक जीवन-दर्शन के कारण भी !

भाव और उसकी स्वाभाविक गति से बननेवाले जीवन-दर्शन में सापेक्ष सम्बन्ध है। बहती हुई नदी का जल आदि से अन्त तक, ऊपर से कही तरंगाकुल, कहीं प्रशान्त मन्थर जल ही दिखाई देता है; परन्तु वह तरलता किसी शून्य पर प्रवाहित नही होती। वस्तुतः उसके अतल-अछोर जल के नीचे भी भूमि की स्थिति अखंड रहती है। इसी से आकाश के शून्य से उतरनेवाले मेघ-जल को हम बीच में तटों से नही बाँध पाते, पर नदी के तट उसकी गति का स्वाभाविक परिणाम है।

भाव के सम्बन्ध मे भी यही सत्य है ! जिसके तल में कोई संश्लिष्ट जीवन-दर्शन नहीं है, उसे आकाश का जल ही कहा जा सकता है। जीवन को तट देने के लिए, उसके आदि की इकाई को अन्त की समष्टि में असीमता देने के लिए ऐसे दर्शन की आवश्यकता रहती है, जिस पर श्रेय, प्रेय मे तरंगायित होकर सुन्दर बन सके। यदि कोई भाव-धारा ऐसी संश्लिष्ट दर्शन-भूमि नही पाती तो उसके स्थायित्व का प्रश्न संदिग्ध हो जाता है।

यह दर्शन महाकाव्य की रेखाओं से जिस विस्तार तक पहुँच सकता है, उस विस्तार तक गीत से नही ! छायावाद युग मे भाव के जिस ज्वार ने जीवन को सब ओर से प्लावित कर दिया था, उसके तट और गन्तव्य के सम्बन्ध में जिज्ञासा स्वाभाविक थी। और इस जिज्ञासा का उत्तर 'कामायनी' ने दिया।

प्रसाद को 'आनन्दवादी' कहने की भी एक परम्परा बनती जा रही है। पर कोई महान कवि विशुद्ध आनन्दवादी दर्शन नही स्वीकार करता, क्योकि अधिक और अधिक सामंजस्य की पुकार ही उसके सृजन की प्रेरणा है, और वह निरन्तर असंतोष का दूसरा नाम है !

'आनन्द अखड घना था' (कामायनी) -विश्व जीवन का चरम लक्ष्य हो सकता है, परन्तु उसे इस चरम सिद्धि तक पहुँचाने के लिए कवि को तो निरन्तर साधक ही बना रहना पडता है। सितार यदि समरसता पा ले तो फिर झंकार के जन्म का प्रश्न ही नही उठता, क्योकि वह तो हर चोट के उत्तर मे उठती है और सम-विषम स्वरों को एक विशेष क्रम मे रखकर दूसरो के निकट सगीत बना देती है। यदि आघात या आघात का अभाव दोनो एक मौन या एक स्वर बन गए है, तब फिर संगीत का सृजन और लय सम्भव नही !

प्रसाद का जीवन, बौद्ध विचारधारा की ओर उनका झुकाव, चरम त्याग-बलिदानवाले करुण-कोमल पात्रो की सृष्टि, उनके साहित्य म बार-बार अनुगुजित करुणा का स्वर आदि प्रमाणित करेगे, कि उनके जीवन के तार इतने सधे और खिचे हुए थे कि हलका-सा कम्पन भी उनमे अपनी प्रतिध्वनि पा लेता था। हमारे युग की समष्टि के हृदय और बुद्धि म जो भाव और विचार नीरव उमड-घुमड रहे थे, उन्हे कवि ने जागरण के स्वर देकर मुखरित किया। पर जब 'हिमाद्रि तुग शृग से'- माँ भारती ने अपने इस स्वर-साधक को पुकारा, तब वह अपनी वीणा रखकर मौन हो चुका था !

× × ×

किसी कवि के द्वारा किसी कवि के सस्मरण का सामान्य से भिन्न होना अवार्य है, क्योकि उसमे स्मरणीय के भाव-बिन्दु से चलकर व्यक्तित्व-मूर्ति तक पहुँचने का उपक्रम रहता है। वन्दनीया बुआजी (महादेवी जी) के इस सस्मरण मे कुछ बिन्दु ऐसे है जिन्हे रेखा-विस्तार वाछित है– किन्तु उस विस्तार का अधिकारी कौन ? सौभाग्यवश ३४ जनवरी १९६४ को प्रसाद मन्दिर म आयोजित 'हीरक जयन्ती' के अवसर पर उनका जो व्याख्यान हुआ वह इस प्रसग मे सहायक है—अत: उसे यहाँ सम्मिलित किया जा रहा है। **(रत्नशंकर प्रसाद)**

"आज महाकवि प्रसाद की पचहत्तरवी जन्मतिथि है। यदि भाग्य अधिक अनुकूल होता तो आज हमारे बीच म वे उपस्थित होते। अनेक स्मृतियाँ बारबार मुझे घेर रही है। जब मुझसे उनकी भेट हुई तब वे कामायनी का प्रथम सर्ग लिख चुके थे। मैं विद्यार्थिनी थी। वेद मेरा विषय था। उनसे इस संबंध मे बहुत चर्चा हुई। आप जानते ही होंगे ऋग्वेद मे श्रद्धा कामायनी, बहुत से मंत्रो की ऋषि है। और, जलप्लावन की कथा अनेक देशो के साहित्य मे भी मिलती है।

क्यों व ऐसी कथा ले रहे थे— इस सम्बन्ध में मैंने उनसे प्रश्न किया। इस देश में तो अनेक पौराणिक कथाएँ है, अनेक ऐतिहासिक कथाएँ है। उन्होंने मुझे उत्तर दिया कि कथानक ऐसा चाहता हूँ जो सबको अपना जान पड़े, और उनके इस उत्तर मे बहुत गम्भीर अर्थ छिपा हुआ था। यदि हम विश्व मानवता की कोई बात कहना चाहते है तब हम देश काल से ऊपर उठकर अपने परिवेश से ऊपर उठकर कुछ कहते है। वैसे तो प्रत्येक कवि, प्रत्येक साहित्यकार, एक विशेष युग मे उत्पन्न होता है। एक विशेष भूमिखण्ड मे उत्पन्न होता है, विशेष समाज मे उत्पन्न होता है। शून्य मे वह शून्य मे अवतरित नही होता। और उसके चारो ओर उसके परिवेश के प्रभाव रहते है, उसकी संस्कृति रहती है उसका दर्शन रहता है उसकी सामाजिक मान्यताएँ रहती है, धारणाये रहती है, और एक साधारण जीवन की दैनन्दिन समस्याएँ भी रहती है। इन सबको लेकर वह अपने आपको बाँधता नही। ये सीमाएँ उसके लिए बन्धन नही होती। जैसे वृक्ष के चारों ओर एक आल-वाल रहता है, क्यारी रहती है कि उसे अधिक जल दिया जा सके, उसकी रक्षा की जा सके। परन्तु वह आल-वाल उसके सौरभ के विराट मण्डल को नही बाँध पाता। कोई आल-वाल ऊपर चार नही बना सकते जिससे वह आकाश पर न फैल सके। केवल वो उसे मूल मे बना सकते है। इसी प्रकार प्रत्येक कवि एक देश मे उत्पन्न होता भी, उस देश से बंधा नही रहता और वह उसी वृक्ष के समान है जो आकाश की ओर उठता चला जाता है और शून्य विराट् आकाश मण्डल को अपने सौरभ से भर देता है। इसी प्रकार वह सृजन करता है। प्रसाद की प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होंने साहित्य के जिस अंग का स्पर्श किया, जिस विधा को अपनाया उसे एक नया अर्थ दिया, नया सौन्दर्य दिया, उसके माध्यम से इस देश की संस्कृति को वाणी तो दी ही विश्व-संस्कृति मे भी योगदान दिया। उनसे नाटको के सम्बन्ध मे मैंने प्रश्न किया था कि आपने क्यो नाटक लिखना आरम्भ किया, कविताएँ उनकी इतनी मधुर थी, नाटकों के गीत इतने मधुर है, तो उन्होंने कहा उनके मन को बड़ी पीड़ा पहुँची थी पारसी थियेटर कम्पनियों की दुर्दशा देखकर, उनका अभिनय देखकर, उनकी भाषा देखकर वह व्यथा उनकी, उनके नाटको मे व्यक्त हुई है और उन नाटको के माध्यम से भारत की संस्कृति कितनी सजीव हुई है, इसका प्रमाण चीनी आक्रमण के समय सबको ज्ञात हो गया होगा। उस समय तक तो ये था कि ये तो ऐसी भाषा मे लिखे गये है, इतनी क्लिष्ट है, इतनी संस्कृतिनिष्ठ है, इतने लम्बे-लम्बे वाक्य है, ऐसा वाक्य विन्यास है इसका, ये होगा, वो होगा, परन्तु हमारे पास कुछ नही था कि हम अपने देश को जगा सकते, फिर वही 'हिमाद्रि तुंग शृंग से' आपने सबने सुना होगा, सौ बार सुना होगा, हजार बार सुना होगा और मैं समझती हूँ जब तक देश ओज चाहता है, फिर लौटकर वही जाता है, फिर वही जाता है। वे

इतने बड़े कवि थे कि उनका संवेदन जब व्यक्त होता था तो उतनी विराट चेतना लेकर व्यक्त होता था। कवि स्रष्टा होता है, द्रष्टा होता है, दार्शनिक नहीं होता। दर्शन तो बुद्धि की एक क्रिया है। संसार को समझने की हमारी जिज्ञासा की प्रवृत्ति जब बुद्धि के माध्यम से चलती है तो हम दर्शन की स्थापना करते है। एक परम्परा बना लेते है। साख्य का दर्शन है, योग का दर्शन है, वेदान्त का दर्शन है। हमारी बुद्धि ने तो जीवन के सम्बन्ध मे, जगत के सम्बन्ध मे, जड़ के सम्बन्ध मे, चेतन के सम्बन्ध मे अपनी जिज्ञासाएँ शान्त करने के लिए, उनका समाधान पाने के लिए, कुछ मान्यताएँ, कुछ अनुसन्धान एकत्र कर दिये। वो दर्शन हो गया। कवि इस प्रकार के दर्शन मे विश्वास नही करता और उसका कारण है। द्रष्टा तो जो जीवन की पद्धति है उसकी अनुभूति करता है। उसका दर्शन भावी दर्शन है। अनुभूत दर्शन, और यह दर्शन बहुत व्यापक होता है। जो घटित हो चुका है, वह तो अतीत है, साधारण जन उसका अनुभव नही कर सकेगा। जो अनागत है वह भावी कल्पना है, उसका अनुभव भी साधारण जन नही कर सकेगा। लेकिन जो द्रष्टा है वह उस अतीत को भी अपनी अनुभूति मे ले आता है, अनागत को भी ले आता है। इसलिए केवल यथार्थ नही, संभाव्य यथार्थ भी उसकी अनुभूति के अन्दर आ जाता है। तो वह 'दर्शन' ही, एक ऐसी विशाल वस्तु है, ऐसा निर्माण है, ऐसा सृजन है कि जो केवल दर्शन में नही बँधता। दर्शन के बहुत से प्रभाव हो सकते है। हरेक कवि के पास जीवन का एक दर्शन है। तो जैसे हम अपने आहार मे न जाने कितनी वस्तुएँ लेते है, मधुर लेते है, तिक्त लेते है, कटु लेते है, कषाय लेते है, कुछ भी लेते है, परन्तु जीवन का रस तो एक बनता है। अब उसमे अगर आप भिन्न-भिन्न करके देखना चाहे कि इस मधुर को जो हमने अपने शरीर मे पहुँचाया, इसका ये रस है और जो इस तिक्त को पहुँचाया है इसका ये रस है तो आप नही निकाल पायेंगे क्योंकि वह एक हो गया। वह केवल जीवन का रस है। और कहाँ-कहाँ से किस-किस प्रकार से आया है—ये आप नही निकाल सकते। जैसे आप किसी पौधे में से नही निकाल सकते कि धूप का कितना अंश है, मिट्टी का कितना अंश है, जल का कितना अंश है। ऐसे आप नही निकाल सकते है। जैसे गंगा में जितनी धाराएँ मिल गई हैं अब आप नही निकाल सकते। मिल गई, एक हो गई। उसी तरह जिस देश में जो कवि रहता है उस देश की परम्परा उसकी संस्कृति उसका धर्म, उसकी धारणा उसका विश्वास न जाने कितना जो मनुष्य को मिलता है, उत्तराधिकार में मिलता है वंशानुक्रम से मिलता है उन सबको वह आत्मसात् कर लेता है, पर उसकी जो विधायिनी शक्ति प्रतिभा है—वह उसके पार देखती है। इसी से कामायनी में आज आप जब उसे पढने बैठते हैं तो ऐसा लगता है कि आज की बात प्रसाद ने कैसे कही होगी, उस समय तो ये परिस्थितियाँ नहीं थी।

आज की परिस्थितियाँ नहीं थीं, आज का विज्ञान नहीं था जिस प्रकार की स्थिति में उन्होंने लिखा है उसमें निश्चय ही उनकी उस विधायिनी प्रतिभा ने बहुत आगे देख लिया है और जितना समय बीतता चला जायेगा, आप देखेंगे कि कामायनी में हमारे बहुत से प्रश्नों का समाधान मिलता जायेगा। वे बुद्धि और हृदय के संघर्ष की ही बात नहीं करते, जीवन की बहुत गहराई से, जीवन की एकता की बात कथा कहते हैं। और ऐसे नही कहते कि किसी को पराई लगे, किसी भी देश के व्यक्ति को वह पुस्तक थमा दीजिए, कहिए आप उसे पढ़ें, वो कभी नहीं कहेगा कि ये भारत की ही है और अनेक विदेशियों से जब मेरी बातचीत हुई और उन्होंने कामायनी का अर्थ समझा, बहुतों ने बहुत अच्छी तरह समझा। तब, उन्होंने कहा कि अरे ! यह तो वही बात कहती है जो किसी भी देश का महान् कवि कहता है। जो मानवता के कल्याण के लिए मानवता के ऐसे युग में जब विज्ञान ने उसे निकट लाकर भिन्न कर दिया है—कही गई है। पार्थिव रूप से वह निकट है, पार्थिव रूप से वह सारी दूरी समाप्त हो गई है लेकिन अंतर-जगत में एक दूसरे से भिन्न, एक दूसरे का शत्रु है, एक दूसरे का विरोधी है। ऐसे युग में कामायनी में जो संदेश है—'बिना आस्था के मनुष्य विकास कर ही नही सकता, जीवन विकास कर ही नहीं सकता, उसकी सारी शक्ति उसकी आस्था मे ही है, भटकने में नही है' -और ये संदेश कामायनी निरन्तर देती रहेगी। यह सत्य है कि उसमें भारत के सब दर्शन समग्र हो गए हैं, लेकिन अब जो दर्शन है, आधुनिक युग का—वह प्रसाद की देन है और वह देन निरन्तर ही मनुष्य के लिए मूल्यवान रहेगी, चाहे जिस दिशा से उसे देखा जाय, चाहे कभी भी उसे देखा जाय। हृदय से वे भावुक कवि थे। और भावुक कवि के लिए संवेदन का घनत्व आवश्यक होता है। संवेदन इतना सघन हो, इतना अधिक घनत्व उसमें हो और संयम इतना अधिक हो चेतना का कि वो घनत्व पिघल न जाए, बिखर न जाए। विद्युत् को जैसे हम बांध लेते हैं तो आलोक हो जाता है और जो ऐसे ही बिजली गिरे तो धरती को विदीर्ण कर देती है। इसी प्रकार वह संवेदन, वह सघन संवेदन जब चेतना से संयमित होकर आता है जब बुद्धि से संयमित होकर आता है तब इतना बड़ा कवि जैसे प्रसाद थे, उत्पन्न होता है। हमारे यहां कवि को 'परिभूः स्वयम्भूः' कहा गया है उसे हम अपनी इच्छा से नहीं उतार सकते, अपनी इच्छा से नहीं बना सकते। ऐसा कोई यन्त्र नहीं है कि जिससे हम दूसरा तुलसीदास बना लें, दूसरा सूरदास बना लें, दूसरी मीरा बना लें, हम नहीं बना सकेंगे।

इसी प्रकार हम दूसरा प्रसाद भी नहीं बना सकते। नियति की कोई ऐसी अज्ञात प्रेरणा, अथवा प्रकृति का कुछ ऐसा नियम है कि जिससे धरती के जिस खंड की मानवता को कुछ कहना होता है, कहने के लिए इतना एकत्र हो जाता है कि

वह एक कवि एक साहित्यकार अपने आप उत्पन्न कर लेती है। और वह पूरे युग को वाणी दे देता है। पूरा युग उसके माध्यम से अपनी व्यथा कहता है और व्यथा का समाधान भी खोजता है, और पा लेता है। वह व्यापक भी होता है क्योंकि वह एक देश विशेष का नही होता। इस प्रकार अगर देखे कि प्रसाद हिन्दी के कवि है तो मुझे लगता है कि हम उन्हे भी छोटा करते है और अपने आप भी छोटे हो जाते है। वे विश्वकवि की पक्ति मे ही बैठेगे—और आज नही तो पचास वर्ष बाद। हम उनके निकट है, इसलिए सभवत उनका ठीक से मूल्याकन नही कर सकते, या हम स्तुति करते है या हम त्रुटिया निकालते है। हमारे अपने-अपने सस्मरण है अपनी-अपनी मान्यताए है, अपनी-अपनी धारणाए है। लेकिन जब आनेवाले युग मे उन्हे कोई देखेगा और तटस्थ भाव से देखेगा तब वह पायेगा कि इस युग मे, यदि किसी कवि ने अनन्त-अनन्त युगो की बात कही है और सम्पूर्ण अनुभूति के साथ कही है केवल बुद्धि की क्रिया से नही, केवल चिन्तन मे नही, क्योकि चिन्तन ऊचा हो सकता है परन्तु मनुष्य उसमे जीता नही। चिन्तन हमारा हमसे भिन्न हो सकता है, अनुभूति हमारी हमसे भिन्न नही हो सकती। आप अनेक बार सुनेगे कि अगारा छू लेने से हाथ जल जाता है, आप चिन्तन भी कर सकते है और देखकर सोच भी सकते है कि अगारा जलानेवाली वस्तु है परन्तु जब आपकी उगली उस पर पड जाए और जब जल जाए तो फिर जलने की अनुभूति हम सब की हो जाती है। लेकिन जहा तक दार्शनिक का प्रश्न है उसमे चिन्तन और तर्क अधिक होता है। अनुभूति का प्रश्न जन-जीवन के साथ उतना गहरा रूप मे नही जुडा रहता जितना कवि का काव्य।

हमारे पुस्तकालय जो है वह उनमे स्थापित रह सकते है। परन्तु कवि हमारे स्पन्दन के साथ जिएगा, अन्यथा नही जिएगा। उसके साथ वह जीता है, वह आपका साथी है, हर समय साथी है। आपकी हर अनुभूति मे वह आपके साथ है अन्यथा वह नही है। तो मैं नही समझती हू कि प्रसाद ऐसे कवि है कि जो आपके केवल चिन्तन मे है या आपको केवल उपदेश देते है या केवल एक दर्शन की पद्धति बताते हैं। वे आपके निरन्तर साथी है, हर सुख दुःख के साथी है, आपके स्वप्न के साथी है, आपके स्पन्दन के साथी है। अब हम जो उनके उत्तराधिकारी है, हमे करना क्या चाहिए? दूसरे देशो मे तो अपने ऐसे महाकवियो के लिए कैसे स्मारक होते है आप जानते है कि उन्होने कितने प्रयत्न से उन स्थानो को वैसा ही रक्खा है जैसे वे उनके जीवनकाल मे थे। जिन वस्तुओ का वे उपयोग करते थे, जहा वे रहते थे, उसे उसी तरह सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है और उसका कारण है—पार्थिव शरीर तो एक दिन नष्ट होता ही है। कितने ही वर्ष, मान लिया १०० वर्ष चलता तो भी वह शरीर नष्ट होता लेकिन वह हमारे समान था, हमारी ही मिट्टी

का था—इसे स्मरण करने के लिए हम उनके उपभोग की वस्तुए, जहां वे रहते थे, उनकी सुरक्षा करते है।

तो मैं समझती हूं प्रसाद जी ने जितना काम किया है उसके अनुसार इस देश में उनके उपयुक्त एक स्मारक निश्चित रूप से होना चाहिए और हिन्दी के नाटकों के तो वे जन्मदाता है। अभी तक उनके आगे नही बढ़ा जा सका इसलिए एक ऐसी रंगशाला भी होनी चाहिए जहा आप उनके नाटकों के अभिनय का प्रबन्ध कर सकें, देख सके। उन्होंने नाटक इसीलिए लिखे कि आपकी प्राचीन सारी संस्कृति आपके सामने आ जाए उसकी त्रुटिया भी आ जायँ उसके समाधान खोजने की दिशा मे भी आप प्रयत्नशील हो। हमारे यहाँ विश्वविद्यालयों म भी उनकी कृतियों के विशेष अध्ययन का प्रबन्ध होना चाहिए। विदेश मे हर विश्वविद्यालय मे ऐसे कवि के लिए 'चेयर' होती है। हमारे विश्वविद्यालयो मे तो बहुत कम पढानेवाले हैं, आपको आश्चर्य होगा, मैं किसी अपमान सम्मान के लिए नहीं कहती हूं, परन्तु साधारणतया कामायनी को पढ़ानेवाले व्यक्ति नही मिलते है। चारों ओर एक प्रकार की भ्रान्ति है कि कामायनी इतनी क्लिष्ट है इतनी कठिन है और न जाने कितने दर्शन उसमे एकत्र उन्होंने कर दिये है अर्थात् उनको कुछ नही मिला तो सारे दर्शनो का निचोड उन्होंने इसमे एकत्र कर दिया है—महाकवि बनन के लिए। ऐसी कल्पना ही व्यर्थ है। कामायनी तो वही—'तुमुल कोलाहल कलह मे मै हृदय की बात रे मन" - आपके हृदय की बात नही है तो कोई बात नहीं है। आज आपके साथ मैं अपने मान्य अग्रज प्रसाद को शत-शत प्रणाम देती हूं। उनकी स्मृति तो निरन्तर नवीन है और जब तक ये देश नही, मै समझती हूं कि आनेवाली सब पीढ़ियाँ उन्हें अपना संगी ही पायेंगी और हम प्रयत्न करे कि हम उनके उत्तराधिकार को सम्हाल सकें।



हीरक जयन्ती वाले इस व्याख्यान के अनन्तर १९८७ के अप्रैल मे उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान ने जब प्रसाद मन्दिर में कामायनी अर्द्धशती समारोह आयोजित किया और आग्रह किया कि मैं महादेवी जी को उसकी अध्यक्षता के लिए बुलाऊँ तब एक बाध्यता वश मैंने उन्हें औपचारिक पत्र भेजा। उनकी शारीरिक दशा मुझे ज्ञात थी किन्तु लोगों के सन्तोषार्थ लिखना पड़ा। उसके उत्तर में उनकी जो पंक्तियाँ आईं वे भी उसी मूल बिन्दु को रेखा विस्तार दे रही हैं—इसलिए आगे उद्धृत है।

(रत्नशंकर प्रसाद)

आयुष्मान प्रिय रत्नशंकर

शुभाशिष:

तुम्हारा पत्र मिला तथा यह जानकर कि कामायनी का अर्धशती समारोह मनाया जा रहा है बड़ी प्रसन्नता हुई।

मैं कई मास से स्पाडिलाइटिस से पीडित हूँ। कण्ठ मे तथा पीठ पर पट्टा बांधना पड़ता है। आना जाना तो पीडा के कारण बन्द ही है और डाक्टर भी यात्रा की अनुमति नही देते। इस पीडा के साथ ही अधिक रक्तचाप भी है। ये सब वृद्धावस्था की व्याधियाँ है और इनसे मुक्ति तो जीवन से मुक्ति मे ही सम्भव है।

तुम्हारे समारोह की सफलता के लिये शुभकामनाये प्रेषित है।

कामायनी मेरी प्रिय पुस्तक है। वह किसी एक कालखण्ड मे सीमित नही हो सकती क्योंकि वह मानव जीवन की शाश्वत कथा होने के कारण कालजयी गाथा है। बुद्धि जब मानव की आस्था पर अमरबेल के समान छा जाती है तब मनुष्य अशान्त तथा संघर्ष प्रिय हो जाता है। आज के बुद्धिवाद के युग मे यह अधिक प्रासंगिक हो गई है।

सम्भव है हम भी इस शुष्क तथा संवेदना रहित बुद्धिवाद से थककर तथा नित्यनवीन मारक शस्त्रो के होड मे पराजित होकर कामायनी द्वारा संवेदित आनंद की स्थिति मे पहुँच सके। प्रयत्न करना चाहिये कि कामायनी का सन्देश अधिक से अधिक प्रसार तथा प्रचार पा सके।

सबको मेरा आशीर्वाद तथा नमन पहुँचा देना।

शुभास्ते पन्थान सन्तु।

शुभेच्छुका

महादेवी

·प्रसाद की याद

—आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री

(१)

बाहर से, दो परस्पर विरोधियों को मिलाने के लिए, हमें कितने ही तर्कों और सिद्धान्तों का सहारा लेना पड़ता है; किन्तु प्रकृति में सहज भाव से फूल और काँटे मिले हुए हैं; उजाला अँधेरे से आँख-मिचौनी खेल रहा है।

प्रसाद ने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व में दो परस्पर विरोधियों को मिलाने का प्रयत्न किया, इसीलिए उन्हें तर्कों और सिद्धान्तों पर अधिक बल देना पड़ा है। वह महान बने; सहज न रहे।

जहाँ धरती और आकाश मिलते है उसे क्षितिज कहा जाता है; जहाँ काव्य और दर्शन मिलें, उस बिन्दु को 'प्रसाद' कहा जाना चाहिए? यों धरती और आकाश नहीं मिलते; काव्य की नीलिमा एवं दर्शन की पीतिमा ने नीर-क्षीर की तरह घुल-मिल कर प्रसाद की हरियाली उपजाली थी। किन्तु काव्य और दर्शन परस्पर विरोधी कहाँ हैं?

क्या प्रसाद का कवि मूलतः भोगी था, जिसे योगी बनाते-बनाते वह टूट गए? क्या प्रसाद का मन विशुद्ध सौन्दर्योपासक था, जिसे कल्याणी करुणा और समरसता न पची और वह बिखर गया? प्रसाद के गन्धर्व-सुन्दर तन को शिव का मृत्यंजय मन नही रास आया?

उन्हें तो जीना था; क्यों जल्दी मर गये?

× × ×

गम्भीर भावों और उच्च विचारों को अपनी आत्मा में घुला-मिला कर पूर्ण वाणी देने वाले प्रसाद के ऐसे कितने कवि होते हैं?

दर्शन और सौन्दर्य के ताने-बाने से उनका समग्र व्यक्तित्व बुना हुआ था; भावों और विचारों के अभूतपूर्व मिश्रण से वह जो प्रगाढ़ रस सिरज सके, छलकने वाले उसका स्वप्न भी देख सकते हैं क्या?

इच्छा, ज्ञान और कर्म की समरसता उनके सन्तुलित जीवन की नींव थी। उनकी उदात्त कल्पनाएँ ऊँचे आचरण के आभिजात्य से ऐश्वर्य प्राप्त करती थी;

उनकी अडिग आस्था शान्त और सुन्दर में गहरे-गहरे धंसी हुई थी, तभी वह अपने सुख को विस्तृत कर सबको सुखी बनाने का सन्देश दे सके कि जैसे किसी की मीठी मुसकान देख कर हिमालय की हँसी निर्झर के रूप मे फूट कर बह चले !

प्रसाद का 'आनन्द' निरा शास्त्रीय सिद्धान्त नही, उनकी तरल अनुभूतियो से छन कर सद्यःस्नात-सा गीला और ताजा है। सतही यथार्थ से कृच्छ्र आदर्श को न तोलें तो अभीष्ट की महार्घ उपलब्धि का मर्म मालूम होते देर न लगे। अस्तु,

वह शङ्कराचार्य और विवेकानन्द के समान आत्म-द्रष्टा और शील, सस्कृति के अलौकिक स्रष्टा थे। उन्होंने उन्ही की प्रबोध-तृप्त आयु भी पाई। वह अमर हैं।

× × ×

सारी रात अन्तर्द्वन्द्वो मे पडा छटपटाता रहा। सन्ध्या समय श्री आनन्दमोहन वाजपेयी एम० ए० के अनामिका-कुटीर मे बैठा करता था। वह आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के यहाँ के थे। आज जैसे ही पहुँचा वह मेरी ओर 'लीडर' और 'भारत' के अङ्क बढ़ाते हुए बोले :—

प्रसाद जी नही रहे।

थोड़ी देर निर्वाक् बैठा रहा, फिर बोझिल मन लेकर गेस्ट हाउस लौट आया। रायगढ़ के जीवन में डा० बलदेव प्रसाद मिश्र के अलावा वाजपेयी जी ही थे, जहाँ क्षण भर आत्मीयता का वातावरण मिलता था। प्रसाद और निराला हमारे वार्तालाप के मुख्य विषय होते। उन्होने अपनी बडी लड़की का नाम अनामिका और दूसरी का कामायनी रक्खा था।

यों तो मैं साहित्य के अतिरिक्त वेदान्त का भी आचार्य हूँ और मर्त्य ही नही, स्वर्गलोक के जीवन की क्षणभंगुरता पर भी प्रवचन कर सकता हूँ, किन्तु प्रसाद के आकस्मिक निधन से 'दिल पे कुछ ऐसा वक्त पड़ा' कि भागने पर कही राह न मिले ! आत्मा मे अन्धकार भर जाने पर भी बुद्धि मे ऐसी बारीकी न आई कि कहूँ :—

मेरा तो फ़र्ज़ चमन-बन्दी-ए-जहाँ है फ़क़त
मेरी बला से, बहार आये या खिजा गुज़रे !

जो साहित्यिक पत्रकारिता को प्रसिद्धि और साहित्यिक राजनीति को सिद्धि का माध्यम मानते है, उन्हें प्रसाद की याद नही आएगी, वह कामायनी के धरातल से भारत-भारती के धरातल पर हिन्दी-कविता को बड़ी बहादुरी से ला पटकेंगे, वह उसी खुराफात को कविता कहेगे जिसे वह खूँटा गाड़कर पैदा कर सकेंगे, किन्तु जो इतने बुद्धिमान नही है उनके 'अबोध, अकिंचन बेसुध चैतन्य की विकल वेदना' किन शब्दों से बँधेगी ?

निष्ठुर खेलों पर जो अपने
रहा देखता सुख के सपने,

आज लगा है लो, वह कँपने,
देख मौन मरने वाले को !

(२)

मैंने सर्व-प्रथम प्रसाद जी को सन् '३२ में देखा था। बनारस के टाउन हाल में रत्नाकर जी के साहित्यिक श्राद्ध के रूप मे एक कवि-गोष्ठी आयोजित हुई थी। सामान्य शोक-सभाओ से यह अत्यधिक प्रभावोत्पादक थी। स्वयं रत्नाकर जी के तदाकार सुपुत्र ने भाव-विह्वल होकर, रत्नाकर जी के ही रग मे, दो-चार घनाक्षरियाँ सुनाई थी। सभवत: इस गोष्ठी की अध्यक्षता प्रसाद जी ने की थी। मंच पर एक ओर पंडित जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' और दूसरी ओर हितैषी जी, पं० पद्मकान्त मालवीय आदि कविगण विराजमान थे। पद्मकान्त जी का अचानक गला खराब हो गया था वह मुखड़ा सुना कर हट गये थे और किसी भी प्रकार स-सुर पद्धति छोड़ कर अ-सुर प्रणाली अपनाने को तैयार न हुए थे। 'प्रसाद' जी ने मन्द्र-मधुर स्वर से संभवत 'आँसू' के कुछ छन्द सुनाये थे।

सभवत: इसलिए कि मै तब तक प्रसाद-साहित्य का स्वल्पांश ही पढ़ पाया था : स्वर्ग के खँडहर में' नामक कहानी, जो सुधा के विशेषाङ्क मे छपी थी और असशोधित 'आँसू' के कुछ छन्द, जो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कक्षाओ मे अप्रस्तुत विधान के सिलसिले मे सुने थे। प्रस्तुत-अप्रस्तुत तो मैंने संस्कृत मे बहुत पढे थे; किन्तु आलोडन और उत्ताप के उन्नयन की जो दो अद्भुत छवियाँ तब मानस-पट पर अङ्कित हुई थी, वह अब भी अमिट है। उनमे एक निराला की है, दूसरी प्रसाद की :

द्वेष, दम्भ, दुख पर जय पा कर
खिले सकल नव अङ्ग मनोहर;
चितवन संसृति की सरिता तर
खडी प्रेम के सिन्धु-किनारे !
देख दिव्य छवि लोचन हारे ! !

—निराला

निस्मृत-समाधि पर होगी
वर्षा कल्याण-जलद की,
सुख सोए थका हुआ-सा,
चिन्ता छुटे जाय विपद की !

—प्रसाद

जब स्वयं प्रसाद जी झूम-झूम कर सुना रहे थे, तब मुस्कान और प्रकाश में डूबे हुए वे छन्द अवश्य रहस्य भरे 'आँसू' के ही होगे ! जो हो, मैं इस-ऐसी गति

और स्थिति की कोई संज्ञा नहीं जानता। हेरिक की भाँति प्रार्थना भर करता हूँ, कोई तिष्यरक्षिता की छुरी से कुणाल की आँख न निकाले :—

Here a pretty baby lies
Sung a sleep with lullabies
Pray be silent and not stir
The easy earth that covers her.

—Robert Herrick

हार्दिक विमलता के बिना यह सलीका संभव नही। दिल मे खुब जानेवाली खूबियों की चीर-फाड कर कोई पाएगा भी क्या ?

दूसरी बार उन्हें फुटपाथ पर पं० विनोदशङ्कर व्यास के साथ मंच की अपेक्षा अधिक निकटता से निरखा। हँस के डैनों की तरह सफेद शान्तिपुरी धोती और रेशमी कुर्ते-चादर मे उनकी दीप्ति देखते ही बनती थी। हाथ मे जडाऊ मूठ वाली छड़ी लिए मोटी गर्दन और कसे कन्धो को हल्के झुकाए, आँखो मे मुसकिराते हुए। उस दिन लाला भगवानदीन विद्यालय मे कोई कविसम्मेलन था, मुझे वहाँ पहुँचने की जल्दी थी, जुडे हाथ सिर पर रखकर लहर मारता निकल गया। ऐसे ही उन्हे यहाँ-वहाँ दूर-दूर से देखता था, पास पहुँचने का विश्वास मन के खोखल मे दुबका हुआ पंखों की प्रतीक्षा करता रहा। कही पढा था

नफस न अंजुमने आरजू से बाहर खैंच,
अगर शराब नही, इन्तज़ारे सागर खैंच !

विश्वप्रकृति की लीला अद्भुत है। कौन कह सकता है कि मिट्टी की परतो के नीचे दबे हुए एक छोटे से छोटे बीज की भी वह किस तत्परता से रक्षा करती है, कैसे उसे अकुरित होने, बिरवे के रूप मे नरम धरती मे जडे मजबूत करने का अवसर देती है। फूल वसन्त की प्रतीक्षा करते थकता कहाँ है ?

आखिर १०-९-३५ को वह अवसर भी आया। स्वयं निराला जी मुझे प्रसाद जी से मिलाने ले आए। अस्सी पर वाजपेयी जी के यहाँ ठहरे हुए थे, मेरे साथ पहले पं० विनोदशङ्कर व्यास के घर पहुँचे, फिर मुझे मन्दिर-मस्जिद दिखलाते हुए, मत्त गयन्द गति से सराय गोवर्धन—प्रसाद जी के पास ले आए। व्यास जी तब तक वहाँ पहुँच चुके थे।

डेढ टके के लिबास मे मैं बड़े-बड़ों के बीच घँसा पडता था, थान का टर्रा होना मुझे भाता न था, विवशता थी। प्रसाद जी को हर बार राजसी ठाट में ही टक-टक देखा था, ओंठ तक न हिला रहा था कि इस अनदेखी झाँकी ने मेरी हीनता हर ली। आज उन्हे देखकर शङ्कर के सम्बन्ध मे कालिदास की उक्ति स्मृति में कौंध गई :

इस घड़ी वह एक गाढ़े की लुंगी, और उसी कपड़े की एक आधी बाँह की गंजी जिससे रुद्राक्ष झाँजता हुआ-सा और काठ की चट्टी पहने हुए गुलाब, सोनजुही, बेला, रजनीगन्धा और मुकुलित मालती के कुञ्ज में सिंचाई के झरने के साथ विचर रहे थे। अप्रत्याशित रूप में निराला को उपस्थित देख स-संभ्रम बारादरी में आ गए। जैसे कपास के गोले को हवा के झीने झकोरे ने गन्ध की उँगलियों से भरपूर छू दिया हो; जैसे हरी-हरी पत्तियों के झूमर से किसी फूल के दिए की लौ झिलमिला उठी हो, मेरे अन्तर के रोएँ-रोएँ पुलकित हो रहे थे। कल निराला, आज प्रसाद, यह उन्मत्त आह्लाद कहाँ अटता! निराला जी मेरे बारे मे वह सब कह गए जो केवल अद्भुत रस के विभाव-अनुभाव में आता है; किन्तु प्रसाद जी की निस्संग समरसता की आँखें मुसकिराती ही रही। अब निराला जी मेघदूत के कुछ श्लोकों की अपनी मौलिक व्याख्या सुनाने लगे। (इसी दरम्यान जलपान-पान का एक दौर भी खत्म होने को आया) फिर जानना चाहा कि प्रसाद जी को वह व्याख्या कैसी लगी। इस बार उन आँखों मे एक अजब-सी चमक पैदा हुई और मुसकान पर पान का रंग चढ़ गया। मेरी ओर इंगित कर बोले : 'आचार्य' जानकीवल्लभ से पूछ देखिए। मेरे अबोध कैशोर ने इसे अपना चौरंग उड़ाना समझा। झड़े दिमाग से संस्कृत का एक क्लिष्ट और लच्छेदार वाक्य बोल गया। प्रसाद जी ठठाकर हँस पड़े।

आनन्द के प्रवक्ता के रूप में प्रसाद जी प्रसिद्ध है; किन्तु उनका सत्, चित् रूप देखनेवालों ने ही देखा होगा। प्रसाद जी अकर्मण्य भावुक न थे, उनका कर्म भी तुमुल, कोलाहल कलह न था। भाव और कर्म के सौन्दर्य एवं शक्ति से उनके शील ने श्रद्धा की सृष्टि की थी। निराला उन्हें 'श्रद्धादेवो वै मनुः' यो ही नही कहते थे।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा मे श्री मैथिलीशरण गुप्त की स्वर्णजयन्ती मनाई जा रही थी। सभा प्रसाद, निराला, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, रायकृष्णदास, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० वाचस्पति पाठक,—ऐसे प्रथम श्रेणी के साहित्यकारों से खचाखच भरी हुई थी। वक्ताओं में कोई-कोई जनता के नारे लगा कर गुप्त जी को टैगोर से भी श्रेष्ठ सिद्ध कर रहे थे। अवश्य घोर असाहित्यिक और राजनीतिक व्याख्यान ही नहीं हुए, कुछ 'मितं च सारं च वचो हि वाग्मिता' के निदर्शक कलात्मक प्रवचन भी हुए। निराला का प्रवचन ऐसा ही था; किन्तु जाने किस जन्म का वैर सधाना था, मंच छोड़ते-छोड़ते, बिना किसी पूर्व-सूचना के, अचानक एक शिगूफा छोड़ दिया कि अब उनके बाद, आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री गुप्त जी पर संस्कृत में भाषण करेंगे। प्रसाद जी की वही मार्मिक मुस्कान कोंच कर मुझे उठने के लिए उकसाने लगी। और उन्नीस वर्ष का आचार्य वैसे धुरन्धर दिग्गजों के बीच दाँतों में तिनका लेकर खड़ा हो गया।

मैं धाराप्रवाह संस्कृत बोल सकता था : बगैर कामा, फुलस्टाफ के बोलता चला गया। सभा में सन्नाटा छाया हुआ था; निराला हौसला बढ़ा रहे थे; भले-भले, बेड़ा पार लग गया।

आज पहली बार प्रसाद का आशीर्वाद बरसा। निराला बोले : और मैं क्या कहता था ?

अब सराय गोवर्धन मेरा पुण्य तीर्थ हो गया। उनकी अगाध विद्या, संश्लिष्ट बोध और भावुक बौद्धिकता ने मेरी जड़ चेतना को निर्मल आलोक का दुर्लभ दान दिया। मैंने देखा, संस्कृत के आर्ष ग्रन्थो की ओर उनका अधिक झुकाव था, वह सरता-बरता कर काम नही चलाते थे। तब तक मै आगम-निगम को नाम मात्र से जानता था, वह निष्णात थे। कहते थे, परवर्ती साहित्य मे उनकी कम रुचि है। प्राकृत, पालि और अपभ्रंश के भी वह विशिष्ट अध्येता थे। कुल मिलाकर उन्हे अन्धकार से प्रकाश काढ़ लाने मे अधिक आनन्द आता था। अन्धकार का अर्थ धुन्ध-धुआँ नही, सुदूर अतीत की निर्धूम आग है, जिससे सत्य की सनातन ज्योति का आविष्कार कर वह मानवता को विजयिनी बनाने के आशी-अभिलाषी थे।

न उनमें शक्ति या साधना की कमी थी, न उनका लक्ष्य धुंधला था। यह जो गोचर से अगोचर तक का प्रसार है, अव्यक्त आदि मे अव्यक्त अन्त तक को समेट कर व्यक्त मध्य को बृहत्तर और महत्तर रूप मे ग्रहण करने का विशिष्ट आग्रह है, इसे ही उनका 'रहस्य' समझना चाहिए।

कोरी समकालीनता टुच्ची और पोली है, सौन्दर्य-विहीन शक्ति विध्वंसात्मक और स्मशान की ऊष्मा लिए होती है, इसे प्रसाद ने अपने शाश्वत साहित्य मे विविध रूपों में व्यक्त किया है।

ऐतिहासिक दृष्टि वैज्ञानिक दृष्टि है, तुकबंदियो मे इतिहास दुहरा देने से कोई प्रसाद नही हो जाता। उनका इतिहास-दर्शन जीवन-दर्शन है, वह जीवन-दर्शन जो मानव को आनन्दमय देखता है जब कि आनन्द विराट विश्व-प्रकृति से समरस होने पर ही उपलब्ध होता है। दूसरे शब्दो मे प्रसाद का साहित्य मानव जाति को श्रद्धा-पूर्वक दिया हुआ उदात्त आनन्द (आत्म-) दान है।

एक दिन प्रसाद जी निराला जी से मिलने आए। उन-दिनो 'गीतिका' छप रही थी और निराला जी पं० वाचस्पति पाठक के अतिथि थे। इस घड़ी वह कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह के यहाँ हम लोगों के साथ बैठे बाते कर रहे थे, इस कारण प्रसादजी वही आ विराजे। निराला अलौकिक और प्रसाद लोक-वेद मे रयि और प्राण के-से सहज समन्वय के सिद्ध साधक। जैसे जीवन का प्रत्येक क्षण एक अस्पष्ट आवरण से ढँका है और उस अस्पष्ट को जीने योग्य बनाने के लिए मानव सदा उत्सुक और सचेष्ट रहता है, कुछ ऐसे ही उनके आलाप-संलाप के अगम गहन की जिज्ञासा का ज्वार

मेरे छिछले में आया हुआ था। देखा, तोतों को रटानेवाले की पच्ची खोपड़ी ही नहीं जिलाई थी इन्होंने। यहाँ तो कुछ ऐसी बात थी कि तलवार की आग से बचा तो दागी, न बचा तो गया। सीधे-सादे लटके तो खैर, मुझे फूटी आँखों न भाए, फिर इन्होंने 'विद्वत्ता' की सनद भी नहीं हासिल की थी! अवश्य ज्ञान के ऐसे विकसित और परिष्कृत स्वर ढोल से नही फूटते।

कालिदास ने जैसे मेरे ही लिए लिखा है :

"द्विजाति-भावादुपपन्नचापल:।"

चुप्पी साधना अपने बस का रोग नही है। मैंने बात फेरने की कोशिश की : "संस्कृत नाटकों में स्वाभाविकता लाने के लिए पात्र-भेद से भाषा-भेद देखने में आता है। मृच्छकटिक में ऐसी अनेक प्राकृत भाषाएँ व्यवहृत हुई हैं जो दूसरे नाटकों में नही हैं। भास और कालिदास ने भी सर्वत्र संस्कृत के साथ प्राकृत का व्यवहार किया है; किन्तु आपके नाटकों में ऐसा नहीं है। 'चन्द्रगुप्त' में तो विदेशी युवती भी अत्यन्त परिष्कृत भाषा बोलती और आध्यात्मिक स्तर का राष्ट्रीय गीत गाती है।....'

'संस्कृत के अलावा और भी तो भाषाएँ हैं? शेक्सपियर ने अँग्रेजी कहाँ छोड़ी है? गिरीशचन्द्र या डी० एल० राय बँगला में ही तो लिखते हैं, क्या वे अच्छे नाटककार नही हैं? सोचिए तो सही, सिकंदर और सिल्यूकस से किस भाषा में बातें करवाता? चाणक्य किस भाषा में बोलता? फिर इतनी सारी भाषाओं का प्रयोग करने पर मेरे नाटक नाटक ही रहते या भाषा विज्ञान के ग्रन्थ बन जाते?....(हँसी)

'रही बात विदेशी तरुणी की। मैं पूछता हूँ, क्या भारत के इतिहास-भूगोल का सामान्य परिचय ही राष्ट्रीय-बोध होता? भारत की संस्कृति, भारत की आत्मा को समझे बिना किसी पर भारतीयता का रंग क्या चढ़ेगा? और यदि मैं उसे इसी रंग मे सराबोर दिखलाना चाहता था, तो दूसरा उपाय भी क्या था?'

× × ×

'आप लाक्षणिक पद्धति पर अधिक बल देते है, इससे आपकी अभिव्यक्तियों में चित्रात्मकता बहुत है; किन्तु कालिदास व्यंजकता के कायल थे और प्रकृति तथा मानव प्रकृति के अनुपम चितेरे भी....'

'मुझे कालिदास से भारवि अधिक पसंद है।'

मैंने किलकारी मार कर कहा : 'भारवेरर्थगौरवम्! अब सहज और अलंकृत का अन्तर दुर्बोध न रहा। मेरे बहुतेरे संशयों का समाधान मिल गया।'

अब तक सुनी और देखी का विभेद अमरनाथ की हिम-प्रतिमा-सा सुस्पष्ट हो चुका था। सुना था, प्रसाद जी किसी भी कवि सम्मेलन मे नही जाते; कभी काव्य-पाठ नहीं करते, मैंने उन्हें पहली बार कवि-सम्मेलन में काव्य-पाठ करते हुए ही देखा। सुना था, वह किसी सभा-समिति में नहीं जाते, मैं गुप्त जी की जयन्ती के

अवसर पर आयोजित सभा में उन्ही के पास बैठा हुआ था। सुना था, वह अपने सम्बन्ध में पूछे गए प्रश्नों को टाल जाते है, मैंने साल-दो-साल तक अपनी आयु के अनुरूप छोटे-छोटे प्रश्नों मे भी उन्हे गहरी दिलचस्पी लेते देखा था। अब झूठ के पुल बाँधनेवालो से कोई कितना माथा टकराए ! यह सच है कि वह कृष्णानन्द गुप्त-ऐसो का प्रतिवाद नही करना चाहते थे; माइक पर गलाफाड़ भाषण देकर श्रोताओं को अभिभूत नही करना चाहते थे। किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समान महारथी जब 'रहस्यवाद' पर लिखते हुए अपने हाथ से छूट जाते थे तब उनकी लेखनी सत्य का उद्घाटन करते झिझकती भी न थी। इसी प्रकार मुझ-जैसे निरीह जिज्ञासु के बालोचित प्रश्न पर तिनकते, तिलमिलाते किसी ने भी न देखा होगा उन्हे।

'समालोचक' मे पढ़ा था कि प्रसाद जी का 'कामना' नाटक (मैंने इसे रङ्गमंच पर सफलता-पूर्वक अभिनीत होते देखा था) कवित्व-पूर्ण क्लिष्ट भाषा के कारण असफल है। भवभूति और मुरारि के नाटक जिसे कण्ठाग्र हों उसे किसी की भी भाषा क्लिष्ट नही, सहज-सरल ही प्रतीत होती, यहाँ मेरे लिए अटकाव-भटकाव की गुंजाइश न थी; किन्तु उसमे एक टिप्पणी थी कि कामना Red Orleans के आधार पर बनी है। ढंग 'प्रबोध-चन्द्रोदय' और Pilgrim's Progress का है। यही मैंने प्रसाद जी से पूछा तो बोले :

"आपने इनमे से कौन-कौन-सी पुस्तके पढी है ?"

कहाँ तो मेरे बचपने ने वह धाक बाँधी थी कि कोई और सुने तो गर्द हो जाय और प्रसाद जी पर भी कम-से-कम मेरी अध्ययनशीलता का मन्त्र चल जाय, मगर यहाँ तो लेने के देने पड़ गए।

फिर उन्होंने अपनी मौलिक मुस्कान जुबान मे घुलाकर पूछा : 'प्रबोध चन्द्रोदय' तो पढ़ा होगा ?'

मैंने भी सँभल कर केचुल बदली : 'जी हाँ, प्रबोध चन्द्रोदय ही क्यों, चैतन्य-चन्द्रोदय भी पढा है। किन्तु जैसे 'चण्डकौशिक' का रूपान्तर 'सत्य हरिश्चन्द्र' है, 'कामना' वैसी तो नही है। वस्तुसाम्य भी आंशिक ही है।'

"अब और दोनो पुस्तके भी पढ़ डालिए। हिन्दी आलोचना संस्कृत-समीक्षा की भाँति सैद्धान्तिक ही नही होती।"

एक दिन सरेशाम बादाम की ठंढई पी-पिला कर निराला जी के साथ बाहर निकले और घूमते-फिरते नारियल बाजार वाली सुर्ती-सुंघनी की दूकान पर आ गए। उनके साथ पं० विनोद शङ्कर व्यास थे और, कहना न होगा, मैं भी था। कुछ ही क्षण बीते होगे कि श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी आ गए। निराला पर दृष्टि पड़ते ही वह सहम-से गए और उनकी अकुतोभय सजल वाणी भय से सूखने लगी। मैंने ऐसा

अद्भुत दृश्य कभी देखा न था। बाज के चंगुल में बुलबुल की भाँति निराला के पंजे में उनकी नीली नसोंवाली पतली कलाई बल खा रही थी। निराला उखड़ी-उखड़ी आवाज में बैसवाड़ी में बोल रहे थे और वह पल्लव की भूमिकावाली सुललित हिन्दी में। मैं पूर्वापर का ज्ञान न होने के कारण हैरान था। मेरी परेशानी प्रसाद जी समझ रहे थे, पर पूछने पर कुछ बतलाते न थे, (जब कि अभी-अभी मैं उनसे निराला जी के 'सरस्वती' के मुख-पृष्ठ पर सद्यः प्रकाशित, गीत—'सकल गुणों की खान प्राण तुम' का निराला जी के समक्ष, अर्थ पूछ-समझ रहा था) बस, मुस्काते जाते थे। आज मेरे आश्चर्य की सीमा न थी कि जीवन की अतल गहराइयों से रस ग्रहण करने वाला महाकवि 'मत चूको चौहान' वाले सतही धरातल से कौन-सा रस ले रहा था।

व्यास जी के बीच-बिचाव करने पर सूखी कलाई सात्त्विक स्वेद से बिछल कर अलग हो गई। शान्तिप्रिय जी नमस्कार कर चलते बने। फिर तो ऐसा अट्टहास गूँजा कि आसपास का विजातीय वातावरण तुहिन-कणों के उड़ते स्वन से ऊपर तक भर गया।

मैंने 'मन्वन्तर' नाम से कामायनी की कुछ पंक्तियाँ 'माधुरी' मे पढी थी। यों भी जब काशी मे ही रहा था, श्यामल लोक मे कर्म-चक्र के अरे की तरह घूमते रहने पर भी कभी-कभी प्राप्य से अधिक तृप्ति कैसे न मिलती ? मै शास्त्रों को रेगिस्तान नहीं मानता, अब ओस चाट कर प्यास बुझानेवालों को वे कब्रिस्तान भी जान पड़े, तो भटकती रूहों की सौगन्ध, मैं उन्हे छेड़कर शास्त्रार्थ नही करना चाहता।

निष्काम को मुक्ति चाहिए; किन्तु सौन्दर्य और आनन्द की कामना, रस की साधना अपने शाब्दिक चमत्कार से भी कुछ अधिक आकर्षक और सहज प्रतीत होती है। करने को, चैतन्व इस माध्यम से अपने प्रकृत रूप की प्रत्यभिज्ञा करता है।

उस दिन प्रसाद जी के अध्ययन-कक्ष मे काव्य-गोष्ठी जमी। श्रोताओं में सबसे बड़े आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी थे और सबसे छोटा मैं था। शेष थे पं० वाचस्पति पाठक, पं० विनोद-शंकर व्यास, प० लक्ष्मीनारायण मिश्र, कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह, नरेश, परमानन्द वाजपेयी आदि। पहले निराला ने तुलसीदास ('सुधा' में, धारावाहिक रूप में प्रकाशित)—नामक छह सौ पंक्तियों को अपनी लेटेस्ट कविता आङ्गिक, वाचिक और सात्त्विक अभिनयो-समेत सुनाई। यों अभी एक दिन मालवीय जी महाराज को भी सुनाई थी और महात्मा गांधी से थोड़ी ही भिन्न प्रतिक्रिया देखने को मिली थी। वैसे मालवीय जी को रस ले-लेकर मनोरंजन जी की 'फिरंगिवा' और सोहनलाल जी द्विवेदी की 'महाराणा प्रताप' कविता सुनते मैंने अपनी आँखों देखा था। आज की बात और थी। आज सब के सब एक ही घाट का पानी पीनेवाले इकट्ठे थे। तभी तुलसीदास रंग पर रंग और रंग पर जीवन

छोडते चले गए। तारो भरा अन्धकार तार-तार हो गया और प्रबोध का चन्द्र किरण-लहरियो मे लहराने लगा।

अब प्रसाद जी ने कामायनी की पाण्डुलिपि के पृष्ठ उलटे-पलटे और सौम्य स्निग्ध स्वर मे एक सर्ग सुना डाला। कान और आँख की एकाग्रता सोम की जुन्हाई मे अन्हाई-सी मस्त हो गई।

मुझे आकाशवाणी की सामान्य एव सर्व-भाषा कवि सभाओ मे कितनी ही बार कई-कई महाकवियो को एक साथ सुनने-सुनाने के सुअवसर प्राप्त हुए है, किन्तु तब तक पुस्तक-रूप मे अप्रकाशित उक्त दो महान काव्य-कृतियो को स्वय उनके महान् कला-स्रष्टाओ के मुख से एक साथ सुनकर जो अनुभूति हुई थी वह फिर कभी न हुई, न हुई।

(३)

फागुन आवत देखकर बन रूना मन माँहि
ऊँची डाली पात है दिन-दिन पीले थाहि।

कामायनी पूरे अर्थ मे प्रकाशित हो चुकी थी। प्रसाद जी ने अपनी प्रतिभा का चरम ऐश्वर्य आधुनिक हिन्दी कविता को अर्पित कर दिया था किन्तु यह अमर सर्वस्व-दान उनके भौतिक जीवन को बहुत मँहगा पडा। मन मे कैलास बसाकर तन कितने दिन धूल की मलिनता सहता!

मैं जन्मजात अकिंचन उसी किशोरावस्था मे रोजी-रोटी ढूढने के लिए विवश हो गया था। रायगढ राजकवि बनकर चला गया था। एक दिन निराला जी का पत्र मिला। लखनऊ की प्रदर्शिनी से लौटने के बाद प्रसाद जी अच्छे नही रह रहे है। तब मैं यह नही सोच सका था कि दक्ष के शाप से चन्द्रमा की एक-एक कला क्षीण होने लगी है। और जायसी की दूरदर्शिता तक तो मेरी मद दृष्टि फैल ही नही सकती थी

हौ रे पखेरू पखी जेहि वन मोर निबाहु
खेलि चला तेहि वन कहँ, तुम आपन घर जाहु!

नियन्ता की कठोर कृपा से उनके अन्तिम दर्शन भी होने थे। मैं शास्त्राचार्य्य के शेष वर्ष और इण्टरमीडिएट की परीक्षाएँ देने रायगढ़ से हिन्दू विश्वविद्यालय लौट आया था। बन्धुवर कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह के साथ प्रसाद जी को देखने की ठहरी। हम गए। रत्नशङ्कर जी चिकित्सकों की सम्मति का सकेत दे ही रहे थे कि प्रसाद जी ने देख लिया और अपने पास बुलाकर पहले की भाँति साहित्यिक चर्चा छेड दी।

सोना पीतल हो चुका था। गुलाब की अपत कँटीली डार हो बच रही थी। वह खाट से लग गए थे। किन्तु कोई विश्वास करे न करे, आँखे तब भी चमकीली थी और चेहरे पर पहले-जैसी ही दृढता थी।

स्पष्ट है, कामायनी में सुख-दुःख के ऊपर आनन्द की प्रतिष्ठा उन्होंने प्रत्यभिज्ञा-दर्शन, तन्त्रालोक या सौन्दर्य-लहरी का निचोड़ लाने के अभिप्राय से नहीं की थी, वह उनकी अपनी उपलब्धि थी।

पहले 'हंस' मे प्रकाशित 'प्रलय की छाया', अधूरी 'इरावती', हिन्दी-हिन्दुस्तानी आदि कई नए-पुराने विषयों पर वह बोलते रहे। चन्द्रप्रकाश जी साक्षी हैं, उन्होंने हिन्दी के कतिपय महारथियों के सम्बन्ध मे कैसी-कैसी बातें कही थी।

किन्तु उनका सबसे मार्मिक उद्‌गार राष्ट्रभाषा हिन्दी के सम्बन्ध में था, जो उन्होंने मृत्युशय्या से प्रकट किया था "जब हम तरुण थे, पूरे ओज और तेज से हिन्दुस्तानी के विरुद्ध लडते रहे थे, अब तो कूच करने का समय आ गया, कौन अपना रक्त-स्वेद एक कर लड़ेगा उसके लिए? निश्चय ही मैं सर्जनात्मक संघर्ष का विश्वासी हूँ, कोरे वाग्युद्ध का नही।"

रत्नशंकर जी चिन्तित हो रहे थे, हमे स्वयं उन्हे थका देने का आन्तरिक संकोच था। पर उपाय भी क्या था? शंकर के जटाजूट मे निकली गंगा का आवेग भला कौन रोक सकता था?

मैंने सजल दृष्टि की अंजलि प्रणिपात-पूर्वक अर्पित करते हुए कहा :

जब तक रामचरितमानस और कामायनी है, हिन्दी ही हमारी राष्ट्रभाषा रहेगी!



प्रसादजी

—मैथिलीशरण गुप्त

चालीस-बयालीस वर्ष हुए, मैं काशी गया था। एक सभ्रान्त कुटुम्ब के अतिथि के रूप में यह मेरी पहली दूर की यात्रा थी। हाँ, दूर थी। इसके पूर्व मैं अपने सम्बन्धियों के यहाँ आता-जाता था। परन्तु उस आने-जाने की सीमा दस-बीस कोस से अधिक न होती थी। बचपन में अयोध्या, काशी, प्रयाग और चित्रकूट की तीर्थ यात्राएँ अपने गुरुजनों के साथ में कर चुका था। परन्तु किसी के अतिथि के रूप में नहीं।

राय कृष्णदासजी मेरे आतिथेय थे। उन्होंने बड़े स्नेह से मुझे अपने यहाँ ठहराया था। स्वर्गीय बार्हस्पत्यजी से मुझे कुछ काम था और उन दिनों वे काशी में ही थे। उन्हीं दिनों स्वामी सत्यदेवजी अमेरिका से शिक्षा प्राप्त करके लौटे थे और देश मे घूम-घूमकर व्याख्यान दे रहे थे। इसी क्रम में काशी आये थे। नागरी प्रचारिणी सभा में उनका भाषण था। भाई कृष्णदास मुझे भी वहाँ ले गये।

स्वामी सत्यदेवजी के लेख सरस्वती में छपा करते थे और मैं उन्हें चाव से पढ़ा करता था। उनका भाषण भी वैसा ही प्रभावशील था। प्रसादजी भी सभा में आये थे और पहले-पहल वहीं मैंने उनके दर्शन किये। भाई कृष्णदास की उनकी घनिष्ठता थी। उन्होंने ही मुझे उनसे मिलाया। उनके व्यवहार में बड़ी शिष्टता दिखायी थी। मैंने समझा, मेरी रचनाओं के कारण ही प्रसादजी इतने सम्मानपूर्वक मुझसे मिल रहे हैं। परन्तु वह मेरी भूल थी। आगे चलकर मुझे पता चला वे मुझे कवि नहीं, पद्यकार मात्र मानते हैं, भले ही पद्यकार के पहले प्रतिष्ठित शब्द और जोड़ देते हों, इससे अधिक नहीं।

एक कविता संग्रह में, जिसमें तथाकथित छायावादी कवियों की रचनाएँ थी, मेरी भी दो-तीन कृतियाँ रख दी गई थीं। यह बात उन्हें ठीक नहीं लगी। संग्रहकार सोच में पड़ गये। मैंने उनसे कहा—मेरी रचनाएँ न रहने से मेरी कोई हानि नहीं, प्रसादजी सन्तुष्ट हो जायेंगे, यह लाभ है। इसलिए उन्हें छोड़ देना चाहिए। परस्पर स्नेह की वृद्धि हो जाने पर सम्भवतः मेरी रचनाओं के सम्बन्ध में भी उनके विचारों में कुछ परिवर्तन हो गया था। इसके पूर्व उन्होंने मेरी एक ही कृति को प्रशंसात्मक चर्चा की थी। वह थी 'केशों की कथा'।

जो हो, एक बार मिलकर उनसे मिलने की इच्छा रही। दूसरे दिन मैं उनके यहाँ जाने को था कि वे स्वयं कृष्णदासजी की कोठी पर आ गये। ठिगना परन्तु गठा हुआ सुन्दर शरीर, विशाल भाल और गौर वर्ण। मुँह में पान और अधरों पर मुसकान। धोती, कुरता और कौशेय की चादर। आकर्षक व्यक्तित्व। स्वल्प समय में ही मुझे ऐसा लगा मानो हम लोग चिर परिचित हैं।

जब-जब मैं काशी जाता प्रायः प्रतिदिन उनसे मिलना होता और घण्टों बैठक जमती। कभी कृष्णदास की कोठी पर, कभी उनके बँगले पर, कभी प्रसादजी के घर और कभी उनकी दूकान पर। कितना आमोद-विनोद होता कह नही सकता। बीच-बीच में खान-पान भी। पान धूम्र तक ही। तब मैं तम्बाकू पीता था। खाने के विविध प्रकार और प्रत्येक बार नये-नये। वे स्वयं पाकपटु थे। वैसे ही जैसे वाक्पटु। एक बार ही मैंने हासपरिहास मे उन्हे क्षुब्ध होते देखा। होली के दिन थे। इस पर्व पर लोग अपने इष्ट मित्र और व्यवहारियों के यहाँ आते है और दूसरे पर रंग गुलाल से होली खेलते हैं फिर बैठ कर हास-परिहास करते हैं। उस दिन हम लोग भी प्रसादजी के यहाँ गये थे। साथ मे कृष्णदास के प्रमुख कर्मचारी श्री गुरुधन सिह भी थे। बातचीत मे बहुत शिष्ट। हज़्र-हज़ूर कहकर उन्होंने भी व्यंग्य-विनोद में भाग लिया। बात कुछ बढ गयी। उत्तर-प्रत्युत्तर ने वाद-विवाद का रूप धारण कर लिया। एक बार कुछ हतप्रभ से होकर प्रसादजी ने एक अप्रिय बात कह दी। मैंने साग्रह उन्हें शान्त किया। गुरुधन सिहजी रंग-कुरंग देखकर पहले ही मौन हो गये थे। प्रसादजी का मुख लाल हो गया। उस दिन छनी भी कुछ गहरी थी। एक कारण यह भी हो सकता है कि उनके अभिजात्य को ठेस लगी हो। अन्तत गुरुधनसिहली कृष्णदास के वेतनभोगी थे और प्रमादजी उनके अन्तरंग बन्धु। इसी समय वहाँ स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० देवी प्रसाद कवि-चक्रवर्ती आ गये। मैं उनके विषय मे सुन चुका था और स्वयं उनसे मिलना चाहता था। प्रसाद जी ने परिचय कराया। मैं नही जानता था कि वे हिन्दी मे भी कविता लिखते हैं। कितने ही कवित्त पढ़कर उन्होंने नया वातावरण उत्पन्न कर दिया। आज भी उसकी गूँज मेरे मन मे उठती है :

एक पग नाव एक पग है करारे पँ

प्रसादजी काशी के प्रतिष्ठित नागरिक थे और वहाँ सब लोग उनका आदर करते थे। उमके टोले के लोग तो उन्हे अपना अग्रवर्ती ही मानते थे। उनसे वे प्रायः भोजपुरी में ही इस प्रकार आत्मीयतापूर्वक बातचीत करते थे कि मैं बार-बार सुनने को उत्सुक रहता था। साहित्यकारों का भी एक दल उनका अनुगत था। एक बार हँसकर उन्होंने कहा था, किसी की आलोचना प्रत्यालोचना का रस लेना हो तो मुझसे कहो और तटस्थ होकर कौतुक देखो। कहने को तो यह बात

उन्होंने कही परन्तु जहाँ तक मैं जानता हूँ, ऐसा कौतुक न तो उन्होंने स्वयं देखा, न दूसरों को दिखाया।

अपने भानजे स्वर्गीय अम्बिका प्रसाद के द्वारा, अपनी आर्थिक सहायता से 'इन्दु' नामक एक मासिक पत्र उन्होंने निकलवाया था। अधिकतर वे उसी में लिखा करते थे। अम्बिका प्रसादजी के आग्रह से मैंने भी दो-एक रचनाएँ उसके लिए भेजी थीं। सम्भवतः प्रसादजी ने भी ब्रजभाषा मे लिखना आरम्भ कर के अन्त में बोलचाल की भाषा को ही अपना लिया था।

परिचय बढ़कर स्नेह मे परिणत हो गया। यह मेरा सौभाग्य ही था कि कवि के रूप मे आदृत न होने पर भी मैं उनका स्नेह भाजन बन गया। मेरे काशी पहुँचने का समाचार उन्हें पहले ही से मिला रहता। वे ब्राह्मण के हाथ की बनाई हुई भी कच्ची रसोई न खाते थे। इसलिए कुछ पहले ही दोपहर का भोजन करके वे अपनी पालकी गाड़ी में बैठकर कृष्णदास के बँगले पर आ जाते और रात तक वहीं रहते। कभी-कभी हम साथ ही नगर मे जाते और प्राय· आधी रात तक मैं और कृष्णदास बँगले पर लौट पाते।

बड़ों-बड़ों को एक बार आर्थिक संकट का सामना करना पड़ता है। उस समय लोग बहुधा अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठते है। परन्तु प्रसादजी ने बड़ी धीरता और बुद्धिमत्ता से अपना काम-काज संभाला। ऋण चुकाने के लिए शीघ्र ही उन्होंने अपना एक गाँव बेच दिया। घोड़ा-गाड़ी भी नहीं रखी। इस विषय की चर्चा मे मैंने उनकी बड़ी सराहना की और कहा—यदि ऐसा न किया जाता तो ब्याज मे ही सारी सम्पत्ति स्वाहा हो जाती। मैं स्वयं भुक्तभोगी था और एक-एक के आठ-आठ तक देने को विवश हुआ था। .

उनकी दूरदर्शिता सचमुच प्रशंसनीय थी। पूछने पर वे किसी विषय में बहुत अच्छी राय दे सकते थे।

मैं समझता हूँ, आर्थिक दृष्टि मे प्रसादजी की और प्रेमचन्दजी की एक तुलना की जा सकती है। प्रेमचन्दजी अपने जीवनकाल मे प्रसादजी की अपेक्षा अधिक अभावग्रस्त रहे। परन्तु इन दोनों बड़े साहित्यकारों के साहित्य का लाभ इन्हें नहीं, इनके भाग्यशाली पुत्रों को ही मिला। कृष्णदास ने ठीक ही कहा था, प्रसादजी की कृतियाँ आज की नहीं, आगामी कल की है।

प्रसादजी के साथ न जाने कहाँ-कहाँ की बातें हुआ करती थी। परन्तु अपनी-अपनी रचनाओं के विषय में कभी भूले भटके ही हम लोग चर्चा करते। हाँ, कभी-कभी वे अपनी रचनाओं की पाण्डुलिपियाँ अवश्य मुझे दे जाते थे और मुझे इस बात का गर्व है कि छपने के पहले ही मैंने उनका रसास्वाद पा लिया था।

उनकी दूकान नारियल बाजार मे है। सन्ध्या को प्रसादजी वहाँ जाते और

दूकान के सामने एक दासे पर बैठा करते। उनके मित्र और मिलने वाले भी वहाँ पहुँच जाते और छोटी मोटी गोष्ठी हो जाती। वहाँ के आसपास के लोग भी उनका बहुत सम्मान करते थे। प्रसादजी कोरे कवि ही न थे, कुशल व्यवहार-बुद्धि भी रखते थे। गोष्ठी मे भिन्न-भिन्न रचनाएँ होती थी। कभी-कभी वाद-विवाद भी हो जाता था। परन्तु अधिकतर अट्टहास ही गूंजा करता। बीच-बीच मे ऊपर रहने वाली वेश्याएँ भी चौक कर नीचे झांका करती।

एक बार निरालाजी और नवीनजी के काशी आने पर उन्होने, कुछ लोगो को ब्यालू के लिए घर बुलाया। स्वर्गीय मुशी अजमेरी भी मेरे साथ थे। हम लोग सन्ध्या को ही जा जमे। निरालाजी सुन्दर गायक भी है। अजमेरी का कहना ही क्या। बालकृष्णजी का भी कण्ठ मधुर है। कविता और गान दोनो मे वातावरण गूंज उठा। निरालाजी मे भी कोई हिन्दी या बगला गीत गाने को कहा गया तो उन्होने कहा, मै क्या गाऊँ? मृदग न सही, तबला बजाने वाला भी तो कोई हो। साज बजाने वाला कोई साहित्यिक वहाँ न था। प्रसादजी चाहते तो तुरन्त किसी को बुला सकते थे। परन्तु वे मुसकरा कर रह गये। नवीनजी ने भृकुटीभग किया, मैंने समझा निरालाजी के मन मे उमग नही है। नही तो

मन मे आई हुलक
क्या खजरी क्या ढुलक

एक दो वार फिर निरालाजी मे कहा गया—ऐसे ही होने दीजिए। परन्तु वे गुरु गम्भीर वन कर अपनी पहली ही बात दुहराते रहे। नवीनजी से न रहा गया, सहसा बोल उठे—बडे गवैये बने है। अजमेरीजी बिना तबले के गा सकते है, तुम नही गा सकते तो····

क्षण भर सन्नाटा हो गया। निरालाजी पहले हँसे, फिर तुरन्त उन्होने गाना आरम्भ कर दिया।

भिन्न-भिन्न प्रकार के आठ-काठ इकट्ठे करके कभी-कभी कुटिल हँसी-हँसते हुए प्रसादजी आनन्द उठाते थे। बात बढ जाती तब अपनी कुशलता से वे सबको शान्त भी कर दिया करते थे।

सस्कृत की एक उक्ति है जिसका अर्थ है भूखा व्याकरण नही खाता और प्यासा काव्य रस नही पीता। यह सर्वथा सत्य है। एक दिन हम लोग सबेरे ही स्वर्गीय केशव प्रसादजी मिश्र से मिलने भदैनी चले गये थे। उन दिनो चाय-पानी भी नही करते थे। वहाँ बातो मे कुछ विलम्ब हो गया लौटते हुए रत्नाकरजी को भी जुहारना था। कवि को श्रोता से बढकर और क्या चाहिए। रत्नाकरजी कविता सुनाने लगे तो रंग मे आकर अक्षय भण्डार ही खोल बैठे। वे जैसा सुन्दर लिखते थे

वैसा ही पढ़ते भी थे। बहुत समय तक हम लोग रस में मग्न होते रहे। परन्तु अन्त में भौतिकता हमारी मानसिकता को आक्रान्त करने लगी। वाह-वाह करते हुए भी हम आपस में भेद भरी आँखों से देखने लगे। सहसा प्रसादजी बोल उठे—रत्नाकर जी हमें तो आपका वह कवित अच्छा लगता है :

चुप रहो ऊधो सूधो पथ मथुरा को गहो

बस, अन्त में, उसे और सुना दीजिए। सब लोग हँस पड़े। रत्नाकरजी भी मुसकरा गये। फिर भी उन्होंने वह छन्द सुना दिया। मार्ग में हम लोगों ने प्रसादजी की पीठ ठोकी।

एक दिन हम लोग अजमेरी का गाना सुन रहे थे। उन्होंने एक दादरे की पहली पंक्ति सुनायी :

पी लई राजा, तुम्हार संग भँगिया।

मधुर कण्ठ से गाते हुए उन्होंने कहा, इसका अन्तरा नहीं सुना। कुछ समय उपरान्त प्रसादजी ने कहा, मुंशीजी, यह अन्तरा कैसा होगा :

न जाने कब सारी सरक गई और दरक गई अँगिया।[1]

सुनकर अजमेरी प्रसन्न हो गये। वाह-वाह करके प्रसादजी की उन्होंने सराहना की।

एक बार बातचीत में कालिदास की चर्चा आ गयी। कालिदास गुप्त काल में हुए अथवा ईसा के पूर्व, इस विवाद का समाधान करते हुए उन्होंने कहा—दो कालिदास मान लेने से यह विवाद मिट सकता है। मैं यही समझता हूँ, काव्यकार कालिदास चौथी-पाँचवी शती में हुए और नाटककार कालिदास ईसा के पूर्व। मैंने कहा—जब तक पक्का प्रमाण न हो तब तक ऐसा कहना कालिदास के महत्त्व को घटाना है। मैं नहीं जानता, प्रसादजी का वास्तव में यही मत था अथवा मुझे चिढ़ाने के लिए विनोद में उन्होंने ऐसा कहा था।

उनका 'आँसू' काव्य पहले मेरे ही यहाँ प्रकाशित हुआ था। उसके किसी प्रयोग पर मैंने कहा—यह प्राचीन के विरुद्ध है। क्षणभर रुक कर वे बोले, हाँ, परन्तु मुझे यह ठीक लगता है। उनके कहने में आत्मविश्वास की झलक थी।

मेरी एक दुर्बलता है। यदि कविता अनुप्रासरहित हो तो कोई बात नहीं। परन्तु सानुप्रास रचना में अनुप्रास का उचित निर्वाह न होना मुझे खटकता है। जैसे 'कामायनी' के आरम्भ में ही :

१. वस्तुतः—
ना जानूं कैसे सरकि गई सारी ना जानूं कैसे दरकि गई अँगिया—(सं०)

………बैठ शिला की शीतल छाँह
………देख रहा था प्रकृति[1] प्रवाह

एक बार उन्होंने मुझे बताया—लोग बार-बार मुझसे मेरी रचनाओं के आशय पूछ कर मुझे अस्थिर किया करते हैं। एक ऐसे ही जिज्ञासु से मैंने कह दिया—जिस मूड में आकर मैंने यह कविता लिखी थी, उसी में मैं जब तक न जाऊँ तब तक कैसे समझाऊँ। हम दोनों हँसने लगे। ऐसी ही बात भगवान श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से कही थी, जब महाभारत के युद्ध के अन्त में शोकाकुल होकर युधिष्ठिर ने उनसे प्रार्थना की थी मुझे भी एक बार गीता का उपदेश देने की कृपा कीजिए।

प्रसादजी ने इसी प्रसंग में एक बार कहा था कभी-कभी कोई भाव अस्पष्ट रूप से सामने आता है तो उसे भी हम ले लेते हैं, छोड़ते नही। सम्भव है आगे चलकर लोग उसे विकसित करके सुन्दर रूप में व्यक्त कर सकें। मुझे यह देखकर सन्तोष हुआ था कि 'कामायनी' में भी एक सर्ग गीतमय है और उसमें भी सूत कातने की बात कही गयी हैं। 'साकेत' में सीता के मुख से कातने-बुनने की बात सुनकर एक समालोचक टीका टिप्पणी करने से नही चूके थे।

अतुकान्त कविता के लिए उन्होंने पहले अरिल्ल छन्द चुना था। उस पर मेरा मत भी जानना चाहा था। मैंने कहा—सुकुमार भावों के लिए ही वह छन्द मुझे उपयुक्त लगता है। घनाक्षरी सब रसों के उपयुक्त समझकर उसी के एक भाग को मैंने ले लिया था और उसी में 'मेघनाद वध' का अनुवाद किया था। कहने की आवश्यकता नही कि बंगला के पयार छन्द की भाँति यह भी वर्णवृत हैं। संस्कृत का अनुष्टुप भी वर्णवृत है। सियाराम शरण ने मेरे प्रयुक्त छन्द को और भी विभक्त करके नये रूप में उसका प्रयोग किया है। मै नही कह सकता मेरे स्नेह के कारण अथवा उपयुक्तता के कारण प्रसादजी ने भी उस छन्द मे कुछ लिखा है।

प्रसादजी रवीन्द्रनाथ की बंगला रचनाओं से प्रभावित थे, इस कथन का उन्होंने मुझसे यह कहकर विरोध किया था कि मै बंगला भाषा जानता ही नहीं हूँ। यह ठीक बात है। एक बार एक बंगला पुस्तक के कुछ अंश उन्होंने मुझसे सुने थे और अपनी समझ के अनुसार मैंने उनका अर्थ भी उन्हें बताया था। बंगला जानना उनके लिए सरल था, परन्तु जान पड़ता है, उस ओर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया।

एक बार स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा काशी आये थे। कृष्णदास के शान्ति कुटीर में छोटी-सी गोष्ठी हुई। रत्नाकरजी और प्रसादजी भी थे। मैंने पण्डितजी के आदेश पर 'साकेत' का अष्टम सर्ग पढ़ कर सुनाया। उसके अन्त में उर्मिला-लक्ष्मण के

१. वहां वस्तुतः प्रलय है, प्रकृति नहीं।

मिलन सम्बन्धी दो तीन पद्य हैं। उन्हें सुनकर प्रसादजी ने मुझसे कहा था—तुमने प्रसंग तो बड़ा मार्मिक और सुन्दर छेड़ा। परन्तु. उसमे तुम्हारी असमर्थता भी झलकती है। बहुत थोड़े में तुमने उसको समाप्त कर दिया। मैंने उत्तर मे कहा—तुम्हारी बात ठीक हो सकती है। परन्तु मुझे तो ऐसा लगता है कि मैंने फिर उसे छेड़ा और वह फूल की भाँति झडकर बिखरा! यह मेरी असमर्थता है तो उसे स्वीकार करने मे मुझे आपत्ति नही। उन्होंने फिर कहा—अरे, एक आलिंगन भी नही! धुत्!

एक दिन मिलते ही उन्होने मुझसे कहा—आज रत्नशंकर से किसी ने पूछा—तुम्हारे पिता ने 'आँधी' लिखी है, तुम क्या लिखोगे? उसने छूटते ही उत्तर दिया—'अन्धड'। मैंने हँसकर कहा—प्रभु करे ऐसा ही हो। पुत्रादिच्छेत् पराजयम्। आयुष्मान् रत्नशंकर को यह बात स्मरण रखनी चाहिए।[1]

मेरे लिए यह गौरव की बात है कि उन्होने मुझे अपनी कुछ अन्तरंग बाते भी बता दी थी। परन्तु किसी की गोपनीय बाते कहना उसके प्रति विश्वासघात करना है। यहाँ सत्य की दुहाई मिथ्या है।

केवल एक बार ही उन्हे मेरे विषय मे सन्देह हुआ था। फलस्वरूप कुछ दिन वे मुझसे खिचे रहे। एक समीक्षक ने उनके विरुद्ध बहुत कुछ लिखा। लिखने वाले मुझसे सम्बन्धित थे। ऐसी स्थिति मे यह स्वाभाविक ही था कि उस कार्य मे उन्हे मेरा हाथ जान पडा। इसके लिए मैं उन्हे कैसे दोष दूं। मैंने आलोचक से कहा भी था कि इसका दोष मुझ पर आवेगा। वे बोले—आप कहिए तो मैं अपना निबन्ध न छपाऊँ परन्तु इससे मेरे अन्तरात्मा को कष्ट होगा। और मैं अपने को कर्तव्यच्युत समझूंगा। मैंने कहा—ऐसी बात है तो मैं आपको कैसे रोकूं। मेरा जो होना होगा, होगा।

इसके कुछ दिन पश्चात् मैं काशी गया। दूसरे दिन प्रसादजी कृष्णदास की कोठी पर पहुँचे। उस समय मैं कोठी के नीचे ही गगास्नान के लिए गया था। वे कोठी पर न रुककर गंगा तट पर पहुँचे। मैं पानी मे था। उन्हे देख ललककर मैंने उनसे कहा—आओ, तुम भी स्नान कर लो। उनका सेवक भी धोती, तौलिया और तेल की शीशी लिये उनके साथ था, परन्तु उन्होने मेरा प्रस्ताव स्वीकार नही किया। मैंने कहा—सीधे नही आओगे तो मै पानी उछाल कर भिगो दूंगा। उन्होने व्यंग से कहा—और क्या करोगे तुम? जितना चाहो, पानी और कीचड़ उछालो।[2] यह

१. यह प्रश्न स्वय दद्दा ने ही किया था और मैंने उत्तर मे बवण्डर कहा था। (सं०)
२. बात यो है—'कीचड तो बहुत उछाला अब पानी उछालो—कीचड़ साफ हो जायगा।' (सं०)

कहते-कहते उनका मुँह तमतमा गया और जब तक मैं कुछ कहूँ—अवज्ञापूर्वक मुँह फेरकर वे चल दिये। मैं स्तब्ध रह गया। मुझे भी पीड़ा हुई, परन्तु मैं क्या करता।

कृष्णदास ने यह घटना स्वयं देखी अथवा मैंने उन्हें सुनायी थी, मुझे स्मरण नहीं। वे दोनों ओर के भले समाचार चाहने वाले थे। किन्तु उस समय इस सम्बन्ध में उन्होंने मौन रहना ही उचित समझा। हो सकता है, उन्हें भी मेरे प्रति कुछ सन्देह रहा हो।

दूसरे लोगों की बात मैं नहीं जानता, श्री वाचस्पति पाठक इस विलगाव पर हृदय से व्यथित हुए। मेरा मन भी उस बार काशी में न लगा और मैं वहाँ अधिक न ठहरा।

कुछ दिन पश्चात् मैंने देखा—'आज' पत्र में 'साकेत' को लेकर अनेक बार टिप्पणी की गयी। मेरे मन में कभी यह बात नहीं आई कि इस व्यंग विद्रूप के प्रेरक प्रसादजी हो सकते हैं। हाँ यह हो सकता है कि लेखक ने यह समझा हो कि इससे प्रसादजी प्रसन्न होंगे।

पाठकजी तब तक काशी से प्रयाग नहीं गये थे और समय-समय पर इस भ्रम के निराकरण की चेष्टा भी वे अवश्य करते रहे होंगे। अन्त में उनका प्रयत्न सफल हुआ। मैं फिर काशी गया और पाठकजी के उद्योग से हम दोनों पुनः शान्ति कुटीर में मिले। आवेग से मेरे आँसू आ गये और धृष्टता क्षमा हो, यह कहते हुए कि तुमने मेरे साथ न्याय नही किया, मैंने उन्हें एक चपत मारी और उनसे लिपट गया। वे मुझे थपथपाते रहे। पाठकजी के अनुग्रह से मैंने इस बार अपने को पहले से भी अधिक प्रसादजी के निकट अनुभव किया।

लखनऊ में एक बड़ी-सी प्रदर्शिनी थी। और मेरे लिए भी कुछ आयोजन किये गये थे। हिन्दुस्तानी एकेडेमी की बैठक भी उस बार वहीं हुई थी। एक कवि-सम्मेलन का भी प्रबन्ध किया गया था। ओरछा के महाराज वीरसिंह देव उसका उद्घाटन कर रहे थे। प्रसादजी भी लखनऊ आये थे। कवि-सम्मेलन के संयोजक से मैंने कहा—प्रसादजी के स्थान पर जाकर आपको उनको सम्मेलन में आने के लिए आदरपूर्वक आग्रह करना चाहिए। संयोजक ने कहा—निमन्त्रण तो भेज दिया गया। मैंने कहा यह पर्याप्त नहीं। आपको स्वयं वहाँ जाना चाहिए। वे जानते थे कि प्रसादजी के और मेरे बीच एक तनाव हो चुका है। सम्भव है वह अब भी शेष हो। स्वयं भी वे प्रसादजी से कुछ अनख मानते थे और अपने आपको किसी से न्यून नहीं समझते थे। परन्तु यह तो साधारण शिष्टाचार की बात थी। उन्होंने कहा—अच्छी बात है, मैं स्वयं जाता हूँ। वे गये भी, परन्तु न जाने कहाँ? प्रसादजी के स्थान पर नहीं गये। जब मैं सम्मेलन के मण्डप के द्वार पर पहुँचा, तब मैंने उनसे फिर पूछा—आप प्रसादजी के यहाँ हो आये? उन्होंने कहा—नहीं जा सका, कहाँ-कहाँ जाऊँ?

मैं इसके अतिरिक्त और क्या कर सकता था कि कवि-सम्मेलन में सम्मिलित न होऊँ। मैंने यही किया। पीछे प्रसादजी ने मुझे बताया कि कवि-सम्मेलन में लोगों ने मेरे और तुम्हारे लिए बड़ा कोलाहल मचाया। तुम क्यों नहीं गये ? यही प्रश्न मैं उनसे न कर सका। मैंने क्षुब्ध होकर कहा—पागल हुए हो। प्रसादजी हँस गये और उनकी आँखें चमक उठीं। हम दोनों प्रदर्शिनी देखने चले गये। वहाँ एक महिला लेखिका मिल गयी। बोली—कहाँ घूम रहे है! चलिए देखने की वस्तुएँ मैं दिखाऊँ, यह कहकर वे एक ऐसी दूकान पर ले गयी जहाँ स्त्रियों के व्यवहार की अनेक वस्तुएँ थी। हँसकर उन्होंने कहा—घर जाने के पहले जो लेना हो यहाँ ले लीजिए। प्रसादजी ने भी वैसी ही हँसी हँसकर कहा—यहाँ तो आप ही ले सकती हैं।

लखनऊ से मैं उन्ही के साथ काशी गया। मार्ग में उन्होंने 'कामायनी' के कुछ अंश स्वयं मुझे सुनाये। डिब्बे में वे, उनके एक मित्र और मैं, यही तीन जन थे।[1] उस दिन का आनन्द मैं नही भूल सकता। उस बार भारतेन्दु भवन में डॉ० मोतीचन्द्र के साथ हम लोगों ने मिलकर अन्तिम बार भोजन किया।[2]

प्रसादजी के व्यायाम, आहार-विहार और पौरुष की बातें सुनकर सचमुच कौतूहल होता था। मनों बादाम खाने से सुना है, उन्हें अन्त मे भयानक प्रतिक्रिया का सामना करना पड़ा। बादामों का विष धीरे-धीरे उनके शरीर में व्याप्त होता रहा और अन्त मे घातक रोग के रूप मे प्रकट हुआ। अनेक प्रकार की चिकित्सा हुई। पीछे उन्होंने होमियोपैथिक चिकित्सा का आश्रय लिया। चिकित्सक श्री राजेन्द्र नारायण शर्मा उनके मित्र थे।[3] उनकी चिकित्सा पर उन्हें विश्वास भी था। अन्य डाक्टरो की राय थी कि उन्हें पहाड पर जाना चाहिए। मै यह नही जानता कि अर्थाभाव उसमें बाधक हुआ। यही जान पड़ता है; ये जीवन से निराश हो गये थे और अन्त में काशी नही छोडना चाहते थे। उनके शरीर की दशा देखकर मैं अपने आँसू न रोक सका। उन्ही दिनों राजर्षि टंडन काशी आये। मुझे साथ लेकर वे प्रसादजी को देखने गये। प्रसादजी खाट से लग गये थे और अस्थिचर्म ही उनमें शेष रह गये थे। ऐसा लगता था मानो शैय्या पर एक चादर ही पड़ी है और कुछ

१. स्व० रामानन्द मिश्र और मैं तथा बीच में उतरने वाले एक शीया वृद्ध भी थे। (सं०)
२. भारतेन्दु परिवार में श्री नारायण चन्द्र का तिलकोत्सव २८ जनवरी १९३७ को रहा वही से पूज्य पिताश्री ज्वरग्रस्त होकर आए। (सं०)
३. चिकित्सक डा० हूबदार सिंह रहे, उनके सहकारी डॉ० राजेन्द्रनारायण शर्मा पूज्य पिताश्री के अन्तेवासी भी है। अन्य कोई चिकित्सा उन्होंने स्वीकार नही किया। (सं०)

नही। फिर भी उनके मुँह पर निश्चल दृढ़ता दिखायी देती थी। मुसकराकर ही उन्होंने अभिवादन के लिए हाथ जोड़े। मुझे पता था कि इस बार का मंगलाप्रसाद पुरस्कार उन्हें दिया जायेगा। जब हम लोग उनके कक्ष से बाहर निकले तब मैंने टण्डन जी से कहा—आप कहें तो मैं यह बात उनसे कह आऊं।[1] सम्भव है, इससे उन्हें कुछ सन्तोष हो। टण्डनजी ने अनुमति दे दी और फिर मैं उनके कक्ष में गया। प्रश्नसूचक दृष्टि से उन्होंने मेरी ओर देखा। मैंने कहा—इस बार का मंगलाप्रसाद पुरस्कार तुम्हें देने का निश्चय हुआ है। तुम शीघ्र स्वस्थ हो जाओ। मैं भी उसे लेने के समय तुम्हारे साथ चलूंगा। उन्होंने उत्तर में कुछ न कहकर दोनों हाथों से मुझे पकड़ लिया। मैंने देखा, उनकी आँखे छलछला आयी है और वे गद्‌गद् हो रहे हैं।[2]

इसके पश्चात् ? मुझे अपनी पहली बात ही फिर कहनी पडती है :

जयशंकर कहते-कहते ही अब भी काशी जावेगे।
किन्तु प्रसाद न विश्वनाथ का मूर्त्तिमंत हम पावेंगे।
तात, भस्म भी तेरे तनु की हिन्दी की विभूति होगी।
पर हम जो हँसते जाते थे रोते-रोते आवेगे।



१. पुरस्कार की सूचना टण्डन जी स्वयं देते किन्तु एक विचित्र बात हो गई। पूज्य पिताश्री पूछ बैठे 'बताइए अपने उन राजनीतिक अस्पृश्यो के लिये क्या करने जा रहे हैं जो देश के लिये हँसते-हँसते फांसी पर चढ गए और कालापानी झेलते रहे, आपके शासन की नीव मे उनके रक्त से गीली मिट्टी सूखने वाली नही।' प्रान्तों और केन्द्र में देशी मंत्रिमण्डल बन चुके थे और संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) की असेम्बली के टण्डन जी स्पीकर थे। कांग्रेस हाई कमाण्ड और कार्य समिति की दुहाई देकर और स्वास्थ्य के विषय में बाते कर उन्होने शीघ्र बिदा ले ली। उन्हें आशंका थी कि कही वह प्रसंग और न बढ़े और बात पत्रों मे आ जाय। अंतिम तीन मास मे ज्वराधिक्य से प्रायः डिलीरियम हो जाता था और प्रलाप में—गोरे शासन एवं गोरी संस्कृति के प्रति उनके अत्यन्त क्षुब्ध उद्‌गार निकलते थे।

२. पुरस्कार की प्रसन्नता नही प्रत्युत फिर न मिलने का अवसाद तब भावावेश-कारक रहा। दूसरे दिन उन्होंने कहा था 'लोगों को रोका मत करो, जो आते हैं आने दो, न मिल पाने से लोगों को निराशा होती है—यह ठीक नही।' (सं०)

'घनीभूत पीड़ा'

—महाराज कुमार डा० रघुवीर सिंह

"जरा किवाड खोलकर देख तो सही कि आज इस बेवक्त कौन दरवाजा खट-खटा रहा है ?"—प्रमादजी ने आश्चर्य-भरी आवाज मे नौकर से कहा।

सन् १९३५ ई० का साल था। १९ मई को दोपहर के समय अपने पुराने मकान मे लकड़ी के तख्त पर एक तँमत बाँधे, एक पतला-सा कपडा शरीर पर डाले प्रसादजी नीद को बुलाने का प्रयत्न कर रहे थे। लू चल रही थी एव किवाड बंद थे, फिर भी गर्मी के मारे उन्हे नीद नही आ रही थी, पसीना टपक रहा था, जी घबरा रहा था, आँखे बन्द कर-कर खोल रहे थे और बनारस की गर्मी को कोस रहे थे। उसी समय कोई ढाई बजे जब किसी ने उनके उस पुराने मकान का दरवाजा खटखटाया, तब तो प्रसादजी चौक पडे और नौकर को आवाज दी।

"इस समय भरी दोपहरी मे कौन आया होगा ?" किवाड खोलते हुए नौकर कहने लगा—"लू लगकर आज तो दो-तीन पुलिस के सिपाही भी तो मर गए है।"

उस भरी दोपहरी मे, बनारस की तमतमाती हुई लू मे राय- कृष्णदासजी, डॉक्टर मोतीचन्द चौधरी के साथ एक अपरिचित नवयुवक को अपने दरवाजे पर खडा देखकर प्रसादजी अचकचा गए -"इस वक्त........" प्रसादजी पूछ न सके। रायसाहब ने आगे बढकर प्रसादजी से मेरा परिचय कराया।

× × ×

अपने उस कौतूहलपूर्ण कौमार्य मे, जब हाथ लगने पर प्रत्येक पुस्तक को पढ डालने की उतावली होती थी और जब कहानियो, उपन्यास और नाटको के लिए विशेष आकर्षण होता था—और आज भी यह आकर्षण किसी भी प्रकार घटा नही है—जब उनके कथानक एवं घटना-वैचित्र्य की ओर ही दृष्टि रहती थी—उन ग्रंथो के लेखको से कोई काम नही रहता था, तब अनजाने ही मैंने प्रसादजी के 'अजात-शत्रु' नाटक को पढकर रख दिया था। आज मुझे इस बात का स्मरण नही कि वह नाटक उस समय कैसा भाया था, बाद मे उसकी कोई भी स्मृति बाकी नही रही केवल यही याद रहा था कि 'अजातशत्रु' नामक कोई नाटक पढा अवश्य था। उन्ही दिनो 'विशाख' भी छपा था, उसकी प्रति भी हाथ लगी थी, परन्तु वह शुष्क प्रतीत हुआ, और जब उससे मनोरजन नही हुआ तो उसे अधूरा ही छोड़ दिया। प्रसाद-

जी की महत्ता, उनकी कृतियों की साहित्यिक श्रेष्ठता एवं व्यक्तिगत-रूपेण उनको जानने की उत्सुककता तब हृदयं में स्थान नहीं पा सकी; उनका ख्याल भी नहीं आया।

किन्तु जब बरसों बाद सन् १९२७ में, खड़ी बोली के कट्टर एवं उसके साहित्य को तुच्छ समझनेवाले भी 'सुधा' के प्रथम अंक में, समालोचक द्वारा उद्धृत 'प्रसाद' के 'आँसू' के कुछ छन्दों को पढ़कर उस कवि की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सके, तब तो सहसा प्रसादजी के प्रति श्रद्धा का संचार हुआ और उनके 'आँसू' को अनेक बार पढ़ा। नवयुवकों के जीवन में एक वह समय आता है, जब वे प्रेम के प्यासे होते हैं, दूसरों का प्यार पाने को ललचते हैं, उसके लिए भरसक प्रयत्न करते हैं; जब उनकी नन्हीं-नन्ही छातियों में भावुकता का सागर हिलोरें मारता है, उनका छोटा-सा दिल, छोटी-छोटी-सी बातों से ही आहत हो जाता है; जब अपने दिल की बात दूसरों से कहने को, अपने छोटे-से महत्त्वहीन रहस्यों को भी दूसरों को बताने के लिए वे तड़पने लगते है; जब अपने प्यारों से वियोग की आशंका-मात्र से ही जी तड़प उठता है, एक बारगी गला रुँध जाता है, आँखों में आँसू छलछला आते हैं और जी भी अनमना हो जाता है—तब जिस जल्दी के साथ मित्रता होती है, कुछ ही क्षणों में पुन: अभिन्न-हृदयता स्थापित हो जाती है, एक-दूसरे में प्रगाढ़ विश्वास पैदा हो जाता है—उतने ही वेग से शत्रुता भी ठन जाती है, बिना किसी कारण-विशेष के ही एक-दूसरे में खिंच जाती है, जीवन-भर के लिए मनोमालिन्य-सा होता जान पड़ता है; जब ज़रा-ज़रा-सी बात पर रूठने में हिचक नही होती और जब मानने में भी देरी नहीं लगती—उसी भावुकतापूर्ण काल मे 'आँसू' के छन्दों ने मेरे दिल पर गहरा रंग जमाया और जो छाप उस समय दिल पर बैठी, वह आज भी मिटी नही। अब भी जब कभी जीवन में सूनेपन का-सा अनुभव होता है, जी अनमना हो जाता है, पहलू में कुछ तड़प-सी मालूम होती है; प्रेम में जब विरक्ति का संचार होता है और दूसरों की बेरुखी एवं उनकी वह स्वार्थ-भावना जब दिल पर चोट पहुँचाती है, तब अनजाने ही आँखों में आँसू भर आते हैं, होंठ आप-ही-आप कहने लगते हैं—

अवकाश भला है किनको, सुनने को करुण कथाएँ;
बेसुध जो अपने सुख से, जिनकी हैं सुप्त व्यथाएँ।

और जब दिल आँसू का एक घूँट पीकर संतोष कर लेता है, तब 'आँसू' की कुछ पंक्तियाँ ही दिल को तसल्ली देती हैं।

यही कारण था कि अपने मित्रों को भी अपनी प्यारी वस्तु भेंट करने को जी चाहने लगा था, एवं तब 'आँसू' की कई प्रतियाँ मंगवाकर उन्हें अपने मित्रों में बाँटा, उनके सम्मुख उस कवि की भावुकता की व्याख्या की, अपने दिल पर होने

वाले प्रभाव एवं शान्ति को भी पूरी तरह बताया। उस सब प्रचार का क्या प्रभाव हुआ, किसने प्रसादजी की कद्र की, किन-किन दिलों को प्रसादजी के 'आँसू' द्रवित कर सके या शान्ति-सुधा पिला सके—यह जानने की किलकुल ही इच्छा नहीं हुई। तब भी था और आज भी मेरा यही मत है कि प्रसादजी के 'आँसू' का भारतीय साहित्य में बहुत ही उच्च स्थान है। यह हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि और उस कवि की एक अमर कृति है। ऐसी सुन्दर कृति का वह साधारण गेट-अप देखकर खेद होता है। उसका दूसरा संस्करण अधिक छपा है; परन्तु उसे भी किसी तरह सुन्दर नही कहा जा सकता। मुझे तो उससे भी असंतोष है। उमर खैयाम के सुन्दर, सजे हुए, सचित्र संस्करण देखकर 'आँसू' को भी वैसे ही सचित्र स्वरूप में देखने को जी ललचाता है। प्रसादजी के उस अमर काव्य के एक-एक पद पर कई एक सुन्दर भावपूर्ण चित्र बन सकते है।

× × ×

किन्तु इतना सब होने पर भी प्रसादजी की अन्य कृतियों के प्रति विशेष आकर्षण नही हुआ; उनकी कहानियाँ और उनके नाटक पढ़े जाने पर भी वे स्वयं मेरे लिए अज्ञात वस्तु ही रहे। सन् १९२८ के जनवरी मास मे 'सरस्वती' का प्रथम और साथ-ही-साथ शायद अन्तिम वार्षिकांक निकला। उसमे प्रसादजी की 'आकाशदीप' कहानी को सर्व-प्रथम स्थान दिया गया था। प्रेमचन्दजी उस समय तक मेरी श्रद्धा एवं आदर के पात्र बन चुके थे, अतएव उनसे भी पहले प्रसादजी की कृति को स्थान पाते देखकर आश्चर्य हुआ। 'आकाशदीप' को एक-दो बार पढा; परन्तु उस समय न तो उस प्रकार की कहानी की सुन्दरता एवं उसके कथानक के तारतम्य को समझने की बुद्धि ही थी और न उसकें लिए प्रयत्न करने का धैर्य ही। 'सरस्वती' द्वारा उक्त कहानी को सर्वप्रथम स्थान दिये जाते देखकर प्रसादजी के प्रति श्रद्धा अवश्य बढ़ी, परन्तु तब भी उनकी महत्ता को नही समझ सका। वे तब भी जन-समाज के कहानी लेखक नहीं बन पाये थे। उनकी प्रारम्भिक कहानियाँ इसी कारण भावपूर्ण एवं सुन्दर होते हुए भी साधारण पाठकों के मनोरंजन की वस्तु नही बन सकी। बरसों बाद जब प्रसादजी ने उपन्यास-रचना के लिए हाथ बढ़ाया, तब उनकी कहानी-लेखन-कला मे कई-एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। प्रसादजी की भावुकता, विशिष्ट भाषा-शैली एवं काव्य के प्राधान्य थे तब भी अपना प्रभाव नहीं छोड़ा; किन्तु तब घटना-वैचित्र्य, कथानक मे एक अबाध प्रवाह एवं भाषा में सरलता आये बिना नही रह सकी। 'आकाश-दीप' और 'आँधी' की कहानियों मे पाई जानेवाली विशिष्ट विभिन्नताओं का यही मुख्य कारण है।

× × ×

यद्यपि इधर पिछले चार सालों से मैं यदा-कदा हिन्दी मे लेख लिखने लगा था

और हिन्दी की ओर मेरा झुकाव भी बढने लगा था; परन्तु सन् १९३० के अन्तिम महीनों में ही मैंने पहली बार 'प्रसादजी की कृतियों का पूरा-पूरा परिचय प्राप्त किया। आधुनिक हिन्दी-साहित्य से परिचय प्राप्त करने एवं हिन्दी-गल्प-साहित्य का पूरा-पूरा अध्ययन करने का मैंने निश्चय किया था। तभी मैंने तब तक प्रकाशित प्रसादजी की सब कृतियों को मँगवाया और उन्हें ध्यानपूर्वक पढा। तब जाकर प्रसादजी के महत्त्व का कुछ-कुछ ज्ञान हुआ। प्रसादजी की कहानियों का पूरा-पूरा अध्ययन किया और उसी जोश से मैंने प्रसादजी की कहानियो के सद्यः-प्रकाशित गल्प-संग्रह 'आकाशदीप' की एक विस्तृत आलोचना भी लिख डाली। उन्हीं दिनों पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने 'आकाशदीप' की आलोचना करते समय 'विशाल-भारत' में कई ऐसी बातें लिख डाली थीं, जो मुझे तो पूर्णतया ऊटपटाँग ही जान पड़ीं और यह भी खयाल हुआ कि चतुर्वेदीजी ने प्रसादजी के प्रति अन्याय किया था। तब प्रसादजी की कला एवं उनकी कहानियों के ठीक-ठीक महत्त्व को बताने एवं कूतने का मैंने प्रयत्न किया था। वह आलोचना 'सुधा' में प्रकाशित हुई थी। उस प्रारम्भिक जोश में लगे-हाथ उस समालोचना की एक प्रति प्रसादजी के पास भेज देने में भी कोई हिचकिचाहट नही हुई। परन्तु, जैसा कि प्रसादजी का नियम था, वे अपने गम्भीर मौन को बनाये ही रहे और श्रीयुत विनोदशंकरजी व्यास द्वारा ही यदा-कदा प्रसादजी की कुछ खबर पाकर मुझे सतोष कर लेना पड़ा।

प्रसादजी अपने इस अज्ञात, अपरिचित समर्थक की ओर भी मौन रहे—यह बात दिल को अखरी। परन्तु बाद में प्रसादजी का मेरे प्रति रुख बदल गया और कुछ ही वर्षों बाद, शायद सन् १९३४ ई० से ही, उन्होंने यह नियम बना लिया था कि ज्यों ही उनकी कोई नई पुस्तक छपकर तैयार होती, एक प्रति पर अपने हस्ताक्षर कर उसे मेरे पास स्वय ही भिजवा देते थे। उन्होंने इसमे कभी भूल नहीं की, अपने प्रकाशकों तक को उन्होंने इस बात की हिदायत कर दी थी; एवं कई बार दो-दो प्रतियाँ आ जाती थी। प्रसादजी की वे सप्रेम भेंटे मेरी एक अमूल्य निधि हैं। बीमार पड़े थे, स्वास्थ्य दिन-पर-दिन बिगड़ता जा रहा था—और वही बीमारी उनकी अंतिम बीमारी हुई—तथापि प्रसादजी ने यथानियम अपने अंतिम एवं सर्वश्रेष्ठ काव्य 'कामायनी' की एक प्रति पर अपने हस्ताक्षर कर भेज ही दी। प्रसादजी की इस कृपा को, उनके इस स्नेह को, मैंने आशीर्वाद के रूप में ही स्वीकार किया था।

प्रसादजी अपनी कृतियाँ• मेरे पास बराबर भिजवाते रहे; परन्तु वे पत्र कम लिखते थे। इधर पिछले एक-दो वर्षो में ही उनके कुछ पत्र आये थे। वे व्यर्थ के पत्र-व्यवहार से पूर्णतया बचते रहते थे। जो पत्र उनके आते थे, वे बहुत ही संक्षिप्त और नपे-तुले शब्दों के होते थे। प्रसादजी ने इन ऊपरी बातों को कभी महत्त्व नहीं

दिया और यही कारण था कि जो व्यक्ति उनसे कभी न मिला हो, उसके हृदय में प्रसादजी के प्रति गलत भावना हो जाना कोई अनहोंनी बात न थी ।

× × ×

प्रसादजी के समान लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकार से मिलने को कौन उत्सुक न होगा ! परन्तु प्रसादजी हमेशा बाहरी आडंबर एवं ऊपरी दिखावट से दूर ही रहे, जिससे एक अनजान व्यक्ति के लिए उनके व्यक्तित्व में विशेष आकर्षण नही हो सकता था। यही कारण था कि प्रसादजी से मिलने के लिए मुझे विशेष उत्सुकता नही थी। बनारस जाकर भी प्रसादजी से मिलने की न सोचना, हिन्दी-साहित्य से प्रेम रखनेवाले व्यक्ति के लिए एक भयंकर अपराध से किसी भी प्रकार कम नहीं था। परन्तु, यही ख्याल जी में घर कर गया था कि प्रसादजी बहुत ही रूखे-सूखे, एकांतसेवी साहित्यिक व्यक्ति है। 'आँसू' के लेखक को एक हृदयविहीन व्यक्ति मानना कुछ असंभव-सा प्रतीत होता था; परन्तु प्रसादजी की वह संस्कृत-प्रधान भाषा और उनके वे बौद्धकालीन नाटक, मुझे संस्कृत के कट्टर पण्डितों और मुंडे हुए सिरवाले भिक्षुकों की याद दिलाते थे। उन पण्डितों की वह नीरसता, अपनी विद्वत्ता पर उनका अगाध अभिमान, दूसरो को निरन्तर उपदेश देते रहने की उनकी वह प्रवृत्ति एवं सस्कृत न जाननेवालो के प्रति उनका तीव्र तिरस्कार एकबारगी याद आ जाता था। प्रसादजी के व्यक्तित्व के साथ उनका संबंध-सा जान पडता था और आप-ही-आप प्रसादजी के पास जाने में कुछ हिचक भी पैदा होने लगती थी।

पुन: प्रसादजी के जो चित्र देखने को मिले थे—श्रीयुत व्यास जी की कृपा से प्रसादजी का एक चित्र उनके हस्ताक्षर समेत मुझे भी प्राप्त हो गया था—उनसे प्रसादजी की गंभीरता ही प्रदर्शित होती थी। प्रसादजी तक पहुँचकर कोई भी मनोरंजन होने की संभावना नही देख पड़ती थी। प्रसादजी से मिलने के बाद मेरा यह निश्चित मत हो गया कि प्रसादजी का जो चित्र, उनका जो व्यक्तित्व हमें उनकी कृतियों या उनकी तस्वीरों में देखने को मिलता है, वह उनके सच्चे व्यक्तित्व से बहुत ही भिन्न था। ऐसा प्रतीत होता है कि अपना चित्र उतरवाते समय प्रसादजी हमेशा Camera Conscious हो जाते थे—चित्र उतरवाने के खयाल से ही वे गंभीर बन जाते थे। प्रसादजी का वह हँसमुख चेहरा, उनकी वह आनन्द-भरी बातचीत एवं प्रफुल्ल व्यक्तित्व उनसे मिलनेवालों एवं उनके परिचितों तक ही सीमित रहा। जिन्हें कभी भी उनसे मिलने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था, उनके लिए प्रसादजी के स्वभाव का ठीक-ठीक अन्दाज लगाना कठिन ही नहीं, असंभव था।

× × ×

'भारत-कला भवन' को देख चुकने के बाद जब लौट रहे थे, तब राय साहब ने पूछा—'क्या प्रसादजी से मिले हो ?'

मैंने जबाब दिया—'नहीं' और साथ ही पूछा भी कि 'क्या वे यहीं हैं ?'

'प्रसादजी बनारस छोड़कर कहीं नहीं जाते। क्यों न अभी चले चलें ?'

सो उस भरी दोपहरी में 'भारत-कला-भवन' से हम सब निकले; कुछ दूर तक मोटर में गये और गली के कोने पर मोटर को छोड़कर प्रसादजी के मकान की ओर पैदल ही बढ़े। दरवाजा खटखटाया। जब रायसाहब ने मेरा परिचय कराया, तब तो उन्होंने अपने नये मकान को खुलवाने के लिए नौकर दौड़ाया और हमारा आतिथ्य करने के लिए भी वे प्रयत्नशील हुए। तीसरा पहर हो रहा था; ताजे अनार का शरबत बनवाया गया और बनारसी पान की गिलौरियाँ भी आईं।

वहीं उस नये मकान में बैठकर कोई दो घण्टे तक बातचीत होती रही। प्रसादजी से मेरी वही प्रथम और अंतिम भेंट थी। उस समय तो कभी यह खयाल भी नहीं हो सकता था कि वह भेंट ही मेरी अंतिम भेंट होगी। प्रसादजी को मेरे 'आकाशदीप' वाले लेख का स्मरण हो आया और उसका उन्होंने उल्लेख भी किया। उसी सिलसिले में मैंने इस बात का प्रयत्न किया कि प्रसादजी से उनके स्वयं के बारे में कुछ बातचीत हो, परन्तु प्रसादजी उसे टाल गए और विशेषतया मेरे ही बारे में पूछते रहे। रायसाहब ने तब बताया कि किस प्रकार प्रसादजी को मेरे 'ताज', 'एक स्वप्न की स्मृतियाँ' आदि लेख पसन्द आये थे और प्रसादजी ने ही प्रथम बार रायसाहब का ध्यान उन लेखों की ओर आकर्षित किया था।

इधर-उधर की बातचीत होती रही और तब रायसाहब ने इस बात का विशेष आग्रह किया कि प्रसादजी अपने महाकाव्य 'कामायनी' के कुछ अंश मुझे भी सुनावें। 'कामायनी' के कई अंश यत्र-तत्र प्रकाशित हो चुके थे; उनकी बहुत कुछ प्रशंसा भी हुई थी। जहाँ तक मुझे याद है, उस समय तक 'कामायनी' के नौ सर्ग लिखे जा चुके थे।[1] रायसाहब प्रसादजी से आग्रह कर रहे थे कि वे इस महाकाव्य को समाप्त कर दें और प्रसादजी का विचार था कि जितना भी अंश तैयार हो गया था, उसे ही पहले भाग के रूप में तत्काल छपवा दें। मेरी निजी राय यह थी कि सारा महाकाव्य एक साथ ही छपे, और यही बात मैंने प्रसादजी से भी कही, तो वे अपनी अस्वस्थता एवं अन्य घरेलू झंझटों का जिक्र करने लगे। इस प्रकार 'कामायनी' के बारे में बातचीत होती रही। उस समय भी मेरा निश्चित मत यही था और अब

१. अप्रैल १९३५ के पूर्वार्द्ध में कामायनी की पूरी प्रेस कापी मुद्रणार्थ प्रयाग जा चुकी थी। इड़ा सर्ग तक पाण्डुलिपि की एक जिल्द सामने रही। उसी को देखकर यह भ्रम हुआ कि नौ सर्ग ही लिखे गए हैं—शेष छः सर्ग दूसरी जिल्द और दूसरे आकार के कागजों पर है। (सं०)

तो वह दृढ़तर होता जा रहा है कि प्रसादजी का यह महाकाव्य इस युग की एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कृति है। हिन्दी के लिए यह एक सौभाग्य की बात थी कि प्रसादजी अपनी इस महान् कृति को सम्पूर्ण कर गए। इन पिछले वर्षों में कई व्यक्तियों ने खड़ी बोली में अनेकानेक महाकाव्यों की रचना की है; परन्तु उनमें से कितने महाकाव्य स्थायी साहित्य में स्थान पा सकेंगे, यह समय ही बता सकेगा। परन्तु इस बारे में कभी दो मत नहीं हो सकते कि 'कामायनी' को अमर साहित्य में स्थान मिलेगा। वह हिन्दी-साहित्य की ही नहीं, विश्व-साहित्य की भी एक अमूल्य निधि है।

'कामायनी' के बारे में बातें होती रहीं और प्रसादजी उसकी हस्तलिखित प्रति हाथ में दबाये बैठे रहे। रायसाहब के आग्रह को वे टाल गए; परन्तु जब मैंने विशेष आग्रह किया, तब उन्होंने सकुचाते हुए उस हस्तलिखित प्रति को खोला और कुछ शब्दों में उसके कथानक को समझाने के बाद वे उस महाकाव्य के प्रारंम्भिक अंश को पढ़ने लगे। प्रसादजी पढ़ते जाते थे और हम सब शान्त सुन रहे थे। मैं बैठा-बैठा प्रसादजी को ताक रहा था; उनको निकट से देखने का, उनके व्यक्तित्व को ठीक तरह जानने और उसका पूर्ण परिचय पाने का अवसर मिला था। कवि के ही मुख से उसी के द्वारा रचे गए महाकाव्य को सुनने का अवसर कितनों को प्राप्त होगा ! 'कामायनी' को सुनते-सुनते मुझे अँगरेजी भाषा के महाकवि मिल्टन एवं उसके अमर काव्य 'पैराडाइज लॉस्ट' का ख़याल आया। प्रलय-प्रवाह में से निकलती हुई पृथ्वी एवं पुनः उसके बसने की कथा भारतीय साहित्य का वह अमर तपस्वी गा रहा था, और मैं बैठा सोच रहा था कि मनु का वर्णन करते समय प्रसादजी स्वयं का कितना अच्छा वर्णन लिख गए हैं—

तरुण तपस्वी-सा वह बैठा,
साधन करता सुर-श्मशान;
नीचे प्रलय-सिंधु लहरों का,
होता था सकरुण अवसान।

पवित्र भगवती गंगा के किनारे वाराणसी में बैठा वह अवस्था से प्रौढ़ किन्तु कल्पना और भावनाओं में सर्वथा युवा तपस्वी, देवी सरस्वती का वह वरद पुत्र, धूनी रमाये अपने अमर गान गा रहा था। उस किनारे पर साहित्यिकों तथा तपस्वियों के उस श्मशान में बैठा वह अमर गायक देखता था कि वासनाओं का तुमुल अंधड़ उठ-उठकर फैल रहा था; भौतिकता का वह प्रलयंकर प्रवाह भीषण वेग के साथ उमड़ रहा था और भावुकता की वे सुकुमार-सुन्दर तरंगें जड़ जगत् के तट पर टकरा-टकराकर छिन्न-भिन्न हो रही थीं, और वह तपस्वी—

(वह) पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय-प्रवाह।

× × ×

समय अधिक हो गया था, साढ़े चार बजनेवाले थे; उधर मोटरवाला स्टेशन पर लौटने के लिए जल्दी मचा रहा था। प्रसादजी से विदा ली और लौटते समय इस बात का मन-ही-मन अनुभव किया कि यदि प्रसादजी से मिलना न होता तो एक बहुत ही बड़ा सुअवसर खो देता! आज उन घड़ियों को स्मरण कर रायसाहब को धन्यवाद दिये बिना नही रहा जाता। उस दिन रायसाहब ने प्रेमचन्दजी के लिए भी पूछताछ की थी; परन्तु ज्ञात हुआ कि वे अपने गाँव चले गये थे। उस दिन प्रेमचन्दजी से न मिल सका और बाद में दूसरा अवसर ही नहीं आया। अगर उस दिन प्रसादजी से न मिलता, तो फिर उनसे भी मिलने का अवसर नहीं मिलता। प्रेमचन्दजी से न मिलने का खेद रह गया है और तब प्रसादजी के दर्शन न कर सकने का अफसोस भी रह जाता। प्रसादजी से जिनका निजी परिचय था, वे ही जानते हैं कि प्रसादजी से एक बार मिलते ही किस प्रकार अनजाने ही उसके प्रति प्रेम, आदर और श्रद्धा उत्पन्न हो जाती थी।

× × ×

'कामायनी' छपकर प्रकाशित हो गई और उसकी प्रति पाकर उस महान् रचना के लिए महाकवि को बधाई भी दी; परन्तु तब कौन जानता था कि वह ग्रंथ ही प्रसादजी की सर्वश्रेष्ठ ही नही, अन्तिम कृति भी होगी। उस समय प्रसादजी बीमार होकर बिस्तर पर पड़ चुके थे। प्रसादजी की अस्वस्थता की खबरें अखबारों में छपने लगीं और उनके मित्रों, प्रेमियों और प्रशंसकों ने प्रसादजी से बार-बार आग्रह किया कि वे अपना समुचित इलाज करावें और हवा बदलने के लिए बनारस छोड़कर किसी दूसरे स्थान को चले जायँ। परन्तु, नही! प्रसादजी को बनारस छोड़ना मंजूर न था। उन्होंने किसी की न सुनी और न मौत ने ही किसी की प्रार्थना पर ध्यान दिया। बीच में कुछ-कुछ आशा भी होने लगी थी कि वे अच्छे हो जायँगे; परन्तु 'आँसू' का वह गायक अनुभव कर रहा था कि—

चेतना-लहर न उठेगी
जीवन-समुद्र थिर होगा।
संध्या हो स्वर्ग-प्रलय की
विच्छेद मिलन फिर होगा।

प्रसादजी के मित्रों ने, प्रेमी साथियों ने उनको धीरे-धीरे मरते देखा। उनका बरसों का साथ छूट रहा था, वे बेबस बैठे देख रहे थे। उन्हें शायद यह ज्ञात हो गया था कि अब प्रसादजी कुछ ही दिनों के मेहमान हैं। परन्तु, जो बनारस से सैकड़ों कोस दूर थे, जिन्हें पूरी-पूरी हालत का पता न था, उन्हें फिर भी आशा बनी रही। परन्तु, जब अचानक एक दिन वह दुःसंवाद अखबार में पढ़ने को मिला, तो जी धक् से रह गया; जीवन मे सूनेपन का अनुभव हुआ और पुनः उन घड़ियों की आद आई, जब 'आँसू' ने जी को यदा-कदा तसल्ली दी थी। महीनों के उन चिंतापूर्ण दिनों की—

जो घनीभूत पीडा थी
मस्तक मे स्मृति-सी छाई;
दुर्दिन मे आँसू बनकर
वह आज बरसने आई।

दो आँसू ढुलक पड़े और एकांत मे जाकर मैं उस दुर्घटना की बात सोचने लगा।

× × ×

'नही ! नही ! मैं नही मानता।' एक साल-भर के बाद अभी इंगलैंड से लौटे हुए मेरे छोटे भाई ने कहा—'मैं नही मान सकता कि प्रसादजी मर गए !'

'मानो या न मानो, यह एक कठोर सत्य है कि अब प्रसादजी नही रहे।'

'सचमुच ! तुमने तो मुझे इस बात की कोई सूचना तक नहीं दी। किसी भी पत्र में इसका कोई उल्लेख नही किया।'

'तुम्ही बताओ कि मैं किस दिल से इस बात का ढिंढोरा पीटता ?'



अमर पुरुष 'प्रसाद'

—अमृतलाल नागर

सबेरे का अखबार सामने रखा है। प्रसादजी पर लेख लिखने की चिन्ता आज की ताजी खबरों में खोई हुई, अपनी राह खोज रही है। उनसे मेरा केवल बौद्धिक संबंध ही नही, हृदय का नाता भी जुड़ा हुआ है। महाकवि के चरणों में बैठकर मैंने साहित्य के संस्कार भी पाये है और दुनियादारी का व्यावहारिक ज्ञान भी। पिता की मृत्यु के बाद जब मैं बनारस मे उनसे मिला था, तब उन्होने कहा था—'भाइयों के सुख में ही अपने सुख को देखना। हिसाब-किताब साफ रखना। तभी घर के बड़े कहलाओगे।' इसी बात को लेकर प्रसादजी आज भी मेरे जीवन के निकटतम हैं।

यों बरसों उनके साथ रहकर अपनापन पाने का सौभाग्य मुझे नही प्राप्त हुआ। सब मिलाकर बीस-पच्चीस बार भेंट हुई होगी। आदरणीय भाई विनोदशंकर व्यासजी के कारण ही उनके निकट पहुँच सका। मैंने साहित्य की उस गम्भीर मूर्त्ति को खिलखिलाकर हँसते हुए देखा है। चिन्तन के गहरे समुद्र को चीरकर निकली हुई सरल हँसी उनके सहज सामर्थ्य की थाह बतलाती थी। यही उनका परिचय है जो मैंने पाया है। प्रसाद आशावादी थे, और उनकी आशावादिता का अडिग आधार-स्तम्भ था उनकी आस्तिकता !

लेकिन आज तो ईश्वर ही खो गया है। जीवन लक्ष्यभ्रष्ट है, उद्देश्य सपने की वास्तविकता बनकर कोरे शब्दो से सज रहा है। मेरे सामने आज का अखबार खुला हुआ है। डिमॉक्रेसी की सती, लाज-लुटी वेश्या बनकर अखबारी कॉलमो के कोठे पर खड़ी है। बस्ती और देवरिया के कुछ क्षेत्रों मे अकाल पड रहा है। राजस्थान मे अनाज की कमी के कारण दगे हो रहे है। कोरिया मे लाखो मनुष्यो की लाशों का ईंधन जलाकर स्वार्थगत सत्ता की रोटी सेकी जा रही है। जग की चिन्ताओ से अपनापन स्थापित कर मेरे मन पर छाई जा रही है हताशा। भूख, बेकारी और रोग के घने-काले बादलों से ढंके हुए जीवन के आकाश मे अपने प्रेरणा के सूर्य की आँखें गड़ा-गड़ाकर देख रहा हूँ—कहीं से प्रकाश की एक किरण भी नही झलकती। मन शंका और भय के शीत से काँप रहा है। लगता है, उषा का अर्थ ही बदल गया ! सूर्य अब उषाकाल में ही अस्त होगा और चौबीसों घंटे, तीसों दिन अस्त ही रहा करेगा।

—लेकिन काम काम है ! वह किसी सूर्य के उदय और अस्त की परवाह नहीं करता—पूरा होना ही उसका लक्ष्य है, सार्थक होना ही उसका उद्देश्य है। निराशा को सिद्धान्त बनाकर—उसकी बैसाखी पर अपने अभाव का भार रखते हुए, मैं इन दुश्चिन्ताओं की भीड़ मे कहाँ आगे बढ़ पाऊँगा ? नदी में डूबकर भी भला किसी ने जीवन देखा है ? धारा में बहती हुई लाश ही क्या प्रगति का प्रतीक है ! केवल पूरा हो जाना ही क्या जीवन का उद्देश्य है ?

मेरा मन चट होकर भी अभी तक चेतना से दूर नही गया। पिछली ज्ञान-कमाई के संस्कार नये जीवन के लिए आज भी बल देते हैं। आज भी अखबार के पन्नों पर फैली हुई निराशा और मेरे मन के अवसाद को पीछे ढकेल कर महाकवि का स्वर मेरी क्रिया-शीलता का हौसला बढ़ाता है—

कर्म-यज्ञ से जीवन के
सपनों का स्वर्ग मिलेगा,
इसी विपिन मे मानस की
आशा का कुसुम खिलेगा।

प्रसादजी के इस दृढ विश्वास की पृष्ठभूमि में उनके जीवन की गम्भीर साधना बोल रही है। परीक्षा की कठिनतम घड़ियो मे भी उनकी आशावादिता अडिग रही, उनका कर्म-यज्ञ अटूट क्रम से चलता रहा। पिता और बड़े भाई के स्वर्गवास के बाद दुनियादारी के क्षेत्र मे उन्हें कठिन-से-कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। पुराने घराने की नाम और साख का प्रश्न, कर्ज का बड़ा बोझ, कुटुम्बियों के कुचक्रों की दुश्चिन्ता—इन कठिन समस्याओं के जाल मे जकड़े हुए १७ वर्ष के युवक प्रसाद को जो शक्ति उबारती रही, वह थी उनकी अनवरत साहित्य-साधना, उनकी निष्ठा। विषम परिस्थितियो में रहते हुए भी प्रसाद पागल न हुए, कुचक्रियों से बैर साधने हेतु स्वयं कुचक्री भी न बने, दुनियादारी के दलदल मे पूरी तौर पर फँसकर भी हिम्मत न हारे और अपनी 'स्पिरिट' को तरोताजा रखने के लिए उन्होंने पठन-पाठन और साहित्य-रचना की वृत्ति को अपनाया—इस बात को समझने के लिए हमें उनके वातावरण और संस्कार को समझना होगा !

धनी और कीर्तिशाली घराने मे उन्होंने जन्म पाया। दानियो के घर मे जन्म लेनेवाला युवक किसी के आगे हाथ नही पसार सकता। इसीलिए विषम परिस्थितियों मे घेरकर उन्हे स्वावलम्बी बनाया। इसके लिए सौभाग्यवश उन्हें बचपन में अच्छे संस्कार प्राप्त हो चुके थे। अच्छे शिक्षको द्वारा वेदों-उपनिषदों का अध्ययन, काशी के धर्मनिष्ठ घराने के छोटे उत्तराधिकारी के एकान्त क्षणों को विचारों की स्फूर्ति से भरता रहा। बुरे समय मे आस्तिक मनुष्य स्वाभाविक रूप से उदारचेता हो जाता है। उसकी करुणा, भक्ति का रूप धारण कर विश्वात्मा के प्रति समर्पित होती रहती

है। सत्रह वर्ष की अवस्था में जब प्रसादजी घर के बड़े बनकर दुनियादारी की कठिन कसौटी पर चढ़े, तब उनके विद्याभ्यास का क्रम चल ही रहा था। पढ़ा हुआ पाठ तत्काल ही मन भरने के काम आ गया। उनका चिन्तन ठोस बना। 'कामायनी' के महाकवि का परमोत्कर्ष, जीवन की पहली कठिनाइयों की शिला पर विधना के लेख की तरह अंकित हो गया था। उनका दार्शनिक रूप, कवि-हृदय और कठिन साहित्य-साधना का प्रारम्भिक अभ्यास इन्ही बुरे दिनों में विकसित हुआ।

प्रसादजी की कविता चोरी-छिपे शुरू हुई। उन दिनों बड़े घर के लड़कों का कविता आदि करना खराब माना जाता था। लोगों का खयाल था कि इससे लोग बरबाद हो जाते है। और वाकई बरबाद हो ही जाते थे! रीति काल के अवसान के समय, ब्रजभाषा के अधिकांश कवियो के पास काव्य के नाम पर कामिनियों के कुचों और कटाक्षों के अलावा और बचा ही क्या रहा था! ऐसे कवियों में जो गरीब होते थे, वे मौके-झप्पे से अपनी नायिकाओं को हथियाने की कोशिश करते थे, और अमीर हुए तो फिर पूछना क्या! रुपयों के रथ पर चढकर नायिकाएँ क्या, उनके माँ-बाप, हवाली-मवाली तक सब कविजी के दरबार मे जुट जाते थे। इसलिए बड़े भाई शम्भुरत्न जी ने इन्हें कविता करने से बरजे रखा। परन्तु प्रसाद की काव्य-प्रेरणा में कोरा जवानी का रोमांस ही नही था, उपनिषदो के अध्ययन के कारण ज्ञान से उमगी हुई भावुकता भी थी। इन्ही दोनों विशेषताओं ने प्रसाद को आगे चलकर रहस्यवादी कवि बनाया। परन्तु रहस्यवादी के नाते वे उलझे हुए नही थे। प्रसाद का एक सीधा-सादा मार्ग था, जिस पर चलकर उन्होंने अपनी महाभावना का स्पर्श पाया।

प्रसाद चोरी से कविताएँ किया करते थे, इससे सिद्ध होता है कि उन्हें अपनी लगन की बातों को चुराकर अपने तक ही रखने की आदत थी। यह आदत सुसंस्कारों का प्रभाव पाकर मनुष्य को अपनी लगन मे एकान्त निष्ठा प्रदान करती है। प्रसाद की साहित्य-साधना मे हर जगह निष्ठा की पक्की छाप है। कवि, नाटककार, कहानी-उपन्यास, लेखक और गम्भीर निबध लेखक—किसी भी रूप में प्रसाद को देखिये—उनकी चिन्तन-शक्ति साहित्य के सब अंगों को समान रूप से मिली है। रचना छोटी हो या बड़ी – निष्ठावान साहित्यिक के लिए सबका महत्त्व एक-सा है।

बीसवीं शताब्दी के पहले बारह वर्ष भारत में राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक चेतना की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण थे। वह सारा महत्त्व युवक प्रसाद के भावुक हृदय और उर्वर मस्तिष्क ने ग्रहण कर लिया था। विशेष प्रकार के संस्कारों में पलनेवाले युवक, ऐसी अवस्था में आम तौर पर अतीत के गौरव से भर उठते हैं। वैसे तो हर जगह के निवासी को अपने देश और उसके इतिहास से बहुत प्यार

होता है; पर इस देश में एक अजीब जादू है। हमारे इतिहास की परम्परा महान् है। जीवन की अनेक दिशाओ मे हम अपने ढंग से पूर्णता को प्राप्त कर चुके हैं। यह चेतना बीसवी शती के शैशव काल मे, स्वातन्त्र्य-गंगा की नई लहर से प्रसाद ऐसे मनीषी महाकवि का हृदय अभिषिक्त न करती तो और किसका करती।

प्रसादजी ने मुझे भी एक ऐतिहासिक प्लॉट उपन्यास लिखने के लिए दिया था। उस दिन दो-ढाई घटे तक बातें होती रही। भाई ज्ञानचन्द जैन भी मेरे साथ थे। उपन्यास, नाटक और कहानियो मे घटनाओ, चरित्रो या चित्रो के घात-प्रतिघात की प्रणाली मनोवैज्ञानिक आधार पाकर किस प्रकार सप्राण हो उठती हे, यह उस दिन प्रसादजी की बातो से जाना। वे बातो को बडी सहूलियत के साथ समझाते थे। उन्होने किसी पुस्तक से खोजकर 'कलियुग राज वृत्तान्त' नामक ग्रन्थ के कुछ श्लोक सुनाये और लिखवा दिये। उन दिनो वे 'इरावती' लिख रहे थे। वे रूलदार मोटे कागज पर लिखते थे। फुलस्केप कागज को बीच से काट कर उन्होने स्लिपे बनायी थी। उन्ही स्लिपो मे से एक पर वे श्लोक मैंने लिख लिये। चन्द्रगुप्त प्रथम का कुमारदेवी और नेपालाधीश की सुता के साथ विवाह होने का राजनीतिक इतिहास ही उन श्लोको मे अकित था।

मैने उत्साह से भर उन्हे वचन दिया कि जाते ही लिखने बैठूंगा।

सन् छत्तीस मे वे जब प्रदर्शिनी देखने के लिए स्वय लखनऊ आये, तब मैं उनसे मिला था। मेरे वचन देने के लगभग साल भर बाद उनसे यह पहली भेट हुई थी। उस साल उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था—भरा हुआ मुह, कान्तियुक्त गौर वर्ण, चश्मा और माथे की रेखाओ की गभीरता, उनकी सरल हँसी के साथ घुल-मिलकर दिव्य रूप धारण करती थी। मैंने प्रणाम किया, उन्होने हँसते हुए उत्तर मे कहा—कहिये, मौज ले रहे हे?

यह मेरी जोशीली प्रतिज्ञा का ठण्ढा पुरस्कार था। बरसो बाद एक फिल्म कपनी के लिए उस प्लॉट के आधार पर मैंने एक सिनेरिओ तैयार किया था। जहाँ तक मेरी धारणा हे, कहानी अच्छी बनी थी। सन् ४५ मे 'लडाई' खत्म होते ही कास्ट्यूम पिक्चरो का निर्माण कार्य एकदम से ठप पड गया और वह कहानी उनके तात्कालिक उपयोग की वस्तु न रही। इसके साथ-साथ वह मेरे भी किसी काम की न रही—वह बिक चुकी थी। अपना वचन निभा न पाने की लज्जा से आज भी मेरा मस्तक नत है। शायद यह लज्जा किसी दिन मुझे कर्त्तव्य-ज्ञान करा ही देगी और मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा।

प्रसादजी जैसे उदार महापुरुष की याद आज के दिनो मे और भी अधिक आती है, जबकि दूसरी लडाई के अंत मे नाटकीय रूप से अवतरित होकर एटमबम ने सबसे पहले मानव हृदय की उदारता का ही संहार कर डाला। इसी एटमबम की

संस्कृति में पले हुए मुनाफाखोरी और एक-सत्ताधिकार के संस्कार आज जन-मन पर शासन कर रहे हैं। •पुस्तकालय सूने पड़े हैं, सिनेमा हॉल मनोरंजन के तीर्थ बन गये हैं। गली-मुहल्लों में प्रेस के सस्ते संस्करण फैल गये हैं। एक युग पहले तक जहाँ मैथिलीशरण की 'भारत-भारती' और प्रसाद के 'आँसू' की पंक्तियाँ गाते-गुनगुनाते हुए लोग शिक्षित मध्यम वर्ग के नवयुवकों में अक्सर मिल जाते थे, वहाँ अब प्रसाद का साहित्य पढ़नेवाले शायद मुश्किल से मिले! उनकी बातें जाने दीजिये, जिन्हें परीक्षा से मजबूर होकर प्रसाद को पढ़ना ही पड़ता है। एटमबम की संस्कृति का हमारी सभ्यता पर यह प्रभाव पड़ा है।

लेख पूरा करके अंतिम कागज समेटते हुए फिर अखबार की मोटी-मोटी सुर्खियों पर नजर गई। नजर पड़ते ही वह पुराना लगा। अखबार सिर्फ दो घण्टे जिन्दा रहकर बाद में मुर्दा भूत बन जाता है और आलम के सिर पर नाचा-नाचा घूमता है। इसी भूत से ग्रस्त समाज की आत्मा को बल देने के लिए प्रसाद आज भी जीवित हैं और सदा रहेंगे—समय बदल जाएगा। समय तो बदलता ही रहता है!



प्रसादजी

—वृन्दावनलाल वर्मा

(एक दर्शन)

चालीस वर्ष हो गये तब की बात है। श्री मैथिलीशरण गुप्त के साथ काशी यात्रा का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। राय कृष्णदासजी हमारे पुराने मित्र है, उन्ही के यहाँ हम दोनों ठहरे। राय कृष्णदास कला-भवन की स्थापना कर चुके थे। उसे देखना था और प्रसिद्ध वीणा-वादक सन्नू बाबू से भी वही भेट करनी थी। भला श्री जयशंकर प्रसाद के घर हम क्यो न जाते? वह विख्यात कवि और लेखक; सुंघनी साहु के नाम से उनका वश प्रसिद्ध था और मै खाता था पान तम्बाकू! बडी लौ लगी उनके पास पहुँचने की।

और एक दिन राय कृष्णदास के साथ हम लोग उनके यहाँ गये।

उन्हे देखते ही मैं तुरन्त प्रभावित हुआ। बडी सुन्दर आकृति, खूब गठा हुआ सुदृढ शरीर, आँखो मे चमक और माथे पर दमक! मुझे कुश्ती, व्यायाम इत्यादि का शौक रहा है। प्रसादजी के चौड़े सीने और भरी भुजाओं से अपने अवयवों की तौल भीतर-भीतर करने लगा। मन आह्लाद मे भर गया जैसी इनकी देह सुगठित और बलिष्ठ है वैसी ही प्रतिभा भी। तभी तो हिन्दी साहित्य को इतना ऊँचा उठा रहे है। इतना उजागर कर रहे है और करेगे। मेरी धारणा उनकी सराहना के साथ प्रबल हुई।

उनके साथ काफी समय तक बात होती रही। थोडी-सी याद रह गई है।

बोले—'कहानियाँ लिखते हो सो तो खैर ठीक ही है, उपन्यास लिखो न।'

'लिखने का संकल्प है, इतिहास और परम्परा की खोजबीन करता रहता हूँ। सामग्री इकट्ठी कर लेने के बाद अवश्य लिखूंगा'—मैंने कहा।

श्री मैथिलीशरण गुप्त और राय कृष्णदासजी से मेरी बहुत बेतकल्लुफी चुहल और हँसी चलती ही है।

'अरे यह उपन्यास लिखेगा या वकालत पर सिर खपाता रहेगा?'—गुप्तजी ने कसा और खिलखिलाये।

राय कृष्णदास ने अपनी स्वाभाविक मुसकान के साथ जोडा—'उपन्यास लिखेगा, कचहरियो से मुवक्किलों का कूडा-करकट बटोरेगा और फिर रंगेगा कागज!'

हँसी फूट पडी ।

अब आई बारी पान तम्बाकू की । मगही पान और बनारस की सुर्ती, वह भी प्रसादजी की उन उंगलियो द्वारा जिन्होने उनके अमर काव्य की रसधारा बहाई और बहाती रही ।

एक घडी बातचीत सगीत के बारे मे हुई । वह इसके भी बडे प्रेमी थे ।

फिर गुप्तजी और राय साहब किसी काम मे थोडी देर के लिए चले गये । हम दोनो अकेले रह गये । अब गम्भीरता के साथ बाते हुई । उन्होने पूछा —

'देश के किस भाग और समय के किस काल के इतिहास का अध्ययन कर रहे है ?'

वैसे तो मैं भारत के प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन इतिहास का भी विद्यार्थी रहा हूँ, परन्तु इन दिनो रुचि बुन्देलखण्ड की ओर अधिक है'—मैने बतलाया ।

'क्षेत्र कुछ सीमित-सा है न ?'

'जी हाँ शायद आप ठीक कह रहे है, परन्तु एक कहावत चली आ रही है । इस क्षेत्र के विस्तार के सम्बन्ध मे—'

'वह क्या ?'

'वह है', इत चम्बल उत नर्मदा, इत जमुना उत 'टोंस' -

वह हँस पडे और बोले—आप ठीक कहते है, क्षेत्र काफी विस्तृत हे और उसका इतिहास भी गौरवमय है । समय कौन-सा चुन रहे हे ।

'महारानी लक्ष्मीबाई के अर्वाचीन काल से लेकर पीछे हटते हुए चन्देलो के काल तक भटकता ही रहता हूँ और पीछे की राम जाने ।

वे बहुत प्रसन्न हुए ।

'पहिले कौन सा ?'

'अभी तय नही कर पाया हूँ'—इसके उपरान्त मैने उनकी ऐतिहासिक रुचि के सम्बन्ध मे प्रश्न किये ।

प्रसादजी की रुचि भारतीय इतिहास के अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर सम्राट श्री हर्ष के काल तक बहुत ही उत्साहपूर्ण थी । कब क्या लिखेगे यह भी निश्चय प्राय था । इतिहास की शोध और उसके साधन उन्हे काशी मे सुलभ थे, यह सब उन्होने बतलाया । अन्त मे बात इस प्रकार समाप्त हुई ।

'बोलचाल की भाषा, रीति-रिवाज, रहन-सहन इत्यादि भिन्न-भिन्न क्षेत्रो के भिन्न है, परन्तु हमारी सस्कृति की अखिल भारतीयता अखण्ड और अक्षुण्ण रही है । पश्चिम के अधिक सम्पर्क मे आने के कारण हो, अथवा शताब्दियो की उथल-पुथल और आपसी लड़ाइयो के कारण हो, इन दिनो वह सस्कृति उतनी ऊपर नही

दिखलायी पड़ती जितनी दिखलायी पड़नी चाहिए। उस संस्कृति के उभार और उसको जन-जन के भीतर प्रबल करने की अनिवार्य आवश्यकता है। इस कार्य के लिए कोई भी क्षेत्र और समय चुना जाय—उद्देश्य प्राप्ति का निर्वाह यदि श्रम और लगन के साथ किया जायगा तो कह सकेंगे कि हमने अपने कर्तव्य का कुछ तो पालन किया।'

जब हम लोग काशी से चले आये मेरे मन में ये बातें रह-रहकर उठती रही क्योंकि घर कर गयी थी, गहरे जा पैठी थी।

उस यात्रा के उपरान्त फिर मैं प्रसादजी से मिलने का सौभाग्य कभी प्राप्त न कर पाया। प्रसादजी ने देश, समाज और व्यक्ति को अपनी रचनाओं द्वारा जो कुछ दिया है वह अमर रहेगा।



हिन्दी के मूर्धन्य महाकवि 'प्रसाद' के संस्मरण

—डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा

प्रातिभान-सम्पन्न हिन्दी के श्रेष्ठ महाकवि और समग्र हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं पर रचनाओं की उत्तमोत्तम कृतियों के निर्माता प्रसाद' जी के संस्मरण लिखने की पूरी क्षमता मुझमे है कि नही यह मुझे ज्ञात नही, पर इतना विश्वास मुझे अवश्य है कि साठ-सत्तर वर्षो से मैं उनकी समीपीय संगति मे निरन्तर ज्ञान की प्राप्ति करता आया था साथ ही उनकी श्रेष्ठ संगति का पूरा आनन्द लेता रहा। उनकी कृतियों को बारम्बार पढ़ता-पढाता रहा। उनके स्वभाव, प्रकृति और सुख-दु:ख का भी ज्ञान प्राप्त करता रहा। उनकी संगति मे रहकर मैंने बहुत कुछ सीखा और समझा था। पास मे ही मेरा भी निवास था इसलिए जब भी अवसर मिलता उनके समीप पहुँच जाता था।

उनकी उत्तमोत्तम कृतियो में छोटी-बड़ी कहानियाँ तो है ही उपन्यास, नाटक, काव्य-कृतियों, की सफलता का उल्लेख करना तो प्राय. सभी साहित्य प्रेमियों के सम्मुख स्पष्ट है, अत उस विषय मे मेरा कहना प्राय: असमय की बात होगी। उनके शरीरांत के कुछ दिन पूर्व जब उनके पास गया था उस दिन की बात मेरे अन्तःकरण में आज भी विस्मृत नही हो पाती। प्रात: आठ बजे के लगभग मै उनसे मिलने की इच्छा से गया था। सूचना मिलते ही उन्होने तुरन्त ऊपर ही बुलाया। मै ऊपर उनके कक्ष मे सहमता-सा गया और उनके सम्मुख जाकर एक कुर्सी पर बैठ गया। लगातार उनके मुख पर दृष्टि जमाकर देखता रहा। उन्होंने मेरी ओर देखकर मुसकुराते हुए कहा कि 'शर्मा जी क्या बड़े गौर-से चकित होकर सोचने लगे। मैं वही आपका कृपापात्र 'प्रसाद' हूँ, भले ही काल-कालवित, दुर्बल-सा बन गया हूँ। आपके प्रबन्ध का केवल 'राज्य-श्री' वाला अंश मात्र पढ़ सका हूँ। मुझे प्रसन्नता का अनुभव भी हुआ—यह जानकर विशेष संतुष्ट भी हूँ कि आप अच्छी आलोचना लिखने में पटु हो गए हैं।' मैं अवश्य कुछ प्रसन्न हुआ—और उनकी ओर करुण भाव से देखता बोला कि अपने श्रेष्ठ कवि और सहायक कृतिकार की वाणी सुनकर पूर्ण संतुष्ट हूँ। इसको मैं आशीर्वाद रूप में भी स्वीकार भी कर रहा हूँ। आप मुझे कुछ चिन्तित से ज्ञात हो रहे है।' इस पर उनके पास 'कामायनी' महाकाव्य की एक

प्रति रखी थी, जिसे उठाकर उन्होंने मेरी ओर बढ़ा दी और एकाएक रूप में नितांत गम्भीर होकर चुप रह गए। कुछ विलम्ब के उपरान्त उन्होंने पुनः आंखें खोली और सदैव की भांति मुस्कुराने की चेष्टा भी की पर मैं शान्त-चित्त उनके मुख पर दृष्टि जमाए देखता रहा। कुछ बोलने की शक्ति भीतर संचित करने में लगा रहा।

कुछ-एक क्षणों के उपरान्त जब मैंने आंखे खोली तो उनकी ओर देखकर चिन्तित-सा हो गया क्योंकि उनकी मुख-मुद्रा देखकर मुझे अन्दाज लगा कि उनकी आंखों में जल-कण झलकते मिले। इस पर मैंने तुरन्त उनसे नितान्त ममता भरे शब्दों मे पूछा कि 'महाकवि की आंखों मे जल-कण की झलक कैसी ? इस पर सचेत होकर उन्होंने कहा - "मैं इस समय, चला-चली की बेला मे कुछ उद्विग्न अवश्य हो गया। सोचने लगा था कि मैंने अपने जीवन-लक्ष्य को समाप्त कर दिया पर इसका भविष्य में क्या और कैसा स्वागत-सत्कार या निन्दा-स्तुति होगी इन बातों का गौर अब आप ऐसे कर्मठ और मर्मज्ञ लोग ही कर सकेंगे। इत्यलम्।"

इस 'इत्यलम्' के उपरान्त मैं अपना भारी चित्त लिए तुरन्त उनके कक्ष से बहिर्गत हो गया। परन्तु इस अन्तिम दर्शन और उसकी प्रभाव-सीमा से बहुत दिन छुट्टी न मिल सकी। आज भी उसी दिन का स्मरण कई रूपो मे हो रहा है।



महाकवि जयशंकर प्रसाद

—आचार्य शिवपूजन सहाय

राष्ट्रभाषा हिन्दी के आधुनिक महाकवियो मे काशी के श्री जयशंकर 'प्रसाद' का विशिष्ट स्थान है। कवि के अतिरिक्त वे नाटककार, कथाकार, निबन्धकार और उपन्यासकार भी बडी उच्चकोटि के थे। साहित्य की इन शाखाओ को पल्लवान्वित और पुष्प फल-सम्पन्न करके इन्हे अपने कल कूजन से भी जीवन्त किया। गद्य और पद्य दोनो मे उनकी भाषा प्राय संस्कृतनिष्ठ है। उनकी सभी रचनाओ में भारतीय संस्कृति की सत्ता-महत्ता झलकती है। वे ऐसे कला कुशल शब्दशिल्पी थे कि उनके गद्य मे काव्य की छटा दीख पड़ती है। भारतीय सभ्यता के प्रति उनकी सहज स्वाभाविक ममता थी। उनकी कितनी ही रचनाएँ भारतीय विश्वविद्यालयो की पाठ्यपुस्तको के रूप मे नई पीढ़ी के लिए अध्ययन-अनुशीलन का माध्यम बनी हुई है। जैसे कविताओ मे उनकी सुकुमार भावनाएं और कमनीय कल्पनाएँ उनकी गम्भीर चिन्तनशीलता तथा काव्य-रसधारा मे उनकी तल्लीनता का परिचय देती है वैसे ही उनकी गद्यशैली मे ठौर-ठौर हृदयग्राहिणी सूक्तियां भी मिलती है। उनकी प्रतिभा के प्रसाद से हिन्दी बहुत अधिक गौरवान्वित हुई। किन्तु जिस व्यक्ति ने साहित्य को ऐसा महिमा-मण्डित किया वही अपने जीवन-काल मे हिन्दी के हिमायती कहे जाने वालो से लाछित और विताडित भी हुआ। इस निर्मम जगत् की यही परम्परागत रीति है।

'प्रसादजी' महान साहित्यकार के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ थे। उनकी स्मृतिशक्ति विलक्षण थी। उनमे स्वजातीय गुण भी पर्याप्त मात्रा मे था। वे अनेक कलाओ के मर्मज्ञ थे। काशी की विशेषताओ के भी विशेषज्ञ थे। विभिन्न व्यवसायों की पारिभाषिक शब्दावली का भण्डार उनके पास भरपूर था। वैदिक वाङ्मय और प्राचीन इतिहास मे उनकी गहरी पैठ थी। संस्कृत साहित्य के प्रमुख अंगों का अध्ययन-मनन करने मे तो वे निरन्तर तत्पर रहते ही थे, कई भारतीय शास्त्रों में भी उनकी बड़ी गहन गति थी। अपने पैतृक व्यापार मे वे पूरे दक्ष थे। विद्याव्यसनी ऐसे थे कि जब सारा संसार निद्रा-निमग्न हो जाता था तब उनको स्वाध्याय मे तन्मय होने का अवकाश मिलता था।

बनारस की चौक की कोतवाली के पीछे मसजिद के सामने नारियल बाजार मे उनकी लगभग सवा सौ वर्ष की पुश्तैनी दूकान जर्दा सुर्ती की है। उनके सामने के तख्ते पर सफेदा बिछवाकर वे प्रायः नित्य संध्योपरान्त रात्रि में बैठते थे। उसी पर एक कोने में पानवाला (बैजनाथ) भी अपनी चंगेली लिये बैठता था। उसके बीड़े और दूकान के जाफरानी जर्दे का दौर लगभग दस-ग्यारह बजे रात तक चलता रहता था। हिन्दी साहित्य के बड़े-बड़े धुरन्धर महारथी वही आकर उनसे काव्य-शास्त्र विनोदेन समय-यापन करते थे। हिन्दी संसार के सुप्रसिद्ध कलाविद् राय कृष्णदासजी, श्री प्रेमचन्दजी, महाकवि रत्नाकर, प्राध्यापक लाला भगवानदीनजी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि महानुभाव वहाँ प्राय आसन ग्रहण करके साहित्य की शास्त्रीय समस्याओं पर विचार-विमर्श और भाव-विनिमय करते थे। रायसाहब प्राचीन भारतीय शिल्पकला और मूर्तिकला पर, लाला भगवानदीनजी शब्दों की व्युत्पत्ति और निरुक्ति पर, रत्नाकरजी ब्रजभाषा-साहित्य की बारीकियों पर आचार्य शुक्लजी संस्कृत साहित्य की विविध प्रवृत्तियो पर तथा प्रेमचन्दजी कथा-साहित्य के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर जब बातें करने लगते थे तब प्रसादजी की सरस्वती का मुखर होना देखकर चकित रह जाना पड़ता था।

वैदिक ऋचाएँ और उपनिषदों के लच्छेदार वाक्य तो उन्हे कण्ठस्थ थे ही, संस्कृत महाकवियों ने किस शब्द का कहाँ किस अर्थ में कैसा चमत्कारपूर्ण प्रयोग किया है—इसको भी वे सोदाहरण उपस्थित करते चलते थे। शालिहोत्र और आयुर्वेद शास्त्रों के महत्त्वपूर्ण प्रकरणों पर उनके प्रवचन सुनने से उनके विस्तृत ज्ञान पर आश्चर्य होता था। हाथी, घोड़ा, गाय आदि के लक्षणों की परख और उनके स्वामियों पर उनके शुभाशुभ लक्षणों के अनिवार्य प्रभाव का वर्णन उनसे सुनने पर एक अत्यन्त रोचक और विस्मयकारी प्रसंग उपस्थित हो जाता था। इसी प्रकार हीरा, मोती, मूँगा आदि रत्नो के गुण-दोषों के प्रभाव का वर्णन भी शास्त्रीय प्रमाणों के साथ करते थे। एतद्विषयक ग्रन्थों के मौखिक उद्धरण सुनकर उनकी स्मरणशक्ति की प्रखरता पर बड़ा कुतूहल होता था।

प्रसादजी हलवाई-वैश्य थे। अपने हाथों बहुत ही स्वादिष्ट भोजन बनाते थे। भोज आदि में यदि एक सौ अतिथियों को भोजन कराना है तो बादाम और पिस्ते की बर्फी बनवाने में कितना मेवा और मावा लगेगा, कितनी चीनी और केसर-इलायची पड़ेगी, इसका चिट्ठा भी तैयार करा देते थे और जबानी ही बोलकर लिखवाते थे। इसी तरह और-और मिठाइयों के सामान की मिकदार बतला देते थे। भोटानी सौदागर जब शिलाजीत, पहाड़ी शहद, कस्तूरी आदि बेचने आते थे तब उनकी चीजों की परीक्षा करने मे उद्भृत कौशल का परिचय देते थे। भंग बूटी तो स्वयं बहुत अच्छी बनाते और मित्रों को पिलाते थे। अपने घरेलू व्यवसाय के

लिए जर्दा, किमाम, इत्र आदि भी अपनी देखरेख मे बनवाते थे। अधिकतर देशी रजवाड़े और जमींदार रईस हीं उनके बँधे ग्राहक थे। किमाम और इत्र के तैयार होने पर छोटी-सी शीशी में अन्तरंगी मित्रो को प्रेमोपहार भी दिया करते थे। जाड़े में जो मुश्क अम्बर (कस्तूरी का इत्र) बनाते थे वह लिहाफ मे लगने पर पूस-माघ के जाड़े में भी पसीना पैदा करके अपना कमाल दिखाता था। उत्तम श्रेणी का किमाम भी वैसा ही जौहर दिखाया था। वीड़े पर सीक से उसकी लकीर खीच देने से जाड़े की रात मे भी ललाट पर पसीना आ जाता था। और गरम पोशाक उतार देनी पड़ती थी। काष्ठौधियों और जडी-बूटियो के गुणों को बखानते समय वैद्यक-ग्रन्थों के श्लोक कहने लगते तो वैद्यराज ही प्रतीत होते थे।

बनारस के पुराने रईसों, पण्डितो, नर्तकों, लावनीवाजों, गुण्डों, गायिकाओ और फक्कड़ो की बहुत सी अद्भुत कहानियाँ सुनाया करते थे, जो मनोरंजक होने के साथ-साथ शिक्षाप्रद भी होती थी और जिनसे पता चलता था कि उस अतीत युग के गुणी और कलावन्त कितने उदार तथा निष्ठावान होते थे। रईसो की गरीब-निवाजी, पण्डितों का स्वाभिमान, नर्तको की नृत्य-निपुणता, लावनीबाजों की रचना-चातुरी, गुण्डों का निर्बलो की सहायता मे सहयोग, गायिकाओ का मर्यादा-पालन और फक्कड़ों की गरीबपरवरी उनसे सुनकर उस युग का दृश्य मनश्चक्षुओं के सामने आ जाता था। मासिक हंस का जो 'काशी-अंक' निकला था उसमे उनके लिखवाये हुए कई ऐसे लेख छपे थे। उनके अभिन्न मित्रो मे भारत कला-भवन के जन्मदाता श्री राय कृष्णदासजी के पास भी पुराने संस्मरणो का खजाना है, परन्तु राय साहब से लेकर उसे साहित्य-भाण्डार में संचित्र करने वाला कोई नही है।

मैं जब हिमालय का सम्पादक था तब मैंने राय साहब से प्रसादजी के सम्बन्ध में संस्मरणात्मक लेखमाला लिखवायी थी, पर सम्पादन कार्य से मेरे विरत होने के बाद यह लेखमाला अधूरी रह गयी। प्रसाद सम्बन्धी संस्मरण लिखने के एकमात्र अधिकारी राय साहब ही है। हिन्दी संसार को उनसे यह साहित्यिक धरोहर ले लेना चाहिए।

प्रसादजी अपनी जवानी मे कुश्ती भी लड़ चुके थे। उनका कसरती शरीर बड़ा गठीला था। उन्होने मल्ल-विद्या का भी अध्ययन किया था। पहलवानों के अजीब किस्से तो सुनाते ही थे, दाँव-पेच के बहुतेरे नाम भी उन्हें याद थे। कई व्यापार क्षेत्रों के दलालो की बोली मे कैसे-कैसे विचित्र अर्थबोधक शब्द है और उनका रूप कितनी सावधानी से गढ़ा गया है, यह भी वे बतलाते थे। सोनारो और मल्लाहों की बोली के रहस्य भी वे जानते थे। खेद है कि उस समय उनकी बातचीत का महत्त्व ध्यान मे नही आया। विशिष्ट व्यक्तियो के जीवन की दिनचर्या लिखते चलने का काम

साहित्य की समृद्धि के लिए किया जाना चाहिए। यदि प्रसादजी की बाते उस समय टाँक ली गयी होती तो आज वे साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति समझी जाती किन्तु उनके जीवनकाल मे ही उनका उत्कर्ष बहुतो को असह्य हो गया था। उनकी रचनाओ की कटु से कटु आलोचना होती रही, पर उन्होने कभी उस पर ध्यान न दिया। वे स्वान्तः सुखाय लिखते थे, अर्थ या यश की कामना से नही।

इस निर्मम ससार ने जीते जी न प्रेमचन्द को परखा, न प्रसाद को और न निराला को ही। जब ये संसार से चले गये तब इनके गुणगान के साथ यह भी अनुभूत होने लगा कि साहित्य-क्षेत्र मे ये अमोघ मेधाशक्ति लेकर आये थे। प्रसादजी की जो अवज्ञा और उपेक्षा हुई वह किसी से छिपी नही है। पर हिन्दी को प्रसादजी कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि के रूप मे जो निधि दे गये उसका मूल्याकन करके आज गौरव का अनुभव किया जा रहा है। जगत की यही परम्परागत रीति जान पडती है कि वह युग की विभूति को उसके विलीन हो जाने के बाद ही पहचानता है।

प्रसादजी कभी किसी कवि-सम्मेलन मे नही जाते थे। मित्र-गोष्ठी मे सस्वर कविता-पाठ करते थे। गगा मे बजडे पर मित्रमण्डली को बडी उमग से गाकर अनेक कविताएँ सुनाते थे, पर सार्वजनिक सभाओ मे कभी नही। गोरखपुर मे अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन 'प्रताप'-सम्पादक श्री गणेशशकर विद्यार्थी के सभापतित्व मे हुआ था। वहाँ के कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता के लिए प्रसादजी के पास तार आया। तार म सभापति विद्यार्थीजी और राजर्षि टण्डनजी के नाम अकित थे। उसे पाते ही अन्यमनस्कता से उसको अलग रखकर बाते करने लगे। उनके परम स्नेहभाजन और हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार पण्डित विनोदशकर व्यास वही बैठे थे। व्यासजी ने उनसे बडा आग्रह किया कि स्वीकृति सूचना भेजकर अवश्य गोरखपुर चलिए, हम लोग साथ चलेगे। पर वे हँसकर बात टाल गये। किन्तु काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कोशोत्सव-स्मारक के अवसर पर जीवन मे केवल एक ही बार उनको सार्वजनिक समारोह मे कविता-गान करना पडा था। हिन्दी शब्दसागर के सम्पादको का सम्मान करने का जो आयोजन हुआ था और उसके साथ जो कवि-सम्मेलन हुआ उसके अध्यक्ष थे प्रसादजी के साहित्य गुरु महामहोपाध्याय देवीप्रसाद शुक्ल कविचक्रवर्ती। आचार्य श्यामसुन्दरजी के आग्रह पर भी जब प्रसादजी कविता-पाठ करने को तैयार न हुए तब उनके गुरु ने अध्यक्ष पद से आदेश दिया और अपने गुरु के आदेशानुसार उन्हे कविता-गान करना पड़ा। उनके ललित-मधुर कण्ठस्वर से सारी सभा मन्त्रमुग्ध हो रही। अपनी कविता गाते समय वे स्वयं भी भाव-विभोर हो जाते थे।

उस समय काशी में हिन्दी साहित्य के धुरन्धर महारथियों का बड़ा अच्छा जमघट था। सबके साथ उनका सद्भावपूर्ण सम्बन्ध था। एक बार प्रेमचन्दजी ने अपने 'हंस' में उनके ऐतिहासिक नाटकों पर सम्पादकीय मत प्रकट करते हुए लिख दिया था कि प्रसादजी प्राचीन इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ा करते हैं। किन्तु जिस समय यह मत प्रकाशित हुआ उस समय भी प्रेमचन्दजी सदा की भाँति प्रसादजी के साथ बैठकर निर्विकार चित्त मे साहित्यिक संलाप करते रहे। दोनों महारथियों में कभी किसी प्रकार का मनोमालिन्य अथवा वैमनस्य नही हुआ। उनकी तीव्र आलोचना करने वाले सज्जन भी उनके पास पहुँचकर यथोचित आदर-मान ही पाते थे। किसी के प्रति उनके मन मे कोई रागद्वेष न था। उनकी अभ्यर्थना करने के लिए कई संस्थाओं से अनुरोध होते रह गये, पर वे सम्मानित होने के लिए कभी कही काशी के बाहर नही गये। एकान्त भाव से साहित्य समाराधन मे संलग्न रहकर ही सारा जीवन बिता दिया।

प्रसादजी छायावाद और रहस्यवाद के युग मे उत्पन्न हुए थे। खड़ी बोली हिन्दी में ही कविता करते थे। किन्तु प्राचीन व्रजभाषा-काव्य के भी मर्मज्ञ थे। पुरानी कविताएँ काफी कठस्थ थी। व्रजभाषा-साहित्य के बड़े अनुरागी और प्रशंसक थे। काशी मे होली के बाद 'बुढ़वामंगल' का महोत्सव गंगा की मध्य धारा में हुआ करता था। चैत की चटकीली चादनी मे प्रशस्त बजड़ो पर सजीले शामियाने में नृत्यगान का दर्शनीय आयोजन होता था। उन सुसज्जित बजड़ों के चारों ओर दर्शकों और श्रोताओ की नौकाएँ रात-भर डटी रहती थी। प्रसादजी की नाव पर उनके साहित्यिक बन्धु भी संगीत का आनन्द लूटते थे। काशी की सुप्रसिद्ध गायिकाएँ सूर और तुलसी के विनय-पद जब गाने लगती थी, प्रसादजी भाव विह्वल हो उठते थे। एक दिन काशी-नरेश के बजड़े पर विद्याधरी ने जब सूर का पद (अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल) गाया तब प्रसादजी के सजल नेत्रो मे अनवरत अश्रु-धारा प्रवाहित हो चली।

उनके घर पर दरवाजे के सामने ही जो शिव मन्दिर है, उसमें फाल्गुनी महा-शिवरात्रि को महोत्सव हुआ करता था। उनके परिवार की यह पुरानी परम्परा थी। उसमे अधिकतर साहित्यसेवियो का ही समागम होता था। उस गान-वाद्य के समारोह मे भी काशी की कोई सर्वश्रेष्ठ गायिका केवल शास्त्रीय संगीत सुनाने आती थी। नृत्य नही होता था। पर गेय पद शुद्ध साहित्यिक आनन्द देने वाले ही होते थे। बड़े शान्त भाव से और बड़ी शिष्टता के साथ वह उत्सव सम्पन्न होता था। इसी प्रकार अपने वंश की मर्यादा का निर्वाह वे प्रत्येक पर्व पर करते थे। श्रावणी पूर्णिमा (रक्षाबन्धन) के दिन चाँदी और ताँबे के सब तरह के बड़े-छोटे सिक्कों की राशि अपने आगे लेकर बैठते थे। अधिकांश ब्राह्मणों की दक्षिणा बँधी बँधाई थी,



जिन्हें पूर्ववत् अपना अंश मिल जाता था। होली, दीवाली, दशहरा, सब त्यौहारों में उनके परिवार की पुरानी प्रथा का पालन विधिवत् होता था। उनका घराना काशी मे बहुत प्रतिष्ठित माना जाता था और उससे लाभान्वित होने वाले लोग उसे दरबार की सज्ञा देते थे। प्रसादजी को देखने ही अनेक काशीनिवासी 'हर हर महादेव' मात्र कहकर उन्हे करबद्ध प्रणाम करते थे। यह प्रतिष्ठा बनारस मे केवल काशी-नरेश को ही प्राप्त है। किन्तु बडे राग-रंग वाले धनी घराने मे पैदा होकर भी अपने निष्कलक चरित्र के प्रभाव से ही वे इस प्रतिष्ठा के आजीवन अधिकारी बने रहे।

प्रसादजी सस्कृत साहित्य के स्वाध्याय के अतिरिक्त अग्रेजी साहित्य के इतिहास ग्रन्थो का भी अनुशीलन करते रहते थे। नागरी प्रचारिणी पत्रिका (काशी) मे उनके जो शोध प्रधान ऐतिहासिक निबन्ध प्रकाशित हुए थे उन्हे पढ कर स्वनामधन्य इतिहासज्ञ विद्वान डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल ने श्री राय कृष्णदासजी के घर पर उनका हार्दिक अभिनन्दन और नमन किया था। वे सचमुच ऐसे ही वन्दनीय भी थे।

बाते बहुत है। पर कहाँ तक लिखा जाय। वानगी के तौर पर जो कुछ यहा लिखा गया है उमसे प्रसादजी के साहित्यिक पहलू का विशेप सम्बन्ध नही है, केवल उनके व्यावहारिक जीवन की झलक-झाँकी ही मिल सकती है।



याद में 'प्रसाद'

—रूपनारायण पाण्डेय

प्रसादजी मेरे मित्र थे—इसे मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ ! इस समय जब मैं उन पर कुछ पंक्तियाँ लिखने बैठा हूँ, उनकी वह भव्य मूर्ति मुझे अपने मानस-चक्षु के सामने स्पष्ट उभरती हुई दिखाई दे रही है। वह गौरवर्ण ठिगना, मांसल, किन्तु व्यायाम से चुस्त शरीर, वह चौड़े मस्तक पर शंकर की विभूति, वह मुखमण्डल पर प्रसन्नता की मरमता से भरी मुसकान, वह आँखो मे प्रदीप्त प्रतिभा की झलक, वह आडम्बरहीन पहनावा-पोशाक, वह मीठी हँसी और विनोद आज भी मुझे भूला नही, उनकी स्मृति आज भी तरोताजा बनी हुई है।

प्रसादजी का एक उत्कृष्ट नाटककार, सहृदय कवि, श्रेष्ठ कहानी, लेखक, औपन्यासिक तथा विचारक के रूप मे, तो प्राय सभी लोग कुछ-न-कुछ जानते हैं, किन्तु एक सच्चे कर्त्तव्यनिष्ठ मनुष्य के रूप मे वे कितने बड़े थे—इसका ज्ञान शायद इने-गिने लोगों को ही होगा ! प्रसादजी की रचनाएँ पढ़कर ही यह जानकारी हासिल भी नही की जा सकती। यह अनुभव तो उन्ही कतिपय सौभाग्यशालियों को प्राप्त हुआ था—और हो सकता था—जो प्रतिदिन उनके निकट सम्पर्क में आते थे, उनके अन्तरग थे।

प्रसादजी एक नि.स्वार्थ साहित्यिक थे। वह जो कुछ लिखते थे, वह आत्मसुख, आत्मसंतोष के ही लिए। उन्होने आजीवन साहित्य की आराधना की, साहित्यिकों का सम्मान और सत्कार किया, किन्तु आत्म-प्रदर्शन अथवा आत्म-श्लाघा से सदा दूर ही रहे। वह साधारण-से-साधारण साहित्यसेवी की रचना को, अगर वह आकर सुनाने लगता था तो सुनते थे और उसे उत्साहित करने मे पश्चात्पद नही होते थे। प्रसादजी के यहाँ जो दो-एक पुरानी परम्परा के कवि उनके पिता और भाई के जमाने से आते थे, उनकी आवभगत और बिदाई मे प्रसादजी कोई त्रुटि नही होने देते थे।

प्रसादजी को आत्म-प्रदर्शन की रुचि नही थी, इतना ही कहना ठीक न होगा। मैं तो समझता हूँ, उन्हें आत्म-प्रदर्शन से एक प्रकार की चिढ़ या घृणा-सी थी। इसके फलस्वरूप वह काशी में होनेवाले साहित्यिक समारोहों या कवि-गोष्ठियों में भी नही जाते थे, या यों कहें, बहुत कम जाते थे। केवल नागरी प्रचारिणी सभा

इसका अपवाद थी। वहाँ तो वे प्राय: चले जाते थे। एक बार एक मासिक गोष्ठी थी। वहाँ मेरे बहुत कहने-सुनने से प्रसादजी चले तो अवश्य गये, किन्तु कविता उन्होने बहुत आग्रह करने पर भी नही पढी। घर लौटने पर मैंने इस बारे मे कुछ मीठा उलाहना दिया तो वे हँसकर बोले—"देखिये, आप चार मित्रो और समझने-वालो के आगे कविता पढने मे मुझे जो आनन्द मिलता है, वह आनन्द उस आत्म-प्रदर्शन के मेले मे कहाँ मिल सकता था ? आपने देखा नही, कवि लोग अपनी प्रशसा सुनने के लिए श्रोताओ की ओर कैसी ललचाई नजर से ताकते थे, जैसे प्रशसा की भीख माँग रहे हो ! मै इसे कवि और कविता दोनो का अपमान मानता हूँ। जैसे सच्ची कविता एक झरने की तरह हृदय से स्वत फूट पडती है, वैसे ही सच्ची प्रशसा भी समझदार के मुँह से आप ही-आप निकल पडती है।"

मैं प्रसादजी के ही बँगले मे (यह स्थान प्रसादजी के घर के सामने ही था) रहता था। मेरा-उनका साथ दिन-रात छ-सात घटे रहता था। प्रसादजी जो कुछ लिखते थे, वह पहले मुझे ही सुनाते थे और तभी उन्हे सतोष होता था। मैं भी जो कुछ लिखता था, वह उनको सुना देता था और वे सर्वदा मुझे उत्साहित करते थे। मुझे आज भी याद है कि मेरा किया हुआ रवि बाबू के 'चोखेर बाली' उपन्यास का हिन्दी अनुवाद 'आँख की किरकिरी' के नाम से जब 'हिन्दी ग्रथ रत्नाकर' से प्रकाशित हुआ था और उसका पैकेट मेरे पास आया था, तब कितने चाव से प्रसादजी ने स्वय उसे खोला था और एक सच्चे मित्र की तरह आनन्द-पुलकित होकर मुझे सफलता के लिए बधाई दी थी। इसके बाद उन्होने एक ही दिन मे उसे समाप्त कर मेरी प्रशसा मे जो शब्द कहे थे, वे आज भी मेरे हृदय मे अकित है। प्रसादजी एक सच्चे मित्र और हितैषी थे।

प्रसादजी सहिष्णु भी बडे थे। यहाँ एक उदाहरण देता हूँ—सराय गोवर्धन (इसी मुहल्ले मे प्रसादजी रहते थे) मैं प्रसादजी के घर से थोडी ही दूर पर और एक सज्जन रहते थे। वह प्रसादजी से स्पर्द्धा का भाव रखते थे। यह बात प्रसादजी से छिपी नही थी। वह सज्जन अपने को प्रसादजी से बडा रईस प्रसादजी से बडा विद्वान् और प्रसादजी से बडा कवि समझते थे—समझते ही नही थे, इसका डिडिमनाद भी मौके-बे-मौके किया करते थे। वह सज्जन मेरी और प्रसादजी की अन्तरगता जानते थे, इसीलिए वह जो बात प्रसादजी के कानो तक पहुँचाना चाहते थे, वह मुझ से कह देते थे। किन्तु किसी की बात किसी से कहना मेरे स्वभाव के विरुद्ध था। इसके सिवा मैं उनकी भावना को जानता था, इसीलिए सुन अवश्य लेता था, पर प्रसादजी से कभी नही कहता था। किन्तु एक दिन उन सज्जन ने अपनी कविता की प्रशसा तो की ही साथ ही यह भी कह दिया कि प्रसादजी को वह चैलेंज करते है कि ऐसी अनुप्रासपूर्ण भाषा मे भावभरी कविता करके दिखावे। मुझे उनकी यह अहम्मन्यता

बहुत बुरी लगी और मैंने कह ही दिया कि प्रसादजी अगर ऐसी कविता लिखने लगे तो मैं कहूँगा—वह अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग कर रहे हैं ! इतना कहकर मैं चला आया । आते ही मैंने प्रसादजी को बुलवाया और उनसे सब हाल कह दिया ।

सुनकर प्रसादजी ने ठहाका मारकर बात हँसी में उड़ा दी । बोले—आप इतने उत्तेजित क्यों हैं ? उन भाई का स्वभाव ही ऐसा है ! अच्छा है, मेरे साथ स्पर्द्धा करके ही अगर वह कुछ उन्नति कर लें तो क्या बुरा है ? इसमें मेरी क्या हानि है ? मैं तो उनकी सहिष्णुता देखकर दंग रह गया । इतना ही नहीं, शाम को जब मेरे साथ वह दूकान जाने लगे, तब घूमकर उन्हीं सज्जन के दरवाजे से निकले, उन्हें आवाज देकर बाहर बुलाया । स्वयं बोले भाई तुम तो हम से आगे बढ़ गये हो कविता के क्षेत्र में ! मैं तो तुम्हारे पीछे भी नहीं चल सकता । मैं और वह सज्जन दोनों प्रसादजी का मुँह ताकने लगे । प्रसादजी ने ऐसी मुद्रा बनाकर ये वाक्य कहे, कि यह समझना कठिन हो गया कि वे व्यंग कर रहे हैं या ये उनके सच्चे उद्‌गार हैं ! वह सज्जन तो यह समझकर कि प्रसादजी ने अपनी हार स्वीकार कर ली है, फूलकर कुप्पा हो गये और अपना बड़प्पन जताते हुए बोले—नहीं-नहीं, तुम भी अब अच्छी कविता कर लेते हो । साधना करते रहो ! मैं तो दिन रात इसी में मशगूल रहता हूँ ।

कहना न होगा । हँसी के मारे मेरा पेट फूल रहा था ।

प्रसादजी जब प्रकाश्य रूप से साहित्य के क्षेत्र में आये, उससे बहुत पहले से वे लिख रहे थे । किन्तु किसी पत्र-पत्रिका में अपनी रचना भेजना उनके लिए असंभव ही-सा था । मैंने बहुत कह-सुनकर उनकी कुछ कहानियां और कविताएँ कुछ पत्रों में भेज दी थीं । पर नाम के पीछे दीवाने सम्पादकों ने, पहले अख्यात प्रसादजी की रचनाओं की ओर उतना अनुराग नहीं दिखाया । तब मेरी प्रेरणा से प्रसादजी ने अपने भांजे श्री अम्बिका प्रसाद गुप्त के नाम से 'इन्दु' नाम की एक मासिक पत्रिका प्रकाशित की । इन्दु के सम्पादन का भार मुझ पर ही छोड़ दिया था । इन्दु में प्रसादजी की कई रचनाएँ निकलीं और हिन्दी-संसार प्रसाद की प्रतिभा का पुजारी बनने लगा । 'इन्दु' ने अच्छी ख्याति पायी थी । परन्तु प्रबन्ध की गड़बड़ी से उसमें इतना घाटा होने लगा कि अन्त में वह बन्द ही हो गयी ।

प्रसादजी के परममित्र, कलाप्रेमी राय कृष्णदास जी ने इसके बाद प्रसादजी की रचनाएँ प्रकाशित करना शुरू किया । इसके बाद तो प्रसादजी एक के बाद एक उत्तम नाटक, कहानियाँ, उपन्यास और कविताएँ लिखकर हिन्दी के भण्डार को भरने लगे । उनके नाटक हिन्दी की शोभा हैं । उनके उपन्यास अद्वितीय हैं । उनकी कहानियाँ हीरे के टुकड़ों की तरह प्रतिभा की ज्योति से परिपूर्ण हैं । उनकी

'कामायनी' एक बेजोड़ रचना है। उनकी 'आँसू' अपने ढंग की अकेली ही रचना है— उससे प्रेरणा पाकर अनेक कवियों ने इस विषय पर कलम उठाई है।

प्रसादजी में सभी सद्गुण थे। वे मितभाषी, उदार, धीर, परोपकार-परायण, निरभिमान, ईर्ष्या-द्वेषरहित थे। उनकी बुद्धि कुशाग्र थी। उनकी धारणा शक्ति अपूर्व थी। उनकी सूझबूझ अनुपम थी। उनका ज्ञान विस्तृत था। वे मित्र-वत्सल थे! शत्रु को भी क्षमा कर देना उनकी विशेषता थी। उनकी प्रतिभा गुरुदेव रवीन्द्र के समान बहुमुखी थी। वे आस्तिक सद्गृहस्थ थे। साहित्य और संगीत, दोनों मे उनकी रुचि थी। वे भारतीय संस्कृति के भक्त थे—अपने देश का उन्हे अभिमान था। उनकी-सी विशेषताएँ किसी एक मनुष्य मे बहुत कम मिलती है। हो सकता है, किसी को मेरे कथन मे अत्युक्ति प्रतीत हो, पर मैं अपने पाँच वर्ष के निकट सपर्क के अनुभव पर भरोसा करता हूँ और जानता हूँ कि मेरा कथन अक्षरशः सत्य है— प्रसाद जैसा सामाजिक-साहित्यिक कही शताब्दियो बाद एक-आध पैदा होता है, और जिस देश में पैदा होता है, उसे धन्य बना देता है!

हम अभी तक प्रसाद के महत्व को, प्रसाद की विशेषताओ को, प्रसाद-साहित्य के गौरव को अच्छी तरह समझ नही पाये है। समझानेवाला भी कोई सामने नही आया है। लेकिन मैं इससे निराश नही हूँ। कभी-न-कभी तो प्रसाद का, प्रसाद के साहित्य का मूल्य समझने-समझाने वाला कोई पैदा ही होगा—

कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।



युग पुरुष 'प्रसाद'

—नन्ददुलारे वाजपेयी

जयशंकर 'प्रसाद' हिन्दी के युग-निर्माता कवि और साहित्यकार हो गये है। उनका निधन १५ नवम्बर सन् १९३७ ई० को हुआ था; परन्तु इन बीस वर्षो मे उनकी कीर्ति लेशमात्र मलिन नही हुई है। इस बीच उनके सम्बन्ध मे अनेकानेक निबन्ध और पुस्तकें प्रकाशित हुई है। उनके साहित्य के विविध अगो पर तथ्यपूर्ण अनुशीलन हुए है। कतिपय विश्वविद्यालयों ने उन पर तथा छायावादी साहित्य-युग पर—जिसके वे एक प्रधान प्रतिनिधि थे—साहित्यिक शोध कार्य भी किया है, जिससे उनकी रचनाओं और उनके व्यक्तित्व का महत्व प्रकाश मे आया है। यह ठीक है कि अभी हम प्रसादजी के जीवन और व्यक्तित्व के इतने समीप है कि अपने देश की साहित्यिक परम्परा और इतिहास मे उनकी वास्तविक देन का निरूपण और निश्चय करना हमारे लिए कठिन कार्य है, परन्तु प्रसादजी के जीवन और कृतित्व के सम्बन्ध मे जितनी भी प्रामाणिक सामग्री एकत्र की जा सके, की जानी चाहिए। समय बीत जाने पर उनकी प्रत्यक्ष जानकारी सम्बन्धी संस्मरण नही मिल सकेंगे; सम्पूर्ण व्यक्तित्व और वातावरण का ही आँखों-देखा उल्लेख किया जा सकेगा, जिसके भीतर से प्रसाद की प्रतिमा प्रस्फुटित और विकसित हुई थी।

श्री जयशंकर 'प्रसाद' एक आसाधारण व्यक्तित्व-सम्पन्न पुरुष थे। वे अधिक ऊँचे न थे, किन्तु उनका शरीर पुष्ट और सुसंगठित था। गोरे मुख पर मुस्कान प्राय: सदैव खेला करती थी। मित्र-मण्डली मे उनके समक्ष अनावश्यक गंभीरता, विषण्णता या दिखावट तो रह नही सकती थी। प्रसादजी मित्रों का स्वागत बड़ी आकर्षक और आत्मीय नेत्रगति से करते थे, अक्सर मित्रों के कन्धे पकड़कर हल्के ढंग से झकझोर देते थे, जिससे यदि कही खिन्नता या उपालम्भ का भूत सवार हो तो तुरन्त उतर जाय। रहा-सहा अवसाद उनके ठहाकों से दूर हो जाता था। प्रसादजी के ठहाकों में उदारता और घनिष्ट मैत्री के भाव व्यंजित होते थे। यह कहना सत्य है कि प्रसादजी की गोष्ठी में कृत्रिमता के लिए कोई स्थान नही था; यह भी सच है कि उनकी गोष्ठी से लोग प्रसन्न और हँसते हुए ही निकलते थे।

प्रसादजी के पतले ओठों में सरल आत्मीय मुस्कान खूब फबती थी। पान का

हल्का रंग उनके ओठों को ताजगी और चमक दिये रहता था। प्रसादजी घर में प्राय: खद्दर के कुर्ते और धोती मे रहा करते थे, परन्तु बाहर निकलने पर रेशमी कुर्ता, रेशमी गाँधी टोपी, महीन खद्दर की धोती, रेशमी चादर वा दुपट्टा, फुल स्लीपर जूते और एक छडी हाथ मे रहती थी। प्रसादजी को छडी रखने का विशेष शौक था, यद्यपि वह पूरी तरह अलंकार का ही काम देती थी। एक बार जब आचार्य श्यामसुन्दरदास जी ने उन्हे मसूरी से लाकर एक सुन्दर पहाडी छडी भेंट की थी, तब प्रसादजी बडे प्रसन्न हुए थे और सभी मित्रो को बारी-बारी से दिखाकर ही उन्हे संतोष हुआ था।

मंदिर, फुलवारी और अखाडा, प्रसाद-गृह के तीन सर्वप्रिय अंग रहे है। प्रसादजी अपने मित्रो को--जब वे अकेले दुकेले आते थे--अपने साथ ले जाकर फुलवारी मे ही बैठाते थे, वहीं बातचीत चलती थी। अधिक संख्या होने पर वे मित्रो के लिये बैठक खुलवाते थे। फुलवारी मे ही अखाडा था और उसी मे एक शीर्ष पर शिव-मंदिर था। अखाडे की सबसे अधिक स्मरणीय वस्तु वे मुगदर थे, जिनका वजन देखकर यह अनुमान करना कठिन हो जाता था कि प्रसाद-जैसे कलाकार भी उन्हे भाँजते रहे होगे। परन्तु बात सच है, प्रसादजी बतलाते थे कि वे मुगदर उन्ही के भाँजने के लिए बनवाये गए थे और एक पहलवान उन्हे इसकी शिक्षा देने के लिए आया करता था।

मन्दिर मे पूजा नित्य होती थी परन्तु उत्सव आयोजन वर्ष मे एक ही दो बार हुआ करते थे। प्रसादजी शैव थे और बडी श्रद्धा से शंकर जी की भावना करते थे। उन्हे शिव-सम्बन्धी भारतीय दर्शन की निष्पत्ति बहुत प्रिय थी। शंकर से सम्बन्ध रखनेवाले पौराणिक प्रतीकों को वे बडी रुचि और मनोयोग से समझने और समझाने की चेष्टा करते थे। शंकर जी के बाद वे कृष्ण के चमत्कारपूर्ण चरित्र के प्रशंसक और श्रद्धालु थे। पिछले दिनों वे इन्द्र के चरित्र की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए थे और उस पर एक नाटक लिखने का भी विचार करते थे। यह कार्य वे पूरा न कर पाये। परन्तु अपने निबन्धो मे उन्होने इस बात की स्पष्ट सूचना दी है कि आनन्ददायी और शक्तिवादी विचारधारा के प्राचीनतम प्रतिनिधि इन्द्र ही थे और वर्तमान भारतीय जीवन मे इन्द्र के उस स्वरूप का, देश की रक्षा का दायित्व रखने-वाले नवयुवको के लिए विशेष महत्व है।

अखाडे और मंदिर से भी कदाचित् अधिक प्रिय प्रसादजी को उनकी फुलवारी थी, जिसमे एक-न-एक चीज बोने और दिखाने का शौक उन्हे अंत तक रहा। प्रसादजी की वह वाटिका बहुत बडी न थी और न विशेष सज्जित ही, फिर भी इसके प्रति उनका एक अनोखा अनुराग था। कदाचित् इस वाटिका से उनकी

कतिपय मनोरम जीवन-स्मृतियाँ संलग्न रही हैं ! प्राय: प्रसादजी अपनी लिखने की कॉपी लेकर यहाँ आ जाते थे और यहीं बैठकर जब तक इच्छा होती, लिखा करते थे। उनकी अधिकांश काव्य-रचनाएँ या तो इस फुलवारी में हुई है, या रात्रि के समय मकान की दूसरी मंजिल पर। कामायनी का मुख्य भाग नये घर और नयी बैठक में, रात्रि के पिछले प्रहरों में लिखा गया था।

अस्तु, यह तो प्रसादजी को घर की चौहद्दी में देखने की चेष्टा की गई। उनके परिवारिक और सामाजिक जीवन की भी थोड़ी-सी चर्चा अप्रासंगिक न होगी। प्रसाद का परिवार बहुत बड़ा न था। पत्नी, भाभी और एक ही पुत्र रत्नशंकर। यह मैं उनके प्रौढ़काल की चर्चा कर रहा हूँ। उनकी बाल्यावस्था में उनका परिवार काफी भरा-पूरा था; किन्तु क्रमशः वह घटता और क्षीण होता चला गया। कदाचित् इसीलिए प्रसादजी को शेष कुटुम्बियों के प्रति घनिष्ट स्नेह हो गया था। भाभी के प्रति अपना समादर भी वे कभी-कभी चर्चा करते। पुत्र के लिए उनके मन में एक हल्का आवेग भरा किन्तु ऊपर से सौम्य और संयत स्नेह था। पत्नी के प्रति उनकी भावना का पता उनके पुत्र के 'माँ' स्वर से ही लगाया जा सकता था; क्योंकि वे उनके सम्बन्ध में, भारतीय शालीनता के अनुसार कभी कुछ कहते न थे। प्रसाद का पारिवारिक जीवन सामान्य रूप से सुखी था, यह कहा जा सकता है।

परिवार और मित्र-मंडली के बाहर, एक सार्वजनिक या सामाजिक व्यक्ति के रूप में प्रसादजी कम ही आते थे। उन्हें अपने साहित्यिक और गार्हस्थिक कार्य से अवकाश ही नहीं मिलता था। प्राय: सन्ध्या-समय वे बनारस के चौक के समीप गलीवाली अपनी 'सुँघनीसाहु' की दुकान पर बैठते थे, जहाँ जाने-अनजाने सभी प्रकार के लोग उनसे मिलने आते थे। मित्रों से प्रसादजी जितने खुले रहते थे, अपरिचितों से उतने ही शालीन और मितभाषी थे। कुछ थोड़े से चुने हुए वाक्यों में वे उनके प्रश्नों का उत्तर दे देते। यदि कहीं किसी वाद-विवाद की सम्भावना देखते, तो मौन ही रह जाते। परन्तु यदि मित्रों का जमावड़ा रहता, तो दिल खोलकर बातें करते, फब्तियाँ कसते और कभी किसी का रहस्योद्घाटन भी करते। परन्तु इन समस्त चर्चाओं में प्रसादजी के खुले दिल की प्रसन्न भावना ही काम करती; वैमनस्य अथवा ईर्ष्या-द्वेष के लिए उनके व्यक्तित्व में स्थान न था।

सभा-सोसाइटियों अथवा भाषण-व्याख्यानों में प्रसादजी को बहुत कम रुचि थी; परन्तु विस्मय अथवा कौतूहलपूर्ण वार्ता, देश-विदेश के अनुभव और यात्रा-वर्णनों से वे विशेष आकृष्ट रहते थे। कभी कोई ऐसा व्याख्यान आ गया तो प्रसादजी उसे सुनने अवश्य जाते। मुझे स्मरण है कि एक बार तिब्बत-यात्रा सम्बन्धी राहुलजी का भाषण सुनने के लिए वे दूर तक पैदल चलकर गए थे, और मुझे भी उसे सुनने का

आग्रह किया था। कवि-सम्मेलनों को प्रसादजी नापसन्द करते थे; पर छोटी गोष्ठियों में कविता सुनना या सुनाना उन्हें पसन्द था। एक ही बार नागरी प्रचारिणी सभा के बड़े समारोह में मैंने उन्हे 'आँसू' की पंक्तियों का सस्वर पाठ करते सुना था। सारी सभा उनके कविता-पाठ से मुग्ध हो गई थी।

प्रसाद के साहित्यिक जीवन का आरंभ कवि के रूप में हुआ था। उनके आरम्भिक पद्यों मे अतीत की सुखद स्मृतियों की, एक हल्के विषाद से भरी प्रतिक्रिया दिखाई दी, साथ ही उनमे यौवन और शृंगार की अतृप्त अतिशयता भी लगी हुई थी। 'चित्राधार' और 'कानन कुसुम' के छाया-संकेतों मे इन्ही दबी भावनाओं का आभास मिलता है और 'झरना' की 'छेड़ो मत यह सुख का कण है, उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, यह करुणा का थका चरण है'—आदि पंक्तियो म इसी की गूंज है। 'आँसू' मे कवि का यह वैयक्तिक पक्ष पूरी तरह उभर आता है; परन्तु इसी के साथ कवि की एक आभिनव दार्शनिकता भी उतनी ही प्रभावशीलता के साथ काव्य का अंग बन गई है। उद्दाम शृंगारिक स्मृतियों के साथ संपूर्ण समाधानकारक दार्शनिकता 'आँसू' की विशेषता है। भावनाओं के असाधारण उद्वेग के साथ उतनी ही प्रगाढ़ दार्शनिक अनुभूति का योग, रचना मे एक अपूर्व मार्मिकता और संतुलन ले आता है। यह दर्शन-शासित प्रेम-गीति, नई कल्पना तथा नए काव्याभरण का योग पाकर युग की एक प्रतिनिधि कृति हो गई है। अनेक कवियो ने इस छन्द और इसी भाव-धारा की अनुकृति करनी चाही। इससे केवल इतना ही लक्षित होता है कि इस रचना के प्रति साहित्यिक क्षेत्र मे असाधारण आकर्षण रहा है। 'आँसू' के अनन्तर प्रसादजी के प्रगीतो मे वह उद्वेग नही मिलता। 'लहर' मे अधिक परिष्कृत सौन्दर्य-चित्रण और संयमित भाव-धारा है। दो-चार गीतो मे अतीत की मनोरम स्मृतियाँ भी आयी है : पर उनमे आँसू की-सी अभाव या शून्यता की व्यंजना नही है। अब तो वे मनोरम-क्षण जगत मे नया सौन्दर्य लाने की चेष्टा मे सलग्न है। 'ओ सागर-संगम अरुण नील'—जैसे कुछ गीत प्रसादजी की पुरी-यात्रा के स्मारक ह और प्राकृतिक सौन्दर्य की अनोखी झाँकी से समन्वित है। प्रेम और करुणा की तात्त्विक भावना का चित्रण 'लहर' मे, महात्मा बुद्ध के जीवन प्रसंग और उनकी दार्शनिकता की पार्श्व-भूमि पर किया गया है। शेरसिंह का 'शस्त्र-समर्पण' और 'प्रलय की छाया' के रूप मे दो नाटकीय आख्यानक गीतियाँ भी 'लहर' मे है; उनमे क्रमश 'पराजित वीरत्व' और 'सौन्दर्य वर्ग' का विवरणपूर्ण मनोवैज्ञानिक चित्रण है। प्रसादजी की रेखाएँ इन चित्रणो मे पर्याप्त पुष्ट है; जो उनकी कलात्मक समृद्धि का प्रमाण कही जा सकती है। 'लहर' मे 'बीती विभावरी जाग री'—शीर्षक यह जागरण-गीत भी है, जो कदाचित् प्रसादजी के सम्पूर्ण काव्य-प्रयास के साथ ही उनकी युग-चेतना का परिचायक प्रतिनिधि गीत कहा जा सकता है।

'कामायनी' प्रसादजी के कृतित्व का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप है। उनमें सर्वांगपूर्ण जीवन-दर्शन, नारी-पुरुष का सम्पूर्ण चित्रण और नई परिस्थितियों का व्यापक निरूपण है। नये ज्ञान का विस्तृत उपयोग उसमें किया गया है। 'कामायनी' में कवि प्रसाद ने आदि मानव का आख्यान लिया है और उसे, प्राचीन कथातन्तु का सहारा लेकर नए उपकरणों से सज्जित किया है। कथानक में मनोविज्ञान के साथ मानव सभ्यता के विकास का वैज्ञानिक चित्र भी दिखाया गया है। इस प्रकार काव्य का कथानक तो नये विज्ञान का उपयोग करता है, उसे गति और विस्तार देता है, और इस विज्ञान-सम्मत विकास को सार्थकता और आलोक देने के लिए कवि ने भारतीय दर्शन का सुन्दर उपयोग किया है। उसी के अनुरूप 'कामायनी' मे दो नारी-चरित्र भी है। एक 'श्रद्धा' भारतीय भावना और दर्शन की प्रतिनिधि, दूसरी 'इडा' नए वैज्ञानिक विकास की प्रतीक। इन दोनो का संतुलन और समन्वय, नवीन भारतीय संस्कृति को 'कामायनी' के कवि की नई देन है।

नाट्य-क्षेत्र में प्रसादजी ने नाटक को नए चरित्र, नई घटनाएँ, नया ऐतिहासिक देश-काल. नए आलाप-संलाप संक्षेप में, सम्पूर्ण नया समारम्भ दिया, जिसके फल-स्वरूप हिन्दी नाटकों मे नया युग-प्रवर्तन होने लगा। प्रसादजी के नाटक ऐतिहासिक है, इसलिए घटना और चरित्र का स्वतंत्र निर्माण तथा जीवन-समस्याओं और संघर्षों की योजना उनमे इतिहास की पाबंदी के भीतर हुई है, पूर्ण स्वतंत्रता के साथ नही। इस दृष्टि से प्रसाद के नाटक, उनके 'कामायनी' महाकाव्य की भाँति पूर्ण निर्माणात्मक मौलिकता लेकर नही आए है; पर ऐतिहासिक नाटक के इस प्रारम्भिक प्रतिबन्ध को स्वीकार कर लेने पर, इतिहास की पाबन्दी के भीतर घटनाओं की नाट्योपयोगी योजना, चरित्रों और परिस्थितियो का संघर्ष और द्वन्द्व तथा नाटक मे ऐतिहासिक देश-काल के समुचित प्रकार के साथ ही शिष्ट और सौम्य भाषा मे, कही कुछ काव्यात्मकता लिये हुए और कही विनोद के हल्के पुट से अनुरंजित सम्वादों की सृष्टि प्रसादजी ने की है। उनके नाटको मे कई प्रकार की त्रुटियाँ लोगो ने देखी है और सम्भव है, भविष्य मे भी देखे; पर हिन्दी नाटकों को नवीन स्वरूप और नया जीवन देने में प्रसादजी का ही कार्य सर्वोपरि है। इतिहास की घटनाओं को नाटकीय कथा-वस्तु के रूप मे ढालकर सजीव पात्रों की सृष्टि करना तथा अतीत के उन व्यक्तियों और परिस्थितियों मे आज के पाठक और नाट्य-दर्शक का मन रमा लेना प्रसादजी की विशेषता है। उनके नाटकों मे घटनाओं के आकर्षण की अपेक्षा चरित्रों की विविधता और उनकी मनोभावनाओ का उन्मेष तथा प्रदर्शन अधिक है। प्रसाद के नाटक इतिहास के रूखे अस्तित्व को नाटकीय कौतूहल, प्रभावशाली दृश्य-विधान और कला की चमत्कारिता देने में समर्थ हुए है।

प्रसाद की कहानियाँ कल्पना-प्रधान हैं और प्राकृतिक वातावरण का बड़ा सुन्दर उपयोग करती हैं। उनकी अधिकांश कहानियों की रंगभूमि प्रकृति के खुले प्रसार में है। उन्मुक्त वायुमण्डल की विस्मयकारक और नाटकीय घटनावली के बीच मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक चित्रण प्रसाद की कहानियों की विशेषता है। उनके प्रेम-कथानकों में मनोवैज्ञानिक और प्राकृतिक पार्श्वभूमियाँ रहा करती हैं और प्रसंगानुरूप देश-प्रेम अथवा कोई ऐसी ही सांस्कृतिक भावना या आदर्श जुड़ा रहता है। प्रसाद की कहानियों में वातावरण का चित्रण, विशुद्ध कहानी के लिए कुछ अधिक हो जाता है। उनमें वस्तु-अंकन की प्रवृत्ति अधिक है, जिसके कारण कहानियों में [illegible] चित्रित [illegible] भी दिखाई पड़ती है। अतीत को सजीव करने [illegible] रही है, कदाचित् इसीलिए सम्पूर्ण कहानी असाधारण [illegible] प्रभावशाली [illegible]। उनमें भाषा की पर्याप्त आलंकारिकता रहती है। [illegible] भावनात्मक रचना की दृष्टि से अनुपम [illegible], ममता, सालवती आदि उनकी कहानियों के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

प्रसाद [illegible] सामाजिक समस्याओं, व्यवहारों और परिस्थितियों [illegible]। 'कंकाल' उनका प्रथम उपन्यास, विचार-प्रधान है। [illegible] जातीयता और अभिजात्य की भावनाओं पर एक [illegible] वास्तविक परिस्थितियों [illegible]। 'कंकाल' की अपेक्षा 'तितली' उनकी अधिक [illegible]। प्रसादजी ने किसानों और मजदूरों के जीवन-चित्र उपस्थित [illegible] 'तितली' उपन्यास की प्रमुख पात्र है। वह स्वस्थ [illegible] है। उसके चित्रण द्वारा प्रसादजी ने ग्रामीण [illegible] की चेष्टा की है। उन्होंने ग्रामीण नव-निर्माण [illegible] सहयोगिता और [illegible] आदर्शों पर आधारित [illegible]। प्रसाद का तीसरा उपन्यास 'इरावती' ऐतिहासिक आधार पर लिखा जा रहा था [illegible] जितना अंश लिखा गया है उतने में ही उसके एक श्रेष्ठ औपन्यासिक [illegible] का प्रमाण मिलता है किन्तु प्रसादजी की असामयिक मृत्यु से उनकी यह कृति अधूरी रह गई।

प्रसाद की समस्त रचनाओं को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे एक प्रतिभा-सम्पन्न [illegible] थे ही, बड़े मनस्वी और चिंतनशील लेखक भी थे। उनकी रचनाएँ क्रमशः प्रौढ़ होती गई हैं, जो उनके व्यक्तित्व के विकास की परिचायक हैं। प्रसादजी ने जीवन के अन्तिम वर्षों में कुछ निबन्ध भी लिखे थे, जो उनके

साहित्यिक और शास्त्रीय ज्ञान तथा अन्तर्दृष्टि का प्रमाण देते है। यदि वे साघातिक रोग द्वारा समय के पूर्व ही हमसे विच्छिन्न न कर लिये जाते, तो हिन्दी साहित्य और भारतीय जीवन उनकी अन्य उत्तमोत्तम कृतियो मे भी विभूषित होता। उनकी अन्तिम कृतियों को देखने से यही लक्षित होता है कि उनकी प्रतिभा लेश-मात्र भी कुंठित नही हुई थी, वरन् उनका मानस-भंडार अनेक सुन्दर और मूल्यवान रत्नों की भेट माँ भारती के चरणों मे समर्पित करने की तैयारी कर रहा था।



धन्य तेरा स्मरण-वंदन

—ज्ञानचंद जैन

काशी जाकर बाबा विश्वनाथ के मन्दिर का दर्शन करने जानेवाले भक्तजनों के मन मे उत्साह का जो भाव रहता है, वही भाव उस समय मेरे हृदय मे था, जब मै भाई विनोदशंकर व्यास के साथ प्रसादजी का पहली बार दर्शन करने के लिए गोवर्द्धन सराय गया। पुराने और जराजीर्ण मकानों के बीच टेढ़ी-मेढ़ी तंग गलियों को पार कर जब हम अपेक्षाकृत खुली जगह मे पहुँचे और व्यासजी ने जब सामने स्वच्छ-धवल मकानो की एक श्रेणी की ओर संकेत करके कहा --यही प्रसादजी का मकान है; तब मैं भी कौतूहल से भर उठा।

मकान मे प्रवेश कर हम बैठक मे पहुँचे। प्रसादजी बैठक मे न थे वे भीतर दालान मे कारखाने की तरफ थे। मैं बैठक मे गद्दी से कुछ हटकर तख्त पर बैठ गया। विनोद शकर जी भीतर दालान मे चले गये।

मैंने बैठक मे चारो ओर कौतूहल भरी नजर दौडाई। तख्त पर गद्दी के ऊपर लगा हुआ धर्मकाँटा और ऊपर ताकों पर रखी हुई बहियाँ प्रसादजी के वैश्यकुलीन होने की सूचना दे रही थी। दीवारो पर प्रसादजी के पूर्वजो के कुछ बड़े तैल चित्र लगे थे।

प्रसादजी को चित्रो मे मै पहले देख चुका था इसलिए विनोदशंकर व्यासजी के साथ जब वे बैठक मे प्रविष्ट हुए तो वह आकृति जानी-पहचानी-सी प्रतीत हुई।

गौर वर्ण, उन्नत ललाट, चरित्र की दृढता प्रकट करनेवाली पुष्ट ठोढी, कला-प्रियता का परिचय देनेवाली पतली नाक, कसरत से हृष्ट-पुष्ट शरीर—प्रसादजी का छविचित्र आज भी मेरे मानस-पट पर अच्छी तरह अंकित है।

कुछ दिन पहले मै प्रेमचन्द से मिला था। मैं मन ही मन प्रेमचन्द और प्रसाद की तुलना करने लगा। प्रेमचन्द के व्यक्तित्व मे कही असाधारणता नही थी। वेशभूषा, बातचीत, आकृति-प्रकृति सब मे प्रेमचन्द एक साधारण व्यक्ति प्रतीत हुए थे—जैसे आपको जीवन मे प्रतिदिन मिलते रहते है। हाँ, उनकी सरल आँखो में अवश्य एक चमक थी, जो साधारणतया देखने को नही मिलती। बातचीत करते समय जब वे आँखें आपकी ओर देखती थी तो ऐसा भास होता था कि वे आपके

अन्तरतम में प्रवेश कर देख रही हैं। प्रसादजी के मुखमंडल पर उनके कौटुम्बिक ऐश्वर्य की छाया स्पष्ट थी। 'उनका रहन-सहन बहुत सादा था घर पर वे साधारणतया गाढ़े की मिर्जई और धोती पहनते थे। फिर भी उनकी मुद्रा से उनका अभिजात वर्ग छिपता न था।

जीवन के संघर्ष ने उनके मुखमंडल पर अनेक कठोर रेखाएँ खींच दी थी। फिर भी वे जब सरस साहित्य-वार्ता अथवा कविता-पाठ मे मग्न हो जाते तो उनके मुखमंडल पर एक सहज स्निग्धता का भाव छा जाता, जीवन की सारी कठोर रेखाएँ जैसे मोम की तरह गलकर बह जाती।

मैं जिस समय प्रसादजी से मिला, मैंने सरस्वती के मन्दिर में पैर रखा ही था। फिर भी प्रसादजी बिल्कुल बराबरी के भाव से मिले मुझसे, अपने व्यवहार मे कही भी बड़े या छोटेपन का भाव मेरे मन मे उदय नही होने दिया। प्रेमचन्द जी के व्यवहार मे भी मैंने यही विशेषता पाई थी। अब यह स्वभाव दुर्लभ होता जा रहा है।

कलाकारों के स्वभाव मे सहज रूप मे अहम्मन्यता की भावना रहती है। बहुत कम कलाकार इससे मुक्त होते है। परन्तु प्रसादजी मे आत्मप्रदर्शन तथा आत्मश्लाका से दूर रहकर निष्काम भाव से काम करने का अद्भुत अभ्यास था।

कुछ मित्रों ने लिखा है—प्रसादजी ने अपने आचार-विचार और स्वभाव में 'कंजरवेटिव' थे। यह एक हद तक सही है! मेरे मन पर भी उनके चरित्र की ऐसी ही छाप पडी है। परन्तु इसका यह अर्थ न लिया जाय कि प्रसादजी प्रगति-विरोधी थे। प्रसादजी प्रगति के प्रबल पक्षपाती थे। यह सही है कि वे क्रान्ति की अपेक्षा सुधार के समर्थक थे। उन्होने अपना एक जीवन-दृष्टिकोण बना लिया था, जिसके अनुसार वे आज की समस्याओ का निराकरण करते थे। फिर भी प्रसादजी की जीवन-दृष्टि कभी स्थिर (अगतिशील) नही रही। उनकी रचनाओं का क्रमिक अध्ययन करने से पता चलता है कि प्रसादजी की जीवन दृष्टि उत्तरोत्तर परिवर्त्तित और सम्वर्धित होती रही। उनका व्यक्तित्व कभी विरामशील नही रहा—वह उत्तरोत्तर विकसित होता रहा। जीवन की समस्याओं से वे कभी भागे नही; उनका डटकर सामना करना ही उन्होने जीवन का इष्ट माना। अपने व्यक्तिगत जीवन में भी प्रसादजी को अनेक संघर्षो का सामना करना पडा और इन संघर्षों का भी उसी भावना से सामना किया, जिसका प्रतिपादन उन्होंने अपनी रचनाओं में किया है। इसलिए जो आलोचक यह कहते है कि प्रसादजी की रचनाएँ जीवन से दूर हैं, मैं कहूँगा, वे बहुत छिछली दृष्टि रखते है। प्रसादजी की रचनाओं का जीवन से गहरा, अति सूक्ष्म सम्बन्ध है।

प्रसादजी के दर्शनों का मुझे सिर्फ ५-६ बार सौभाग्य मिला। परन्तु उनके

चरित्र की जो छाप मेरे मन पर पडी, उन्होंने जो संस्कार मुझे दिये, उन्हे मे आज भी अपने जीवन की बहुमूल्य थाती मानता हूँ।

प्रमादजी के मुख गे मुझे 'आँसू' और 'कामायनी' के कुछ मर्ग सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। प्रमादजी मदैव —कवि-सम्मेलनो और सभा-सोसाइटियो से दूर रहे। इसमे एक हद तक उनकी आत्म-प्रदर्शन तथा आत्मश्लाका से दूर रहने की वृत्ति काम करती थी। इसके अलावा प्रमादजी की कविताएँ सभा-सम्मेलनो की अपेक्षा एकान्त मे, दो-चार मित्रो की गोष्ठी मे 'रम लेने की वस्तु अधिक है। उनकी कविताओ मे एक सहज रोमानी झलक रहती है, जो जीवन से दूर प्रतीत होने पर भी कही पर जीवन को स्पर्श करती है। प्रसाद के अन्तिम अधूरे उपन्यास 'इरावती' की पाण्डलिपि भी मैंने उनके सामने बैठकर पढी थी। प्रसादजी ने 'कामायनी' की रचना के बाद ही इस उपन्यास को लिखना शुरू किया था। उन्होने लगभग एक दर्जन ऐतिहासिक उपन्यासो के प्लाट बनाये थे और ऐतिहासिक नाटको की भाँति वे ऐतिहासिक उपन्यासो की भी माला गूथनेवाले थे। नाटको के क्षेत्र मे 'ध्रुवस्वामिनी' के रूप मे उन्होने जो नया प्रयोग किया था, उसे वे आगे बढाने का विचार रखते थे। 'इन्द्र' पर उन्होने लम्बी खोज की थी और इरावती उपन्यास के बाद ही वे इन्द्र' नाटक लिखने की तैयारी कर रहे थे। परन्तु असामयिक बीमारी ने उनकी सारी साहित्यिक योजनाओ पर विराम चिन्ह लगा दिया।

बीमारी की अवस्था मे प्रसादजी के दो बार दर्शन का अवसर मिला। पहली बार जब मिला तब टी० बी० की शुरूआत थी और उस समय वे जरा भी हतोत्साह नही थे, उनका विश्वास था कि कुछ ही दिनो मे अच्छे हो जाएँगे। परन्तु ६ महीने बाद जब मै दूसरी बार मिला,तो उनको पहचानना मुश्किल था। वह हृष्ट-पुष्ट, कांतिमान शरीर कृश होकर एकदम काला पड गया था। शरीर पर एक पतली चमडी रह गई थी। शरशैया पर पडे भीष्म पितामह की तरह, बिस्तर पर पडा हुआ उस साहित्यिक तपस्वी का हड्डियो का ढाचा देखकर रोमाच हो आता था।

प्रेमचन्दजी को भी बीमारी की अन्तिम अवस्था मे देखने का मुझे अवसर मिला है। जलोदर से उनका पेट फूला हुआ था, उन्हे बडा कष्ट था। जैनेन्द्रजी भी साथ थे। एक हसरत भरी नजर से वे हमारी ओर देख रहे थे, फिर उन्होने आँखे बन्द कर ली। उस मूक दृष्टि मे जीवन की अधूरी लालसाएँ जिस प्रकार कातर होकर झाँक रही थी, उन्हे वाणी अभिव्यक्त करने मे असमर्थ है।

प्रसादजीकी कातर दृष्टि मे मुझे वही भाव झाँकते मिले, जो प्रेमचन्दजी की बीमारी की अन्तिम अवस्था मे देखे थे और जिनकी छाप आज तक मेरे मन पर अंकित है। फिर भी, प्रसादजी के नेत्रो मे असहायावस्था का भाव होते हुए भी दीनता का कोई भाव न था। उन्होने जैसे अपने को नियति के हाथों मे समर्पित

कर दिया था और 'प्रभु जो होनी होइ सो होई' का भाव धारण करके उन्होंने अपने को प्रस्तुत कर लिया था।

प्रसादजी ने अपने जीवन में कभी हार न मानी थी, और अन्त समय में भी वे एक वीर सैनिक की भांति जीवन से युद्ध करते हुए सब पीड़ाएं सह रहे थे। उन्हें किसी से कोई शिकायत न थी, न शिकवा न था। 'कामायनी' में समरसता की जिस उच्च भावभूमि का प्रतिपादन किया गया है, उसे वे अपने जीवन में चरितार्थ कर चुके थे। मेरा हृदय उनके सामने श्रद्धा से नतमस्तक हो गया।

आज जब उस साहित्यिक तपस्वी का पुण्य स्मरण करता हूं, तो मुझे भीतर से एक बल मिलता है। प्रसाद की रचनाओं में सर्वत्र शक्ति का प्रवाह है। उनके साहित्य में एक पौरुष है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। हमारा भाग्य है कि हमें ऐसा महान साहित्य-महारथी मिला, जिससे हमारी भाषा धन्य हुई!



अग्रज प्रसाद जी

—परिपूर्णानन्द वर्मा

उम्र में प्रसादजी मुझसे १८ वर्ष थे अतएव यह कहना तो धृष्टता होगी कि वे मेरे मित्र थे। यद्यपि प्रसाद जी की सबसे बड़ी खूबी यह थी कि चाहे दस दिन की मुलाकात हो या दस बरस की, कोई यह नही महसूस कर सकता कि वह उनसे अपरिचित हैं या वे उनसे कम परिचित हैं। जितनी जल्दी खुले दिल से आत्मीयता वे पैदा कर देते थे, वह बहुत कम में मिलती है। सौभाग्य से मुझे बहुत बड़े बड़े लोगों के साथ का अवसर मिला है। मुसलमानों में तुरंत आत्मीय बन जानेवालों में नवाब अहमद सईद खां छतारी, जो ब्रिटिश शासन काल में प्रथम भारतीय गवर्नर रह चुके थे, उनमें यह गुण पाया था, हिन्दुओं में श्री श्रीप्रकाश जी तथा साहित्य महारथियों में प्रसाद जी में ही ऐसी निराली प्रकृति मैंने पायी। मैं केवल अपने अनुभव की बात कर रहा हूँ। नवाब छतारी जब एकदम राजनीति तथा प्रदेश के मसलों से अलग होकर अलीगढ़ में रहते थे लगभग २५ वर्ष बाद उनसे मिलने अलीगढ़ गया—ऐसा लगा कि रोज की मुलाकात हो, उम्र में अन्तर होते हुए भी ऐसा लगा जैसे जिगरी दोस्त से मिल रहे हों। श्री प्रकाश जी तो एक दिन में ही मोह लेते थे। पुराने महान साहित्यकारों जो उच्चतम चोटी पर पहुँच गये थे, श्री प्रेमचन्द जी तथा प्रसाद जी, उम्र में बड़ा अन्तर होने पर भी मेरी बड़ी घनिष्टता थी। पर प्रेमचन्द जी मेरे बहुत नज़दीकी रिश्तेदार थे। उनसे प्रगाढ़ परिचय स्वाभाविक था। पर प्रसाद जी से पहली ही भेंट में लगा जैसे पुराने साथी से मिल रहे हों।

उन दिनों, सम्भवतः १९२२-२३ में हम लोगों की जो मण्डली उमड़ पड़ी थी वह बेचन पाण्डेय 'उग्र' विनोद शंकर व्यास, जनार्दन झा 'द्विज' तथा शान्ति प्रिय द्विवेदी की थी—शान्तिप्रिय का असली नाम मुच्छन था। वह मेरे घर में ही परिवार के सदस्यों की तरह रहता था। आपस में मारपीट भी होती थी। इसी स्थिति पर मझले भाई श्री अन्नपूर्णानन्द जी ने एक कविता लिख डाली जिसकी अब एक ही पंक्ति याद है :

'मुच्छन बपुरो को करै धोती विहीन'

श्री अन्नपूर्णानन्द जी ने व्यंगात्मक तथा हास्य रस की कविता का श्रीगणेश मेरे ऊपर से ही शुरू किया था। मैं मीठा—खासकर गुड़ का बड़ा शौकीन था। इस पर उन्होंने कविता बना डाली :—

एक दिन छोटे प्रेम से, बैठे अम्मा पास।
गान लगे गुड़ की कथा, यद्यपि लगी हगास।।

उन्होंने मुझसे कहा था--'तुमने प्रसादजी को देखा है। मैंने कहा नही—मुच्छन को भी प्रसाद जी का यश और नाम का पता नही था। विनोदशंकर व्यास ऐसे महान अतुलनीय कहानीकार से बात हुई—वे ले चले मुझे, मुच्छन भी साथ था। नारियल बाज़ार मे अपनी दूकान के सामने चबूतरे पर वह भव्य मूर्ति विराजमान थी। बगल मे—पान की डोली लिये तम्बोली बैठा। कई लोग बैठे-कई खड़े थे। मुझे देखते ही बोले—तुम्हारा लेख "आज" मे पढ़ा है . "तुम तो बड़ा अच्छा लिखत हौ हो। आवऽबइठऽपान जमावऽ।" मैं कितना उत्साहित हुआ अपने लेख की चर्चा तथा प्रशंसा—फिर आत्मीयता के साथ पास मे बिठाकर पान खिलाना। मेरे ऐसे तुच्छ लेखक के लिए वह वरदान हो गया कि कोई संकोच, न कोई आडम्बर। "आवऽ बइठऽ" आज तक नही भूलता।

एक तो प्रसादजी का यश, स्वभाव, स्वागत तथा उनके यहाँ जाने और बैठने में एक और मज़ा था। यह तो मैं नही कहूंगा कि उनकी दूकान ओर आस-पास के कोठे पर बैठने वाली वेश्याओं की ओर मैं आँख नही उठाता था। मुझे अच्छा लगता था। इस सम्बन्ध में एक प्रसंग याद आ गया। एक बार कालेज में शेक्सपियर के नाटक का कोई अंश पढ़ाते समय श्री श्रीप्रकाश जी ने पूछा—"तुम लोग कभी दाल-मण्डी वेश्याओं के मुहल्ले से गुजरे हो।" सबने कहा--हाँ। फिर पूछा---"वेश्यायें कैसी लगी।" सब चुप हो गये। केवल मैंने और कमलापति ने कहा—"कुछ तो अच्छी है, कुछ नही जँची।" श्री प्रकाश जी ने तुरन्त हमारी सराहना करते हुए कहा कि "जो लोग, जो नौजवान यह कहता है कि वेश्याओं के मुहल्ले मे निकल जाय और आँखें नीची किये रहे, वह झूठ बोलता है। आँखें ऊपर न उठें, यह असम्भव है। युवकों की सच्चाई जानने के लिए मैंने यह सवाल पूछा था।" अस्तु, प्रसादजी के यहाँ जाने आने में ही विनोदशंकर व्यास की आँख प्रसिद्ध गायिका टामी बाई से लड़ गयी थी और फिर वह देवी व्यास जी की होकर रही। प्रसादजी युवकों की ऐसी आदत से अपरिचित नही थे। एक बार तो उन्होंने मुझे टोका भी था—"कहीं घूर चुके हो तो हमरो सुनो।" वर्षों बाद जब ज्येष्ठ भ्राता श्री सम्पूर्णानन्द जी के लिये अपने मित्र ठाकुर जंग बहादुर सिंह के साथ मुझे वोट माँगने वेश्याओं के कोठे पर जाना पड़ा तो मुझे दो अनुभव हुआ—एक तो सड़क पर से दिखाई पड़ने वाले रूप और घर के रूप में कितना अन्तर है तथा बड़े-बड़े कर्मकाण्डी

पुजारी लोगों से कहीं अच्छा स्वस्थ स्पष्ट तथा धार्मिक जीवन उनका था तथा जुबान से एक बार वोट देने का वादा करने के बाद वे कभी अपने वचन से नही हटी। प्रसादजी से ही मैंने सुना था कि सम्पूर्णानन्द जी के प्रथम चुनाव मे उनके प्रबल विरोधी उम्मीदवार एक प्रसिद्ध वेश्या के कृपा पात्र थे। उन्हे विश्वास था कि चुनाव मे सभी वेश्याये एक झुण्ड मे उनका साथ देगी। पर ९० प्रतिशत ने काग्रेस को वोट देने का वादा किया था और वादा नही तोडा।

अस्तु प्रसादजी की वहा भव्य बैठक साहित्यकारो की नित्य शाम की गोष्ठी होती थी जिसमे हम सब आपस मे बहस करते, लडते, मॅहफट विनोदशकर व्यास तथा सबकी आलोचना गाली गलोज मे करने वाले बेचन शर्मा 'उग्र" की फूहड भाषा मुच्छन शान्तिप्रिय द्विवेदी। जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' की "धोती तक नही उतार ली" बाकी सब दुर्गति कर दी जाती थी। प्रसादजी मूक द्रष्टा के रूप मे केवल मुस्कराते रहते थे। 'लडको को खेल लेने देते थे।" कुछ लोग, जो साहित्यकार नही थे, वे भी मुफ्त मे पान खाने के लिये यहाँ साहित्यकार बन जाते थे।

मै स्पष्ट लिख दूँ कि जब मेरी प्रसाद जी से प्रथम बार भेट हुई थी उनका नाम सुना था, रचना एक भी नही पढी थी। और मेरे जीवन मे केवल दो ही व्यक्ति ऐसे मिले जो कभी अपनी रचना का न तो जिक्र करते थे और न उन पर प्रशसा या विचार सुनने को प्रोत्साहन देते थे। वे थे प्रसादजी तथा डा० सम्पूर्णानन्द जी। आश्चर्य यह है कि हम जो कुछ लिखते थे वह कब और कैसे वह पढते थे, यह नही मालूम पर लेखक को प्रोत्साहित करते थ। जब मेरा पहला उपन्यास "मेरी आह" निकला तो उन्हे किसने वह प्रति दी, नही मालूम। शाम को जब "बैठक" मे मैं पहुँचा तो बोले—

"लिखो तो बहुत अच्छा पर कथानक को ओर बढाना चाहिये था। जब मेरी हास्यरस की पुस्तक "निठल्लू की राम कहानी" निकली, प्रसादजी ने इतना ही कहा—

"काहे हास्यरस मे कूद गये। अरे, अपनी लाइन पकडो।"

सचमुच मैंने समझ लिया कि यह मेरा प्रयास अनुचित था। मैंने फिर उधर कदम नही रखा।

× × ×

किसी के व्यक्तिगत जीवन मे सम्बन्ध न रखने या जिज्ञासा न रखने की मेरी पुरानी आदत है। टामीजी विनोदशकर व्यास की प्रियतमा है, यह मुझे वर्षो तक नही मालूम हुआ। उग्र उस जमाने मे ५० पैसे की भग अकेले रोज छान लेता था, यह

उसके मुख से ही वर्षों बाद सुना। ऐसे ही प्रसाद जी के निजी जीवन या परेशानी की मुझे कोई जानकारी नहीं।' उनके जीवन के मम्बन्ध में, यहाँ तक कि उनकी बीमारी के सम्बन्ध में, उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित लेखों से, श्री रत्नशंकर के लेखों से जो कुछ पढ़ता हूँ तो अब आश्चर्य होता है। यह सही है कि उनके जीवन के अन्तिम वर्षों में मैं जीविका के लिये काशी से बाहर रहता था। घर, बार-बार काशी आता ही था, प्रसादजी से मिलता था। आत्मीयता बढ़ी तो उनके घर जाने लगा। पर उन्होंने कभी अपनी पीडा शारीरिक कष्ट हो या मानसिक, कभी किसी से प्रकट नही किया, जितना मैं जानता हूँ। मुझे वे हमेशा स्वस्थ लगे। अपनी पीड़ा और वेदना को वैसा ही अपने मे समेटे-समेटे चलते थे जैसे अपनी कृतियों में वे संसार की वेदना समेट लेते थे। मैं उनके घर जाता तो प्यास लगने पर पानी नही, फलों का रस मिलता था।— कहते थे कि पानी नही, फल का रस पीओ। मैं भी यही पीता हूँ। मैं उन दिनों सिगरेट भी पी लेता था। वे सिगरेट से घृणा करते थे। हमारी मण्डली मे मै ही एक सिगरेट पीने वाला था। प्रसादजी अपने लिये विशेष प्रकार की पीने वाली तम्बाकू बनाते थे और कहते थे कि मिट्टी की गोरैया (काशी मे तम्बाक पीने का मिट्टी वाला हुक्का—जिसमें पानी भर दिया जाता था, नये पात्र में बडा सोंधा सुगन्धित पानी से निकोटिन मारता हुआ स्वादिष्ट धुँआ निकलता था) एक बार सेवन के बाद फेंक देता हूँ। हर बार नया पात्र। यह उनकी रियासत थी। ऐसे साफ-सुथरे व्यक्ति को यक्ष्मा ने कैसे पकड़ा, ईश्वर जाने। वे बहुत पठित थे लिखने क पहले घोर अध्ययन करते थे, यह तो उनसे बात करने से ही पता चलता था। लिखते थे "स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा" के समान। कुछ रचनाकार दूसरो को अपनी रचना सुनाकर आनन्द लेते थे पर प्रसादजी ने अपने मुख से एक पंक्ति भी हमे नही सुनायी। मेरे विचार से ऐसा इसलिये नही था कि वे मुझे सुनने का पात्र नही समझते थे पर केवल उनका संकोच था। दूसरे पर अपनी रचना का भार नही लादना चाहते थे। उनकी मृत्यु के बाद जब उनकी जीवन के हर पहलू पर प्रकाश पड़ता है, मुझे आश्चर्य होता है कि १९२४ से १९३७ तक के साथ मे मैंने यह सब क्यों नही जाना—क्या दूसरे के निजी जीवन के प्रति आँख बन्द रखने के कारण या अपनी नासमझी से। वे इतने बड़े महापुरुष थे, यह तब क्यों नही जाना—शायद इसलिये कि—

"अति परिचयात् अवज्ञा"

आज भी प्रसाद जी का वह हतप्रभ, रोता हुआ चेहरा याद है जब वे श्री प्रेमचन्दजी के निर्जीव शव को भाभी शिवरानी के गोद से खींचने गये थे। वे मुर्दा छूने नहीं देती थीं। चिल्लाकर कहती थी कि "मैं दुबारा विधवा नहीं होऊँगी।" सबने समझा, विशेषकर उपन्यासकार जैनेन्द्र कुमार ने, कि प्रसाद जी का व्यक्तित्व ऐसा है

कि शिवरानी जी मुर्दा उठा लेने देंगी। प्रसादजी आगे बढ़े। भाभी ने डपटकर कहा—

"प्रसादजी, आप कवि हो सकते हैं—स्त्री का हृदय नहीं जान सकते" यह महान वाक्य, एक पत्नी के मुँह से पति के शव पर दहकती आग, मनोविज्ञान की यह महान पहेली किसे न विचलित कर देती। प्रसादजी रोकर वहाँ से हटे। मैं ही सामने पड़ा—रूँधे गले से बोले—

"परिपूर्णा, तुम्हीं 'कुछ करो।"

मैंने भाभी की डाँट, फटकार, चीख सुनी पर मुर्दा खीच लाया। मैं क्या जानता था कि उस समय प्रसादजी के भी पीछे खड़ी मृत्यु मुस्करा रही है।

मैंने पचासों प्रकार के देशभक्ति के तथा सैनिक गान सुने है, आन्दोलन के दिनों में कुछ गाया भी है पर आज के विपत्ति ग्रस्त काल मे सबसे प्रखर सन्देश "चन्द्रगुप्त" में प्रसादजी का ही है—ठण्डा से ठण्डा खून भी उबल पड़ेगा।

हिमाद्रि तुग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती-
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती
अमर्त्य वीर पुत्र हो दृढ़प्रतिज्ञ सोच लो
प्रशस्त पुण्य पन्थ है बढे चलो बढे चलो
असंख्य कीर्ति रश्मियाँ विकीर्ण दिव्य दाह सी
सपूत मातृभूमि के रुको न शूर साहसी
अराति सैन्य सिन्धु मे सुबाड़वाग्नि से जलो
प्रवीर हो जयी बनो बढे चलो—बढे चलो



केवल कहानी रह गई !

—कृष्णदेव प्रसाद गौड़

(बेढब बनारसी)

मार्च का महीना, दस बजे दिन का समय। मेरे एक मित्र आये और बोले—चलो प्रसादजी से तुम्हें मिला लाऊँ !

अंग्रेजी में एम० ए० करके मैं अध्यापक बन चुका था और कई वर्षों तक लाला भगवानदीन के चरणों में बैठकर क्लासिकल हिन्दी पढ़ता चला आ रहा था। नागरी-प्रचारिणी सभा में अकसर जाता, जहाँ शुक्लजी, रामचन्द्र वर्मा तथा जगन्मोहन वर्मा के भी दर्शन होते। वहाँ प्रसादजी की भी चर्चा होती। उनकी कविताओं के सम्बन्ध में वैसी बातें सुनने में आतीं, जैसी आजकल नयी कविता के संबंध में सुनने में आती हैं। इन लोगों के संसर्ग से मेरी यही धारणा थी कि कविता का अर्थ ब्रजभाषा है। कुछ विशेष उत्साह न था, मगर मित्र ने आग्रह किया—चलो, तो चला गया।

मेरे मकान के नजदीक ही वे रहते थे। जिस समय मैं पहुँचा, वे एक खटोले पर लेटे थे। एक नौकर तेल की मालिश कर रहा था। मेरे मित्र ने--जो अब इस संसार में नहीं है और उस समय कुछ नाटक, कुछ कविता लिखने का अभ्यास किया करते थे--मेरा परिचय कराया। उन्होंने एक बार मेरी ओर देखा और नौकर से कहा—सन्तू, पान ले आओ !

यह बात सन् उन्नीस सौ बीस की हो या इक्कीस की। एक सुन्दर जवान आदमी का नक्शा मेरे सामने उपस्थित था। गौर वर्ण, बड़ी आँखें, चौड़ा ललाट, दाढ़ी-मूँछ साफ। ये सभी बातें किसी को आकृष्ट करने के लिए पर्याप्त थीं। कुछ साहित्य की चर्चा भी चली, किन्तु इस समय स्मरण नहीं है कि वह किस प्रकार की थी। अवश्य ही किसी महत्वपूर्ण विषय पर नहीं थी ! अपनी एक पुस्तक उन्होंने मुझे दी। उनका व्यक्तित्व मुझे आकर्षक लगा।

दूसरी बार मैं कुछ दिनों के बाद अकेले गया। संध्या का समय था और वे चौक जाने की तैयारी में थे। सुन्दर कुर्ता, बढ़िया साफ धोती, सिर पर गोल टोपी (जो किसी अच्छे उजले कपड़े की थी) लगाये—और हाथ में मोटा डण्डा लिये वे चले। पूछा—चौक चलियेगा ? मैं तो उनसे मिलने ही गया था, बोला—चलिये ! गोदौलिया होते हुए, चौक होते हुए अपनी दूकान पर वे आये। उनकी दूकान

नारियल बाजार में बहुत पुरानी थी, वह अब भी है—'सुँघनी साहु की दुकान' के नाम से वह मशहूर है। दुकान छोटी है। उसी के सामने दूसरी पटरी पर उन्होंने बैठने तथा मित्रों के स्वागत के लिए एक अलग दूकान किराये पर ले रखी थी। मैं भी उनके साथ वहीं जाकर बैठ गया। थोड़ी देर के बाद लाला भगवानदीन तथा रामचन्द्र वर्मा भी वहीं आ गये। फिर और भी लोग आये।

वहाँ दो ही बातें हो रही थीं—हँसी-दिल्लगी और साथ-साथ पान का दौर। घण्टों साहित्यिक महारथियों का जमावड़ा और कहकहेबाजी से सारा वातावरण जगमगा जाता था। बारीक से बारीक और साफ से साफ मज़ाक होता था, और फिर धीरे-धीरे लोग चले जाते थे। प्रसादजी दूकान से रकम सहेजते और घर जाते थे। मज़ाक मे प्रसादजी बहुत हाजिर-जवाब थे। कभी ऐसा उत्तर देते थे कि लोग मुँह-की खा जाते थे। यह क्रम प्रायः नित्य का होता था। केवल अंतिम दो-तीन साल—जब वे बीमार रहने लगे और अनेक साथी मर-मरा गये—यह बैठकी समाप्त हो गयी। (जनवरी १९३७ के अंतिम सप्ताह तक चली—सं०)

जवानी में प्रसादजी बहुत हृष्ट-पुष्ट थे। कुश्ती का भी शौक था। शुरू जवानी में वे भाँग का सेवन भी किया करते थे; बाद मे छोड दिया था। मदिरा का सेवन, जब से मैं उन्हें जानता हूँ, कभी नहीं किया। सदा शाकाहारी रहे। पहले भी जहाँ तक मुझे ज्ञात है, मांस या मदिरा का सेवन उन्होने कभी नही किया। खिलाने के बहुत शौकीन थे। स्वयं बढिया भोजन बनाना जानते थे और अपनी देख-रेख में बहुत अच्छी चीजें बनवाते थे। उन दिनों काशी मे साधारणत जो साहित्यकार आते थे, उन्ही के यहाँ ठहरते थे और उनका आतिथ्य विख्यात था।

मृत्यु के सात-आठ साल पहले से उन्होंने सवेरे टहलना आरम्भ किया था। हम लोगों के मकान के निकट बेनियाबाग है। उसी के नजदीक उन दिनो मुंशी प्रेमचन्द ने भी मकान किराये पर ले रखा था। सवेरे वे, प्रेमचन्द, महावीरप्रसाद गहमरी (जो जासूसी उपन्यास लेखक गोपालराय गहमरी के छोटे भाई थे और 'आज' के संपादकीय विभाग में काम करते थे) तथा इन पंक्तियो के लेखक नित्य टहलने वहाँ जाते थे। लगभग एक घण्टा हम लोग वहाँ टहलते थे। वहाँ से वे मेरे मकान होते हुए डॉक्टर एच० सिंह के यहाँ दस-पाँच मिनट बैठ जाते थे। ये एक होमियोपैथिक डॉक्टर है और बहुधा इन्हीं की चिकित्सा वे किया करते थे। अन्तिम अवस्था में भी इन्ही की चिकित्सा होती रही। वहाँ भी हँसी-मज़ाक होता था, तब वे घर लौटते थे।

बेनिया बाग में टहलते समय बहुतेरे राजनीतिक, साहित्यिक, सामाजिक विवाद होते थे और साथ-साथ हास्य-विनोद भी होता रहता था। कविता और कहानी तो वे लिखा ही करते थे, परन्तु कवि-सम्मेलनो में जाते न थे। सैकड़ों बार लोगों ने

आग्रह किया, पर वे कभी न गये। घर पर वे मित्रों को अवश्य सुनाया करते थे—उसमे उन्हें कोई झिझक न थी। 'आँसू' के छन्द बड़ी मस्ती से सुनाया करते थे। और भी रचनाओं को वे एक अपने निजी लहजे से सुनाते थे रात को वे प्रायः लिखा करते थे और फिर उसे दूसरी कॉपी मे उतार लेते थे। जब प्रेस मे भेजना होता था, तब किसी से कॉपी करा लिया करते थे।

समय-समय पर, सारी 'कामायनी' ज्यो-ज्यो उन्होने लिखी थी, मुझे सुनायी थी। जब नागरी-प्रचारणी सभा का हिन्दी का बडा शब्दकोश पूरा हो गया, तब एक साहित्यिक आयोजन हुआ था जो 'कोशोत्सव स्मारक समारोह' के नाम से विख्यात है। उस अवसर पर एक विराट कवि-सम्मेलन भी हुआ था। उसमे बहुत आग्रह करने पर उन्होने 'कामायनी' का लज्जा वाला सर्ग सुनाया था। उस समय तक कामायनी अधिकाश प्रकाश मे न आई थी, केवल उसका कुछ अंश 'माधुरी' मे छपा था। जब वे कविता पढकर मच पर से उठे लोगो ने प्रशसा के पुल बाँध दिये—भूरि-भूरि सराहना लोगो ने की। उसके बाद मैने डी० ए० बी० कॉलेज मे कवि-सम्मेलन किया और जबरदस्ती उन्हे पकड़ ले गया। वहाँ पर उन्होने 'आँसू' के कुछ छन्द तथा 'ले चल मुझे भुलावा देकर' वाली कविता सुनाई थी। यही दो अवसर मुझे याद है, जब जनता की भीडभाड मे उन्होने कविता पढी थी।

सन् १९३७ ई० मे लखनऊ मे एक प्रदर्शनी हुई थी। उस समय 'हिन्दुस्तानी एकाडमी' का अधिवेशन भी हुआ था और एक कवि-सम्मेलन का आयोजन भी हुआ था। हम लोगो के बहुत आग्रह पर प्रसादजी लखनऊ आये। वे ठाकुर त्रिभुवन-नाथ सिंह 'सरोज', बिसवावालो के मकान पर, मौलवीगज मे ठहरे थे। कवि सम्मेलन के सयोजक बाबू दुलारेलाल थे। उन्होने एक औपचारिक निमत्रण उनके पास भिजवा दिया। यद्यपि वे यो भी कविता पढने वहाँ न जाते। फलतः वे कवि सम्मेलन मे नहीं गये।

कान्यकुब्ज कालेज के अधिकारी बहुत आग्रह से उन्हे ले गये और भी अनेक महान् साहित्यकार वहाँ बुलाये गये थे। वहाँ उन्होने कुछ रचनाए पढी। यह उनका अतिम कविता-पाठ था। उसी के बाद वे जब काशी लौटे, उनका स्वास्थ्य गिरने लगा और डाक्टरो ने बताया कि उन्हे राजयक्ष्मा हो गया है।

जैसा उनकी रचनाओं से ध्वनित होता है, प्रसादजी पक्के नियतिवादी थे। वे जान गये थे कि 'मैं अब अच्छा न हो सकूँगा' जाधवपुर सेनेटोरियम मे, उनसे बहुत आग्रह करके स्थान सुरक्षित कराया गया। जाने की तिथि तय हो गई, सामान बँध गया। मगर ठीक समय पर उन्होने जाने से इनकार कर दिया। लोग लाख कहते-मनाते रह गये, वे टस-से-मस न हुए। तब हम लोगो ने कहा—अच्छा, दूर नही तो नजदीक ही कही जाइये! उन दिनो निकट ही सारनाथ मे एक राजयक्ष्मा

गृह था। वहाँ प्रबन्ध किया गया। सब तैयारी हुई। मोटर दरवाजे पर आकर खड़ी हो गई, सामान लद गया। उन्होंने भी कपड़े पहने। पर चारपाई से उठते-उठते न जाने क्या उनके मन में आया, वे नही गये। सब लोग चले गये। एकांत पाकर मैंने उनसे पूछा—"यह क्या बात है ? यह आप अपने ऊपर ही नही, हम लोगों पर भी अत्याचार कर रहे है !" उन्होंने उत्तर दिया—"गौड़जी, मैं अच्छा नही हूँगा ! आप लोग व्यर्थ प्रयत्न कर रहे है।" फिर उन्होने कुछ निजी बातें कही। पता नही मुझे आश्वासन देने के लिए, अथवा उनमे कुछ तथ्य था। मैं चुप हो गया।

कुछ लोगों का ख्याल था कि आर्थिक कठिनाई के कारण वे कही नही जाना चाहते। मगर ऐसा नही था। एक बार महाराजकुमार रघुवीर सिंह ने, जो उनके मित्रों मे थे, एक पत्र उन्हे लिखा था कि पूरी व्यवस्था मै कर दूंगा। मगर प्रसादजी ने उन्हे धन्यवाद का पत्र लिखवाकर भेज दिया कि 'इसकी आवश्यकता नही है।'

वे नीचे अपने कमरे मे पड़े हुए थे। मैं प्रायः नित्य ही उन दिनो वहाँ जाता था। सबेरे का समय था। नवीनजी आये थे। उन्होने देखा—सुन्दरता की तस्वीर, हृष्ट-पुष्ट शरीर सूखकर ठठरी हो गया था। चेहरा फीका सफेद हो गया था। उनके कमरे से बाहर निकलकर नवीनजी, जो बहुत ही भावुक आदमी है, फफककर रोने लगे। अंतिम दिनो मे यह प्रसादजी का हाल हो गया था !

मृत्यु के दो दिन पहले मैं सबेरे उनके कमरे मे ज्यो ही गया, वे मुस्करा दिये। डाक्टर, जिनकी दवा हो रही थी, वहाँ मौजूद थे। तकिये के सहारे प्रसादजी बैठे थे। रात भर नीद नहीं आयी थी। साँस लेने मे कष्ट हो रहा था। बैठकर साँस लेने में कुछ आराम था। बहुत धीमे स्वर मे, उसी मुस्कान के साथ बोले—"क्या हाल है !" मेरे मुँह से बोली न निकली। बहुत परिश्रम से मैं अपने आँसू रोक सका। बाहर चला आया। वह मैने उनकी अन्तिम मुस्कान देखी। दूसरे दिन रात को तीन-चार बजे वही डाक्टर साहब मेरे घर आये। उन्होंने पुकारा। दरवाजा खोलते ही उन्होंने कहा—"प्रसादजी नही रहे !"

प्रसाद के साहित्य का मूल्यांकन रोज होता रहेगा, परन्तु उनके जीवन का, उनके व्यक्तित्व का मूल्यांकन करनेवाले अब तीन-चार ही इने-गिने लोग रह गये है, जिनके हृदय मे उनके साथ बिताए सुख-दुःख की कहानी, उनके रसमय जीवन की तस्वीरें, उनकी उदारता, उनकी विशालता, उनकी क्षमाशीलता, उनकी चतुरता, उनकी मनुष्यो को परखने की क्षमता उनके साथ ही चली जाएँगी। उनके जीवन मे भी अनेक लोगों ने उन्हें गलत समझा। पर अब तो कहानी रह गई !



स्मृति के शिलालेख

—गोविन्द बल्लभ पंत

(नाटककार)

प्रसादजी ने हिन्दी के रंगमंच को एक-प्रवेशी नाटकों का स्थापत्य नहीं दिया, यह सच है, पर किसी रंगमंच से सम्बद्ध न होते हुए भी उन्होंने अपनी कृतियों में जो नाटक के तत्व उभारे हैं, वे सर्वथा सराहनीय और उनके कल्पना-कौशल के साक्षी हैं !

यह सन् १९१७ ई० की बात है, जब मैं बनारस के सेन्ट्रल हिन्दू कालिज का विद्यार्थी था और कमच्छा के हॉस्टल में रहता था। साहित्य की अभिरुचि पहाड़ पर ही पनप गई थी और अभिव्यक्ति का पहला माध्यम 'छन्द' ही हाथ लग गया था। प्रसादजी की सान्निध्य में आने का यही मुख्य कारण बना।

कमच्छा से गोवर्धन सराय मुहल्ला अधिक दूर नही था, जहाँ प्रसादजी रहते थे। मेरे हॉस्टल के सहवासी मित्र स्वर्गीय कुसुम को भी साहित्य से प्रेम था। उन्हें प्रसादजी का परिचय प्राप्त था। जब उन्होंने प्रसादजी के कवित्व के साथ-साथ उनके सौजन्य-शील की भी प्रशंसा की तो एक दिन हम दोनों अपनी-अपनी कविताओं को लेकर उनके यहाँ जा पहुँचे।

समय की धूसर पड़ी हुई दूरी में आज भी उनकी वह उदार और सहज हास्य से प्रभावित मुद्रा चमक रही है। हिम-उज्ज्वल ढीली बाँह का कुरता और धोती पहने वे कई मित्रों से घिरे एक तख्त पर बैठे थे। मेरा परिचय पाकर बड़ा बन्धुत्व उनके भीतर प्रकट हो उठा। बड़े संकोच के साथ मैंने अपनी कविताएँ उनकी तरफ बढ़ाकर उनके संशोधन माँगे। मेरी साधारण कृतियों के लिए उन्होंने मेरा जो उत्साह बढ़ाया, उसने मेरी साहित्यिक प्रगति के वास्ते मार्ग ही नहीं प्रकाश भी दिया। जब नक बनारस में रहा, मैं बराबर उनका सत्संग प्राप्त करता रहा।

बयालीस वर्षों की दूरी में अदृश्य हुए उस दृश्य को जब याद करता हूँ तो एक दुमंजिले मकान के निचले भाग से कुछ मजदूर, हाथों में बड़े-बड़े लट्ठ लिये, खिड़कियों से होकर मेरी आँखों के आगे आते हैं। उनकी नाक, मुँह और अंशतः आँखें कपड़े से बँधी हुई—वे तमाखू की पत्तियों को कूटते थे। तमाखू की धूल उनके अंगों और कपड़ों पर जमी हुई, उनका विचित्र रूप दिखातो थी। वहाँ से घूमकर मैं प्रसादजी की बाहरी बैठक के सामने आता था, जो नीचे की मंजिल में अवस्थित

थी। बड़ी सरल-साज-सज्जा थी वहाँ। छोटे-बड़े हर स्थिति के व्यक्तियो मे बैठे, प्रत्येक से बड़े ममत्व और समत्व से उन्हे बाते करते हुए मैं पाता था।

किसी के साथ साहित्य-चर्चा करते थे, किसी से गृह-प्रबन्ध की बातचीत। कोई व्यवसाय के लिए आदेश माँगता, कोई उपदेश चाहता था। कोई अपनी कठिनाई का हल लेने आता उनके पास। कभी धूप में गमछा पहने हुए, तख्त पर बैठकर तेल मालिश कराते हुए पाता था मै उन्हे। सौजन्य और सहृदयता की प्रत्यक्ष मूर्ति थे प्रसादजी! कभी उनकी बातो या व्यवहार मे, मैंने उनमे बनावट या ओछापन नही पाया। अपनी बडाई या दूसरे की निन्दा मे रस लेते हुए कभी नही सुना। नौकर-चाकरो के साथ भी बडी प्रीति और प्रतीति के साथ बर्ताव करते हुए देखा। कभी किसी पर असन्तुष्ट या असतुलित नही पाया।

कालिज की नाटक-समिति मे मैं भूमिकाएँ लिया करता था। कभी-कभी उसके लिए थोड़ा-बहुत कुछ लिखता भी था। प्रसादजी ने मेरी नाट्य-चेतना को विकसित करने के लिए मुझे नाटक लिखने के लिए उत्साहित किया। उन्होने मुझ से अजातशत्रु पर नाटक लिखने के लिए कहा ही नही, बल्कि उसका तमाम कथानक बनाकर भी मुझे दिया था। तब उस गुरु भार के लिए अपने को मैंने सर्वथा अक्षम पाया। मैंने वह कथानक उन्हे लौटा दिया; उस पर उन्होने फिर स्वय ही लिखा।

प्रसादजी के यहाँ हिन्दी के अनेक साहित्य-सेवियो के साथ मेरा परिचय हुआ, जिनमे कुछ के नाम याद आते है—कलाविद् राय कृष्णदासजी, वेदान्त-शास्त्री श्री रामगोविन्द त्रिवेदी, हिन्दी के पुराने कथाकार श्री विश्वम्भरनाथ 'जिज्जा', नये कथा-शिल्पी श्री विनोदशकर व्यास तथा 'इन्दु' के सम्पादक-प्रकाशक श्री अम्बिका-प्रसाद गुप्त से भी मेरा परिचय वही हुआ। वे प्रसादजी को मामा कहते थे। प्रसादजी की रचनाएँ 'इन्दु' मे छपती थी और उनकी प्रारम्भिक कई पुस्तके भी उन्होने प्रकाशित की थी।

प्रसादजी की एक घोडे की गाडी याद आती है। संध्या को नियमित समय पर उनका कोचवान गाडी को वहाँ ले आता था। प्रथा के अनुसार उसमे लोटा-डोर रखा जाता था, पान-तमाखू का डिब्बा भी। प्रसादजी के यहाँ का पान विशेष स्वादु होता था। बनारस का पान स्वत ही प्रसिद्ध है, फिर सुँघनी साहु के यहाँ का! सारा वायुमण्डल वहाँ सुगन्ध से व्याप्त मिलता था - सुगन्ध से सश्लिष्ट। और एक नाम याद आता है, वह उनकी सेविका थी, उसका नाम था सोना, बहुधा वही पान बनाकर लाती थी।

प्रसादजी की गाडी पर उनके साथ घूमने को जाने का सुअवसर मुझे भी मिला था। कई बार सारनाथ तक भी गया था और भारत के इतिहास का वह स्वर्ण-पृष्ठ मेरे मन मे गड गया। तब वह सारा मृगदाव बडी दयनीय दशा मे था। एक छोटी-

सी नयी बनी इमारत म कुछ प्रमुख भग्न मूर्तियाँ और टूटे अवशेष संग्रहीत कर सुरक्षित हो गए थे— शेष बहुत-सा बाहर ही पडा था। वह सिहो की मूर्ति जो हमारे गणतंत्र का प्रतीक होकर आज सारे ससार मे प्रसिद्ध हुई है, उसका पॉलिश से चमकता हुआ आधार स्तम्भ तब बाहर ही धरती पर पडा लोट रहा था।

प्रसादजी की बैठक के भीतर जो कमरा था, वहाँ एक स्टैंड पर काँच के केस मे सुरक्षित एक शिला या ब्रोज का 'बस्ट' था, कदाचित उनके पिता या पितामह का। दाहिने हाथ की तरफ जो कमरा था, उसमे उनके सुँघनी व्यवसाय के सुगन्धित द्रव्य या अन्य योग सुरक्षित थे। नुस्खे सर्वत्र ही गुप्त रखे जाते है। प्रसादजी को जब कोई नुस्खा मिलाना होता तो काँटे के आगे लकडी का स्टैंड रखकर वे अपने व्यवसाय के रहस्य (ट्रेड सीक्रेट) को लोगो से छिपा लेते थे।

और एक बार की बडी याद आती है मुझे—प्रसादजी का वह प्रसन्न मुख तब घने विषाद से भर गया था, उनकी वाणी का उल्लास गहरी वेदना मे रुद्ध। पत्नी-वियोग की मर्मान्तिक चोट उन्हे पहुँची थी। उस समय की उनकी बातो मे जान पडता था कि वे साहित्य-साधना को समाप्त कर काव्य सन्यास ग्रहण कर लेगे। बादामी कागज के, फुलस्केप चौथाई की साइज मे, पिन किये हुए आठ पत्र उन्होने मुझे देते हुए कहा— 'लो, मेरा मन ठीक नही है, इसे तुम रख लो और पूरा कर लेना!' उन पेजो मे दो उनके लेख से युक्त है, शेष खाली है। एक कहानी का आरम्भ है वह, जिसमे काली माता की मनौती मानी हुई एक ग्रामवासिनी माता, पूजा के उद्देश्य से काली मन्दिर को जा रही है। पिछले लगभग चालीस वर्षो मे वे पृष्ठ बडी सावधानी से मैने सँभाल कर रखे है।

सन् १९२० ईसवी मे असहयोग आन्दोलन को निमित्त बनाकर कालिज छोड, मैं मेरठ की 'व्याकुल भारत नाटक-कम्पनी' मे भर्ती हो गया था। कम्पनी का पहला प्रयोग 'बुद्धदेव' था। पारसी नाटक कम्पनियो के दूषित प्रभाव से भिन्न वह नाटक भाषा, भावना, सदेश, परिच्छद और स्थापत्य की सार्थकता लिये था। वह नाटक-कम्पनी दिल्ली, मेरठ, लखनऊ आदि होती हुई बनारस पहुँची। प्रसादजी को हिन्दी नाटक के लिए उत्कट प्रेम था। मैं उन्हे बाँस-फाटक के मदन थियेटर पर 'बुद्धदेव' नाटक दिखाने ले गया। उन्होने दो बजे रात तक वह नाटक देखा। महाभिनिष्क्रमण के दृश्य पर मैने उन्हे विह्वल होकर आँसू बहाते हुए पाया।

इसके बाद फिर मेरी-उनकी कभी भेट नही हो पायी। कुछ पत्र-व्यवहार हुआ। एक पत्र उनका मेरे पास सुरक्षित है, और सुरक्षित है उनके लिखे हुए वे दोनों पेज, जिनसे प्रेरणा पाकर उस कहानी को पूरा करने की एक इच्छा है, और है प्रसादजी की वह सम्पत्ति उन्हे लौटाकर उनसे उऋण हो जाने की एक लालसा!

पुरुषोत्तम 'प्रसाद'

—बलदेव प्रसाद मिश्र

'प्रसाद' जी के कुछ संपर्क मे आने का सौभाग्य मुझे मिला था। उनका साहित्यिक रूप छोड़ दिया जाय, तो वे शुद्ध मानव के रूप में कैसे थे—यही आभास मुझे देना है। आभास इसलिए कि विधाता की निर्दयता के कारण उनसे संपर्क कुछ ही वर्षों रह सका, फिर उनका स्पर्श न पा सका। उनका परिचय पाने में उनकी स्वाभाविक गंभीरता और आर्यत्व—अपने गुणो को छिपाये रहने की प्रवृत्ति, आत्म-प्रचार से विमुखता तथा परिमित भाषण से सदा बाधा पड़ती थी। उन्हें समझने के लिए उनके इन गुणों का व्यवधान पार करना होता था। कह सकता हूँ कि वे 'उत्तम काव्य' थे=प्राय: अलंकार=विवर्जित। उसी दृष्टि से देखने पर, गहराई में जाने मे उनकी उत्कृष्टता प्रकट होती थी।

उनके सम्पर्क में मैं आया था, यह सौभाग्य मुझे मिला था। १८-१९ वर्ष पहले। उसके बाद, उनके स्वर्गवासी होने तक उनका स्नेह क्रमश· बढ़ता गया। किसी कवि ने कहा है :—

न भवति, भवति च न चिरं, भवति चिर चेत्फले विसंवदति।
मन्यु सत्पुरुषाणां तुल्यं स्नेहेन नीचानाम्॥

—अर्थात् सत्पुरुषों का क्रोध और नीचों का स्नेह समान होता है। पहले तो वह होता ही नही, हो ती स्थायी नही होता, स्थायी हो जाय तो फल उल्टा होता है।

प्रसादजी वस्तुत· सत्पुरुष थे! १८-१९ वर्ष बाद भी, अनायास ही यह बात कह सका हूँ, यही प्रमाण है! उनके विषय की धारणा को इतने काल बाद एक रत्ती भी बदल नही पाया हूँ मैं।

काशी की इन विभूतियों का सत्संग प्राप्त करने के उद्देश्य से हम पाँच मित्रों मे 'रत्नाकर रसिक मंडल' नामक गोष्ठी की स्थापना की थी—उसी समय, आजीवन सभा-सोसाइटियों तथा 'पद' से पलायन करने वाले आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी ने केवल स्नेह के कारण उसका सभापतित्व स्वीकार किया था। इस गोष्ठी की पाक्षिक बैठकें हुआ करती थी। उसमें शुक्लजी, प्रसाद, प्रेमचन्द, केशवप्रसाद मिश्रजी, राय कृष्णदास तथा काशी के प्राय: सभी साहित्यिक पधारते थे।

इन गोष्ठियों में कविता-पाठ, साहित्यिक वार्त्तालाप आदि हुआ करता था। हमलोग बालोचित चपलता से कभी इन दिग्गजों को किसी सामान्य प्रश्न तक पर विचार करने की झंझट में डालकर इनकी बातें सुना करते थे, कभी चपलता का दमन कर इन लोगों का स्वत:-प्रवृत्त वार्त्तालाप सुना करते थे। तात्पर्य यह कि हमलोग उस समय अनायास 'वृद्धोपसेवन' करते थे।

उन गोष्ठियों में लोग मुँह बनाकर नहीं बैठते थे। प्रेमचन्दजी की उन्मुक्त हँसी, मिश्रजी का अर्ध-हास्य, प्रसादजी का स्मित उस स्थान को जैसे स्थापित, क्षालित, शुचि, आनन्दमय बनाये रहता था। इन लोगो में बीच-बीच में बहुत गम्भीर हँसी-दिल्लगी, चोटभरी उक्तियाँ हो जाया करती थीं।

एक बार प्रेमचन्दजी ने कहा था कि हिन्दी के लेखकों को भ्रमण की सुविधा नही मिलती; उनमें इसकी प्रवृत्ति भी कम है। इसका कुछ उपाय होना चाहिए। मै तो बहुत चाहता हूँ कि कभी अफरीदियों-काबुलियों के दर्शन कर आऊँ।

प्रसादजी बोले--इसके लिए इतने कष्ट की क्या आवश्यकता? हमारे बगल में, हड़हा के दर्शन कर लीजिए।

(बात यह कि काशी में 'हड़हा' एक मुहल्ला है, प्रसादजी के घर के समीप ही। वहाँ बहुत पुराने समय से व्यवसाय के लिए आगत काबुली रहा करते हैं। काशी में उनका वही एक केन्द्र है। वहाँ उनके ही देश की एकाध वेश्या भी रहा करती हैं)

यह सुनकर प्रेमचन्दजी का अट्टहास प्रारम्भ हो गया। शुक्लजी भी मुस्कराने लगे।

एक दूसरे अवसर पर, गोष्ठी हो रही थी। एक कोने मे स्टूल पर बिजली का पंखा चल रहा था। उसका तार जमीन पर पड़ा था। इसी बीच श्री शांतिप्रिय द्विवेदी पधारे, और उस तार मे फँसकर स्वयं गिरते-गिरते और पखे को गिराते-गिराते बचे। लोग गोष्ठी की बातें छोड़कर शांतिप्रिय जी की 'अभ्यर्थना' में दत्त-चित्त हुए। बहुत से साहित्यिक विनोद हुए, सभी लोगों ने उन्हें 'बनाया'। प्रसाद-जी ने झुककर मुझसे कहा—एक 'अल्प' टला। (यानि शांतिप्रिय जी की एक विपत्ति दूर हुई जो बिजली से हो सकती थी)।

उक्त मण्डल के तत्वाधान मे ही प्रसादजी के 'चन्द्रगुप्त' का अभिनय हुआ था। उसमें काशी के संपूर्ण साहित्यिकों यथा शौकीन अभिनेताओं का योग था। नाटक बहुत सफल हुआ था। उसके रिहर्सल के दिनों प्रसादजी प्रायः आ जाया करते थे—हमलोग खींच लाते थे। वे बहुत बहुमूल्य परामर्श दिया करते थे। प्राचीन संस्कृति का ज्ञान उनका गंभीर और विस्तृत था।

काशी के सर्वसाधारण तक मे मस्ती और हास्य प्रतिपद पर लक्षित होता है।

फिर प्रसादजी का कहना ही क्या ! वे पूरे बनारसी थे—रुचि मे, रहन-सहन मे, स्वभाव मे ।

प्रसादजी ने ब्रज भाषा मे कविता की है—आरम्भ मे । पुरानी परम्परा का प्रभाव उस समय उन पर था, जिसे दूर कर वे नये क्षेत्र मे चले आये । पर उस भाषा मे न लिखने पर भी, उसका 'मोह' उनमे पूरी मात्रा म था । उसका अध्ययन उन्होने सम्यक् रूप मे किया था, न जाने कितने चुने हुए छन्द उन्हे याद थे । उन्हे कुछ छन्द बहुत ही पसन्द थे । उनमे से एक मै यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ जिसे वे मुझसे बार-बार सुना करते थे--

जाय भरे दिल है चलिबौ
  सुनि प्यारी निसा सब रोवत खोई ।
हौ कह्यौ, रोवौ न, जैये घरै,
  यह गोइबो तो सुनिहै सब कोई ।।
मोई 'नेवाज' सदा सुधि-मालति
  साहस कै कै चली पग दोई ।
अधिक दूर लौ जाय, चितै,
  पुनि आय, गरै लपटाय कै रोई ।।

व्रज के पुराने कवियो मे 'पजनेस" प्रसिद्ध है, जिनकी रचना अपनी कुछ उद्दण्डता और चमत्कार के लिए प्रसिद्ध है । इनकी कविताए स्फुट ही मिलती थी, यद्यपि बाद मे काशी के बाबू रामकृष्ण वर्मा ने "पजनेस प्रकाश" प्रकाशित किया, जिसमे सौ-सवा सौ छन्द है । प्रसादजी की युवावस्था मे, काशी मे कटारे जी नामक एक सज्जन थे- गोरे, स्थूल, सन जैसी सफेद लम्बी दाढी वाले । उन्हे अपनी दाढी पर मोह और अभिमान था । नित्य गगाजी मे स्नान करते समय वे दो-तीन घटे दाढी की सफाई मे खर्च करते थे । इन कटारेजीको पजनेस के सैकडो छन्द याद थे । ये बडी मुश्किल से एक छन्द सुनाते थे और उसे फिर न सुनाते थे । उन्हे डर था कि लोग याद कर लेगे । प्रसादजी ने इनका सत्कार-स्वागत शुरू किया । घर बुलाकर ठढई पिलाने लगे । उसी समय आग्रह करने पर कटारेजी कुछ छन्द एक बार ही सुनाते थे, पर बगल के कमरे मे चार व्यक्ति बैठे रहते थे, जो एक छन्द का एक-एक चरण याद रखकर लिख लिया करते थे । इस उपाय से प्रसादजी ने कटारे जी की सम्पूर्ण पूँजी निकाल ली थी । बाद मे जब कटारेजी को सब छन्द सुनाये गये तो वे समझ गये और बहुत ही बिगड़े ।

प्रसादजी कही आते-जाते न थे—न गोष्ठियो मे, न कवि-सम्मेलनों मे । उनकी तबियत इनसे बचने के लिए "खराब" रहा करती थी । जनसमूह मे, कवि-सम्मेलन के ढंग पर उनकी कविता, उतने दिनो मे दो ही बार सुनी मैंने—एक तो नागरी

प्रचारिणी सभा के 'कोशोत्सव' (स्मारक उत्सव) पर और एक बार भदैनी के तुलसी पुस्तकालय में ।

तुलसी पुस्तकालय मे संभवतः वार्षिक उत्सव था । वहाँ श्री मैथिलीशरण गुप्त जी ने भी कविता पढी थी । प्रमादजी ने मुक्त छन्द की एक रचना पढ़ी थी । उनके पढने में न नाटकीयता थी, न राग-स्वर से पढ़ैना, न कही जोर देना । एक ढंग से, बहुत धीरे-धीरे उन्होने पढा था ।

मौज-मस्ती से, मन से वे दो-चार आदमियो मे ही सुनाते, यद्यपि ऐसे प्रसंग कम ही देखे । पसन्द उन्हे यह भी न था । पर मुझे अकेले उनसे प्रायः सम्पूर्ण 'कामायनी' सुनने का सौभाग्य मिला था । मै उस समय कितना समझदार था, यह तो वे जानते ही होगे, पर मेरे आग्रह और मुझ पर अपने स्नेह की उपेक्षा वे न कर सके ।

प्रसादजी निरन्तर अध्ययन करते रहते थे । वे प्रतिदिन अध्ययन करते थे । ठीक ही कहा जाता है कि हिन्दी के कवियो मे अध्ययनशील वे ही थे । प्रसादजी सस्कृत का भी अध्ययन करते रहते थे । शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय, ताड्य, धर्मशास्त्र आदि कितने ही विषयो की पुस्तके वे मुझसे मँगवाया करते थे । स्वर्गीय महा-महोपाध्याय पडित देवी प्रसाद शुक्ल कवि चक्रवर्ती से भी उन्होन संस्कृत का अध्ययन किया था । यह शुक्ल जी महाराज भी विकट जीव थे— भयंकर रसिक । इनका परिचय फिर कभी ।

प्रसादजी आत्मप्रचार से इस मात्रा मे दूर रहे कि अपने परिचितो को भी अपने सम्बन्ध मे यथासाध्य कभी न लिखने दिया । वे किसी प्रकार के वाद-विवाद मे भी न पडते थे ।

वे अकृतज्ञ और बुराई करनेवालो से भी प्रेम से ही मिल लेते थे । कुछ ऐसे महात्मा हे, जिन्होने जीवन भर प्रसादजी की आर्थिक सहायता प्राप्त की, उनके कारण उनकी प्रसिद्धि मैं भी वृद्धि हुई, पर वे अकारण उनकी निन्दा-स्तुति करते रहे। और इतने पर भी प्रसादजी उनकी सहायता से कभी पराङ्मुख न हुए ।

मै उन दिनो उद्दण्ड था—"एकैकमप्यनर्थाय" का शिकार था, शारीरिक संपत्ति भी थी । मैं ऐसे एक महात्मा पर बिगडा और उन्हे पीटने का विचार किया। परिणाम पर विचार करते हुए मैने प्रसादजी से एक दिन इतना ही पूछा--यदि मैं किसी को पीट दूं तो क्या होगा ?

उन्होंने कहा कि उस व्यक्ति की हैसियत पर निर्भर है, दो-चार रुपये जुर्माने से जेल तक हो सकती है । पर सुनो, अमुक के विषय मे तुम्हारा यह विचार उचित नही । उसे अपनी करने दो । तुम्हे क्या !

मैं न माना तो उन्होने कहा—तो लोग कहेगे कि इन्होंने (प्रसाद जी ने)

पिटवाया। तुम यह पसन्द करो तो जो चाहो करो। इस पर मुझे शान्त ही हो जाना पड़ा।

मैं जिनको पीटना चाहता था—ठीक उन्हें ही प्रसाद जी कैसे समझ गये, यह मैं न समझ पाया। किसी प्रकार उनके प्रति मेरा असंतोष लक्षित कर लिया होगा! मेरी उद्दण्डता प्रसाद जी तथा प्रेमचन्द जी के कारण बहुत कुछ समाप्त हो गयी।

प्रसाद जी लेखकों को बहुत अधिक प्रोत्साहन देते थे—सीमा के पार। एक दिन कुछ लोग बैठे थे। ब्रजभाषा की कविताएँ पढ़ी जा रही थीं। किसी में 'किरच' शब्द आया। प्रसाद जी ने पढ़नेवाले से इसका अर्थ पूछा, फिर और लोगों से। अन्त मे मुझसे पूछा और कहा—अब्धिर्लंघित एव वानर भटैः, किंत्वस्य गंभीरतां। आपातालनिमग्न पीवरतनुर्जानाति मंथाचलः। मेरी इस प्रशंसा में न उन्होंने उपहास किया था, न व्यंग। मेरी योग्यता से भी वे परिचित थे, बानरों में भी मैं 'भट' तक न था; पर यह उनका प्रोत्साहन था—सीमा के पार।

प्रसाद जी अपनी युवावस्था में बहुत व्यायामशील और स्पृहणीय शारीरिक संपत्ति के अधिकारी थे। बाद में उन्होने व्यायाम छोड़ दिया था, पर उन्हें देखने से ही इसका प्रमाण मिलता था।

एक बार प्रसाद जी नाव पर सैर करने निकले। उस दिन कोई पर्व था। लोग गंगाजी में दीपदान कर रहे थे। अनेक दीप स्थिरप्राय जल में धीरे-धीरे आगे बढ रहे थे। एक दूसरी नाव पर बैठे एक अंग्रेज ने सहसा प्रसाद जी से पूछा—इन दीपों का क्या अर्थ है?

प्रसाद जी बोले—ये दीप जीवन के प्रतीक है, जो प्रति क्षण आगे बढ़ रहे हैं—अपने स्नेह-शक्ति के अनुसार, लहरों से बचने की शक्ति के अनुसार ये आगे बढ़ेंगे, जलते रहेंगे। इन सबका लक्ष्य वही एक महासमुद्र है। वह अंग्रेज यह सुनकर कुछ भावमग्न हो गया था।

ऐसे थे प्रसाद जी, मानव रूप मे। एक कवि का श्लोक याद आता है—

हा-हा धिक्! द्रुमसंकथासु यदयं कल्पद्रुमोपि द्रुमः! (धिक्कार है कि पेड़ों की बात चलने पर कल्पद्रुम को भी पेड़ ही कहा जाता है)

क्या कहा जाय! 'सर्वंकषो हरति कालमहाप्रवाहः'—सब कुछ को। सोचता हूँ, प्रसाद जी की ही एक पंक्ति बरबस मुँह से निकल पड़ती है—'वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे ......!'



महाकवि 'प्रसाद'

—विश्वम्भरनाथ जिज्जा

मैं उन दिनों काशी-नरेश के चीफ सेक्रेटरी (दीवान) के प्रधान सचिवालय (सेक्रेटेरिएट) में क्लर्क का भी काम करता था। किन्तु बाद में पिताजी की वृद्धावस्था के कारण मुझे उनका काम मिल गया। राज्य के सभी बगीचे दीवान ने एक अन्य अधिकारी के अधीन कर दिये थे, किन्तु महाराज का सर्वोत्तम उद्यान रामबाग और कई अन्य बग़ीचे मेरे ही अधीन थे।

किन्तु इसके बाद महाराज बहादुर की आज्ञा मुझे नायब तहसीलदारी का काम सिखाने की हुई, जिसे मैंने सीखना शुरू कर दिया।

एक दि॰ दे॰। कि वहाँ अनेक नंगे-भूखे-फटेहाल किसानों का हुजूम एकत्र था और लगान दे न सकने के कारण तहसीलदार जबड़े पीस-पीसकर उन पर क्रुद्ध हो रहे थे....इसके बाद तहसीलदार के सिपाहियों द्वारा उन किसानों की दुर्गति हुई।

ऐसे दारुण दृश्य मैं प्रायः देखता और काशी आकर बाबू जयशंकर प्रसादजी को वहाँ का सब हाल सुनाता था। प्रसादजी पहले तो कुछ हँसते, पर तुरन्त ही फिर बुजुर्ग की तरह गम्भीर मुद्रा में मुझे समझाने लगते—'काम अच्छी तरह से सीखो और काम में मन लगाओ। यह नहीं कि तुम 'बहरी तरफ' पिकनिक या सैर करने की तरह गये और गाँव की सैर करके चले आये! तहसीलदारी के कागजों को पढ़ो, उन्हें समझो और मुहर्रिर से मदद लो।'

मेरा मन उस काम से कुछ उचाट होने लगा। फिर मैं बहाने करने लगा और कई-कई दिन नहीं जाता था।

× × ×

सन् १९१४ ई० में काशी राज्य को अंग्रेजों ने स्वायत्त शासन प्रदान किया। महाराज को प्रभाव में रखकर दीवान ने राज्य में प्रजा पर विविध प्रकार के कर लगाये। करों के बोझ से प्रजा पीड़ित होने लगी। महाराज को भी ये नये-नये कर लगाना अच्छा नहीं लगता था।

उन्होंने एक दिन मेरे सामने, भरे दरबार में अपने कुछ मुसाहबों से कहा—'राजा को इस तरह कर लेना चाहिये, जैसे सूर्य समुद्र से जल लेता है और समुद्र को

कुछ मालूम नहीं होता। और फिर, राजा को देना भी इस तरह चाहिये, जैसे वर्षा का जल बरसता है और सबको दिखाई देता है।'

महाराज के मुँह से राजनीति का ऐसा महत्वपूर्ण वाक्य सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। बाद में यह घटना मैंने प्रसादजी को सुनायी, जिस पर उन्होंने प्रसन्नता के साथ महाराज की प्रशंसा करते हुए कहा कि 'महाराज शास्त्रों के ज्ञाता हैं। वे धर्म, नीति, राजनीति, सब जानते हैं।'

× × ×

'अखबारे आम' में छपे हुए अपने लेख मैं महाकवि बाबू जयशंकर प्रसाद को दिखाया करता था। प्रसादजी मेरे प्रिय मित्र ही नहीं, बड़े भाई के समान पूज्य थे। वे मेरे उर्दू लेखों को देखकर प्रसन्न होते; किन्तु एक दिन उन्होंने कुछ खीझकर कहा—'क्या जी, तुम उर्दू में लिखते हो ! हिन्दी में क्यों नहीं लिखते ? तुम्हें हिन्दी में लिखना चाहिये।'

मैंने जब कहा कि 'हिन्दी में लिखा नहीं जाता' तो उन्होंने कहा—'वाह ! कैसे नहीं लिखा जाता ? तुम हिन्दी में कुछ लिखो तो ! कोई कहानी ही लिखो ! बस लिखना शुरू कर दो और बराबर लिखते जाओ, अन्त में कहानी तैयार हो जाएगी।'

इस पर कुछ उत्साहित होकर मैंने हिन्दी में लिखने का प्रयास आरम्भ किया। किसी अंग्रेजी पत्रिका में रूस की सुन्दरी महारानी कैथराइन के सम्बन्ध में एक लेख पढ़ा था, जिसे मैंने भावात्मक कहानी के रूप में लिखा, जिसका शीर्षक था—'सौन्दर्य की महिमा'। यह कहानी काशी की सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'इन्दु' में प्रकाशित हुई थी। 'इन्दु' पत्रिका के सम्पादक बाबू अम्बिका प्रसाद गुप्तजी थे जो प्रसादजी के भानजे थे।

प्रसादजी प्रथम व्यक्ति-श्रेष्ठ थे, जिनकी प्रतिभा और लेखन-कला से मैं प्रभावित हुआ और जिन्होंने मुझे लिखने के लिए उत्साहित किया। गुप्तजी का भी अपार स्नेह था, जो मेरी कहानियों को वे आवश्यक संशोधनों के साथ 'इन्दु' में प्रकाशित करते थे। इतना ही नहीं, वे मुझे लिखने के लिए विवश करते थे।

'बीसवीं सदी' (गुजराती पत्रिका) में मेरी कहानी 'परदेसी' के प्रकाशित होने पर एक दिन प्रसादजी ने प्रसन्न मुद्रा में कुछ हँसकर मुझसे कहा—'आज तो तुम बहुत खुश हो, क्यों !'

मैंने पूछा—'क्यों, क्या बात है ?'

उन्होंने 'बीसवीं सदी' मेरे सामने फेंकते हुए कहा—'तुमने देखा नहीं ? इसमें तुम्हारी 'परदेसी' छपी है।'

गुजराती पत्रिका में अपनी कहानी सचित्र छपी देखकर कुछ हर्ष और आश्चर्य भी हुआ।

प्रसादजी ने कहा—"हमने 'इन्दु' में तो यह पढ़ी थी, पर इसका गुजराती अनुवाद पढ़कर बड़ा मजा आया। तुम खूब बाजी मार ले गये !'

'बाजी मारने' का रहस्य यह था कि उस समय बहुत कम हिन्दी लेखकों की कहानियाँ अन्य भाषाओं की पत्रिकाओं में अनूदित होकर प्रकाशित होती थीं।....इस तरह प्रसादजी के समान मित्रों का प्रेम और प्रोत्साहन मुझे लेखन-कला और साहित्य-सेवा की ओर निरन्तर बढ़ाता रहा। ..

× × ×

मैं यद्यपि राजसेवा (काशी राज-दरबार) में था, पर मन हर समय बहुत ही असंतुष्ट और अशांत रहता था। कभी-कभी बाबू जयशंकर 'प्रसाद' से राजसभा की बातें करता, और जब अपने अशान्त मनोभाव प्रकट करता तो प्रसादजी कहते—'राजदरबार में ऐसा हुआ ही करना है। तुम लड़कपन मत करो, काम में मन लगाओ और सब कुछ अच्छी तरह सीखो !'

किन्तु मैं अपनी लेखन-कला की साधना मे व्यस्त रहता था।....इधर लेख और कहानी लिखना मेरा बराबर जारी रहा। प्रसादजी के यहाँ प्रायः नित्य ही बैठकें होती, जहाँ अन्य लेखक और कवि आदि आते, साहित्य-चर्चा और आमोद-प्रमोद होता रहता था।....

उन्हीं दिनों संयोग से 'इन्दु' के सम्पादक गुप्त जी ने मुझसे कहा—"श्रीवेंकटेश्वर समाचार-पत्र (बम्बई) में एक सहकारी सम्पादक की 'आवश्यकता' छपी है। चालीस रुपया मासिक वेतन है और रहने के लिए अलग स्थान भी देंगे। क्या आप वहाँ जाना पसन्द करेंगे ?" गुप्त जी वहाँ जाने के लिए मुझे कुछ देर तक समझाते रहे।

इसके बाद हम दोनों प्रसादजी के घर गये। उन्होंने भी मुझे उत्साहित किया और कहा—"तुम्हें वहाँ कोई कष्ट न होगा। बम्बई में मुख्य खर्च रहने का है। तीस-चालीस रुपये से कम में वहाँ कमरा नही मिलता। सो, कमरा तुम्हें वहाँ मिलेगा। तुम्हें तो अभी अखबार का काम सीखना है !"

कई दिनों तक विचार होता रहा; अन्त में मैने बम्बई जाने का निश्चय कर लिया।

प्रसादजी ने अम्बिका प्रसादजी ('इन्दु' के सम्पादक) से कहा कि "तुम हाजी मुहम्मद को एक पत्र इनके बारे में भेज देना, और उन्हें यह भी लिख देना कि यह कुछ ऐसे जीव हैं जो अपना खयाल कम रखते हैं।"

बम्बई में श्री हाजी मुहम्मद अल्लारखिया शिवजी एक गुजराती मासिक पत्रिका 'बीसवी सदी' के स्वामी और सम्पादक थे, जिनसे प्रसादजी या गुप्तजी का कोई

साक्षात् परिचय तो नही था, पर 'इन्दु' के द्वारा गुप्तजी का इनसे घनिष्ट सम्पर्क और प्रेम हो गया था। । गुप्तजी ने मेरे सम्बन्ध मे एक पत्र इन्हें भेज दिया।

विदाई के समय प्रसादजी ने मुझे कुछ सत्परामर्श दिया। उन्होने कहा—"देखो, तुम प्रेस और पत्र में काम करने के लिए जा रहे हो। वहाँ कुछ लोग तुमसे ऊँचे होगे, जैसे पत्र के स्वामी और सम्पादक, उनकी आज्ञा का सदा पालन करना और कभी उनकी अवज्ञा न करना। कुछ लोग तुमसे नीचे होगे, जैसे प्रूफ-रीडर, कम्पोजिटर आदि; उनसे सदा प्रेम और सहानुभूति का व्यवहार करना। कभी किसी से झगडना नही, और अगर कभी कोई झगड़े की बात आ जाए तो तुम चुप रह जाना। अपने ऊपर नियंत्रण रखना।"

प्रसादजी ने घर की बनी मिठाई (मगदल के लड्डू) एक टिन के बक्स में दी और अपने यहाँ का सर्वोत्तम जर्दा-तम्बाकू का एक डिब्बा दिया, और हँसकर कहा कि "सारी शरारते तो तुम्हारे पेट मे भरी हुई है, लेकिन बम्बई मे जरा ठिकाने से रहना!"

× × ×

सन् १९२० ई० के जनवरी या फरवरी मास तक मै बम्बई मे रहा। इस बीच मे एक बार छुट्टी लेकर मै अपने घर काशी और फिर प्रयाग भी गया था। उस समय कुम्भ का पर्व पडा था। काशी मे बाबू जयशकर प्रसादजी भी अपने आठ-दस मित्रों सहित प्रयाग आये, जहाँ हम सबने कुम्भ का स्नान किया। इसके बाद वे फिर काशी लौट गये और मैं बम्बई के लिए विदा हुआ।

× × ×

मैं 'आज' के सम्पादकीय विभाग मे काम करता था, पर न जाने क्यों, प्रधान सम्पादक पराडकरजी मुझसे प्रसन्न नही रहते थे।.........कभी-कभी पराडकरजी का हम सभी सहकारियों से ऐसा अवांछनीय व्यवहार होता कि हम लोग मन-ही-मन कुढकर रह जाते।

........मैं वहाँ की बाते आकर प्रसादजी को सुनाता। वे यह नही चाहते थे कि मैं बनारस से कही बाहर जाऊँ, इसलिए वे मुझे समझाते और धैर्य के साथ काम करने के लिए कहते थे।

एक दिन मैंने प्रसादजी से कहा कि 'आज' के सम्पादकों का व्यवहार मेरे लिए असह्य हो गया है। मैं अब यहाँ काम नही करूँगा। कानपुर के 'वर्तमान' पत्र के सम्पादक पं० रमाशंकर अवस्थी ने मुझे बुलाया है।

मैंने अवस्थीजी का पत्र प्रसादजी के सामने रख दिया, जिसमें उन्होंने बड़े प्रेम से मुझे बुलाया था।

इसके (त्यागपत्र देने के) बाद मैं आकर प्रसादजी से मिला और उन्हें वहाँ का

सब हाल सुनाया। उन्हें मेरा 'आज' से हटना अच्छा नहीं लगा। उन्होंने कहा—तुम बहुत जल्दबाजी और लड़कपन करते हो। मैंने कहा—जो हो, पर मैं अब कानपुर जाता हूँ।

× × ×

मैंने दैनिक 'भारतमित्र' (कलकत्ता) के सम्पादकीय विभाग में लगभग ढाई वर्ष काम किया।

एक विशेष कार्य से मैं अपने घर काशी लौट आया; और कुछ दिनों के बाद सुना कि कट्टर सनातनी मारवाड़ियों ने 'भारतमित्र' को खरीद लिया है। ये लोग ब्रिटिश सरकार के खुशामदी, चापलूस थे और महात्मा गांधी तथा राष्ट्रीय कांग्रेस के घोर विरोधी थे।" इन लोगों का सम्पादकाचार्य पं० गर्देजी से नीतिगत मतभेद हो गया।

उसके बाद गर्देजी काशी, अपने घर चले आये।

फिर मैंने 'भारतमित्र' कभी देखा भी नहीं और मुझे नहीं मालूम कि उसकी क्या दशा हुई।

काशी में हमारी बैठकें फिर बाबू जयशंकर 'प्रसाद' के यहाँ पूर्ववत् होने लगीं। वहाँ अधिकतर साहित्य-चर्चा, विनोद और बहस रहती थी।

एक दिन मैं 'आज' पत्र लिये प्रसादजी के यहाँ गया और कहा "देखिये, दिल्ली के ख्वाजा हसन निजामी ने महात्मा गांधी को मुसलमान और खलीफा बनने का निमंत्रण दिया है !"

प्रसादजी ने उत्सुकता से कहा—"कहाँ, कहाँ ? देखें !"

मैंने 'आज' उनके सामने रख दिया। उनके यहाँ भी 'आज' आता था, उसे उन्होंने मंगवाया। वे ख्वाजा हसन निजामी का लेख पढ़ते जाते और मुस्कराते जाते थे। जब वह लेख पढ़ चुके तो मैंने कहा "मैं इसका जवाब देना चाहता हूँ।"

उन्होंने सलाह दी कि—"हाँ, जवाब जरूर दो, लेकिन जरा पराड़करजी से मिल लो !"

मैंने कहा- "मैं अभी उनके पास जाता हूँ !"

दिन के लगभग १२ बजे मैं 'आज' कार्यालय गया और वहाँ प्रधान सम्पादक पं० बाबूराव विष्णु पराड़करजी से मिला। मैंने उनसे ख्वाजा हसन निजामी के उस लेख की चर्चा की और कहा कि "मै इसका जवाब देना चाहता हूँ।"

पराड़करजी प्रसन्न मुद्रा में थे और उन्होंने मेरी बात मान ली, पर इतना कहा कि "लिखिये, देखें आप क्या लिखते है !"

मैं वहाँ से घर लौटा और लेख लिखने में लग गया। दो दिन मे लेख तैयार हुआ, जिसे ले जाकर मैंने पहले प्रसादजी को दिखाया। मैंने उसे पढ़कर उन्हें सुनाया

और उन्होंने उसे पसन्द किया। इसके बाद दिन के २ बजे मैं, 'आज' कार्यालय जाकर पराड़करजी से मिला और उन्हें लेख दे दिया। उन्होंने मुझसे कहा कि "आप इसे पढ़कर सुनाइये !"

मैंने लेख आरम्भ से अन्त तक, उन्हे सुना दिया। वे कुछ सन्तुष्ट और प्रसन्न हुए, और लेख उन्होंने अपने पास रख लिया।

दूसरे दिन वह लेख 'आज' मे प्रकाशित हुआ, जिस पर एक सुखद सनसनी-सी फैल गयी। प्रसादजी ने और अनेक मित्रो ने उसकी सराहना की और मुझे बधाई दी।.........

× × ×

काशी, २० जून १९२७ ई०। दशाश्वमेध घाट पर एक पान की दूकान से पान खाकर मैं जब आगे बढ़ा तो 'भारत मित्र' के भूतपूर्व सम्पादक श्रद्धेय गर्देजी से मेरी भेंट हुई।....

वे प्रेमपूर्वक मिले और बोले—"कहिये, कलकत्ते चलियेगा ?"

मैंने पूछा—"क्या बात है ? क्या आप कलकत्ते जा रहे है ?"

उन्होंने कहा—"डॉक्टर एस० के० बर्मन के सुपुत्र श्री चुन्नीलाल बर्मन एक साप्ताहिक पत्र निकाल रहे है। हम जा रहे है। यदि आपकी इच्छा हो और उत्साह हो तो चलिये !"

मैंने कहा—"हाँ, चलूंगा ! जब आप है तो फिर मुझे क्या भय या संकोच है !"

मैंने कलकत्ता जाने के सम्बन्ध मे श्री जयशंकर प्रसादजी से बाते की। उन्होंने प्रसन्नता के साथ कहा—"जाओ ! गर्देजी है तो फिर तुम्हे क्या डर है !"

प्रसादजी ने यह भी कहा—'तुम्हारा तो अब जीवन ही लेखक और पत्रकार का हो गया है। तुम्हे इसमें सफलता मिली है। तुम्हारा मन अब काशी मे तो लगता नही। बम्बई और कलकत्ते की हवा तुम्हे लग चुकी है। नही तो यही काशी मे रहते, 'आज' मे काम करते.....!"

....गर्देजी कलकत्ते चले गये थे, और कई दिनो के बाद मैं भी रवाना हुआ।

× × ×

प्रसादजी की यह बड़ी प्रबल इच्छा थी कि हिन्दी के प्रतिष्ठित कहानी-लेखकों की कहानियों का एक संग्रह निकाला जाए, जिसके सम्बन्ध मे उन्होंने मुझ से कई बार चर्चा की थी। मैं उस समय 'श्रीकृष्ण सन्देश' में काम करता था और छुट्टियों मे जब मैं काशी आया तो प्रसादजी ने फिर मुझसे उस संग्रह के बारे में बातें कीं।

उन्होंने मुझसे कहा कि "श्री विनोदशंकर व्यास यह संग्रह प्रकाशित करने के लिए कलकत्ता जाएँगे। हमने उनसे कहा है कि तुम्हारी भी एक कहानी उसमें रखें।

विनोद ने इसका विरोध किया, पर हमने उनसे कहा कि नहीं, जिज्जा की एक कहानी उसमें अवश्य रहेगी। वे हम लोगों के साथ के कहानी-लेखक हैं।"

मैंने उस समय प्रसादजी से तो कुछ नहीं कहा, पर 'विनोद' द्वारा विरोध की बात सुनकर मुझे कुछ बुरा मालूम हुआ और मैंने सोचा कि मैं इस संग्रह में अपनी कहानी नहीं दूँगा।

इसके बाद मैं कलकत्ते चला गया, और वहाँ एक दिन सायंकाल जब मैं 'मतवाला' (साप्ताहिक पत्र) कार्यालय गया तो देखा कि श्री विनोदशंकर व्यास वहाँ मौजूद हैं। मतवाला के स्वामी और सम्पादक श्री महादेव प्रसाद सेठ मेरे प्रेमी मित्र थे। उन्होंने मुझसे कहा—"जिज्जाजी, अपनी एक कहानी आप 'मधुकरी' के लिए दीजिये।"

मैंने कहा—"सेठजी, मुझे बड़ा खेद है कि मेरे पास अपनी कोई कहानी नहीं है।"

उन्होंने कहा—"आपकी एक कहानी हमारे पास है। वह हमें बहुत पसन्द है। हमने उसे अपने महत्वपूर्ण लेखों की 'फाइल' मे रखा है। आप केवल उसे छापने की अनुमति हमें दे दीजिये।"

मैंने पूछा—"वह कौन-सी कहानी है?"

उन्होंने कहा—"परदेसी!"

मैंने कहा—"वह तो एक बड़ी वाहियात कहानी है। उसे आप क्या छापेंगे!"

उन्होंने तुरन्त कहा—"आपसे इससे क्या मतलब? वह आपके लिए वाहियात होगी, होगी! आप उसे छापने की अनुमति भर दे दीजिए! उस कहानी में एक आह है, एक कसक है। हमने उसे न जाने कितनी बार पढ़ा है!"

सेठजी के प्रेमपूर्ण आग्रह के सामने मेरा विरोध ठहर न सका। मैंने कहा—"अच्छा, अगर आपको वह पसन्द है तो आप उसे छापिये।"

सेठजी उस समय हुक्का पी रहे थे। उन्होंने कहा—"हमें बड़ी खुशी हुई कि आपने हमारी बात मान ली। अच्छा, अब आप अपना एक फोटो दीजिये, उसे हम कहानी के साथ प्रकाशित करेंगे।"

....और दूसरे दिन मैंने उन्हें अपना फोटो दिया जो 'मधुकरी' में कहानी के साथ प्रकाशित हुआ।

कुछ दिनों के बाद मैं काशी आया और मैंने प्रसादजी को यह सब वृत्तान्त सुनाया। वे हँसने लगे और बोले—"शायद विनोद की तुमसे कहानी माँगने की हिम्मत नहीं हुई। उसने सेठजी से कहा होगा! तुमसे उसकी अच्छी चखचख चल रही है!" प्रसादजी फिर हँसने लगे।

मैंने कहा—"मैंने तो विनोद का कुछ बिगाड़ा नहीं है; लेकिन न जाने क्यों वे

मुझसे बुरा मानते है। हालाँकि सर्वप्रथम मैंने ही उन्हे आपसे मिलाया था। अब वे आपके यहाँ प्रधान बन गये है, और मेरी मिथ्या शिकायते आपसे किया करते है।"

प्रसादजी ने हँसते हुए कहा — 'विनोद का छोडो ! लेकिन तुममे भी लडकपन कम नही है ! तुम भी तो रह-रहकर चुहल किया करते हो।...."

× × ×

कलकत्ते मे मेरे एक बहुत ही घनिष्ट मित्र श्री मुकुन्दीलाल गुप्त है, जो श्री जयशकर प्रसादजी के रिश्ते मे भाई लगते थे। प्रसादजी काशी से कही बाहर जाना पसन्द नही करते थे, पर श्री गुप्त के भाई क ब्याह के अवसर पर, उनके आग्रह और अनुरोध क कारण वे सपरिवार कलकत्ता आने के लिए विवश हुए। उनके आने से मेरी और मुकुन्दीलाल की खुशी का कोई ठिकाना न रहा। ये लोग जाति के कान्य-कुब्ज हलवाई-वैश्य थे और कुछ प्राचीन परम्परा के अनुयायी थे।

प्रसादजी एक मास से अधिक कलकत्ते म रहे। खूब घुमाई हुई। जब ब्याह की सब रस्म और दावते समाप्त हो गई तो एक दिन उन लोगो का अपने जाति-भाइयो का एक निजी भोज हुआ, जिसमे कुछ चुने हुए प्रतिष्ठित लोग सम्मिलित हुए। इस दावत का प्रबन्ध एक अलग कमरे मे हुआ था।

इसके बारे म मुझे कुछ मालम नही था, पर मै सयोग स जब दिन क ग्यारह बजे वहाँ पहुँचा तो देखा—सब लोग फर्श पर खाने बैठ गय है। मुझे देखने ही प्रसादजी ने कहा "आओ-आओ ! हाथ धोकर आओ।"

मैं हाथ धोकर अन्दर गया, प्रसादजी कुछ हटकर खिसक गये और मै उन्ही की बगल मे बैठ गया। भोजन 'कच्चा' था, याने भात-दाल आदि। मेरे बैठ जाने पर एक सज्जन ने कुछ आश्चर्य और आपत्ति के साथ, प्रसादजी की ओर देखकर केवल एक लम्बा-सा "भैया !!!" किया।

प्रसादजी ने कहा "जय गोपाल की, जय गोपाल की ! अब महादेव करो !" और खाना शुरू हो गया। भोजन समाप्त होने के बाद मुझे कोई आवश्यक कार्य था और प्रसादजी से तुरन्त विदाई लेकर मैं चला आया।

इसके बाद की कहानी श्री मुकुन्दीलाल ने मुझे इस प्रकार सुनायी "आप तो भोजन के बाद चले गये, पर यहाँ एक बडा मनोरजक दृश्य उपस्थित हुआ। हमारी जाति के बडे लोग सब प्रसादजी के कमरे म आये और बोले—'भैया, आपको हम लोग बहुत मानते है। आपके एक इशारे पर हम लोग न जाने क्या कर डाले ! हम सब आपका मुह देखा करते है कि आप क्या आज्ञा दे और हम क्या करे ! लेकिन भैया, हम लोग आपसे केवल एक बात पूछना चाहते है, जिसका आप समाधान करे ! आपने विश्वम्भरनाथ जी को बिरादरी की दावत मे क्यो बुला लिया ? एक तो वह काश्मीरी, फिर ऊपर मे यह कि वह मासाहारी ! आपने उन्हे क्यो शरीक किया ?'

श्री मुकुन्दीलाल ने आगे कहा—"इस पर भैया पहले तो खूब हँसे, फिर बोले कि 'अभी तो हम आप लोगों को शास्त्र के अनुसार बताते हैं, फिर लोकाचार के अनुसार बताएँगे। शास्त्र में लिखा है कि यदि कोई ब्राह्मण किसी वैश्य या शूद्र के साथ खा ले तो वह नहीं, वरन् ब्राह्मण पतित होता है।' इसके बाद प्रसादजी ने एक के बाद एक श्लोक पढ़े और कहते जाते थे कि 'यह स्मृति का श्लोक है, यह उपनिषद का है, यह अमुक पुराण का है, यह भागवत का है। इन सब श्लोकों का तात्पर्य यही है कि ब्राह्मण और वैश्य में कोई अन्तर नहीं है, और अगर कुछ हो भी तो वह ब्राह्मण के ही मत्थे जाता है। साथ में भोजन करने से अगर कोई कुछ अशुद्ध होता है तो ब्राह्मण, वैश्य नहीं! पर हम जानते हैं कि विश्वम्भरनाथ जी को इसकी परवाह नहीं है। रही मांसाहार की बात, तो मांस हमारे शास्त्रों में वर्जित नहीं है। पहले सभी ब्राह्मण और अन्य हिन्दू लोग भी मांस खाते थे। इसके लिए प्रमाण हमारे धर्म शास्त्रों में भरे पड़े हैं।

रही लोकाचार की बात, सो आजकल का लोकाचार यही है कि हम सब समान हैं। हमारे शास्त्रों में भी इसका कोई भेदभाव नहीं है, और जो अन्तर दिखाई देता है, वह ग्न न्द का है, कृत्रिम है, जिसे स्वार्थी ब्राह्मणों ने अपना बड़प्पन कायम रखने के लिए बाद में बढ़ाया है। विश्वम्भरनाथ जी काश्मीरी सारस्वत ब्राह्मण हैं, उनके वंश को हम अच्छी तरह जानते हैं। उनके साथ भोजन करने से कोई अपवित्रता आयी हो—इस खयाल को आप लोग अपने मन से बिल्कुल निकाल दीजिए!"

मुकुन्दीलाल जी ने कहा--"प्रसादजी ने ये सब बाते श्लोक सुना-सुनाकर ऐसे पांडित्य के साथ कही कि सब लोग चुप हो रहे।" दूसरे दिन प्रसादजी से भेंट होने पर जब मैंने पूछा तो उन्होंने संक्षेप में केवल इतना ही कहा कि "प्राचीन रूढ़ियों में पले हुए लोगों का भ्रम दूर होने मे बहुत विलम्ब लगता है। तुम और हम या कोई बड़ा नेता भी इसमे क्या कर सकता है! यह सब धीरे-धीरे होगा। शताब्दियों का बिगड़ा हुआ समाज एक दिन मे नही सुधर सकता!"

× × ×

कलकत्ते में लगभग सवा महीना बीत जाने पर प्रसादजी अब काशी लौटने के लिए व्यग्र थे, और उनसे अधिक उनके परिवार की स्त्रियाँ व्यग्र और चिन्तित थीं। कई तिथियाँ निश्चित होकर टल गई, यहाँ तक कि रेलगाड़ी में सेकेंड क्लास का एक डिब्बा भी रिजर्व होकर रद्द ही गया। अन्त मे एक दिन निश्चित हो ही गया और सेकेंड क्लास का डिब्बा फिर रिजर्व हुआ।

मैं उस दिन प्रातःकाल आठ बजे उनके पास पहुँच गया। किन्तु उस दिन के

समाचार-पत्रो से मालूम हुआ कि बनारस मे बड़ा भीषण हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो गया। मैंने प्रसादजी से कहा —"ऐसी स्थिति मे आप वहाँ कैसे जाएँगे ?"

प्रसादजी ने कहा—"हाँ, सुबह से हम भी यही सोच रहे हैं।"

मैंने कहा—"इसमे सोचना क्या है ! दंगे की स्थिति खतरनाक होती है। माना कि आपकी सुरक्षा के लिए वहाँ सब प्रबन्ध है, किन्तु फिर भी अघटित घटनाओ की सम्भावना कोई नही जान सकता। मेरे खयाल से, जोखिम लेना आपके लिए किसी तरह भी उचित नही है !"

प्रसादजी ने हँसकर कहा—"अरे यार, स्त्रियाँ बहुत नाराज होगी। और फिर, रेल का डिब्बा भी रिजर्व हो गया है।"

मैंने कहा—"रिजर्वेशन फिर रद्द हो सकता है। रही स्त्रियो की नाराजी की बात, सो उन्हे आप फिर खुश कर सकते हैं। किन्तु जोखिम तो किसी भी दशा मे नही उठाना चाहिए !"

मुकुन्दीलाल जी भी हम लोगो की बाते सुन-सुनकर मुस्करा रहे थे, और वे भी हृदय से चाहते थे कि प्रसादजी अभी काशी न जाएँ, कलकत्ता और कुछ दिन रहे तो अच्छा है। उन्होने कहा —"हाँ भैया, विश्वम्भरनाथ जी ठीक कहते है ! जोखिम उठाना उचित नही है। दस-बीस दिन और यहाँ रहिये, फिर शान्ति होने पर काशी जाइयेगा।"

बहुत कुछ विचार-विमर्श होने के बाद प्रसादजी हम लोगो से सहमत हुए और उन्होने काशी न जाने का निश्चय किया। एक आदमी रेलवे रिजर्वेशन रद्द कराने के लिए भेजा गया।

प्रसादजी के सुपुत्र दशवर्षीय चिरजीव रत्नशकर ने भीतर स्त्रियो मे जाकर चिल्ला-चिल्लाकर घोषणा कर दी कि "हम लोग काशी नही जाएँगे। विश्वम्भरनाथ जी ने बाबा को मना कर दिया है। बनारस मे दगा हो गया—बडा अच्छा हुआ ! हम कलकत्ता अभी और घूमेगे।"

इस पर रत्नशंकर की माता और अन्य स्त्रियाँ, जो काशी लौटने के लिए उत्सुक और उतावली हो रही थी, बहुत नाराज हुई और उनमे से किसी ने यह भी कहा—"यह विश्वम्भरनाथ जो कौन है रोकने वाले ! जब होता है, आकर एक अड़ंगा लगा देते है !"

बालसुलभ स्वभाव से चि० रत्नशकर ताली बजा-बजाकर चिल्लाने लगे—"हम कलकत्ता अभी और घूमेगे। हम बनारस नही जाएँगे ! हम बनारस नहीं जाएँगे !!"

भीतर से एक दासी, जो काशी से प्रसाद-परिवार के साथ आयी थी, कमरे मे आकर बोली—"यह 'बच्चा' बहुत ऊधम मचाये है।"

इतने मे 'बच्चा' बहुत भोले, सीधे-सादे बनकर आये और पिता के सामने

बोले—"हमने तो कुछ नहीं किया ! सिर्फ माँ को इतना बता दिया कि बनारस में दंगा हो गया है, इसलिए अभी हम बनारस नहीं जाएँगे।"

प्रसादजी और हम लोग हँसने लगे। मुकुन्दीलाल जी ने घूमने-फिरने का कार्यक्रम बनाया और दोपहर के बाद मोटर से हम लोग मनमाने ढंग से सैर करते रहे।

कई दिन के बाद बनारस में दंगा शान्त हुआ। इस बीच में हम लोगों का एक फोटो-चित्र भी लिया गया, जिसमें प्रसादजी, मैं, मुकुन्दीलाल जी, रत्नशंकरजी आदि हैं।

विदाई का निश्चित दिन आ गया। फिर रेल का सेकेंड क्लास का डिब्बा रिजर्व हुआ और उसके साथ ही एक अन्य डिब्बा नौकरों के लिए था। प्रसादजी के साथ सामान बहुत था, जो एक अन्य डिब्बे में रहा। प्रसादजी के डिब्बे में कई बिस्तरे और दो-तीन सन्दूक थे, जिनमें हीरे-जवाहरात और कुछ मूल्यवान चीजों का भी एक सन्दूक था, जिसे वे काशी से अपने साथ लाये थे। इस सन्दूक की रखवारी के लिए एक नौकर सदा उसके पास बैठा रहता था।

ट्रेन खुलने का समय हो गया। मैंने और मुकुन्दीलाल जी ने प्रसादजी से प्रेम-पूर्वक विदाई ली।

× × ×

प्रयाग पहुँचने पर 'सरस्वती' के सम्पादक श्रद्धेय पं० देवीदत्त जी शुक्ल से ज्ञात हुआ कि 'लीडर' प्रेस से निकलनेवाला हिन्दी का साप्ताहिक 'भारत' अब दैनिक होनेवाला है। 'चाँद' के सम्पादक मुंशी नवजादिक लालजी से भी यही खबर मालूम हुई। उन्होंने यह भी बताया कि 'लीडर' की प्रबन्ध समिति के अध्यक्ष काशी के रईस रायकृष्णजी हैं।

मैं काशी के लिए रवाना हुआ और वहाँ प्रसादजी से मिला। उन्होंने भी दैनिक 'भारत' के प्रकाशित होने की बात बताते हुए कहा कि "अब कलकत्ते या बम्बई जाने का विचार मत करो। प्रयाग से दैनिक 'भारत' निकलनेवाला है, उसमें काम करो !"

प्रसादजी ने कुछ हास्य के साथ प्रेमपूर्वक कहा—"तुम्हारा उद्देश्य तो अब किसी पत्र में ही काम करके जीवन बिता देना है। अगर 'आज' में नहीं करना है तो 'भारत' में करो। रायकृष्णजी 'लीडर' के चेयरमैन हैं। हम रायकृष्णदास से कह देंगे।" (रायकृष्णदास जी चेयरमैन रायकृष्णजी के चचेरे भाई थे और प्रसादजी तथा रायकृष्णदासजी में घनिष्ट मैत्री थी)

तीन दिन के बाद राय कृष्णदासजी अपनी मोटर लिये सायंकाल प्रसादजी के

यहाँ आये।····मैं प्रसादजी और राय कृष्णदास के साथ पांडेपुर रवाना हुआ। काशी के बहिर्भाग में, पाडेपुर ग्राम मे राय कृष्णजी अपनी कोठी में रहते थे।

राय कृष्णजी एक पुराने ढंग के रईस थे। नवाब की तरह बड़े-बड़े तकिये लगाए बैठे थे। वे विद्याव्यसनी थे। बहुत-सी अंग्रेजी की मोटी-मोटी पुस्तके और मैगजीनें उनके सामने पडी थी। राय कृष्णदास ने मेरा उनसे परिचय कराते हुए कहा—"ये जयशंकर प्रसाद जी के घनिष्ट मित्र हैं। इन्होने हिन्दी के बहुत-से समाचार-पत्रों मे काम किया है और कई पुस्तके भी लिखी है।"

राय कृष्णजी ने कहा कि "हाँ, हमने इनका नाम सुना है।"

तब राय कृष्णदास ने कहा—"ये दैनिक 'भारत' मे काम करना चाहते हैं।"

राय कृष्णजी ने कहा कि "१७ सितम्बर को हमारी (लीडर प्रेस मे) मीटिंग होनेवाली है। ये प्रार्थना-पत्र दे दे।"

इसके बाद राय कृष्णजी, प्रसादजी से बाते करने लगे और रात के लगभग दस बजे तक बाते करते रहे। उन्होने काशी-नरेश महराज ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह के बारे मे एक बडी मनोरंजक कहानी सुनायी।····

रात को लगभग ११ बजे घर पहुँचने के बाद प्रसादजी ने मुझसे कहा—"अभी कुछ दिन ठहर जाओ और चेयरमैन की मीटिंग का नतीजा देख लो। आशा है, तुम्हे 'भारत' मे काम मिल जाएगा।" मुझे उनसे यह भी मालूम हुआ कि हिन्दी के सुविख्यात लेखक श्री शिवपूजन सहाय भी 'भारत' मे काम करना चाहते थे।

दूसरे दिन राय कृष्णदास जी के यहाँ जब श्री शिवपूजन सहायजी से मेरी भेट हुई तो उन्होने अनिच्छापूर्वक कहा—"नही, हम वहाँ काम नही करेगे। दैनिक पत्र का काम बड़े झंझट का होता है। आप ही जाइये।"

दो दिन के बाद मैं प्रातःकाल 'लीडर' प्रेस मे प० कृष्णराम मेहता के वासस्थान पर न्यूजपेपर्स लिमिटेड के चेयरमैन (अध्यक्ष) राय कृष्णजी से मिला।····

दैनिक 'भारत' अभी प्रकाशित होना प्रारम्भ नही हुआ था। उसके सम्पादक श्री केशवदेव शर्मा पहले 'लीडर' के सहकारी सम्पादक थे।····मैं शर्माजी से नित्य ही मिलता था। दो-तीन दिन के बाद उनसे मुझे सूचना मिली कि "आपकी नियुक्ति प्रायः निश्चित है।"

और दूसरे दिन जब फिर मैं 'लीडर' प्रेस गया तो एक मद्रासी उप-प्रबंधक श्री ऐयर ने मुझे एक लिफाफा दिया जो दैनिक 'भारत' के सम्पादकीय विभाग में काम करने के लिए नियुक्ति-पत्र था।

× × ×

प्रसाद हीरक जयन्ती पर हुए 'इन्दु' के कुछ अंकों के पुनर्मुद्रण के साथ समकालीनों के संस्मरण की योजना थी—उसमे स्व० जिज्जाजी का प्रकाशित संस्मरण यहाँ उद्धृत है —(मं०)

बाबू जयशंकर प्रसाद यद्यपि अब इस नश्वर जगत मे नहीं हैं, पर हिन्दी जगत में उनकी कीर्ति और स्मृति सदा अमर रहेगी ! वे उन दुर्लभ विभूतियों में थे जो इस अवनीतल पर किसी का कुछ लेने नहीं अपितु अपना कुछ देने आते हैं। उन्होंने निःस्वार्थ सेवा भाव से जो कुछ भी दिया उससे निश्चय ही साहित्य का भंडार बढ़ेगा, और साहित्यसेवियों का सदा ही हित होगा। उनकी सेवा और अर्चना से मातृभाषा एवं मातृभूमि दोनों ही धन्य हुई हैं।

उनके सम्बन्ध में यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि वे अपने मृत्युहीन प्राण के साथ जो कुछ भी प्रसाद गुण लाए, वह सब उदारतापूर्वक वे दूसरों के लिये छोड़ गये। वे जीवन और मृत्यु दोनों ही मे महान् थे। उन्हे स्वयं कभी कीर्ति या प्रतिष्ठा की कामना नही हुई, पर साहित्य जगत ने अपने नर-रत्न की कृतियों को समझा, परखा और उन्हें सर्वोच्च सम्मान प्रदान किया। प्रसाद जी की अन्तिम अनुपम रचना 'कामायिनी' के लिए उन्हें हिन्दी साहित्य जगत का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला, इस तरह साहित्य जगत ने उनका और अपना भी गौरव बढ़ाया, साथ ही उसने यह भी दिखा दिया कि यह अपने अमर महाकवि को कभी न भूलेगा।

प्रसाद जी एक उच्च कोटि के विद्वान और प्रखर प्रतिभाशाली पुरुष थे। उनकी भावपूर्ण विचारधारा मौलिक थी, और उनमें सत्य-ज्ञान की एक ऐसी अलौकिक ज्योति थी कि उसका असर दूसरों पर भी पड़ता था। वे कवि थे, और कवि से बढ़कर सिद्धहस्त कलाकार थे। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी, इस कारण गद्य और पद्य दोनों पर उनका समान अधिकार था। उन्होंने रोचक कवितायें लिखने के अतिरिक्त कहानी, नाटक, उपन्यास, इतिहास आदि सभी क्षेत्रों में अपनी लेखनी का चमत्कार दिखाया। इस कारण कितने ही विद्वान लेखकों ने उनकी तुलना महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर से की है, क्योंकि रवि ठाकुर की ही तरह प्रसाद जी ने भी साहित्य के सभी अंगों की पूर्ति की है।

इन पंक्तियों के अंकिचन लेखक की प्रसाद जी से दीर्घ काल से घनिष्ठ मैत्री थी, और उनके साहित्यिक तथा सामाजिक जीवन, और उनके गुणों को देखने का यथेष्ट अवसर मिलता था। वे कोई साधारण विद्याप्रेमी नही थे। वे जिस विषय पर लेखनी उठाते, उसे पूर्ण विचार और अधिकार के साथ लिखते थे। 'चन्द्रगुप्त' नाटक लिखते समय उन्होंने, ग्रीक पुस्तकों के अंग्रेजी अनुवाद का कितना गहन अध्ययन

किया था—एक बार ऐसा इत्तिफाक हुआ कि मैं रात को दो-तीन बजे उनके घर पहुँच गया, और बाहर गली से देखा कि उनके ऊपर वाले बड़े कमरे में रोशनी जल रही थी। मैंने आवाज दी—'बाबू साहब !' उन्होंने ऊपर से कहा—'चले आओ।'

मैं जब ऊपर उनके कमरे में गया, तो देखता हूँ, कि वे बड़े-बड़े तकियों में धंसे हुए, कुछ आधे लेटे से हैं। उनके सामने अंग्रेजी के कई मोटे-मोटे ग्रन्थ खुले पड़े थे। कुछ अन्य पुस्तकें एक ओर बिखरी थी। मेरे पूछने पर उन्होंने कहा—"देखो जी, चन्द्रगुप्त के बारे में इन ग्रीक इतिहासकारों के क्या विचार है ?……"

मैं अभी तक बैठा नही था। केवल खड़े-खड़े कुछ हर्ष और आश्चर्य से उन्हें देखता रहा पर यह कहे बिना मुझसे नहीं रहा गया—"आप इतनी रात तक पढ़ रहे हैं—अभी, सोये नही ?"

वे हँस कर रह गये, पर रात के जागरण से वे कुछ थके हुए से लगते थे। नेत्र जैसे गहरे नशे में डूबे हुए थे, और गोरा सुन्दर मुख मण्डल जैसे गम्भीर चिन्तन से सहसा जागा था।

वे कुछ प्रसन्न भाव से भारतीय और ग्रीक इतिहासकारों की तुलनात्मक आलोचना करते रहे।

प्रसादजी की प्रकृति और मनोवृत्ति कुछ ऐसी कारुणिक-कोमल थी कि वे थोड़ी भी दुर्भावना या कटुता सहन नही कर सकते थे। कुछ 'रिजर्व' स्वभाव के अनूठे व्यक्ति थे, और अज्ञात या अपरिचित मनुष्यों से जल्दी बेतकल्लुफ नही होते थे। उनकी प्रकृति में कुछ ऐसा कोमल संकोच भाव था—वह चाहे उनका गुण हो या दोष पर वे कभी आगे बढ़कर, या अपने को प्रदर्शन मे लाकर काम करना पसन्द नहीं करते थे। सार्वजनिक स्थानों या सम्मेलनों मे जाते पर दूर रहते भीड़ के नही बनते थे। रोमाँ रोला (फ्रेन्च दार्शनिक) या कवीन्द्र रवीन्द्र की तरह वे गरमी और गर्द से दूर भागते, और किसी भी स्वाभिमानी नरेश की तरह समस्त विवादों से परे रहते थे। समालोचकों को उत्तर न देते और विरोधियों से तर्क न करते। उनके पक्ष और विपक्ष में कितनी ही बार लेख लिखे गए, पर उन्होंने सदा उपेक्षा-भाव रखा। अनेक बार सार्वजनिक संस्थाओं और महासम्मेलनों में उनसे सभापति होने के लिए प्रार्थना की गई, पर उन्होंने सदा ही सधन्यवाद उनसे अपना पीछा छुड़ाया।

एक समय था, जब प्रसाद जी भी बड़ी विलासिता और शौकीनी के साथ रहा करते, घर में गाड़ी घोड़े थे, कीमती से कीमती विलायती वस्त्र पहनते। घर के शिव मन्दिर में नाच-गाने भी होते, मित्रों की दावतें होतीं, पर उस समय भी उन्होंने

कभी कुमार्ग का अनुसरण नहीं किया। उनका घरेलू और बाहरी जीवन बिल्कुल निष्कलंक—पवित्र था। सभी तरह के लोग उनसे मिलते, पर वे किसी से न मिलते थे। अनेक सज्जनों के मध्य में बैठे हुए, वे जैसे सबसे अलग एक राजकुमार से लगते थे।

प्रसाद जी का सामाजिक और धार्मिक जीवन यद्यपि प्राचीन परम्परा से पूर्ण था, पर वे युगधर्म के साथ चलना जानते थे; और नवीन सुधारों को पसन्द करते थे। वे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में पूरी दिलचस्पी लेते। लेनिन के सोवियत रूस और उसके साम्यवादी सिद्धान्तों को वे अच्छी तरह जानते और इटली के मुसोलिनी और जर्मनी के हिटलर के फासिस्टवाद और नाजीवाद से परिचित थे। सन् १९१९ में प्रथम विश्वव्यावी महायुद्ध के समाप्त होने पर (ब्रिटिश उपनिवेश) दक्षिण अफ्रीका के प्रधान मंत्री जनरल स्मट्स ने कहा था—"Humanity has beaten its tenets, and is once more on the march."

इस पर प्रसाद जी ने हँस कर कहा—"इस 'ह्युमेनेटी' का मतलब समझे?" मैंने कहा—"क्या?"

प्रसाद जी के हाथ में उस समय अंग्रेजी का "लीडर" पत्र था। उन्होंने जनरल स्मट्स के उस वाक्य को विनोदपूर्ण मुद्रा में पढ़ते हुए कहा—"इसका मतलब गोरों की 'ह्युमेनेटी' से है। बेचारे कालों में 'मार्च' करने की कहां शक्ति है।"

ब्रिटिश प्रधान मंत्री लायड जार्ज, भारत मंत्री मि० मान्टेगू, अमेरिकी राष्ट्रपति उडरो विल्सन, फ्रेन्च प्रधान मंत्री क्लीमेन्सू और प्रधान सेनापति मार्शल फाश आदि के मन्तव्यों और हथकंडों पर प्रसादजी व्यंग्यात्मक टीका-टिप्पणियाँ करके हँसते-हँसाते थे। चीन में उस समय जापान की बड़ी उग्र आक्रामक नीति थी, और भारत के प्रायः सभी राष्ट्रीय और अन्य समाचारपत्र जापान को कोसते थे, इस विषय पर प्रसादजी जापानी नीति के कुछ पक्षपाती थे। मैंने कुछ चकित भाव से कहा—"आप ही एक ऐसे व्यक्ति मिले जिसने जापान के पक्ष में इतनी बातें कही। यह मुझे नहीं मालूम था कि आप जापान के इतने पक्षपाती हैं।"

उन्होंने जैसे कुछ झुंझला कर कहा—"नहीं, मैं जापान के पक्ष में कुछ नहीं कह रहा हूँ। एशिया के भविष्य का ध्यान करो, जब पूर्व और पश्चिम का महायुद्ध होगा तो उस समय एशिया की लड़ाई लड़ने वाला कौन होगा?......"

किन्तु अब का जापान तब से बहुत भिन्न है। आज जापान द्वितीय महायुद्ध में हारा हुआ, अमेरिका के प्रबल चंगुल में फंसा हुआ है। किन्तु, साथ ही पूर्व-पश्चिम के आगामी संग्राम का मानचित्र भी तब से आज बिल्कुल बदला हुआ है। अब जापान का स्थान, विशाल सोवियत रूस के साम्यवादी तंत्र ने ले लिया है। किन्तु स्मरण रहे कि तबका साम्राज्यवादी जापान भी पश्चिमी राष्ट्रों का ऐसा प्रबल

विरोधी नही था जैसा कि आज सोवियत रूस है, जिसका प्रभाव जापान से अधिक आज पूर्व और पश्चिम की कूटनीति मे फैला हुआ है। 'परिस्थिति अब कुछ परिवर्तित रूप मे प्राय: ज्यो की त्यों है।

आज अन्तर्राष्ट्रीय शतरंज (क्यूबा से वियतनाम तक) को देखकर प्रसादजी की एक भविष्यवाणी तो बहुत याद आती है, जो उन्होने भारत को लक्ष्य मे रख कर की थी। उन्होंने कहा था—

"नेपाल और भूटान की सीमाओ को चीरती हुई, और पर्शियन गल्फ (ईरानी खाडी) से भी शत्रु की फौजे और जंगी बेडे लडने आयेगे।"

मैंने पूछा—वह शत्रु कौन होगा ?

उन्होने कहा "हम यह नही कह सकते कि वह शत्रु कौन होगा। पर उस महायुद्ध मे भूमध्य सागर और स्वेजनहर भी अंग्रेजो के लिये बन्द हो जायगी और एटलान्टिक तथा पैसिफिक सागरो मे घमासान विश्वव्यापी महायुद्ध होगा।........"

ये बाते अनेक वर्षो पूर्व की है, किन्तु आज अणुबम, उद्‌जनबम आदि की जटिल अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति क्या कुछ कह रही है ? भारत यद्यपि स्वतत्र है, पर क्या साम्यवादी चीन का भारत की सीमा तक चढ आना ब्रिटेन के लिये भी चिन्ता का विषय नही है ? तभी तो चीन का आक्रमण होने पर ब्रिटेन और अमेरिका ने भी भारत को शस्त्रो से सहायता देने मे विलम्ब नही किया। क्योकि चीन के द्वारा साम्यवाद का भारत की ओर अग्रसर होना पश्चिमी राष्ट्रो के लिये सबसे बडी चिन्ता का विषय है।

अमेरिका के बारे मे प्रसादजी की कभी अच्छी राय नही थी। वे यह कुछ जोर के साथ कहते कि 'अमेरिका ऐन वक्त पर मानव जाति को धोखा देगा।'

प्रसादजी देशभक्त होते हुए कुछ अन्तर्राष्ट्रीय भावना के व्यक्ति थे। भारतीय नेताओ मे वे लोकमान्य तिलक के अधिक भक्त थे, महात्मा गाधी को भी मानते थे, पर अनेक राष्ट्रीय प्रश्नो पर वे गाधी जी के साथ बहुत दूर तक जाने के लिये तैयार नही थे। किन्तु भावुक होकर कहते कि "इस मनुष्य मे लेनिन की तरह अन्तर्राष्ट्रीय भाव कुछ अधिक हैं। देखो न ससार के सभी देश उन्हे (गाधीजी को) अपना नेता बनाना चाहते है .....।'

एक बार महात्मा गाधी अपनी इग्लिश शिष्या मीरा बेन (मिस स्लेड) के साथ काशी मे श्री विश्वनाथ जी का दर्शन करने गये थे इसके बाद काशी के कुछ कट्टर-पन्थियो ने गाधीजी के विरुद्ध भद्दे और निन्दनीय तरीके से प्रदर्शन किया था। इस सम्पूर्ण प्रसंग पर प्रसादजी बहुत असन्तुष्ट हुए, उन्होने दु:ख भरे लहजे में कहा—"यह लोग (याने कट्टरपन्थी) दीर्घकाल तक गुमराही मे पड़े रहेगे।"

प्रसादजी को वैदिक धर्म और संस्कृति से विशेष प्रेम था। प्राचीन ऋषियों को वे संसार का सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक कवि मानते थे। बुद्ध और शंकर के दार्शनिक स्रोतों के सुजारस का उन्होंने छक कर पान किया था, और स्वामी दयानन्द, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ प्रभृति महात्माओं की ज्ञान-गरिमा का भी उन पर पर्याप्त प्रभाव था। वे भारतीय सभ्यता और संस्कृति के सदा अनुयायी रहे। वे दार्शनिक कवियों और ज्ञानियों की सभा की प्रथम पंक्ति के नररत्न थे।

एक दिव्य देवपुरुष की तरह वे शान्त, गम्भीर, निश्छल और निर्विकार थे, और स्वयंसिद्ध सन्त की तरह वे सन्तोषी और विरागी दोनों ही मालूम होते थे। उनकी काव्यमयी कल्पना अनन्त नक्षत्रों के प्रस्फुटित प्रकाश पुंज को पार करके उस भावमय जगत में विचरण किया करती थी, जहां केवल अखंड शान्ति और पवित्र प्रेम है। उनका प्रेम असीम, अनन्त और विश्वव्यापी था, और 'वसुधैव कुटुंबकम्' सिद्धान्त के अनुसार वे पूर्ण विश्वप्रेमी थे।

प्रसादजी की ये पंक्तियां कैसी याद आती हैं—

'इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना।
किन्तु पहुंचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं।"

प्रसादजी यद्यपि चले गये, पर प्रसाद जी साहित्य जगत में सदा जीवित रहेंगे।

घूप छांह के खेल-सदृश यह जीवन बीता जाता है।
समय भागता है प्रति क्षण में,
नव अतीत के तुषार-कण में,
हमें लगाकर भविष्य-रण में, आप कहां छिप जाता है?

('प्रसाद'जी)



बाबू साहब

—श्री दुर्गादत्त त्रिपाठी

एक दिन पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने मुझे काशीनागरी नाटक मण्डली के तीन पास दिये। वह उस रात नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय के उत्कृष्ट नारी पात्र मानसी की भूमिका वे निभाने वाले थे। गाली देकर बात करना उनकी आत्मीयता का परिचायक था और उसी लहजे मे उन्होंने मुझे हिदायत कर दी थी कि मैं जैसे भी हो बाबू साहब और विनोद शंकर व्यास को अपने साथ अवश्य लाऊँ। कारणवश बाबू साहब किसी आवश्यक कार्यवश न जा सके। 'उग्र' को चिन्ता हुई क्योंकि बाबू साहब उग्र से स्नेह करते थे और उनके बुलाने पर न जाने वाले लोगों मे नही थे। फिर विनोद से कारण मालूम हुआ तो उनका गालियो का धाराप्रवाह रुका। उस समय वह मानसी की भूमिका के लिए तैयार हो चुके थे और उन्होंने हम दोनों को अन्दर ही बुला लिया था। डायरेक्टर आनन्दी प्रसाद कपूर उनका मूड बिगड़ता देखकर किसी बहाने से उन्हे लेकर ग्रीनरूम की ओर चले गये और हम दोनों दर्शको में जा बैठे।

'उग्र' दूसरे दिन चार बजे शाम को बूटी छानने का प्रस्ताव लेकर प्रसाद-मन्दिर पधारे। बाबू साहब कमरे मे बैठे किसी व्यावसायिक कार्य मे व्यस्त थे। उग्र ने बूटी तैयार की, स्वयं पी, हमे पिलाई और बाबू साहब के लिए कमरे मे पहुँचा दी। शीघ्र ही बाबू साहब ने विनोद, उग्र, गौड जी और मुझे कमरे मे बुला लिया। उग्र को जितना भरोसा अपनी लेखनी पर था उससे कुछ अधिक अपने किये हुए अभिनय पर हो रहा था। बनारस के सभी छोटे बडे लोग उनके सजीव अभिनय से प्रभावित हुए थे। उनके अभिनय मे उनके गोल सुडौल चेहरे, बीस एक बरस की कच्ची आयु, सुन्दर सुगठित शरीर और भावभीने अभिनय आदि अनेक तत्वो का अद्भुत संयोग हुआ था।

परन्तु 'उग्र' ने इस सन्दर्भ मे अपने मुँह से कुछ कहना अनुचित समझा। महाकवि 'प्रसाद' मित्र-भाव अवश्य बरतते थे परन्तु उनके सामने इतनी शालीनता आवश्यक थी। सामने 'आज' पड़ा देखकर उग्र ने समझ लिया था कि बाबू साहब नाटक की समीक्षा पढ़ चुके है। कुछ देर 'उग्र' को मौन देखकर सब लोग मौन रहे।

बाबू साहब के पास एक विद्या-वयोवृद्ध आचार्य भी बैठे थे जो उन्हें पाली और प्राकृत के अध्ययन में सहायता देते थे। उनके कारण बाबू साहब मौन थे परन्तु कौतूहलवश चाहते अवश्य थे कि पहले 'उग्र' ही अपने उलाहने के साथ शुरूआत करे। 'उग्र' को निरन्तर चुप देखना एक असम्भव सी बात थी, इसलिए बाबू साहब को ही मौन भंग करना पड़ा और गौड़ जी से बोले, 'आज मैं आपके मंच-सज्जा-कौशल की प्रशंसा पढ़ी। मैं ही नहीं जा सका....।'

गौड़ जी बोले, "मैं तो 'उग्र' जी की वजह से घेर लिया गया।"

बाबू साहब 'उग्र' से बोले आपके अभिनय को 'आज' ने चिर-स्मरणीय बताया है। बधाई।

इस बात ने 'उग्र' के मान का अनावरण कर दिया, परन्तु फिर भी वह बात को बहुत कुछ साधकर नम्रता से बोले, 'आप तो मुझे बेचन ही समझते परन्तु दर्शकों ने मुझे मानसी ही समझा। सम्भव है कोई कुशल लड़की इस भूमिका को और भी सजीव बना देती।'

बाबू साहब ठठा कर हँसे और फिर बड़ी आत्मीयता के साथ बोले, 'मैं तो आपको इस समय भी मानसी ही समझ रहा हूँ।

'उग्र' ने कोई उत्तर न दिया, परन्तु उनका सिकुड़ना एक प्रश्नचिह्न था, इसलिए बाबू साहब को अपनी कही बात का स्पष्टीकरण करना पड़ा। परन्तु फिर भी बड़े सरल स्वभाव से बोले, 'आपके कानों के अन्दर अखाड़े की मिट्टी की तरह रात की रूज़ के गुलाबी अवशेष देखकर ही मैंने यह बात कही थी।'

और फिर क्या था, हम सभी लोग हँस पड़े और समवेत हास से कमरा गूंज गया।

× × ×

एक दिन बाबू साहब ने हमें मध्याह्न भोजन के लिए 'प्रसाद-मंदिर' में बुला रखा था। उस दिन चि० बच्चा का जन्म-दिन था। विश्वम्भर नाथ जिज्जा, कृष्णदेव प्रसाद गौड़, विनोद शंकर व्यास, शिवदास गुप्त 'कुसुम', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, मुच्छन द्विवेदी (शांतिप्रिय द्विवेदी) पहले से बैठे थे। मैं 'उग्र' को उनके चाचा छविनाथ पाण्डेय जी के घर से लेता हुआ कुछ देर बाद पहुँचा।

शुक्ल जी 'लहर' की एक प्रति खोले हुए बड़ी तन्मयता से कुछ पढ़ रहे थे। पता चला कि उन्होंने 'लहर' की प्रति मांगी थी और बाबू साहब ने अपने संग्रह की अन्तिम प्रति उन्हें अर्पण कर दी थी। भोजन परोसा गया और हम लोग पंक्तिबद्ध होकर बैठ गये। शुक्ल जी 'लहर' का अवलोकन और भोजन समान गति से किये जा रहे थे। गौड़ जी ने 'उग्र' को टहोका और उग्र ने उनकी इच्छा को वाणी दी—

"लहर तो आप कई बार पढ़ चुके होंगे। अब मटर चिउड़ा, मगदल और खीर को भी इसी प्रकार पढ़ कर बताइये कि कितनी स्वादिष्ट है।"

शुक्ल जी योले, "अरे भाई, मुझे तो अभी-अभी प्रसाद जी ने दी है।"

गौड़ जी बोले, "उस दिन तो आपके बैठके मे एक प्रति देखी थी ?"

मुच्छन जो अपने आपको शुक्ल जी का मानस-पुत्र कहा करते थे, और उसी अधिकार से शुक्ल जी की बात का पोषण करने के लिए गलबलाते हुए बोले, "वह तो हम सम्पूर्णानन्द जी के यहा से लाकर रखे थे।"

उनकी व्याकरणहीन भाषा पर शुक्ल जी थोडा चौके, परन्तु फिर उन्होंने चुपचाप लहर की प्रति को गोद मे रख लिया और भोजन की प्रशंसा करने लगे।

शुक्लजी का उस समय का 'मूड' कुछ ऐसा था, मानो उन्हे अभी लहर के विषय मे बहुत कुछ कहना हो। और ऐसा कुछ कहना है जिससे उग्र, त्रिपाठी, विनोद और 'कुसुम' जैसे गदाई लेखको पर रोब डाला जा सके। 'प्रसाद' जी, जिज्जा जी और गौड जी तो उनके बस के बाहर थे। शायद इसीलिए शुक्ल जी हठात् मौन रहे और खाते रहे।

भोजन से निवृत्त होकर फिर बातचीत के लिए बैठते बैठते तीन बज गये। पान जरदा छक लेने पर शुक्ल जी ने अवसर के अनुकूल संस्कृत मे कोई स्वस्तिवाचन किया और फिर लहर की प्रति खोलकर पढने लगे। फिर शीघ्र ही एक पृष्ठ पर रुके और विनोद से बोले, इतने दीर्घकाल से गुरु के चरणामृत का सेवन कर रहे हो। सुनो मै कुछ पक्तिया पढता हूँ—

कितने दिन जीवन जलनिधि मे
विकल अनिल से प्रेरित होकर
लहरी कल चूमने चल कर
उठती गिरती—सी रुक रुक कर
सृजन करेगी छवि गति—विधि मे।

बोलो, अन्तिम चरण मे 'छवि' शब्द किस छवि के लिए प्रयुक्त हुआ है ?

शुक्ल जो समझते थे कि विनोद उलझ जायेगे और फिर वह स्वयं ही एक पाण्डित्यपूर्ण वक्तृत्व के द्वारा 'छवि' शब्द का अर्थ निरूपण करने के लिए बाध्य होगे, परन्तु विनोद ने तत्काल उत्तर दिया -

"लहरी का गन्तव्य कूल है। वही उस प्रकृति का पुरुष है। न जाने प्रकृति को पुरुष की छवि का निर्माण करने मे कितना समय लगेगा।"

शुक्लजी ने बाबू साहब से पूछा, "क्या आप इस उत्तर को सन्तोषप्रद समझते हैं ?"

बाबू साहब ने नम्रता से उत्तर दिया, "बात तो एक ही है, परन्तु कही अनेक प्रकार से जा सकती है।"

शुक्ल जी ने पुस्तक बन्द कर दी और वह आगे कुछ न कह सके।

इसी समय श्री अम्बिकाप्रसाद गुप्त ने आवाज लगायी—

"मामा, साईस गाड़ी ले आया है।"

जिज्जा जी, गौड़ जी और उग्र जी सारनाथ का प्रोग्राम सुनकर उनके साथ चल दिये और शेष अपने-अपने घर चले गये।

काशी में गुज्जी पहलवान एक मशहूर अखाड़े के खलीफा (उस्ताद) थे। बाबू साहब को किसी समय कुश्ती का शौक था। यद्यपि गुज्जी की शागिर्दी नहीं की थी, परन्तु आदरवश जब कभी वह दुकान के बैठके में पान सुरती की तलब में आ जाता था, उसे उस्ताद कहकर आदर से बिठा लेते थे। एक दिन वह आया—दो मिनट बैठा होगा कि जरदा फांकते ही सलाम कह कर चल पड़ा। शिवपूजन सहाय जी ने पूछा, "आपकी तारीफ ?" बाबू साहब ने कहा, पुराना पहलवान है। दसियों पट्ठों को सरकारी दंगलों में लड़ा चुका है और स्वयं भी बड़े कांटे की आर पार कुश्ती लड़ता है।

गुज्जी दस कदम आगे चल कर रुक गया। वहां दो गउनहारियाँ (मंगलामुखी स्त्रियां) एक दूकान पर दूकानदार से उसके लडके की छठी की साई-पत्रकी कर रही थी। दूकानदार के अनुरोध पर सोहर गाने लगी। गुज्जी अधेड़ हो चला था परन्तु उन्हें गाते देखकर अपनी ठोड़ी पर उँगली रख कर उसी प्रकार स्वयं भी गाने लगा। उसकी यह जनानों वाली मुद्रा देखकर शिवपूजन बोले, "पहलवान और जनाने का विरोधाभास देखा, बाबू साहब ?"

बाबू साहब ने तुर्की बतुर्की जवाब दिया, "इसके पहले मैं अर्जुन और वृहन्नला के विरोधाभास के बारे में पढ़ चुका हूँ।" हम लोग इस हाजिर जबावी पर बहुत देर हँसते रहे।

मैं उन दिनों डी० ए० वी० हाई स्कूल में पढ़ता था। शाम को साहित्य विद्यालय की क्लास लगती थी, आचार्य थे कविवर भगवान दीन जी 'दीन'। श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़ भी एक क्लास लेते थे।

'दीन' जी की बड़ी बहन ने लक्षवर्तिका का अनुष्ठान किया था। ब्राह्मणों को एक रुपया, अधसेरी का गुड़दार पेड़ा और धोती दी थी। अध्यापक और छात्र भी आये थे। अन्तिम ब्राह्मण सुलफे के दम से लाल-लाल आँखें किये, माथे पर सिन्दूर और रोली की पाड़ जमाये गिरता पडता तिलक कराने को आया। तब तक धोतियों का स्टाक खत्म हो चुका था। 'दीन' जी को बहाना मिल गया। बोले, "तुम पुरोहित होकर नशा करते हो ? इसके माने हैं कि रुपये वाले हो—माल मारते हो। धोतियाँ सात्विक वृत्ति के गरीब ब्राह्मणों के लिए है। तुम्हें नहीं मिलेगी।" वह सबके साथ भोजन तो कर ही चुका था। अपने हिस्से का पेड़ा और रुपया लेकर

चला गया। उसके जाने पर 'दीन' जी ने गौड जी की तरफ देखकर आँख मारी कि देखो, मैंने धोती के अभाव को प्रकट नही होने दिया।

शाम को मैं और गौड जी दुकान पर बैठे थे। इधर-उधर की बातों के बाद गौड़ जी ने उन्हे 'दीन' जी का चुटकुला सुनाया और ताईद कराने को कहा, "दुर्गा भी मेरे साथ था।"

बाबू साहब ने सीधा सवाल मुझी से किया—

"का हो दुर्गा, लाला भगवा न दीन ?"

भगवा का अर्थ धोती का पिछला छोरे है। गौड़जी का हँसते-हँसते हाल बेहाल हो गया।

× × ×

आँसू के सम्बन्ध मे मुझे जो कुछ ज्ञात है—रचना के सामाजिक परिपार्श्व को सम्मुख रखते बताऊँगा।

'कविर्मनीषी परिभू स्वयंभू.' के अनुसार यह तो श्रद्धेय बाबू साहब—महाकवि प्रसाद ही जानते थे कि उन्होने आँसू का प्रणयन जीवन-पथ के किन निर्देशक बिम्बो के बीच में बैठकर कब, कहाँ और कैसे आरम्भ किया होगा।

'कब' इसलिए कि महाकवि का काव्य-लेखन-प्रहर बहुधा उन्हे स्वय भी अज्ञात रहता था।

'कहाँ' इसलिए कि लिखने के लिए दूकान से मकान तक ही नही, रास्ते भर की भूमि उनके लिए 'सकल भूमि गोपाल की' थी।

'कैसे' इसलिए कि महाकवि काव्य की विषय-वस्तु को ओढता नही, बिछाता था, और उस पर अत्यन्त सावधानी से चलता था। पता नही कि सर्वोत्तम काव्य देने के निखार सुधार के अधीन 'आँसू' की पहली चार पंक्तियाँ ही कितने संस्कारो के बाद अपने प्रस्तुत रूप मे अवतरित हुई होगी।

आँसू की मनोभूमि से सीधा परिचय न होने के कारण घटनाओ के सूत्रो को आपस मे जोड कर उनसे 'आँसू' जैसी एक अपूर्व काव्यकृति के वस्तु भाग की सम्पूर्ण अर्थवत्ता कल्पना क्षेत्र मे नही बाँधी जा सकती। यदि ऐसा करना वास्तविक न हुआ तो यह महाकवि के प्रति अन्याय होगा।

कवि सत्य की भाँति अपुनरादेय है। उसे एक बार ग्रहण कर चुकने पर पुनः ग्रहण करने योग्य कुछ शेष नही बच रहता। उसका प्रत्येक छन्द, प्रत्येक प्रवचन समय की शिला पर ठोकी हुई भीमकाय कील की भाँति जैसे जैसे मानवी अनुभव का दिन चढ़ता है, अपनी परछाईं से काल-ज्ञान कराती है। काल-ज्ञान कवि का अपना भोग भी होता है जो कल्पना को केवल उच्छिष्ट रूप मे ही मिल पाता है।

ऋत-भोग तो कवि के साथ गया। अब यदि हम अपने अनृत मान-दण्डों से वस्तु-भाग मे अपनी विसंगति का आरोप करे तो हम यह भूल जायेंगे कि जिसने

पहले पड़ाव में आँसू लिखा है उसी ने अगले पड़ाव में 'कामायनी' लिखी हैं। कामायनी का भाव-बीज अपने पहले जन्म में 'आँसू' की भूमि में अपने मौलिक रूप में प्रस्फुटित हो चुका है। ऐसा ही कुछ जान पड़ता है।

'आँसू' के जन्म के समय देश की राजनैतिक, समाज की बौद्धिक और परिवारों की विघटनकारी परिस्थितियाँ क्या थीं, कैसे-कैसे लोग बाबू साहब के पास उठते बैठते थे, साहित्यिकों का पारस्परिक वैमनस्य और पुरानी लीक से हटकर कुछ नया लिख सकने में समर्थ लोगों के प्रति उनका विद्वेष प्रच्छन्न होने पर भी कितना मुखर रहता था, क्या बातें होती थीं, आदि कुछ तथ्य कहने को तो कहे जा सकते हैं परन्तु वादों और प्रदर्शन से सर्वथा विमुख एकान्त-स्वाध्यायी और स्थितप्रज्ञ चिन्तक बाबू साहब के 'आँसू' से यदि फिर भी उनका कोई सीधा सम्बन्ध न जुड़ता हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं क्योंकि ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा और सत्य मौलिक हैं और वातावरण ऐसी आत्मनिर्भर कृति पर अपना प्रभाव इसीलिए आरोपित नहीं कर सका।

जब कभी कोई 'घनीभूत पीड़ा आँसुओं के रूप में आँखों से बाहर आ जाती' तो बाबू साहब ऐसा अनुभव करते जैसे किसी नये महत्वपूर्ण तथ्य का पता लग गया हो। वह उस समय बौद्धिक धरातल को छोड़कर वहां पहुंच चुके होते थे जहां उन आँसुओं में शब्द होते थे, छन्द होते थे और काव्य होता था। उस समय वह परमानन्द की स्थिति में होते थे। 'आंसू का निकलना उन्हें दुर्दिन-सा दिखाई देता था और फिर उस दुर्दिन को सुदिन बनाना उनके लिए अनिवार्य हो जाता था। इसीलिए कुछ लिखकर उस दिन को सुदिन बना लिया करते थे। यदि ऐसा न होता तो वह सदैव बना रहने वाला मन्दस्मित, कभी उन्मुक्त हास और कभी आँखों में आँसू ला देने तक बनी रहने वाली हँसी का क्रम कैसे सम्भव हो सकता था?

जहां तक आनन्द की सीमा है, उसमें वे पार्थिव शिवत्व पा चुके थे। अंग्रेज सरकार का दमनचक्र चल रहा था। 'उग्र' या 'धूमकेतु' उपनामों से पाण्डेय बेचन शर्मा बनारसी भाषा और लय में लोक-गीत लिखकर छपवाते थे और उसके परचे एक आना प्रति परचे की दर से हाथोहाथ बिक जाते थे यद्यपि उन दिनों एक आने का बड़ा मूल्य होता था। वह परचे कुछ सुरीले गले से गा सकने वाले लड़कों द्वारा गाकर बेच जाते थे। बाबू साहब की दुकाम के पास खड़े होकर एक लड़के ने गाना आरम्भ किया—

"थारो अंगरेज रजवा कटारी मारे ना।
देके जन धनवा हरउली जरमनवा,
सो बिसारे सारे ना।"

इस 'सारे' पर बाबू साहब बहुत देर तक हँसते रहे। मैं, व्यास जी (विनोदशंकर व्यास) और गौड़ जी (कृष्णदेवप्रसाद जी) उन्हें अपना अग्रज मानते रहे।

हमारे लिए उनका व्यक्तित्व एक महान आदर्श के रूप में था। हँसी में हम लोग भी उनके साथ रहे, परन्तु यह बाद को समझ में आया कि बनारसी भाषा में 'सारे' का अर्थ 'साले' होता है। लड़के के सब परचे हाथों-हाथ बिक गये। एक परचा हमने भी लिया। पैसे व्यास जी ने दिये और उन्होंने उसे बाबू साहब के सुपुर्द कर दिया। पीछे से एक पुलिसवाले ने लड़के पर कई डंडे बरसाये और जब वह 'हाय' कह कर गिरा तो वह उसे धक्का देता हुआ चौक थाने की ओर ले चला। पुलिस वाले को देखकर बाबू साहब ने परचा गद्दी के नीचे सरका दिया था, परन्तु वह उस समय कुछ व्यथित जान पड़े। उन्हें यह आघात बहुत समीप से लगा था। हमने देखा कि उनकी आँखों में आँसू थे।

प्रसंगवश बताता हूँ कि उस समय मै पन्द्रह, व्यास जी अठारह और गौड़जी तेईस-चौबीस साल के थे। गौड़जी डी०ए०वी० हाईस्कूल में अध्यापक थे। मैं सातवें मे पढ़ता था और वह मेरे क्लास टीचर थे। व्यास जी मेरे सहपाठी और मित्र थे और बाबू साहब हम तीनों के पूज्य थे। कभी काशी विश्वविद्यालय, नगवा से शिवदास गुप्त 'कुसुम' आ जाते, कभी शिवपूजन या रामचन्द्र शुक्ल आ जाते और फिर जम कर साहित्य चर्चा होती। बोलने का काम अधिकतर और लोगों को ही करना पड़ता था। बाबू साहब बहुत कम बोलते थे, परन्तु जो कहते वह कोई मुग्धकारी बात ही होती थी।

उस दिन भी मैं, व्यास जी और मास्टर साहब (गौड़जी) ही दूकान पर बैठे थे कि एक लड़का गाता हुआ परचा बेचने आया। हमने उसे देखते ही स्वयं दूकान से उतर कर एक परचा मोल ले लिया था। परचे मे किसी टोड़ी रायसाहब और किसी खानबहादुर की खबर ली गयी थी जो कांग्रेसियों पर और अधिक दमन करने के लिये पुलिस को विवश कर रहे थे और चारों ओर मारपीट और गिरफ्तारियों का समाचार मिलता था। (टोड़ी से अभिप्राय राय टोडरमल से है। सं०)

हमने वह परचा बाबू साहब की गद्दी के नीचे छिपा दिया था। लड़का सुरीले गले से गा रहा था और उसके परचे हाथों हाथ बिक ही रहे थे कि उसका भी पिछले दिन वाले लड़के जैसा ही हाल हुआ और पुलिस उसे पकड़ कर ले गयी। बाबू साहब उस समय तक उस लडके की पीठ पर टकटकी लगाये रहे जब तक वह नरियल बाजार का मोड़ घूम कर अदृश्य नहीं हो गया।

परन्तु वाह रे उसका जीवट कि उस पर जितनी मार पड़ती उतना ही तार स्वर से वह परचे मे छपे गीत की खा साहब और 'रायबहादुर' वाली कड़ी को गाता हुआ थाने की ओर घसिट रहा था। वह गा रहा था,

'अंगरेजी रंगरेजवन के दल बादल आयल बाटैं।
रंगने को धरा रुधिर से बदरा गदरायल बाटैं।

दुकड़हे रायसाहब के पद पर इतरायल बाटैं।
बनै गइलैं खानबहादुर तब्बै तउआयल बाटैं।"

आज बाबू साहब की आंखों में फिर वैसे ही आँसू दिखाई दिये।

अगले दिन हम घर पर बाबू साहब से मिले तो उन्हें कुछ लिखते पाया। उन्होंने हमें देखते ही लिखना बन्द करके रख दिया और नौकर को पान लाने को पुकारा। फिर जरदा लाने स्वयं अंदर गये और उन्होंने इधर-उधर की बातें छेड़ दीं। हमें आशा थी कि आज जो कुछ लिखा है वह हमें भी सुनने को मिलेगा परन्तु वह स्वयं भी भूल चुके थे कि हमारे पहुँचने के पूर्व वह एकान्त में बैठे क्या लिख रहे थे।

परन्तु बाबू साहब ने हमारी कुछ सुनने की उत्सुकता भांप ली थी। उन्होंने उस दिन वाले लड़के के जीवट की तारीफ में दो चार शब्द कहे और उसके गाये लोक गीत की एक कड़ी गुनगुनाना आरम्भ किया,

'अंगरेजी रंगरेजवन के दल बादल आयल बाटै।' ऐसा जान पड़ा जैसे उन्हें यह कड़ी पसन्द आयी हो।

यह बहुत दिन पीछे की बात है कि उन्होंने मुझे और 'कुसुम' को आंसू के पहले तीन छन्द सुनाये। छन्द गाकर सुनाये थे और उन्हें सुनकर मुझे 'दल-बादल आयलबाटै' वाला लोकगीत याद आ गया।

परन्तु निश्चयपूर्वक कुछ नही कहा जा सकता। पता नही कि पहले 'आँसू' का पहला छन्द लिखा गया था, या पहले उस लड़के के मुंह से वह छन्द सुना गया था। हो सकता है यह संयोग मात्र रहा हो कि जिस छन्द में वह आंसू के प्रथम छन्द की रचना कर चुके थे, उसी को उस लड़के के मुंह से सुनकर उन्हें अच्छा लगा हो और इसीलिए उस दिन उसे घर पर हमारे सामने गुनगुनाया हो।

'आंसू' के पहले तीन छन्दों से हम लोग यह न समझ सके कि वह किसी स्फुट कविता के छन्द थे, या किसी ऐसे काव्य के छन्द थे जो लिखा जा चुकने पर किसी दिन हिन्दी कविता का गौरव ग्रन्थ माना जायगा—और, अन्य साथियों को खो देने के बहुत बाद एक दिन उसी की पृष्ठ भूमि के रूप में लिखने को मुझसे कहा जायगा, और मैं लिखूंगा।

मैंने अपने जीवन में बाबू साहब जैसा वीतराग कवि नहीं देखा। उनका हम लोगों के प्रति अगाध स्नेह था, घुल मिल कर बातें करते थे परन्तु अपनी कविता सुनाते समय वह कोई गौरव अनुभव नही करते। उन्होंने सदैव ऐसा अनुभव किया जैसे किसी का लिखाया हुआ सुना रहे हों। वह उसे बड़ी विनम्रता के साथ केवल एक बार सुना कर रख दिया करते थे और शीघ्र ही उसके अभिभाव से मुक्त होकर

कोई दूसरी बात छेड़ देते थे जिससे उस कविता के विषय में औरों से भी कुछ न सुन सकें। उन्होंने अपने लिखे पर न कभी कोई प्रवचन दिया और न कभी उसकी कोई रूपरेखा समझाने की आवश्यकता समझी मानो वह उनके लिए भी अनधिकारपूर्ण रहा हो। वह अपने लिखे को समझाना इस प्रकार टाल जाते थे जैसे वह उनके अपने मान-सम्भ्रम के विरुद्ध ही नही सुनने वालों के मान सम्भ्रम के विरुद्ध भी रहा हो। अपने लेखन के विषय में वे अत्यन्त मितभाषी थे। किसी को छोटा या नीचा नही समझते थे। नौसिखिये कवियों की कृतियों को अपने बाल्यकाल की कृतियों की भाँति ही आदर से सुनते और उसे सुनते-सुनते लिखने वाले से तादात्म्य स्थापित कर लेते थे। वाद-विवाद उनकी दृष्टि में अपना समय और सत्व स्वयं नष्ट करने के समान एक निरर्थक अहंकार था।

मैं उनकी इस निःसंग प्रकृति का अध्ययन कर रहा था। इसलिए 'आँसू' के तीन छन्दो के विषय मे कुछ पूछने की मेरी हिम्मत तो नही हुई परन्तु 'क्यों हाहाकार स्वरों मे वेदना असीम गरजती' और 'कुछ विस्मृत बीती बातें' सुनकर 'कुसुम' से नही रहा गया। उन्होने 'काव्य की पृष्ठभूमि क्या है' या 'आगे क्या लिखना है' इस प्रकार की कोई जिज्ञासा की जो अब शब्दशः तो क्या, भावशः भी याद नही है।

बाबू साहब ने गहन दार्शनिक स्मित के साथ सुना और 'ऊपर वाला जाने', केवल यह तीन शब्द कह कर चुप हो गये।

ऐसी स्थिति मे केवल कल्पना क्या काम दे सकती है। वास्तव मे बाबू साहब अपने ही रूप पर आप ही इतने मुग्ध थे कि यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि उन्हें कभी किसी रूपवती से आसक्ति और उसके वियोग से कभी कोई पीड़ा हो भी सकती थी या नही। बाह्य आसक्ति उनके काव्य की विषय-वस्तु बन भी सकती थी या नही, इसमे सन्देह है। वे अत्यन्त पवित्र और आत्मस्थ विचारो के स्वामी थे। दासता तो वे कदाचित् अपने प्राणों की भी स्वीकार नही कर सकते थे।

उपरोक्त घटना से कई महीने पहले दूकान पर पहुँचने पर मैंने और व्यास जी ने श्रीरामचन्द्र शुक्ल को बाबू साहब के पास बैठा पाया। हमें देखकर बाबू साहब ने जो हार्दिक प्रसन्नता प्रकट की वह शुक्ल जी को अस्वाभाविक जान पड़ी, क्योंकि उनकी दृष्टि मे हम दोनों गदाई थे। व्यास जी पर हाथ रखते हुए बोले, "गुरूजनों की सेवा से मेवा पाते हो। भाग्यवान हो।"

अत्यन्त संयम से काम लेते हुए भी बाबू साहब उनकी बात न पचा सके और उन्होंने बड़े सरल स्वभाव से कहा, "साधकों मे छोटा बड़ा क्या ? सब ही तो समान अधिकारी है।"

इसके बाद शुक्ल जी के प्रवचन का बांध खुल गया। बोले, "जान पड़ता है, कवि बनने के लिए मुझे एक जन्म और लेना पड़ेगा।" व्यासजी गहरी बूटी छान कर आये थे। वह अनजाने में ही कह बैठे, "एक जन्म क्या ? अनेक जन्म लीजिए।" फिर क्या था। शुक्ल जी ने उन्हें आड़े हाथों लिया और बोले, "क्या छोटे मुंह बड़ी बातें करते हो ? अनेक जन्म तो तुम जैसों के लिए है।" व्यास जी हँस पड़े और बोले, "आप तो जीवन्मुक्त है, पण्डित जी।" यह सुनकर बाबू साहब भी मुस-काने लगे और हिन्दी के परशुराम शुक्लजी का विस्फोट कुछ समय के लिए पान और जरदे के सहारे टल गया।

आचार्य शुक्ल का यह एक और मनोरंजक व्यक्तित्व था जो उनकी प्रकाण्ड विद्वता के दबाये भी नहीं दबता था। वह संस्कृतनिष्ठ हिन्दी में एक-एक बात इस प्रकार तौल-तौलकर कहते मानो आर्ष सूक्तियां सुना रहे हों। बोले—

"कविता तो कथ्य का केवल एक अंग है। कथ्य का सर्वांग विवेचन करने के लिए ही निबन्ध विधा का जन्म हुआ है। कविता क्या है ! कल्पना और वास्त-विकता की श्याम-श्वेत छाया वाली एक छविमात्र है। निबन्ध का चित्रफलक अपेक्षा-कृत बृहत्तर है। उसमें कथ्य का सत्य और सर्वांग चित्रण होता है, और तभी वह निबन्ध कहाता है।"

सम्भव है 'आंसू' पर निबन्धात्मक शैली मे लिखते समय उन्हें मिलन और वियोग की यथास्थिति दिखाने के लिए उसके उपयुक्त काल्पनिक कथाभूमि का सहारा लेना पड़ा हो, क्योंकि जिस समय मैंने उन्हें देखा था, वे पूर्ण युवा थे, परन्तु संयम की इतनी प्रौढ़ मात्रा उनकी साधना की लम्बी यात्रा के बाद ही सम्भव हो सकती थी। हो सकता है कि योगिराज कृष्ण की भांति किशोर अवस्था में ऐसी कोई वास्त-विकता घटित हुई हो, परन्तु उसकी व्यथा इतनी तीव्रता से जैसे आज घटित हुई हो, इतना लम्बा समय बीतने पर कैसे सम्भव हुई होगी।

परन्तु यह सब कल्पना की बातें हैं। इनका निश्चित आधार कोई नहीं हैं। वैसे हिन्दी काव्य में निबन्ध-विधा का प्रयोग उन दिनों हम लोगों के विचार विनि-मय का विषय बना हुआ था।

'आंसू' काव्य के आरम्भ में आंसू की उत्पत्ति दिखाते समय, मानसलोक की उथल-पुथल का ऐसे प्रतिमानों से वर्णन किया गया है, जैसे आंसू की उत्पत्ति नहीं, एक सृष्टि की उत्पत्ति हो रही हो। स्मृति के प्रलय मेघों की भांति घनीभूत पीड़ा का छा जाना और बरस कर मानव जीवन का एक दुर्दिन उपस्थित कर देना आंसू के जन्मकाल का वातावरण है। करुणा कलित हृदय में एक ऐसी रागिनी बज उठती है जिसमें सृष्टि की सम्पूर्ण विकलता असीम वेदना का हाहाकार लेकर प्रलय-मेघों की भांति गरजने लगती है। आंसू की एक बूंद भी सृष्टि रचनाकाल के जल-

प्लावन को चुनौती दे सकने योग्य बन जाती है। मानस-सागर के तट पर आँसुओं के कुछ बुदबुद 'एकोऽहंबहुस्याम' जैसी मुद्रा में कलकल ध्वनि से विस्मृत बीती बातों की मंत्रणा करते सुनाई देते हैं। मंत्रणा के ये स्वर भी इतने धीमे हैं कि बुद्‌बुदों का उन्मीलन-निमीलन कोई प्रतिध्वनि उत्पन्न नही कर पाता।' कवि की प्रतिध्वनि शून्य क्षितिज से टकराकर लौट आती है—यह प्रलय के बाद उस नयी सृष्टि के उदय का चित्र है जिसमे क्षितिज के स्थान पर अभी तक केवल शून्य है। इसीलिए कवि की प्रतिध्वनि क्षितिज को लांघकर पार जाने के स्थान पर फिर अन्तस्तल में ही लौट आती है। उसका लौटना इतना कारुणिक है कि इधर वह बिलख-बिलख कर टकरा-टकराकर फेरी लगाती रहती है और उधर आँसुओं की सृष्टि का क्रम चलता रहता है।

इस प्रकार ऊपर के चार छन्दो मे किये गये आँसू की उत्पत्ति के वर्णन को निबन्धात्मक आरम्भ भी कहा जा सकता है और पिण्डगत सृष्टि के तत्वों का ब्रह्माण्डगत सृष्टि की शब्दावली मे लाक्षणिक काव्यात्मक प्रस्तुतीकरण भी कहा जा सकता है।

परन्तु फिर वही बात आ जाती है कि निश्चित रूप से दोनो तथ्यो से किसी को न अस्वीकार किया जा सकता है और न कहकर निर्धारण कर सकने का अभिमान ही किया जा सकता है।

ब्रह्माण्डगत सृष्टि मानस-सृष्टि का प्रारूप है इसलिए दोनो मे सागोपाग समानता भी प्राकृतिक है। कवि अपने आपको विराट् सृष्टि का (जिसमे प्रमुख स्वर चेतना का होता है) सर्वाधिक महत्वपूर्ण और अभिन्न अंग मानता है। कहीं-कही तो उसे वह भी अपनी मानस-सृष्टि के सामान्य में न्यून दिखाई देती है। वह जानता है कि व्यष्टि के योग से ही समष्टि बनती है, और फिर उस समष्टि का निरूपण भी व्यष्टि द्वारा ही किया जा सकता है। इसी प्रकार सृष्टि के रहस्यों का उत्तरोत्तर पटोत्तोलन भी व्यष्टि द्वारा ही किया जाता है और उस व्यष्टि को शब्द सामर्थ्य देना प्रकृति का काम नही प्रत्युत स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकृतियों को अत्मसात् कर लेनेवाले कवि का काम है।

अगले छन्द मे मानवी चेतना के फलस्वरूप अस्तित्व पानेवाली बाह्य प्रकृति किसी मूल प्रकृति की प्रतिछाया जैसी दिखाई देनी है। आकाश मे व्योमगंगा के तारे इस प्रकार छिटके हुए है कि उसके दोनों छोर मेरी चेतना तरंगिणी की मृदुल हिलोरों के समान दिखाई देते है। आकाश-गंगा मे जल का आरोप है, जैसे तारे भी नन्हे प्रकाश विन्दुओं के रूप मे मानस-लोक के व्यथाजन्य आँसुओं के रूपान्तर मात्र हैं। यही कारण है कि सृष्टि की उषा और सन्ध्या कवि से उसके दुखसुख मांग कर अपना शृंगार किया करती है।

वह आँसू का निमित्त (कारण) दुख केवल रात के एकान्त तक ही ठहर सकता है। वह उषा की पलकों में उलझ कर उसके साथ चला जायगा। दिनोदय होते ही जीवन के समधिक महत्वपूर्ण कर्म-काल में जीवन फिर एक बार सुखवान बनेगा। परन्तु वह सुख भी सन्ध्या की अलकों में उलझ कर उसके साथ ही चला जायगा, क्योंकि रात का प्रलयंकर एकान्त फिर आने को है।

महाकवि दुख की निरर्थकता से परिचित हैं इसलिए उसकी ज्वाला उस शीतल ज्वाला के समान है जिसको प्रज्वलित करने में प्रयुक्त होने वाला ईंधन भी शीतलता पहुंचाने वाला आँसू का जल ही है। दुख में चलने वाले सांस में भी वही प्राण की अग्नि है जो सुख में रहती है परन्तु दुख की सेवा में रहने तक वह संसार के लिए व्यर्थ रहता है और ऐसा व्यर्थ साँस केवल उस अनिल की भूमिका ही निभा पाता है जो कवि को ज्वाला में भी शीतलता का अनुभव कराता है। सुख को आघात पहुँचा नहीं कि उमंगे शान्त हो जाती हैं। उमंगों के अक्रिय रहने तक सांस को परवश ढोते रहना बेगार बन जाता है। हृदय चेतना के रहते समाधिस्थ होकर बैठ जाता है और कवि की करुणा उसकी यह दुर्दशा देखकर अन्तर के एक कोने में बैठी आँसू बहाती रहती है।

इस सथान स अब इसी हृदय में स्मृतियों की एक ऐसी बस्ती बस गयी है जिसमें स्मृतियाँ नक्षत्र लोक के असंख्य तारों की भाँति टिमटिमा रही हैं। हृदय के तमसाच्छन्न नील निलय को स्मृतियों के नक्षत्र ही थोड़ा बहुत प्रकाश दे रहे हैं।

स्मृतियों के आधारों के संयोग का महाकवि ने महामिलन से अभिहित किया है। इन आधारों का तो तिरोधान हो गया परन्तु उनके किसी समय के अस्तित्व के ज्ञापक शेष चिह्नों के समान केवल आँसू ही रह गये हैं। जिस समय उन आधारों से बिछोह हुआ तो दुख की ज्वालामयी जलन का अनुभव हुआ था परन्तु उस जलन में जैसे-जैसे शीतलता आती रही, स्फुलिंगों का विस्फोट होता रहा और उनमें से प्रत्येक स्फुलिंग आकाश के शीतलता प्रदान करने वाले प्रकाश-पिण्डों में परिणत हो गया।

चातक भी चकित होकर किसी को देख और पुकार रहा है। श्यामा भी किसी इष्ट को रिझाने के लिए सरल रसीले गीत गा रही है। इनकी आन्तरिक प्रेरणा को समझ-समझ कर इन पर करुणा उमड़ पड़ती है और वह आँसू बनकर आँखों को गीला कर जाती है।

जो लोग अपने सुख से बेसुध हैं और अपनी व्यथाओं को सुलाने में लगे हैं उन्हें इतना अवकाश ही नहीं है कि सृष्टि के वियोगियों की ओर से बोलने वाले महाकवि द्वारा सुनाई गयी करुण कथाएं सुन सकें। जिनकी कोई भी सन्ध्या माणिक के रंग की अंगूरी मदिरा के सेवन से वंचित नहीं है वह दिन भर के कर्म-काल में नाना प्रकार के दुख भोगने वालों की व्यथाएँ क्यों सुनने लगे।

जब तक दिन रहता है उसके कर्म-प्रकाश में हृदय-कमल खिले रहते है क्योंकि दिन भर कोई न कोई स्नेही घेरे रहता है और उन कमलों को संकुचित होने से रोके रखता है, परन्तु सन्ध्या समय जब कमल मुंदने लगते हैं तो भौरों की भांति मंडराने वाले स्नेहियों की आंख बचा कर यह कमल अपने आपको रात के घिरते हुए अन्धकार में बन्द कर लेते हैं। ›प्राणी कभी उस धुंधली सन्ध्या के दुख से रो उठता है तो कभी पुनः दिनोदय की प्रतीक्षा के अतिशय् सुख से रो उठता है। यही क्रम चलता रहता है।

स्मृतियों से पूर्ण हृदय असीम अछोर आकाश में बदल जाता है जिसमें कभी दुखों के झंझा का झकोर और गर्जन सुनायी देता है, कभी स्मृतियों की बिजली कौंधने लगती है और कभी आंसुओं की जन्मदात्री वेदना नीरद-माला की भांति घिर आती है। ऐसी प्रलयंकरी वर्षा मे ही आंसू का जन्म होता है।

अभिलाषाएँ करवट लेने लगती हैं, परन्तु जब उनके करवट बदलने की आहट से सुप्त व्यथाएं जाग पड़ती है तो उनके दुख को देखकर सुख सपना वन जाता है और आंसू बहाते-बहाते पलक लग जाते है। फिर न जाने नीद स्वयं कब आ जाती है।

इस सन्दर्भ मे एक बात याद आ गयी।

भय्या विनोदशंकर व्यास के निधन से वर्ष भर पूर्व मुझे लगभग दो सप्ताह तक उनके डेउरिया दीर वाले निवास में रहने का संयोग हुआ।

एक दिन मौज मे थे। सन्ध्या का समय था बाबू साहब के भव्य चित्र का धूप-दीप-माल्य-दान करके निबटे तो तवे का हुक्का भरकर मुझे अपने पास बिठा लिया।

फिर न जाने उन्हें एकाएक कौन-सी स्मृति आयी कि 'आंसू की पंक्तिया, 'बस गयी एक बसती है' गुनगुनाने लगे। थोड़ी देर हुक्का पी चुकने के बाद सहसा पूछ बैठे,

"तुम्हें आंसू और कामायनी के बीच का सूक्ष्म सूत्र दिखाई देता है?

मैंने कहा, ऐसा लगता है जैसे आंसू आरम्भ है और 'कामायनी' समापन है। आरम्भ में संयोग, वियोग है, व्यथा है, वेदना है और आंसू है, परन्तु 'कामायनी' इस सृष्टि की प्रलय के पीछे आनेवाली वह आधिभौतिक नई सृष्टि है जिसमें मनु, श्रद्धा और इड़ा जन्म लेते हैं।"

वह मेरी बात काटते हुए बोले, "आरम्भ और समापन के बीच में तो बड़ा अन्तर होता है। इतना बड़ा अन्तर 'आंसू' और 'कामायनी' मे नही है। आंसू भौतिक प्रलय है जिसमें सुख-दुख और जीवन तीनों का तिरोधान हो जाता है और 'कामायनी' में एक वास्तविक सृष्टि रचने के लिए मनु का जन्म होता है। 'आंसू'

आंसू पर लिखा हुआ एक सर्वांग सम्पन्न निबन्ध जैसा लगता तो है परन्तु गुरु की बात गुरु ही जानें ।"

मैंने कहा, "यदि आंसू को जीवन के किसी एक पक्ष पर लिखा हुआ निबन्ध कहा जा सकता है तो 'कामायनी' उनके जीवन के समस्त निबन्धों का सामवायिक शोध-प्रबन्ध कही जा सकती है।"

बोले, "यहां दो महीने रहो, तब इन सम्भावनाओं पर जम कर विचार कर लिखा जाय।"

शिवरात्रि के दिन बाबू साहब का अधिकतर समय शिवार्चन में ही व्यतीत होता था। सहस्र शिव-स्तोत्र-पाठ से कम क्या करते होंगे। दरियों पर चांदनियां बिछा दी जाती थीं और सब दिशाओं कोणों पर गाव तकिये लगा दिये जाते थे।

उस दिन मैं बाबू साहब के पाठ के समापन काल के अनुमान से लगभग बारह बजे पहुंचा। वहां देखा कि मास्टर साहब (गौड़ जी) और 'उग्र' पहले से बैठे थे। पता चला कि वहां साढ़े दस बजे ही आ पहुंचे थे। पान कचरते और कहकहे लगाते जा रहे थे! दस पांच मिनट पीछे ही मुच्छन (शान्तिप्रिय द्विवेदी), शुक्ल जी (रामचन्द्र शुक्ल) को साथ लेकर पधारे। शुक्ल जी बहुत कम आया जाया करते थे, इसलिए आज शिवरात्रि के दिन उन्हें आया देखकर सबको थोड़ा आश्चर्य हुआ। शुक्ल जी का स्वागत देखकर मुच्छन ने उनके आने का श्रेय अपने ऊपर ओढ़ लेना चाहा, परन्तु शुक्ल जी पर अपने आत्मिक प्रभाव की डींग मारते-मारते डर कर रुक गये क्योंकि 'उग्र' की दृष्टि उनके स्वभाव के विरुद्ध कुछ गम्भीर दिखाई दी। 'कुसुम' और विनोद भी थोड़ी देर पीछे ही आ पहुंचे। तब तक मास्टर साहब और 'उग्र' अपने कहकहे न जाने कैसे रोके हुए थे। नितान्त औपचारिक से ढंग में कभी शुक्ल जी और कभी मुच्छन की हां में हां मिलाये जा रहे थे। विनोद उग्र के हमप्याला हमनिवाला थे। उन्हें देखकर 'उग्र' के कहकहों का बांध खुल गया और उनका साथ देने के लिए मास्टर साहब थे ही।

डेढ़ बजे बाबू साहब पीताम्बर लपेटे, नंगे कन्धों के नीचे रेशमी वेष्ठन लपेटे हुए हम लोगों में आकर बैठ गये।

नौकर गंगासागर में भरकर भांग ले आया। 'उग्र' अपना पुरवा (कुल्हड़) थाम कर हनुमान आसन से तन कर बैठ गये और पांच पुरवे भांग चढ़ा चुकने के बाद बोले "इतनी स्वादिष्ट बूटी जितनी पी जाय उतनी ही कम है।" विनोद ने उन्हें छठा पुरवा भरवाने से पहले रोक दिया। शुक्ल जी के अतिरिक्त सभी ने छक कर पी। शुक्ल जी बोले, "जान पड़ता है कि इलायची की मात्रा भरपूर है और केसर, बरास तो यहां महक रहे हैं।

उनके आत्मीय होने का दावा करने वाले मुच्छन बोले, "शिवरात्रि के प्रसाद में आचमन तो लेंगे ही।"

बूटी इतनी स्वादिष्ट थी कि शुक्ल जी दो बार आचमन कर गये।

विनोद द्वारा रोक दिये जाने का 'उग्र' पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा। वह रंग पर आ गये। उन्हें रंग पर आया हुआ देखने का प्रभाव औरो पर भी हुआ और सभी मस्त थे। बाबू साहब बूटी पीते कम थे परन्तु बढावा देकर औरो को अधिक पिला देने के शौकीन थे। इसलिए वह हम सबमे अकेले संयत थे और सबकी बातों में समान रस ले रहे थे।

पहले 'उग्र' ही बोले,

"रंग जमला जहा सरोतर चक।
ऊ गुरुन कऽ बनारसी बैठक।"

शुक्ल जी ने पूछ ही लिया, "सरोतर चक मे सरोतर की क्या व्यंजना है? वह सर्वत्र का रूपान्तर है क्या?"

मास्टर साहब ने एक आचार्य की मुद्रा से व्याख्या करते हुए कहा, 'सरोतर' बनारसी मुहावरा है। यह 'सर्वत्र चक' के अर्थ मे नही, "सब ओर से चक या चकाचक के अर्थ में प्रयुक्त होता है।"

शुक्लजी बोले, "बनारसी बैठक मे आज बनारसी काव्य सुना जाय। हा, उग्र जी और कुछ सुनाइए।"

फिर क्या था, उग्र के बनारसी काव्य-ज्ञान का पिटारा खुल गया। उन्होंने अत्यन्त भावुक स्वर मे गाना आरम्भ किया,

"मुह चूम लेईला केहू सुन्दर जे पाई ला।
हम ऊ हई जे ओठे पर तरुआर खाई ला।
पूछली कि काहे आखी मे सुरमा लगाव लऽ।
कहलै कि राजा छूरी के पत्थर चटाईला।" (तेग अलीकृत। सं०)

अपनी ओर सम्बोधन करते हुए उनका यह गीत सुनाना शुक्ल जी को अभद्र लगा। 'उग्र' ने बूटी के तार मे कुछ कर्ण कटु स्वर मे ही यह गीत सुनाया था, परन्तु शुक्लजी ने उनके सुरीले न होने के विरुद्ध कोई बात न कही। सुनते थे कि कभी मनमोहन पुस्तकालय मे उग्र का 'मधुकर अब न होंहि वेहि बेली' सुनकर उन्होंने असुर (अ-सुर) शब्द से उन पर छीटा फेका था, और प्रत्युत्पन्नमति 'उग्र' ने उन्हें ससुर (स-सुर) बताते हुए उनके आक्षेपों को कई वर्षों के लिए ठण्ढा कर दिया था।

उन्होंने 'छूरी के पत्थर चटाईला' की शंसा मे कुछ शब्द कहे। यह शब्द उनके द्वारा विषय परिवर्तन कराने की भूमिका-मात्र जान पड़े क्योंकि उन्होंने तत्काल ही

बनारसी काव्य का तार तोड़ते हुए 'कुसुम' से कहा "कुसुम जी, अब आप कुछ सुनाइये। आज आपका कोई गीत सुना जाय।"

मास्टर साहब ने चुटकी ली, "परन्तु गीत आपका ही हो। मेरा मतलब है, किसी और का लिखा हुआ न हो।"

शुक्लजी कुछ कहना चाहते थे कि 'कुसुम' ने गीत आरम्भ कर दिया,

"माँग बैठा हूँ तुम्हें हर माँग से थक के।
आज फैले न रह जायें हाथ याचक के।"

शुक्लजी ने तत्काल टोक दिया, "'हर' शब्द तो उर्दू का शब्द है।" विनोद बोले, "बेटा कुसुम, शुक्लजी के कहने पर इसे प्रति मांग से थक के कर दो।"

मास्टर साहब बोले, "क्यों कर दो ? हरदम, हरसुख, हरदुख कहाँ-कहाँ हर हटा कर बोला जाता है ? हाँ, कुसुम, आगे सुनाओ।"

शुक्लजी के टोक देने से कुसुम के उत्साह मे अवरोध उत्पन्न हो चुका था। फिर उन्होंने अन्त तक नही सुनाया। बाबू साहब ही कहते तो सुना सकते थे। वातावरण की दृष्टि से उन्होंने 'कुसुम' से कोई अनुरोध नही किया।

मास्टर साहब बोले, "यह नही सुनाते तो लीजिए, मै सुनाता हूँ।

"खाक भी जिस जिमी की पारस है,
शहर मशहूर वह बनारस है।"

शुक्ल जी एक 'हर' को सहन नही कर सके थे, इसलिए मास्टर साहब ने 'खाक, जिमी, 'शहर' और 'मशहूर' चार-चार उर्दू के शब्द लाद दिये, परन्तु उनके पास मुसकरा देने के अतिरिक्त और कोई चारा न था।

उन दिनों विनोद और मुच्छन दोनों कविताएँ लिखते थे। उन्होंने क्या सुनाया, यह तो याद नहीं रहा परन्तु इतना अवश्य याद है कि मुच्छन की "स्मृतियों की रेल रहे चलती, यात्रा की साध रहे पलती" की 'रेल' पर अंग्रेजी का आरोप लगाकर शुक्ल जी ने कुछ कहा था जो विनोद, उग्र और मास्टर साहब के समवेत अट्टहास में डूब गया। कुछ देर से तीनों की आँखो आँखों में बातें हो रही थी, परन्तु उन बातों का अध्याहार हुआ तो अट्टहास से। मुच्छन तो सहम ही गये थे परन्तु शुक्ल जी भी इस हँसी से कुछ सहमे हुए दिखाई दिये।

विनोद मुझे कोहनिया कोहनिया कर कुछ सुनाने को कह ही रहे थे कि शुक्ल जी ने वातावरण में गम्भीरता लाने के लिए बाबू साहब से कुछ सुनाने की प्रार्थना की।

बाबू साहब ने बिना किसी भूमिका के 'आँसू' के कुछ सद्योरचित छन्द इस प्रकार सुनाये,

"इस हृदय कमल का घिरना
अलि अलकों की उलझन मे।

आँसू मरन्द का गिरना,
मिलना निःश्वास पवन मे।"

इसके बाद उन्होंने 'करुणा कटाक्ष की कोरें' तक पाँच छन्द और सुनाये। गाकर बनारसी धुन मे ही सुनाये थे इसलिए इन छः छन्दो मे पर्याप्त समय लग गया क्योंकि शुक्ल जी ने कुछ मुग्धता और कुछ शिष्टाचारवश प्रत्येक छन्द की दो-दो बार आवृत्तियाँ कराई थी।

आरती का समय हो गया था। सब लोग उठ खड़े हुए। आरती हो जाने पर फलाहार की व्यवस्था थी, और फिर सब ने वह जम कर खाया कि बूटी का तेज और निखर गया। खा चुकने पर शुक्ल जी और मुच्छन चले गये और नौ बजे रात तक शेष व्यक्तियो के कविता-पाठ ने अंतरंग गोष्ठी का रूप बनाये रखा।

बाबू साहब ने फिर 'आँसू के अगले चार छन्द सुनाये और मधुरेण समापयेन' जैसे उनके मधुर काव्य-पाठ से बनारसी बैठक का समापन हुआ। सब लोग अपने-अपने घर जाने को उठ खड़े हुए।

एक दिन विनोद से पता चला कि कल सायंकाल के समय बाबू साहब दुकान पर नही आये थे। नौकर कहता था कि जी ठीक नही है। 'निराला' जी ने उन दिनो विनोद की मानमन्दिर वाली कोठी के बड़े कमरे मे लगभग डेढ़ महीने से धरना दे रखा था। विनोद के साथ भाग भी छानते थे और बोतल भी खोल लेते थे। विनोद उनसे आये दिन किच-किच करते रहते थे क्योंकि विनोद शाकाहारी थे और 'निराला' आमिष भोजी। उनसे मासाहार के बिना नही रहा जाता था और स्वयंपाकी भी ऐसे थे कि दूसरे के हाथ के पकाये हुए मास को रोग के कीटाणुओं से युक्त समझते थे। इसलिए विनोद को चिढाने के लिए कमरा बन्द करके उन्ही के घर पर पकाते थे।

निराला भोजन करके उठे ही थे कि विनोद ने कमरे मे प्रवेश किया। मैं उनके साथ था। कुछ देर बातचीत हुई और हम तीनो बाबू साहब को देखने के लिए चल पड़े जान पडता था कि निराला भोजन के साथ दारू का सेवन भी भरपूर कर चुके थे। रास्ते भर चलते लोगो पर गिरते पडते एक्के तक पहुँचे। विनोद बोले, "देखो, सूर्यकान्त, बाबू साहब के सामने ई सब लफड़ापना न करना। वह हमारे पूज्य हैं, गुरू हैं।" निराला बोले, "अब हम ठीक है। हमारी चिन्ता न करो। तुम्हारे पूज्य हैं, तो पहले हमारे पूज्य है।"

वास्तव में निराला ने अपने वचन का पालन किया। हम लोग आधे घंटे से ऊपर बाबू साहब की प्रतीक्षा करते रहे। इस बीच में निराला पूर्ण स्वस्थ हो चुके थे। बाबू साहब पास के कमरे मे जरदे के घान की निजी देखरेख मे व्यस्त थे। व्याव-

सायिक मर्म होने के कारण सुगन्धित द्रव्यों की नापतोल करते समय वह कमरे के द्वार बन्द रखते थे।

कमरे का द्वार खुला। बाबू साहब आकर हम लोगों के पास बैठ गये। निराला बोले,

"सुना था, आपका जी ठीक नहीं था।"

"हां, अब भी ठीक नही है। ऋतु-परिवर्तन है। वस्त्रों की असावधानी से परसों रात ठण्ड खा गया। कल तो ज्वर भी था। प्रतिश्याप का प्रकोप अभी बना हुआ है। परन्तु आज ज्वर नहीं है", बाबू साहब ने उत्तर दिया।

पान जरदा खाकर आज विशेष आनन्द आया। कस्तूरी ने शरीर को गरमी दी और सुगन्ध प्राणों में उतरने लगी।

बाबू साहब को मैंने औपचारिकता से नितान्त शून्य पाया परन्तु उनमें एक विशेषता यह भी थी कि वे अहम्मन्य को अपना काव्य कभी नही सुनाते थे। वह अपने कवि की रचनाओं को पात्र देखकर ही सुनाया करते थे। विनोद ने निराला से कुछ सुनाने को कहा। उन्होंने तत्काल अपनी 'जूही की कली' वाली कविता सुनायी। परन्तु सुनायी ऐसी मुद्रा में जिसे गुरु-मुद्रा कह सकते हैं। बाबू साहब ने प्रशंसा की। निराला ने कोई दूसरी कृति सुनायी परन्तु इस आशा में कि बाबू साहब भी कुछ सुनायेंगे। इस बार भी बाबू साहब ने प्रशंसा की परन्तु स्वयं कुछ न सुनाया।

बाबू साहब काव्य को ईश्वर प्रदत्त मानते थे। जब उन्होंने उसे अपना समझा ही नहीं तो उन्हें उसका अहं कैसे प्रभावित कर सकता था? उन्होंने कवि के अहं का पालन कवि की आज्ञा के समान किया। बोले, "अब फिर कभी सुन लेना। खांसी उठेगी। नहीं पढ़ा जा सकेगा।"

हम लोग उनके विश्राम में बाधक होने की आशंका से जल्दी ही प्रणाम करके लौट आये।

रास्ते में विनोद ने निराला से कहा, "न तुमने पूज्य समझा, न गुरु। तुम्हारी कविता सुनाने की मुद्रा गुरुओं वाली थी। उनके सामने सरल स्वभाव से पढ़ना चाहिए था। सूर्यकान्त, तुम नही जानते कि छन्दशास्त्र के पक्ष में बाबू साहब की मान्यताएँ क्या है। उन्हें मैं समझता हूं। उन्होंने आरम्भ ब्रजभाषा की सुललित रचनाओं से किया है। छन्द बन्धनों को कभी-कभी वह स्वयं भी नहीं मानते हैं। अतुकान्त अरिल्ल छन्द में भी लिखते हैं, परन्तु उनके काव्य में प्रवाह और संगीत अवश्य रहता है। छन्द-बन्धन-मुक्त काव्य जितनी हद तक तुम लिखते हो उतना बाबू साहब प्रवाह की दृष्टि से अवरोधक समझते हैं।"

निराला को दूसरे दिन एक पत्र मतवाला-मण्डल की ओर से श्रीमहादेव प्रसाद

सेठ का लिखा हुआ मिला, जिसमें उन्हें कलकत्ता बुला रखा था, क्योंकि 'उग्र' को कुछ समय के लिए 'महात्मा-ईसा' की बिक्री का हिसाब लेने के लिए काशी आना था। दूसरा पत्र भार्गवजी का सुधा कार्यालय, लखनऊ से लगभग इसी आशय का मिला और वह विनोद से पचास रुपये लेकर कहाँ चले गये, यह नही कहा जा सकता क्योंकि उन्होंने किसी को स्टेशन तक पहुँचाने के लिए साथ ले जाना उचित नही समझा। जहाँ तक मेरा अनुमान है निराला ने इससे पहले केवल एक बार दुकान पर बाबू साहब से थोड़ी देर के लिए भेंट की थी। उस समय वहाँ अपना काव्य सुनाना कदाचित अपनी मान्यता के मानसम्भ्रम की दृष्टि से ठीक नही समझा था। उनसे घर पर मिलने का निराला का यह पहला ही अवसर था।

बाबू साहब का हृदय अत्यन्त संवेदनशील था। परन्तु वह अपने मानदण्ड से कविकर्मा को एक सुस्पष्ट आचार-संहिता से शासित समझते थे। मुक्ताहार बिहार के विषय में तो सुना ही था, परन्तु निराला का पीकर आना, और अनगिनती अन-मिल टुकड़ो में अनेक-छन्दा 'जूही की कली' सुनाना उन्हें ऐसा लगा, जैसे निराला के प्रदर्शनपटु काव्यपाठ के बाद आँसू के सद्योरचित छन्द सुनाने योग्य वातावरण नही था, क्योंकि वे भूमिका-साध्य, छन्दोबद्ध और आत्मानुशीलक थे। बाबू साहब के लिए अपनी कृति की भूमिका सुनाने से अधिक अप्रिय न सुनाना भी न था।

यह तो तीन दिन पीछे जब विनोद उनसे दुकान पर मिले तो पता चला कि बाबू साहब ने तब से अब तक 'आँसू' के बीस छन्द और लिख लिये थे। उन्हे इस बात का दुःख था कि वह 'निराला' के अनुरोध का पालन न कर सके। आन्तरिक प्रोत्साहन अन्त तक नही मिल सका और इसलिए नही सुना सके। निराला का चला जाना सुनकर उन्होंने केवल इतना ही कहा था, "चलो, फिर कभी सुन लेंगे। तुम्हारे पास तो आयेंगे ही।"

विनोद ने बताया कि वह उस रात उन्हे घर तक पहुँचाने गये थे, और 'आँसू' के बीस छन्द सुनकर रात एक बजे वही सो गये थे।

यह बीस छन्द पुस्तक मे कहा होगे, यह नहीं कहा जा सकता क्योकि विनोद को स्वयं कुछ दिनो बाद याद नही था कि कही से कोई एक भी लाइन सुना देते।

अब मैं इस 'चेतना तरंगिनी तीरे' तक उस दिन के सुने हुए दस छन्दों का पुण्य-स्मरण कर रहा हूँ।

कवि का हृदय कमल भौरों जैसी रूपपायी अलकों की स्मृति से घिरकर रात के समय निःश्वसित हो उठता और निःश्वास वायु से उड़कर मकरन्द-कण की भांति आँसू नेत्रों में उमड़ आता है। निःश्वसित होने की क्रिया रात के समय बन्द हो जाने वाले कमल के आन्तरिक श्वासोच्छ्वास से मकरन्द कणो की भीतर ही भीतर

उड़ते रहने की क्रिया के समान है। जब स्मृतियाँ निःश्वासों से आन्दोलित हो उठती हैं तो आँसू की एक बूँद स्वयं आँख से बाहर आ जाती है।

प्रेम की मधुर पीड़ा वास्तव में प्रेम-कोटि की अन्तरंग अनुभूति थी परन्तु उसके बहिरंग में मन बहलाने की क्रीड़ा ने उस प्रेम की स्थिति में भी मद और मोह की सृष्टि कर दी क्योंकि स्मृतियां किसी अशरीरी की होने के स्थान पर शरीरी की भी हुआ करती हैं।

जटाएँ बढ़ने पर मनुष्य का आत्मा की ओर ध्यान जाना और हरे भरे संसार में धूल उड़नें लगना, यह दोनों बातें विरक्ति के सूचक है, परन्तु यह किसकी विभूति है जिसने जीवन की जटिल समस्याओं के होते हुए भी मन को आर्त करने के स्थान पर स्मृतिजन्य आसक्ति से विरक्त कर दिया।

हृदय भी लौ की भाँति जल-जलकर स्नेह के दीपक मे प्रकाश भरता है। उस प्रकाश में अब तक का आसक्तिजन्य अन्धकार अब केवल धूम रेखा तक सीमित रह गया है और अन्धकार की तो अब केवल स्मृति ही शेष है।

किंजल्क जाल (कमल कलिकाओ) से तात्पर्य रात के समय कली के रूप में दिखाई पड़ने वाले बन्द कमल से जान पड़ता है। जल के ऊपर इस प्रकार के अनेक किंजल्क जाल बिखरे हुए है और ओस या वायु की आर्द्रता से बचे रहने के कारण उनका रूखा पराग भीतर ही भीतर आन्दोलित होकर रह जाता है। हम मानवों का स्नेह वह कमल है जो हृदय सर मे ही विकास करता और सूख जाता है। ध्यान रहे कि यहाँ प्रेम शब्द का नही, स्नेह शब्द (शरीरी प्रेम) का प्रयोग किया गया है।

मानवीय स्नेह शीतल और सुरभित वायु के समान है जो मलय गिरि के चन्दन की शीतलता और सुरभि लेकर आता है। परन्तु जब उस स्नेह का स्पर्श केवल एक बार छूकर अदृश्य हो जाता है तो ऐसा लगता है जैसे किसी की करुणा ने एक बार कटाक्षपात तो अवश्य किया था परन्तु उधर स्नेह स्पर्श अदृश्य हुआ और इधर उसकी आँखों की कोरें घूम गयी। स्नेह का स्पर्श स्थायी नही होता और फलतः मानव के प्रति मानव की करुणा भी आँखें फेर लेती है।

आँखों के लिए रूप उतना ही अनिवार्य है जितना मछली के लिए जल। आँखों को रूप का दर्शन हुआ परन्तु उस समय जब प्रेम के अथाह गर्भ मे सम्भावित वियोग की वैसी ही अनुभूति हुई थी जैसी बडवाग्नि से समुद्र मे होती है। स्पष्ट है कि खौलते जल की भाँति रूप भी विकल कर देनेवाला ही सिद्ध होता है। यहाँ प्रेम-सिन्धु से तात्पर्य रूप की आध्यात्मिक दृष्टि से है और यह मानव देह की दुर्बलता है कि वास्तविकता ज्ञात होने पर भी मनुष्य को सम्भावित वियोग के ताप का अनुभव होता है।

क्षण को विवेक का प्रकाश मिटा कि हृदय पुलिन पर अवसाद का अंधकार कालिन्दी की श्यामल लहरों की भाँति बहने लगा। यह स्वाभाविक ही था कि उस अन्धकार को रात समझ कर हृदय कमल बन्द हो जाते और प्रकृति का सारा कलरव उस अन्धकार में समाकर इस प्रकार नीरव हो जाता जैसे कमल कोषों में भौरों के बन्द हो जाने पर उनकी स्वर मुरली गूंगी हो जाती है। और फिर गुनगुन भी भीतर ही भीतर घुटकर मौन हो जाती है।



जनवरी १९६४ में लखनऊ की संस्था साहित्यिकी ने प्रसाद मन्दिर में 'हीरक जयन्ती' का भव्य आयोजन किया। यह संस्था अनेक वर्षों से प्रसाद जयन्ती के पर्व का श्रद्धापूर्वक आयोजन करती आ रही है उसके अन्तस्पन्द मेरे अनुजकल्प डा० गिरीशचन्द्र त्रिपाठी ने हीरक जयन्ती के आयोजन की अपनी सात्त्विक इच्छा मुझे बताई और वह आयोजन महिमामयी महादेवी के अधिष्ठातृत्व में सम्पन्न हुआ। उत्सव की समाप्ति पर साहित्यिकी के अभ्यागत जनों का आंगन में रात्रि भोज हो रहा था कि व्यासजी (पं० विनोद शंकर व्यास) ने ललकारा 'दुर्गा (पं० दुर्गादत्त त्रिपाठी) बाबू साहब को प्रसन्न करने के लिए हमें आँसू का सम्पूर्ण पाठ उन्हीं स्वरों में करना चाहिए'—'यहाँ कौन भागता है' त्रिपाठीजी ने कहा। आँसू की प्रतियाँ मँगाई गईं और पाठ चला आँसू के उभय साक्षी दो-दो चार-चार छंदों का बारी-बारी से पाठ करने लगे। त्रिपाठीजी बीच-बीच में भावमय विश्लेषण भी करते थे। प्रायः तीन बज गए और व्यासजी की 'कागावासी' का समय समीप आया। (अरुणोदय से पूर्व जो भाँग छनती है उसकी आख्या 'कागाबासी' होती है, यह काशी का लाक्षणिक शब्द है) सभा विसर्जित हुई।

त्रिपाठी जी आँसू पर कुछ लिखें—मैंने आग्रह किया—फलस्वरूप उनकी ये पंक्तियाँ मिलीं। आँसू के पाण्डुलिपि संस्करण की बात मन में है उसमें देने के लिए भी ऐसी सामग्री वांछित रही। **—रत्नशंकर प्रसाद**



प्रसाद

—पं० विनोदशंकर व्यास

पं० विश्वम्भरनाथ जिज्जा ने व्यासजी का परिचय पूज्य पिताश्री से कराया था। कुछ समय बाद कृतियों के प्रकाशन को लेकर थोड़ा मतभेद हो गया जिसका एकांगी और आंशिक उल्लेख भी यहाँ है—मेरे यहाँ गंगाराम नाई कचहरी की पैरवी भी करता था किन्तु उसके अनुचित कामों से जब सांपत्तिक क्षति आशंकित होने लगी तब उसे निकाल देना आवश्यक हो गया। उसका उल्लेख व्यासजी की पुस्तक 'प्रसाद के समकालीन' में हुआ है। मेरे परिवार से संबंधित आनुपूर्वी प्रसंगों को संकलित करने के लिए व्यासजी ने उसे उपयोगी माना यद्यपि उसकी भी तत्सम्बन्धी जानकारी बहुत सीमित रही, जिससे अनेक भ्रान्त बाते यहा आ गई है जिनका निराकरण टिप्पणियों में कर दिया गया है। यद्यपि, एक समकालीन विद्वान ने अपना संस्मरण देते समय इसे सम्मिलित करने का निषेध भी किया। जिसका उल्लंघन मैं इसलिए कर रहा हूँ कि इसके कारण भविष्य मे 'तिलका ताड़' न बन सके। यदि तथ्यवादी व्यासजी को अविकल बातें जाननी रहीं तो उन्हें प्रामाणिक स्रोत—'प्रसादजी की आदरणीया भाभी' से जिज्ञासा करनी थी जो उन्हे सुलभ भी रहा किन्तु वे तो 'तिस्रो पुंसि विडंबनम्' वाले मार्ग के पथिक रहे। तथ्यवादी जब तथ्यानुकूलन करता है तब वह उभयतो भ्रष्ट हो जाता है। **(रत्नशंकर प्रसाद)**



उस दिन शिवरात्रि थी। कुछ अच्छा नही लग रहा था। मन्दिर मे तोरण और वन्दनवार लग रहा था। बगीचे में खेमा गड़ा हुआ था। भाँग बन रही थी। पड़ोसी और मित्रों का जमघट था।

मेरे पहुँचने में कुछ विलम्ब हुआ। प्रसादजी मुझे देखते ही बोल उठे—"दो वार नौकर जा चुका, आपको अवकाश ही नही मिलता!"

"घर का सब प्रबन्ध करके आ रहा हूँ। अब निश्चिन्त हूँ। कहिये, क्या आज्ञा है?"—मैंने कहा।

"आज गाने के लिए किसको बुलाया जाय, यह निश्चय नही हुआ है। तुम्हारे ऊपर ही इसका निर्णय छोड़ा गया है!"

नगर की सभी कुशल गायिकाओं का वर्णन होने लगा। बहुत देर में निर्णय

हुआ कि किसको बुलाया जाय। नाज़िर को आज्ञा मिली। नौबजे रात्रि का समय दिया गया।

संध्यासमय केसरिया छनकर तैयार थी। सब लोग छानकर मस्त हो रहे थे। बैठक में मंडली जमी थी। अट्टहास से कमरा गूँज रहा था।[1]

प्रसादजी शिव मन्दिर में शृंगार कर रहे थे। घण्टा बजा, शंखनाद हुआ, विधिवत् पूजा करने के बाद मस्तक में चन्दन लगाये वे मन्दिर से बाहर निकले।[2]

गायिका आ गई थी। गाना आरम्भ हुआ। भंग की तरंग और संगीत की लहर-बहर में लोगों का हृदय घंटों तैरता रहा। दो बजे रात में मंडली विसर्जित हुई।

प्रति वर्ष शिवरात्रि के दिन ऐसा ही क्रम चलता रहा।

हम दोनों शिव के उपासक, शंकर के दास—मृत्यु के देवता के सम्मुख अपना मस्तक नत करते। (संहार सृजन से युगल पाद---कामायनी सं०)

आज अकेला मैं क्या अनुभव कर रहा हूँ, लेखनी में इतनी शक्ति नहीं जो उसे व्यक्त कर सके! फिर भी प्रसाद के सम्बन्ध में लिखे हुए अपने संस्मरण को क्रमबद्ध कर रहा हूँ।

सं० १९४६ में कवि प्रसाद का जन्म काशी के विख्यात कान्यकुब्ज वैश्य कुल में हुआ था। उनके पितामह बाबू शिवरत्न साहु बड़े दानी और उदार पुरुष थे। उनके पिता बाबू देवीप्रसादजी भी विद्वानों और कलाविदों का सदैव आदर करने में प्रसिद्ध थे।

जबलपुर के पास नर्मदा-तट पर झारखंड नामक स्थान है।[3] संवत् १९५८ में

१. महाशिवरात्रि के प्रातः से दूसरे दिन प्रातः तक बैठक वाले कमरे में अट्टहास गूँजने का प्रश्न ही नहीं सभी कार्यकलाप शिवालय पर ही केन्द्रित रहते, उस भारी व्यस्तता वाले दिन मिलने वाले लोग भी वहीं बातें कर लेते। इसीलिए कामायनी के शेष कुछ छन्द और आमुख वहीं लिखे गए। ऐसी बातों का कोई उल्लेख नहीं! (सं०)

२. पूज्य पिताश्री के ललाट पर सदैव विभूति ही देखी गई कभी चन्दन नहीं, महाशिवरात्रि के दिन वे महाकाल का भस्म प्रसाद (चिता भस्म) भी धारण करते थे। (सं०)

३. झारखण्ड बिहार में है: देवघर अर्थात् वैद्यनाथधाम उत्तरभारत का एक प्रमुख तीर्थ उसी क्षेत्र में है, वहाँ भी पूज्य पिताश्री का चूड़ा कर्म हुआ: लौटने पर लोग उन्हें स्नेह से झारखण्डी कहने लगे। नर्मदा के तट पर झारखण्ड बताने वाले 'झारखण्डी' के कितने समीप रहे—वे ही बता सकेंगे। नर्मदा में गिरने की

प्रसाद अपनी माता और तीन बहिनों के साथ वहाँ गये थे, वहीं उनका मुंडन हुआ था। अमरकण्टक पर्वतमाला के दृश्यों का उनके जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। उस समय एक दुर्घटना हो गई। प्रसाद नाव पर घूमने निकले थे, स्नान के लिए जब वे नाव से उतर रहे थे तो सहसा पानी में गिर पड़े। किसी तरह लोगों ने उन्हें बाहर निकाला। वहाँ के भीलों ने उन लोगों का विशेष आदर-सत्कार किया था। प्रसाद की रचनाओं में भीलों का जो मार्मिक वर्णन है, वह उसी अवस्था का अन्वेषण है। झारखण्ड में मुंडन होने के कारण ही उनका नाम 'झारखण्डी' पड़ा था।

प्रसाद का लालन-पालन बड़े प्यार से हुआ था। परिवार में वे सबके खिलौना की भाँति थे, यही कारण है कि ११ वर्ष की अवस्था तक वे नाक में 'बुलाक' पहने रहते थे।

प्रसाद का परिवार बड़ा था और सम्मिलित रूप से सब लोग रहते थे। उनके पिता देवीप्रसादजी के देहान्त के बाद पारिवारिक कलह का आरम्भ हुआ। प्रसाद की रचनाओं में पारिवारिक कलह का सफल चित्रण उसी का प्रभाव प्रतीत होता है! इस कलह का विवरण देने के पहले उनकी वंशावली का परिचय प्राप्त हो जाना आवश्यक है।

शिवरत्न साहु की दो पत्नियाँ थी। पहली से शीतलप्रसाद उत्पन्न हुए जो अंग्रेजी स्कूल में मास्टर थे। वे जीवन भर अविवाहित ही रहे।[1] दूसरी स्त्री से

बात नहीं—वे स्वतः कूद पड़े थे, तट पर पानी पी रहे बाघ पर रक्षक बन्दूकची ने जब कड़ाबीन पर पलीता लगाया तब उसके झटके में वह नाव से गिर पड़ा उसी के उद्धारार्थ वे कूद पड़े थे। उन्हीं की प्रेरणा से उसने बन्दूक दागी थी इसके उद्वेगवश वे तत्काल कूद पड़े थे और उसका परतला उन्होंने पकड़ लिया फिर तो अनेक नाविक कूदे और दोनों को निकाल लिया। यह घटना चांदनी रात में घटित हुई थी—पूरा वृत्तान्त पूज्य पिताश्री ने बताया था। नर्मदा के जलमार्ग से अमर कंटक यात्रा संवत् १९६१ में हुई वहाँ भी चूड़ा कर्म होना था--अवलोक्य, 'अवतरणिका' कानन कुसुम। (सं०)

१. वस्तुतः मेरे पितामह एवं शेष पाँच पितामहव्य सगे भाई थे, श्री शीतलप्रसाद सबसे ज्येष्ठ दूसरे श्री बैजनाथप्रसाद तीसरे श्री जित्तू साहु, पूज्य पितामह श्री देवीप्रसाद चौथे, उनसे छोटे श्री गिरिजाशंकर और सबसे छोटे श्री गौरीशंकर थे। अविवाहित कोई न था। श्री शीतलप्रसाद को उत्तमा नाम्नी पत्नी से पुत्र महादेव हुए जो किशोरावस्था में क्षयग्रस्त हुए। श्री बैजनाथप्रसाद का एकमात्र पुत्र यज्ञदेव की भी किशोरावस्था मे यक्ष्मा से मृत्यु हुई। परिवार में यक्ष्मा का

देवीप्रसाद, बैजनाथप्रसाद, गिरिजाशंकर, जित्तू साव और गोरीशकर उत्पन्न हुए। दूसरी पत्नी से ही वंश चला।

देवीप्रसाद की पाँच सन्ताने हुई। सबसे बड़ी देवकी थी—इन्ही के पुत्र अम्बिका प्रसाद गुप्त थे, जिन्होंने 'इन्दु' निकाला था। देवकी के बाद शम्भुरत्न, उनके बाद सेवकी, फिर प्यारी और सबसे छोटे ५यशकर। शम्भुरत्न का एक लड़का हुआ और मर गया। सेवकी और प्यारी नावल्द ही रही।

बैजनाथ प्रसाद के दो लड़के हुए, जिनकी मृत्यु हो गई।

गिरिजाशंकर के दो पुत्र हुए—भोलानाथ और अमरनाथ।

जित्तू साव का एक पुत्र हुआ —शिवशंकर।

गोरीशंकर नावल्द रहे।

एक तरफ शम्भुरत्न और प्रसाद। दूसरी तरफ गिरिजाशंकर और उनके दो पुत्र—भोलानाथ और अमरनाथ। तीसरी ओर शिवशंकर।

हिन्दू परिवार की परिपाटी के अनुसार जो घर मे सबसे बड़ा होता है, वही 'मालिक' होता है। अतएव शम्भुरत्न ही मालिक थे। उनका खर्च लम्बा था और बड़े ठाट-बाट से वह रहते थे।

शम्भुरत्न के चाचा गिरिजाशकर ने विरोध आरम्भ किया। उनका कहना था कि सबका खर्च बराबर होना चाहिए।[1]

धीरे-धीरे कलह का रूप बढने लगा। यहाँ तक कि जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हुआ। दोनो ओर से गुण्डे रक्षा के लिए नियुक्त हुए। जब मामला आपसी पंचायत मे तय नही हुआ, तब अदालत में मुकदमा चला।

मूल झगड़ा नारियल बाजारवाली दुकान के लिए था। गिरिजाशंकर उसे लेना चाहते थे और शिवशंकर भी वही चाहते थे, किन्तु अधिकार उस पर शम्भुरत्न का था।

उस समय सुर्ती के व्यवसाय मे अनेक प्रतिद्वन्दी नही थे। एक मात्र सुँघनी साहु की दूकान ही प्रसिद्ध थी। दूकान पर ग्राहकों की भीड लगी रहती और पैसे बरसते रहे।

प्रसादजी ने एक बार मुझसे कहा था कि उनके परिवार मे जब कभी कोई काम-काज (विवाह आदि) पडता, तो दूकान मे फेंके हुए 'डबल' (उस जमाने के

यह पुराना इतिहास है। इन छ. भाइयो के मध्य एक बहन भी थी जिसका विवाह अहरौरा मे साहू बेचूलाल कन्हैयालाल के परिवार मे हुआ था साहु कन्हैयालाल उनके पुत्र—यशस्वी व्यवसायी हुए। (सं०)

१. कलह के अन्य कारण भी थे। (सं०)

गोरखपुरी पैसे) बेचकर पाँच-सात हजार रुपये बन जाते और बड़ी आसानी से काम हो जाता था।

वह मुकदमा २—३ वर्ष अदालत में चला और लाखों रुपये खर्च हुए। घर का जवाहरात, सोना और चाँदी अनाज के भीतर छिपाकर बाहर सम्बन्धियों और मित्रों के यहाँ रखने के लिए भेजा गया, जिसमें हिस्सा लगने पर उसका बँटवारा न हो सके!

व्यवसाय सब सम्मिलित था। चाचा-भतीजे सब दूकान पर बराबर जाते। घर में मिले हुए थे, किन्तु अदालत मे वे लोग एक-दूसरे के विरुद्ध लड़ते रहे। यह ठीक महाभारत के युद्ध जैसा आदर्श सामने रखा गया था!

शम्भुरत्न जी जब दूकान जाते तो पचीसों गुण्डे उनकी ताक में बैठे रहते, किन्तु उनका व्यक्तित्व इतना विशाल था कि किसी को कभी यह साहस नहीं होता था कि उन पर आक्रमण करे। प्रसाद को दूकान सहेज कर शम्भुरत्न चले जाते थे। उधर से अमरनाथ और भोलानाथ भी उनके साथ दूकान पर बैठते थे। जब कभी कोई बड़ा ग्राहक आता तो रुपयों के लिए इन लोगों का आपस में द्वन्द्व हो जाता था। मालिकों को लड़ते देखकर नौकर-चाकर बीच-बचाव कर देते थे।[1]

अन्त में पंचों के निर्णय के अनुसार अदालत ने शम्भुरत्न का ही अधिकार स्वीकार किया। कुछ दिनों तक रिसीवर द्वारा ही सब काम होता था।

शम्भुरत्न के हिस्से में दूकान के साथ सब कर्ज भी पडा। नकद और अन्य सम्पत्ति में बराबर के चार[2] हिस्से हुए हुए। ऐसे वातावरण में भी प्रसादजी का जीवन वैभवशाली था।

१२ वर्ष की अवस्था से १७ वर्ष की अवस्था तक प्रसादजी बराबर अखाड़े में कुश्ती लड़ते रहे। उनसे लडने के लिए दो पहलवान छोडे जाते थे। वे एक हजार दण्ड-बैठक लगाते थे। उस समय १८ गायें घर में बँधी रहती थीं, दूध का का काफी प्रबन्ध था। प्रसादजी स्वयं बतलाते थे कि कसरत के बाद वे डेढ पाव बादाम की गुद्दी छान जाते थे। प्रसादजी के शरीर की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। इसका प्रमुख कारण तो आत्मरक्षा ही था, क्योंकि उस समय सब तरफ से आक्रमण की आशंका थी।

कसरत के अतिरिक्त प्रसादजी को टमटम हाँकने का भी शौक था। शम्भुरत्न जी के समय मे तीन घोड़े थे।[3] उनकी वेलर की जोड़ी नगर में दर्शनीय समझी जाती थी।

---

१. दूकान पर कोई द्वन्द्व नही होता था। अवलोक्य-ठीक ऊपर की पंक्तियाँ। (सं०)
२. पहले तीन पक्षों का विवरण देने के बाद यहाँ चार हिस्से की बात कैसी? (सं०)
३. तीन उनके निजी थे और भी चार रहे जिनका व्यवहार सब करते थे। (सं०)

मुकदमा तय होने के दो वर्ष पश्चात् शम्भुरत्नजी का देहान्त[1] हो गया। अब व्यवसाय, कर्ज और गृहस्थी का सम्पूर्ण भार प्रसाद पर आ गया। उनका विवाह बड़े भाई ने ही निश्चित कर दिया था। उनके बाद अपना विवाह उन्हे स्वयं ही करना पड़ा!

उनकी प्रथम पत्नी दस-बारह वर्ष तक जीवित रही,[2] किन्तु उससे कोई सन्तान उत्पन्न न हुई।

बचपन से ही कविता की ओर प्रसाद की रुचि थी। वे आरम्भ मे ब्रजभाषा मे कविता करते थे। दूकान पर बैठे हुए, बहीखाते से एक चिट्ट निकालकर उसी पर कविता करने लगते। विद्वानो के सत्संग का भी उनके जीवन पर प्रभाव पड़ा।

उन दिनो बनारस मे, धनी परिवारो मे मनोरंजन और संगीत के लिए प्रायः गौनहारिने जाया करती थी। उनका घरेलू संगीत बिला किसी काम-काज के भी प्रायः चलता रहता। महीने मे दो-एक फेरा प्रत्येक बड़े घरो मे उनका लगता था। प्रसादजी के भाई के समय से यह क्रम चलता रहा। प्रसादजी के यहाँ रजवन्ती नाम की विख्यात गौनहारिन आती थी। उसके साथ श्यामा नाम की एक कथकिन भी थी। वह दुबली-पतली, सँवलिया रंग की थी। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें थी और लम्बा कद था।

मैंने उसे अपने यहाँ दादी के सामने गाते हुए अनेक बार देखा था। दादी उससे बड़ी प्रसन्न रहती।

प्रसाद बड़े हँसमुख और दिल्लगी-पसन्द थे—मज़ाक मे ही यह सम्बन्ध बढ़ता गया। श्यामा हारमोनियम बजाकर गाती थी, उसकी आवाज जोरों से लडती थी। उसमे कोई सौन्दर्य तो न था, किन्तु हाव-भाव-प्रदर्शन करने मे कुशल थी। प्रसादजी के पड़ोस मे मेरे एक सम्बन्धी रहते थे, उनसे भी उसका सम्बन्ध था।

प्रसादजी के मकान के सामने एक दूसरा मकान है, इसके सामने मैदान है; वहीं संध्या समय कुर्सियाँ लग जाती। सब लोग बैठते, भाँग-ठंढाई की व्यवस्था होती थी। मंडली सदैव जमी रहती थी।

प्रसाद ने स्वयं मुझे बतलाया था कि उसी मकान मे भगवती नाम की वेश्या प्रायः आती थी। उसके सम्बन्ध मे एक दिन दिल खोलकर सब वृत्तान्त उन्होंने मुझसे कहा था।

प्रसादजी के शब्दों मे, वह उन पर रीझ उठी थी। एक दिन दस-पन्द्रह हजार के आभूषण लेकर वह आई। सामने बक्स रखकर उसने कहा—"यह सब मेरी

१. तीन वर्ष बाद, १९०४ मे फैसला हुआ १९०७ मे साहु शम्भुरत्न का देहान्त हुआ। (सं०)
२. आठ वर्षों तक जीवित रही, १९१६ के २२ अगस्त को यक्ष्मा से निधन हुआ। (सं०)

सम्पत्ति है। मेरी कोई व्यवस्था कर दीजिए। अब मै बाजार मे बैठकर व्यवसाय नही करना चाहती।[1]

प्रसादजी चुपचाप उसकी बाते सुनते रहे। वे इस स्थायी झंझट मे नही फँसना चाहते थे। इसमे कोई सन्देह नही कि प्रसादजी का आकर्षण उसके प्रति था। वह सुन्दरी थी और सरल भी। स्पष्ट शब्दो मे न कहकर दूसरे प्रयत्नों से प्रसादजी उससे अलग हुए।

प्रसादजी युवावस्था मे ही दृढ प्रकृति क पुरुष थे। वे भावावेश मे किसी के कब्जे में नही फँसना चाहते। इस तरह की स्त्रियो के सम्बन्ध में उनका अपना एक निजी मत था। वे कहते थे कि ऐसी स्त्रियाँ फुलसुंघी (चिडिया) की भाँति होते हैं, वे फूल सूंघकर ही जीवन व्यतीत करती है। पिजडे मे रखने पर निश्चय वह अपना प्राण छोड़ बैठेगी!

प्रसाद किसी स्त्री के प्रेम-बन्धन मे नही बँध सकते थ। मुझे समझाते हुए उन्होंने अनेक बार कहा था कि कभी किसी के बन्धन मे पडना! अन्यथा, उसी दिन तुम्हारी स्वतंत्रता समाप्त हो जायगी और अपनी मौलिकता खो बैठोगे।

नारियल बाजार की दूकान पर जब हम लोग बैठते तो ऊपर खिड़कियों मे से वेश्याये देखती। हम लोग सब आपस मे बाते करते रहते। हँसी-दिल्लगी और साहित्य-चर्चा मे समय कटता। प्रसाद खुद कुछ न कहकर अपनी बातों को दूसरे व्यक्ति द्वारा कहलाते। कभी-कभी ऐसे अनभिज्ञ बन जाते, जैसे कुछ जानते ही नहीं! आँखें और मुँह सिकोडकर ऐसी मुद्रा बनाते कि हसी आ जाती।

दूकान के सामनेवाले मकान[2] मे एक किशोरी बाई रहती थी। वह नाटे कद की मोटी औरत थी। वह बडी सीधी थी, ठोक पीटकर वेश्यावृत्ति मे लायी गई थी। देखने मे सुन्दर भी नही थी, इसलिए ग्राहको का भी अभाव था। प्रतिदिन वह चुपचाप हम लोगो की बाते सुना करती थी। ऐसा प्रतीत होता कि दूर रहते हुए भी हम लोगों की चर्चा मे वह भाग लेती रहती। उसके सकेत और मुस्कान इसका समर्थन करते थे। एकान्त पाकर कभी बोल भी देती थी। प्रसादजी को वह बहुत दिनों से चाहती थी, किन्तु उसका कोई प्रयत्न सफल नही हुआ। प्रसाद बातें कर

---

१ वस्तुत: श्रीशम्भुरत्न के जीवनकाल मे वे उसस रहती थी। उनके निधनोपरान्त विरक्त होकर वृन्दावन जाने का निश्चय पूज्य पिताश्री से बताया और अपने आभूषणों की पेटी यह कहकर कि यह अपनी चीज सहेजो मेरे प्रवास का प्रबन्ध करा दो उत्तर मिला कि आपके निश्चय का पालन होगा किन्तु अब यह आपकी सम्पदा आपही के पास रहेगी। वैसा ही हुआ। २. दूकान के सामने मस्जिद है।

लेते, हँसी-मजाक हो जाता। प्रत्यक्ष आने-जाने की कोई घटना न घटती, इससे वह निराश हो गई थी।

उस दिन देर तक रात मे हम लोग दूकान पर बैठे थे। वह उदास थी। प्रसाद ने मुझसे कहा—पूछो, आज सुस्त क्यो है?

मैंने पूछा। वह चुप थी। इसके बाद प्रसाद की ओर गूढ दृष्टि से देखते हुए उसने कहा—खुद आप तो पूछ नही सकते और न किसी के सुख-दुख मे साथ दे सकते है!

उसका यह व्यग्य सुनकर प्रसाद खिल उठे। कहने लगे—अब मैं किसी लायक नही हूँ!

वह खिडकी पर खडी हो गई। मेरी ओर सकेत करते हुए उसने उनसे कहा—आप नही आ सकते तो क्या यह भी नही आ सकते?

इतनी स्पष्ट बाते कहने मे उसके साहस पर मैं चकित था।

मैंने कहा -धन्य हो देवि! जब तुम मेरे गुरु की ओर दृष्टि डाल चुकी हो, तो फिर मेरे लिए कल्पना करना कितना बडा पाप है!

वह मौन हो गई। उसके भाव से मालूम पडा कि उसके शास्त्र मे पाप-पुण्य की व्याख्या भिन्न प्रकार से होती है।

दूकान के सामने चौथी खिडकी सिद्धेश्वरी बाई की पडती थी। वह खिडकी पर बहुत कम बैठती थी। सगीत की गुणी होने के कारण उसे अवकाश कम मिलता था। उसके सगीत की ध्वनि बराबर सुनाई पडती थी। उसकी आवाज़ मे दर्द था जो हम सभी को पसन्द था। घर पर उसे बुलाकर अनेक बार हम लोगो ने उसका गाना सुना था। 'उग्र' ने उसी तरह की एक घटना का वर्णन किया है—

"जयशंकर की चर्चा मे सिद्धेश्वरी का भी नाम आने से चमकेगे बनारसवाले! मगर मेरे विचार मे, कलावन्तो की जाति नही, धर्म नही, लिंग नही। कबीर की कला मे मग्न हो जाने पर यह नही भास होता कि कलाकार जुलाहा, जन्म से कुल-शील-हीन है। मीरा के गीत जब सीने मे छा जाते है, सरस बरसते है, तब पता नही चलता कि गानेवाला मर्द है या औरत! कवियो की पक्ति मे जहाँ ब्राह्मण 'तुलसी' है, वहीं चमार 'रैदास' भी सहज भाव से डटा हुआ है।

कवि क्या नही करता, वेश्याएँ भी क्या नही करती, पर जितनी घृणा हमारे मन मे वेश्याओ के लिए है, कवियो के लिए उतना ही प्रेम है! फिर भी, कवि किसी को वेश्या शायद ही बना पावे, पर वेश्या अकसर कवि के निर्माण का कारण हुई। अपने चरित्र के मिथ्या दम्भ मे, पिछले दिनो समाज ने वेश्या से भौतिक लाभ उठाकर भी उसे दैविक, आध्यात्मिक आदर्शों की तरफ आकर्षित नही किया। अगर

वेश्या भी समाज का अंग है, तो सबके साथ उसका भी समुचित ध्यान रखना—मजाक नहीं, मुनासिब है !

सो, मैं स्मरण करने बैठूं तो दिवंगत श्री जयशंकर 'प्रसाद' की याद में पूरी पोथी उतर आए; पर यहाँ मैं केवल तीन-चार घण्टे की याददाश्त पेश करना चाहूँगा, जिसमें चार आदमियों ने साथ बैठकर (तब) बनारस की विख्यात गायिका सिद्धेश्वरी का गाना सुना था। बात सन् २८ की है। मैं कलकत्ते से बनारस चन्द दिनों के लिए आया था। उन्हीं दिनों आये पण्डित रूपनारायण पाण्डेय, जो भाई विनोदशंकर के मेहमान थे। मेरा भी अधिकांश समय विनोद के मान-मन्दिर ही में कटता था और दो दीवानों के जोड़ या संगति में खूब कटता था ! इसका अर्थ यह नहीं कि हम आदर्श प्रेमी की तरह हमेशा गले में बाँहें डाले ही रहते थे ! आपस मे हम लड़ते-झगड़ते भी कम नहीं, पर लाख लड़ाइयों के बाद फिर घुटने-छनने लगती थी। जयशंकर मेरी प्रतिभा से चमकते, उग्रता से बिचकते थे। वह नही चाहते थे कि विनोद और उग्र की इतने निकट से इतनी गहरी छने। वह स्वयं विनोदप्रिय थे, पर विनोद को पसन्द उग्रता ! सो, जब हम दोनों डोर और पतंग की तरह जुड़कर बुरी या भली हवा में उड़ते, तब इच्छा या अनिच्छा से, लम्बे पुछल्ले की तरह जयशंकर जमीन से बहुत आगे तक बढ़-चढ जाते थे। विनोद ही को जयशंकर क्यों इतना चाहते थे, जबकि उनके वक्त के काशी में एक-से एक धुरन्धर प्रतिभाशाली साहित्य-महारथी थे; जैसे—प्रेमचन्द, दीन, रामचन्द्र शुक्ल, रामदास गौड़ वगैरह। मेरी राय में 'प्रसाद' गरीबों के नही, अमीरों के कवि थे—इमारत-पसन्द ! कई पुश्त के सुखी विनोदशंकर के पास इमारत थी—नस्ली; इधर प्रेमचन्द, दीन वगैरह के पास क्या धरा था—'दर नही, आस्ताँ नही !' विनोद के बाद या पहले, उनके एक अन्तरंग जिगरी और है कला-'वान' राय कृष्णदास, जिनकी रईसी, इमारत, नजाकत हिन्दी में मशहूर है !

सन् २८ में मैं २८ वसन्त-बिहारी, अंग-अंग पर यौवन, उमंग से रंगीन हँसता और विनोद भी वैसे ही। याने नितलौकी-नीम का सम्बन्ध ! रूपनारायणजी को अनायास निकट पा मन में मस्ती ने मौज मारा—"क्यों न आज चार यार वैठकर निछद्म में—किसी का गान सुनें ?" तय हुआ, सिद्धेश्वरी बाई को बुलाने का। तय हुआ, मजलिस हो विनोद की छत पर, चाँदनी रात में छाँदनी पर। तय हुआ, यार रहें महज चार—जयशंकर, रूपनारायण, विनोदशंकर, उग्र। जब मैं—'अलि, पतंग, गज, मीन, मृग, जरत एक ही आँच'—के मानी टटोलता था, तब जयशंकर 'प्रसाद' इत्र के अच्छे पारखी, खान-पान दोनों के सही शौकीन, रेशम-पश्मीना-पसन्द, सोने की सिकड़ी गले में, नौरत्नों की अँगूठी अँगुली में, साथ ही संगीत को परखकर पहचानने

वाले थे। वैसे ही रूपनारायण भी ! मैं तब स्वरों के वैभव को ऐसा नहीं समझता था, और विनोद को प्रिय था तमाशा मात्र।

तमाशा के शौकीन हम सभी, और जयशंकर तो बहुत ! उनके घर और दूकान के बीच मे दाल की मंडी—बनारस की रूपसियो का सनातन बाजार। सौ मे अस्सी बार, पूरे दल के साथ 'प्रसाद' दाल की मडी ही की राह से अपनी दूकान पर आते। सिद्धेश्वरी का कोठा तो उन दिनो ठीक जगह के सामने था, जहाँ वह शाम से नौ बजे रात तक तम्बाकू और साहित्य का भाव-ताव समझा करते थे। सो साहब, सन् '२८ के उस दिन विनोद की छत पर, नौ से साढे बारह बजे रात तक बड़े रंग रहे। 'प्रसाद' फर्माइश करते, सिद्धेश्वरी प्रसन्न कोकिल-कण्ठ से गाती। मानमन्दिर मुहल्ला—चारो ओर गझन मकान--गुणवन्ती गायिका की तानो से सारा वातावरण गुजायमान हो उठा। दूसरे लोग-लुगाई अपनी-अपनी छत पर ध्यानावस्थित सोचने लगे कि व्यासजी के घर पुत्र हुआ है या किसी की शादी है ! पर यहाँ न पुत्र-जन्मोत्सव, न शादी—था चार विचारवानो की अवारगी का रूमझूम !

सिद्धेश्वरी की आँखें बडी, मेरी बडी अलकें—गणिका ने गुणवन्त से पूछा कि यह कौन है ? 'प्रसाद' ने मनचली मुस्कराहट मे लपेट कर आकर्षक दुष्टता से उत्तर दिया—"ये बड़े पहुँचे हुए औलिया फकीर है !"

जाते-जाते सिद्धेश्वरी ने नाटकीय, साहित्यिक और नमकीन ढंग मे "जय ! शंकर !!" कहकर प्रसाद को नमस्कार किया।

× × ×

'उग्र' ने व्यंग्य किया है कि प्रसाद थे इमारत-पसन्द ! यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूँ कि प्रसाद मान-मर्यादा के प्रति सदैव ध्यान रखते थे। कोई बात ऐसी न हो, जिससे उनके सम्मान मे लाछन लगे। इसे वे किसी स्थिति में सहन नही कर सकते थे। उन्हे 'उग्र' की उग्रता पसन्द नही थी। उग्र के साथ रहने पर जो कठोर सत्य उद्दण्डता के रूप मे प्रकट होता, उससे प्रसादजी खिचे-से रहते थे।

प्रसादजी की दूकान पर प्रायः कुछ ऐसे लोग भी आने लगे जो साधारण श्रेणी के व्यक्ति थे। वे केवल उनकी प्रशसा करते, हाँ मे हाँ मिलाते रहते। पूरी दरबार-दारी होती रहती। यह मुझे तनिक भी पसन्द नही था। मैंने एक दिन रूखे स्वर मे जब कहा तो प्रसाद कहने लगे—क्या ऐसे लोगो को मैं मारकर भगा दूँ !

एक दिन एक महाशय आये, वे हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिख रहे थे। बहुत देर से प्रसाद की तारीफ कर रहे थे—आप धन्य है, आपकी रचनाओं पर मैं मुग्ध हूँ, आप हिन्दी के गौरव है, आदि। सुनते-सुनते तबीयत ऊब उठी। प्रसाद बड़े प्रेम

से उसे पान दे रहे थे। मुझे कोई ऐसा मौका नहीं मिल रहा था कि उसे सचेत करूं। अन्त में मुझे मौन देखकर वह मेरी भी प्रशंसा करने लगे।

मेरे सम्बन्ध में उनका कुछ कहना ही पर्याप्त था। मैंने कहा—मेरी प्रशंसा जो करता है, उसको मैं महामूर्ख समझता हूँ।

मेरे क्रोध से निकले रूखे शब्दों के कारण वे एकदम मौन हो गये, फिर एक शब्द भी न बोले और कुछ देर बाद चले गये।

प्रसाद मुंह फुलाकर बैठे थे। मुझसे कहने लगे—आप कभी-कभी ऐसी बातें करते हैं, जो आपको शोभा नही देती !

प्रसादजी 'तुम' कहकर ही मुझ से बातें करते थे; लेकिन दो ही स्थिति में वह 'आप' का प्रयोग करते थे—या तो कभी रुष्ट हों तब, अथवा किसी विशेष व्यक्ति के सम्मुख जब मेरे प्रति कभी आदर का भाव व्यक्त करना चाहते।

मैंने कहा— जब तक वह आपकी कीर्ति-गाथा गाता रहा, तब तक तो मैं कुछ बोला नही; किन्तु जब वह मेरी ओर झुका, तब मुझे भी अधिकार था कि मैं उसका उचित उत्तर देता।

किसी भी सभा, उत्सव आदि मे प्रसादजी मेरे प्रति आदर और स्नेह का भाव प्रकट करते थे। यह देखकर कुछ लोग मन-ही-मन जलते थे।

२५ अक्तूबर १९३६ ई० की एक घटना मेरी डायरी मे नोट है—

श्री मैथिलीशरण गुप्त को मानपत्र अथवा अभिनन्दन-ग्रन्थ देने के लिए एक सभा हुई थी। प्रसादजी ने कहा था कि तुम्हें घर से लेते हुए सभा मे जाऊँगा। दो या तीन बजे का समय दिया था। मैं उनकी प्रतीक्षा मे था। किन्तु वे आये नही। ऐसा कभी नही होता था कि समय देकर फिर प्रसाद न आवें। वे अपने वादे के बड़े पक्के थे।

मैं अकेला ही घर से चला। सभा-मण्डप के बाहर खड़ा होकर देखने लगा। काशिराज आदित्यनारायण सिंह सभापति का आसन ग्रहण किये हुए थे। मंच पर श्री मैथिलीशरण गुप्त उनके पास बैठे थे।

प्रथम पंक्ति की कुर्सियों की ओर मेरी दृष्टि गई—प्रसादजी हाथ हिलाकर मुझे बुला रहे थे। इतने मे एक प्रबन्धकर्ता मुझे लेने के लिए आये। मैं भीड़ से निकलता हुआ वहाँ पहुँचा प्रसादजी ने एक कुर्सी मेरे लिए पहले से ही सुरक्षित रखी थी। मैं भी बैठा। भाषण, कविताएँ होती रही। सभा भंग होने पर मैथिलीशरण जी के साथ प्रसादजी ताँगे पर बैठे, मैं दूर खड़ा था। गुप्तजी के कई घनिष्ट साथी उनके साथ जाने की उत्कण्ठा में थे। प्रसादजी ने मुझे बुलाते हुए कहा—बैठो न !

उस दिन सन्ध्या समय पण्डित जवाहरलाल जी का जुलूस मैंने प्रसादजी के साथ ही देखा था।

प्रसादजी न तो इमारत-पसन्द थे और न झोपड़ी-पसन्द। उन्हें समझना अत्यन्त कठिन था। वे एक रहस्यपूर्ण मनुष्य थे। कभी तो बालकों की तरह सरल दिखाई पडते, और कभी अकडकर अटल हिमाचल हो जाते।

आगा हश्र काश्मीरी पारसी स्टेज़ के विख्यात और सफल नाटककार थे। वे उर्दू नाटको के शैक्सपियर माने जाते थे। वे स्वभाव के बहुत ही उद्दंड थे और बिना हिचक के अपशब्दों का प्रयोग कर डालते थे। शराब के नशे मे सदैव मस्त रहते। उनका व्यक्तित्व भी विशाल और प्रभावशाली था।

प्रसादजी की दूकान के पास ही उनका मकान था। जब वे बनारस आते तो उसी रास्ते से आते-जाते दिखाई पडते थे। प्रसाद से सामना होने पर भी साहब-सलामत न होती थी। दोनों एक-दूसरे को जानते थे, किन्तु दोनो ही अपनी-अपनी अकड़ मे थे। कितने आश्चर्य की बात है कि दोनों प्रकाण्ड नाटककार, जीवन भर सामना होने पर भी एक-दूसरे से बोले नही!

मैं आगा साहब से परिचित था। प्रसादजी की दूकान पर मुझे देखकर वह रुक जाते। मैं खड़ा हो जाता, उनके साथ चलने लगता, वे मेरे कन्धे पर हाथ रखे बड़ी आत्मीयता से बाते करते रहते। पान खिलाकर जब उनके साथ मै दूकान पर वापस आता, तो वे प्रसाद के प्रति उपेक्षा का भाव धारण कर आगे बढ जाते थे।

आगा साहब की उद्दण्डता और स्पष्टवादिता पर मैं मुग्ध था। उनके प्रति मेरे हृदय मे अत्यधिक आदर था; किन्तु प्रसादजी उन्हे अशिष्ट समझते थे।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने प्रसाद की कविताओं के सम्बन्ध में कुछ उपदेश दिया, यह बात उन्हे इतनी बुरी लगी कि उनके समय में कभी भी 'सरस्वती' के लिए कोई रचना उन्होने नही भेजी। इसी मतभेद के कारण ही 'सरस्वती' की जोड़ की अन्य पत्रिका 'इन्दु' का प्रकाशन भी उन्ही की प्रेरणा से हुआ।

कुछ लोगों की धारणा थी कि प्रसाद के नाटक रंग-मंच के उपयुक्त नही होते। इस बात से प्रसादजी को बडी चिढ थी। वे रुष्ट होकर कहते—हाँ, पारसी स्टेज की अस्वाभाविक उछलकूद मेरे नाटको मे नही है। वैसा मनोरंजन मैं किसी तरह भी नही देना चाहता, भले ही मेरे नाटक रंग-मंच के उपयुक्त न हों!

उन दिनों भारतेन्दु नाटक-मण्डली ने प्रसाद का 'अजातशत्रु' आदि कई नाटक रंग-मंच पर सफलतापूर्वक खेले थे। मैं उनके साथ देखने गया था। उस सफलता में उनकी भीतरी प्रसन्नता छिपी हुई थी।

मेरा अनुमान है कि अपनी न झुकनेवाली प्रकृति के कारण ही वे खुलकर किसी से प्रेम नहीं कर सके। जब से मेरा-उनका साथ हुआ, मैंने कभी उन्हें किसी स्त्री के आतंक में नही देखा। सौन्दर्य के प्रति आकर्षण अवश्य था, और किसी अनोखी वस्तु के सम्मुख आ जाने पर वे अपने चश्मे के शीशे को रूमाल से साफ करने लगते थे।

'कामायनी' और 'आँसू' के रचयिता को केवल एक गौनहारिन और एक वेश्या से प्रेरणा मिली हो, यह संभव-सा नही दीखता । मैंने इस संबंध मे उनसे प्रश्न किया कि वह कौन थी ? इस रहस्य को कभी मेरे सामने भी उन्होने नही खोला । केवल हँसकर कहने लगे—कभी लिखोगे तो फोटो दे दूँगा !

जिन दिनो प्रसाद वासना की दुर्बल रेखाओ पर भटक रहे थे, उन्ही दिनों उन्हे एक पुत्र हुआ और चल बसा । इस घटना का विशेष रूप से उन पर प्रभाव पड़ा । तभी से वे उस मार्ग से अलग हुए और जीवन भर फिर कभी उस ओर उनका ध्यान नही गया ।

पहली पत्नी के देहान्त के वाद उनका जीवन बडा अस्त-व्यस्त हो गया था । वे अपने समय को मित्रो और साहित्य मे ही व्यतीत करते रहे । उनकी मनोवृत्ति धार्मिक विचारो की ओर झुकी । यही कारण था कि सब कुछ ढोग समझते हुए भी उन्होने विधिवत् अपने पूर्वजो का गया-श्राद्ध किया ।

अपनी भाभी के विशेष आग्रह पर उन्होने फिर से विवाह करना स्वीकार किया । यह विवाह एक गरीब परिवार (देवरिया, गोरखपुर) मे हुआ था । वह स्त्री एक बार भी ससुराल नही आई और साल भर के भीतर ही उसकी मृत्यु हो गई ।[१]

प्रसादजी ने फिर विवाह न करने का निश्चय कर लिया था, किन्तु अधिक दिन बीतने पर भाभी के रोने पर और वश चलने के लिए उन्हे फिर तीसरा विवाह करना पडा ।[२]

प्रसाद आरम्भ से ही अध्ययनशील थे । उन्होने शास्त्र, पुराण और अन्य सभी धार्मिक ग्रन्थो का अध्ययन किया था । प्रत्येक धर्म की वास्तविकता और आडम्बर

---

१ प्रथम विवाह १९०८ मे पडरौना—बलोचहा मे हुआ दूसरा भी उसी कुल की दूसरी पट्टी मे १९१७ मे हुआ । उस परिवार की समृद्धि का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि पडरौना राज्य सदा उन लोगो का देनदार रहता था । विवाह के बाद मेरी दूसरी सपत्निमाता आईं और प्राय: डेढ वर्ष बाद प्रसूति ज्वर मे उनका शरीरान्त हुआ । इसका विवरण 'कानन कुसुम' की अवतरणिका मे अवलोक्य है । देवरिया के जिस गरीब परिवार' की बात कही गई है उसके विषय मे मात्र यह बताना पर्याप्त होगा कि मेरी जननी श्रीमती कमला देवी का वह जन्मस्थान है और मेरे मातामह स्व० रघुबर दयाल के जीवनकाल में यदि व्यासजी वहाँ गए होते तो प्रसन्न हो जाते । क्योकि, श्रेष्ठतम फ्रेंच और स्काच सुराओ से आधी दर्जन 'कद्देआदम' आलमारियाँ समृद्ध रहती थी ।

२ यह प्रसंग भी 'अवतरणिका' मे स्पष्ट है ।

-से वे भलीभाँति परिचित थे। पाप-पुण्य, अच्छे-बुरे को खूब अच्छी तरह समझते थे। किन्तु विज्ञान के इस युग मे भी वे वहमी थे !

प्रसाद के वहमी होने के अन्य उदाहरण भी है। घर से कपडा पहनकर बाहर निकले, बिल्ली ने रास्ता काट दिया तो सहम गये। खाली घड़ा ले जाते देखा तो 'धत् तेरे की'—मुंह से निकल पड़ा, 'अथवा किसी बातचीत के क्रम मे किसी ने छीक दिया तो उसे अशुभ मानने लगे। इस तरह का उनका स्वभाव था।

प्रसादजी के चरित्र और विलास के सम्बन्ध मे इस तरह का विवरण, कुछ लोगों को असंगत और अविवेकपूर्ण प्रतीत होगा। मेरा तात्पर्य स्वप्न मे भी न होगा कि अपने पूज्य गुरु के सम्बन्ध मे इस तरह की बाते लिखकर उनके चरित्र मे धब्बा लगाऊँ अथवा लोगों को टीका-टिप्पणी का अवसर दूं। प्रसादजी का स्वय विचार था कि स्पष्ट रूप से, समय आने पर वे अपनी जीवन-गाथा लिखेगे। समय के साथ उनके विचार भी आगे बढ गये थे। 'जागरण' मे प्रकाशित 'चरित्र और कलाकार' शीर्षक सम्पादकीय लेख मे उन्होने अपना मत प्रकट किया था—

'यदि कोई कलाकार चारित्रिक पतन के कारण अपने व्यक्तित्व को नष्ट करके भी कला मे कल्याणमयी सृष्टि कर सका है, तो उसका विशेषाधिकार मानते हुए प्राय लोग देखे जाते है····यह नि सकोच कहा जा सकता है कि कलाकार की कसौटी उसकी कला है, न कि उसका व्यक्तित्व···बिना जले हुए, विदग्ध साहित्य की सृष्टि नही हो सकती, और तब कलाकार अपनी कला मे व्यक्तित्व को खोकर कला के ही रूप से प्रतिष्ठित होता है। उसे जनता का सम्मान मिलता ही है चाहे आज मिले या हजारों बरस बाद !"

'जागरण' के एक अन्य अंक मे फिर वे सम्पादकीय अग्रलेख मे लिखते है -

"हम लोग चारित्र्य की खोज इन्द्रियो की ही सीमा मे करते है, जो मन की दासी हैं। मानसिक सदाचार का इनके लिए कोई अर्थ नही। अन्य छल-कपट, विश्वासघात, कृतघ्नता इत्यादि दुर्बलताओ से हम लोग चारित्र्य का अधिकतर सम्बन्ध नहीं रखते। यही कारण है कि रूढ़ियो से ग्रस्त आलोचक लोग झट से चरित्रहीनता का सर्टिफिकेट दे देते है।"[1]

१ विक्टोरियायी प्योरिटनिज्म उन्हे असह्य था। तब, साहित्य और समाज उस आर्येतर विचारधारा से अभिभूत रहे, उसके प्रतिकार म सम्पादकीय लेख की उधृत पक्तियाँ हैं—चारित्रिक स्खलन की वकालत के रूप मे इन्हे लेना ठीक नही। इस प्रसंग मे पूर्ववर्ती लेख मे श्री दुर्गादत्त त्रिपाठी कहते है—'······· वह अपने मानदण्ड से कवि कर्मा को एक सुस्पष्ट आचार संहिता से शासित समझते थे·······'। किन्तु, उस आचार सहिता को अमान्य करने से कितनी प्रतिभाओ

कविवर 'निराला' के शब्दों में—'सत् असत् के साथ रमण करता है'—प्रसादजी इसका समर्थन करते थे। प्रसाद अत्यन्त हास्यप्रिय थे। प्रातःकाल से लेकर रात तक जहाँ बैठते, चार आदमी घेरे रहते। उनके यहाँ दो-एक 'पेटेन्ट' हँसानेवाले, चुटकुले कहनेवाले व्यक्ति रहते थे। प्रसाद जरा बैठे-बैठे छेड़ देते, फिर हँसते-हँसते सब लोट-पोट हो जाते थे। वे स्वयं भी बड़ा सुन्दर मजाक करते थे, लेकिन केवल अपने अन्तरंग मित्रों से ही। उनकी चुटकियों का उत्तर देना कठिन हो जाता था। उनके पडोस में बचनू महाराज रहते थे; वे बहुत खुली दिल्लगी करते थे। दूकान पर जब कभी शान्तिप्रिय द्विवेदी आ जाते, तब सभी दिल खोलकर व्यंग्य-विनोद करने लगते। मैथिलीशरणजी के साथ जब स्व० अजमेरी जी आते, तो हँसी का समुद्र उमड़ पडता। बूढ़े-बहरे स्व० पं० केदारनाथ पाठक भी अपना जोड़ नहीं रखते थे। प्रसादजी की दूकान पर जब वे आ जाते तो घन्टों मनोरंजन की बातें होती रहतीं। बाबू रामचन्द्र वर्मा के साथ जब स्व० लक्ष्मीनारायणजी आते, उस दिन तो हँसी की वर्षा होने लगती। उन्हें सभी लोग डॉक्टर साहब कहते थे। वे वृद्धावस्था में भी बड़े जिन्दादिल और हँसमुख व्यक्ति थे। उनके चुटकुले बड़े हँसोड़ होते थे। उनकी एक बात याद है। उन्होंने कहा था—मैं अखबारों में जब पढ़ता कि अमुक प्रस्ताव 'कसरत राय' से पास हुआ, तो मै समझने लगा था कि 'कसरत राय' सम्भवतः लाजपत राय के कोई भाई-बन्धु है !

मेरे यहाँ पुत्र उत्पन्न हुआ। बरही की दावत थी। चि० अमृत और चि० ज्ञानचन्द भी उन दिनों आये हुए थे। ऊपर छत पर बैठे हम लोग बातें कर रहे थे। रात का समय था। प्रसादजी मसनद के सहारे लेटे थे। इतने में मेरे एक परिचित बूढ़े मुंशीजी आये। उनकी सूरत, पोशाक और बातचीत ऐसी होती थी कि अपने आप हँसी आ जाती थी। मैने अमृत और ज्ञान से संकेत मे कहा कि उनसे वह पुस्तकवाली बातें छेड़नी चाहिए। लेकिन प्रसादजी को देखकर गंभीर हो जायगा, सब बाते खुलकर नही बतलाएगा। प्रसादजी लेटे थे; हम सब लोग उन्हें घेरकर इस तरह बैठे कि वे छिप गये।

मुंशीजी बैठे। उन्हें यह बतलाया गया कि अमृतलाल इन दिनों सरकारी पुस्तकालय के अफसर हैं और किताबों की खोज में बनारस आये हैं, और मुंशीजी

की उज्ज्वल संभावनाएँ तिरोहित हो गई—प्रत्यक्ष है। व्यासजी से उनके मौलिक मतभेद का यह एक रहस्य है। गुरु शिष्य को पंक से उबारना चाहते थे किन्तु शिष्य उसी में सुखी थे। फलतः उभय निरुपाय हो गए। और अब, 'भ्रान्त अर्थ बन आगे आए बने ताड़ थे तिल के'—(कामायनी)

की किताब अच्छे दाम में खरीद लेगे। मुंशीजी गरीबी की अवस्था में थे। उनके पास कोई ऐसी चीज नही थी, जिसे बेचकर उनका दारिद्र्य दूर हो। १०) रु० महाराज बनारस के यहाँ से उन्हें 'पेन्शन' मिलती थी। उससे काम चलता नहीं था। उनकी दृष्टि मे एक अमूल्य हस्तलिखित पुस्तक, उनके वालिद के समय की उनके पास थी। उसे ही वे अपनी सबसे बड़ी सम्पत्ति समझते थे।

उस हस्तलिखित पुस्तक में कुछ दवाओ के नुस्खे, उर्दू की शायरी और गिरधर की कुंडलियाँ लिखी हुई थीं—जिसे मुशीजी कहते थे कि उनके वालिद की लिखी है और अत्यन्त प्राचीन है; तीन-चार सौ रुपये मिलने पर वे उसे वेच देगे।

मैंने मुन्शीजी को विश्वास दिलाया कि अमृतलाल इसी कार्य के लिए आये हैं और किताब का काफी दाम दिला देगे।

मुन्शीजी को भरोसा हो गया।

अमृत ने पूछा—आपकी पुस्तक कितनी प्राचीन है?

बहुत ज्यादे पुरानी है।—मुन्शीजी ने उत्तर दिया।

उन्होंने सुन रखा था कि पुरानी चीजो का मूल्य अधिक मिलता है।

अमृत ने पूछा—कितने वर्ष पुरानी है, एक अन्दाज से बतलाइये!

अरे यही, एक तीन सौ वर्ष पहले की होगी—मुशीजी ने कहा।

मैंने पूछा—मुशीजी, पुस्तक तो आपके वालिद की लिखी है न?

'हाँ, मेरे वालिद ने खुद अपनी कलम से लिखा है। वह तो शायर भी थे—मुन्शी ने कहा।

अमृत ने पूछा—उनके इन्तकाल को कितना समय हुआ?

हुआ होगा ५० वर्ष—मुन्शी ने सिर खुजलाते हुए बतलाया।

ज्ञानचन्द ने उत्सुकता मे पूछा—और उस किताब को कितनी उम्र मे लिखा था?

अपनी जवानी से लेकर बराबर लिखते गये—उन्होने गम्भीरता से उत्तर दिया।

सब लोग अपनी हँसी दबाये थे—खुलकर हँसने पर फिर मुन्शीजी कुछ नही बताएँगे।

प्रसादजी आड मे छिपे थे। मुन्शीजी को पता नही था कि वे वहीं हैं।

इस तरह सबको भेद प्रकट हो गया कि पुस्तक ६०–७० वर्ष से अधिक पुरानी नही है।

मैंने कहा—मुन्शीजी, उसकी कोई शायरी इनको सुना दीजिये।

मुन्शी ने कहा—मैं किताब ही सबेरे लाकर इनको दिखला दूंगा।

अमृत ने कहा—कुछ याद हो तो सुनाइये न?

सब लोगों के आग्रह पर बड़े संकोच से मुन्शीजी ने कुछ पंक्तियाँ पढ़ी—

हलवाइया शीरी लकब,
फ़रहाद की थी उसको तलब,
चाश्नी करती थी गजब,
मुस्कात है मुख मोड़ के।

अन्तिम लाइन पर कोई अपनी हँसी न रोक सका, सब लोग खिलखिला पड़े। प्रसादजी भी उठ बैठे। उन्हे देखकर मुशीजी और चक्कर मे पड़े, क्योंकि वे जानते थे कि प्रसादजी हलवाई जाति मे उत्पन्न हुए थे।

सब लोग मुंशीजी को बना रहे है—यह मुशीजी भली भाँति समझकर चुप हो गये।

× × ×

"आओ चाणक्य !"—कहकर जब राय कृष्णदासजी प्रसादजी का स्वागत करते, उस समय उपस्थित मित्र मंडली खिलखिला पड़ती।

इसमें सन्देह नही कि प्रसाद की समस्त रचनाओ मे चाणक्य का चरित्र-चित्रण यदि सर्वश्रेष्ठ न माना जाय, तो भी वह प्रथम श्रेणी का अवश्य समझा जायगा ! चाणक्य के चरित्र-चित्रण मे प्रसाद पूर्ण सफल हुए है। लेखक की सहानुभूति अथवा अध्ययन जिस चरित्र पर विशेष रूप से होता है, उसी का चित्रण करने मे वह सफल होता है। चाणक्य के साथ प्रसादजी की लेखनी का चमत्कार स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इसलिए यह निश्चित है कि उसके साथ उनका ऐतिहासिक मनन और सहानुभूति अवश्य है !

प्रसाद के जीवन मे इतने आघात-प्रतिघात हुए कि बचपन से ही जीवन की जटिल समस्याओं की उधेड़-बुन मे उनका समय व्यतीत हुआ था। अनुभव ने उन्हे बतलाया कि बल से अधिक मनुष्य नीति द्वारा सफल हो सकता है !

प्रसाद की नीति देखकर मैं दंग रह जाता था। वे अपने विरोधी और निन्दा करनेवालों से भी कटु व्यवहार नही करते थे। कृष्णानन्द गुप्त ने 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कन्दगुप्त' की समीक्षा लिखी थी। वह 'सुधा' मे छपी, इसके बाद पुस्तकाकार मे प्रकाशित हुई। कृष्णानन्दजी श्री मैथिलीशरण गुप्त की छत्रछाया मे विकसित हुए थे। मैथिलीशरणजी और प्रसादजी मे भीतरी प्रतिद्वन्द्विता चलती रही।

कृष्णानन्द ने प्रसाद के नाटको को असत्य और पाखंड से भरा हुआ प्रमाणित करने का प्रयत्न किया था। उन्होंने लिखा—वह (प्रसाद) उस प्रशंसा के तनिक भी योग्य नहीं, जो किसी प्रकार से उसे प्राप्त हो गई !

वही कृष्णानन्द प्रसाद से भेंट करने आते हैं। प्रसाद के व्यवहार और बातचीत से कही भी ऐसी झलक नही दिखाई पड़ती कि वे उनसे रुष्ट है।

प्रसादजी इस तरह के द्वन्द्व के अभ्यस्त थे। मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि घर मे पट्टीदारो मे झगडा चलता रहा, लेकिन देखने मे प्रत्यक्ष रूप से कोई कुछ समझ न सकता था। ठीक वही क्रम प्रत्येक स्थान पर उनके जीवन मे चलता रहा।

राय कृष्णदासजी, मैथिलीशरणजी और प्रसादजी दोनो के अन्तरग मित्र थे। वे दोनो की प्रतिभा की प्रशसा करते। उनके यहाँ गुप्तजी आते। प्रसाद रायसाहब के यहाँ बराबर जाते। गुप्तजी से घटो बाते होती। गुप्तजी प्रसाद के यहाँ आते। तीनो साथ मे बातचीत, हँसी-मजाक, जलपान और भोजन करते, लेकिन देखनेवाला कभी स्वप्न मे भी कल्पना नही कर सकता था कि मन मे दोनो महाकवियो के प्रतिद्वन्द्विता छिपी है।

प्रेमचन्दजी ने प्रसाद के नाटको के सम्बन्ध मे लिखा था—गडे मुर्दे उखाडना है।' किन्तु सामने आने पर अत्यन्त मैत्रीपूर्वक वह बाते करते। प्रसाद के इतनी सहनशक्ति होना बहुत कठिन है। अपनी नीति के कारण आगे चलकर उनके प्रतिद्वन्द्वियो को पराजित होना पडा और अन्त मे समझौता हुआ।

मेरा स्वभाव ठीक इसके विपरीत था। मैं सहन नही कर सकता। एक बार मैं बनारस से बाहर गया था। प्रसादजी के एक अन्तरग मित्र ने मेरे छोटे भाई से मेरी निन्दा करते हुए समझाया कि वह अपना हिस्सा मुझ से अलग कर ले, नही तो एक दिन घोर सकट मे पडेगा। क्योकि सब सम्पत्ति मै फूँककर नष्ट कर दूँगा।

मेरे छोटे भाई ने उत्तर दिया—आप भैया और प्रसादजी के मित्र है, इसलिए मैं कुछ नही कह सकता। यदि दूसरा कोई इस तरह कहता तो मेरे उत्तर को वह जीवन भर न भूलता।

अन्त मे नम्रतापूर्वक उन्होने उमसे कहा कि ये बाते मेरे आने पर प्रकट न हो। जब मैं आया तो उस घटना का विवरण मुझे मिला। मैंने प्रसादजी के सामने, तीखे शब्दो से उनके मित्र का 'सम्मान' किया। प्रसादजी मेरी प्रकृति से परिचित थे। कही इसका रूप और बढकर भीषण न हो उठे, यह समझकर वे उसी रात अपने मित्र के यहाँ जाकर कुछ कह आये। दूसरे दिन प्रातःकाल उनके मित्र मेरे यहाँ आये। मैं सोया था। जगने पर मालूम हुआ कि अमुक सज्जन आये है। सामना होने पर मैं बडे ध्यान से उनकी ओर देख रहा था।

उन्होने कहा—मैं कुछ न कहकर केवल आपसे क्षमा चाहता हूं।

उनके आने से ही मेरा क्रोध शान्त हो गया था। मैंने क्षमा कर दिया।

प्रसादजी की दूरदर्शिता को मैं समझ गया था। दोनो अभिन्नों मे खटपट की परिस्थिति मे वे किसका साथ देगे। उसे बचाने के लिए ही उन्होने ऐसा किया था।

यहाँ उनके 'आँसू' की ये पक्तियाँ याद आती है—

हो उदासीन दोनो मे, सुख-दुख मे मेल कराये,
ममता की हानि उठाकर, दो रूठे हुए मनाये।

मित्रो मे खटपट होने पर प्रसादजी की यही जीवन-नीति थी !

उन दिनों हिन्दी साहित्य के बाज़ार में तू-तू-मैं-मैं का युग था। दलबन्दी होने लगी। महारथियों ने अपना-अपना अखाड़ा जोरदार बनाया।

प्रसाद-साहित्य के समर्थक और उनके स्कूल के समालोचकों में—श्री रामनाथ लाल 'सुमन' और पं० नन्ददुलारे वाजपेयी अपना विशेष स्थान बना चुके थे। इन लोगों को मेरा और प्रसादजी का पूर्ण समर्थन प्राप्त था।

प्रसादजी जिसे सहयोग देते थे, पूरी तरह। कभी पीछे नही हटते थे।

'सुमन' पहले जिस मकान मे रहते थे, वहाँ सुमन का प्रेम-सम्बन्ध हो गया था। कुछ दिनों मे रहस्य स्पष्ट होने लगा। अन्त मे एक दिन वातावरण बड़ा भयानक हो उठा। सुमन वहाँ से चुपचाप सीधे प्रसादजी के यहाँ आये। उन्होंने बड़े कारुणिक ढंग से अपनी कहानी प्रसाद को सुनाई। प्रसाद को दया आ गई। उनके अतिरिक्त कोई भी 'सुमन' का सहायक नही था। प्रसाद ने अपने एक नौकर गंगा हज्जाम को बुलाकर कहा —तुम वहाँ जाकर इनका सब सामान उठा लाओ। इनके घर के लोगों का भी उचित प्रबन्ध कर देना।

प्रसाद ने अपना एक मकान 'सुमन' के रहने के लिए दे दिया। गगा ने वहाँ का पूरा विवरण सुनाया। वह मकान-मालिक बड़ा दुष्ट प्रकृति का आदमी था। प्रसादजी का नाम सुनकर ही वह शिथिल हुआ, अन्यथा उसके चक्र मे पडकर 'सुमन' को अनेक संकटों का सामना करना पडता। गगा वहाँ से सब सामान और सुमन के घर के लोगों को ले आया।

'सुमन' अब प्रसाद के मकान मे ही सपरिवार रहने लगे। प्रति दिन प्रसाद की मंडली मे सुमन दिखाई पडते। उनका लटका हुआ मुख और गम्भीर मुद्रा, हम लोगों के मनोरंजन को उत्साहित करती थी।

अनेक घटनाओं को सुनकर सुमन कभी-कभी विचलित हो उठते।

एक दिन प्रसादजी ने बतलाया कि 'सुमन' कमरा बन्द कर पड़े है, किसी तरह द्वार नही खोलते।

मैंने कहा —मैं अभी जाकर उसे लाता हूँ।

मैं गया। बहुत प्रयत्न करने पर भी सुमन सामने नही आये। अन्त में विवश होकर मैं लौट आया। उस दिन की घटना का वर्णन 'सुमन' के एक पत्र से होता है।

सौरभ कुटी, काशी
१८–३–१९२७

प्रिय विनोद,

मेरे जीवन के बारे मे सब घटनाये न जानते हुए, तुम उसका खाका जानते-बूझते हो। अभी आज सबेरे तक मेरी तबीयत इस योग्य थी कि मैं हंसता, बोलता,

कूदता, फाँदता था। ११-१२ बजे मुझे एक पत्र (बाहर का) प्राप्त हुआ, जिसमे कुछ ऐसी शोकजनक घटनाएँ थी, जिसने मुझे बेहाल कर दिया। मैं सच कहता हूँ कि मेरे हृदय की अवस्था (जिस समय तुम आये) इस योग्य नही थी कि तुमसे कुछ भी बातचीत कर सकूँ। मेरा मन रोने का करता था। सबके सामने रो भी नही सकता था, इसलिए मैंने दरवाजे बन्द कर लिये। मुझे दुख है कि मैं इस घटना के सम्बन्ध में, किसी से कुछ कह नही सकता, पर इतना विश्वास दिलाता हूँ कि उनके होने पर पत्थर-हृदय भी पागल हो जायगा! विनोद, तुम नही समझ सके या सकते कि इस समय मेरे ऊपर क्या बीत रही है और मेरे हृदय की क्या अवस्था है! कभी-कभी जीवन में ऐसा अवसर आता है, जब बोलना-चालना, हँसी-दिल्लगी कुछ अच्छी नहीं लगती। आज मुझ पर वही बीत रही है।

विनोद, तुम सहृदय हो; तुम हृदय बेधनेवाली उन घटनाओ का अनुमान कर सकते हो जो आदमी को विरक्त कर देती है। मैं क्या कहूँ, किसी तरह अपने को सम्हाल रहा हूँ।

तुम्हारा
'सुमन'

'सुमन' आरम्भ से ही अपनी बातों को गुप्त रखते थे। वे खुल कर मित्रो के सामने अपने हृदय की बाते बताना पसंद नही करते थे। उनका यह पत्र एक ऐसी परिस्थिति में लिखा गया था, जिसके लिए उन्हे बाध्य होकर लिखना ही पडता। वे सिद्धान्त के प्रचारक और आदर्श के आवरण में अपने को छिपाये हुए थे।

प्रसाद पर एक आलोचना उन्होने लिखी। प्रसाद ने पढ़कर मेरे सामने फेंक दिया। वह हम दोनों को पसन्द नही आई। मैंने पत्र द्वारा इसकी सूचना सुमन को दे दी। उसके उत्तर में उन्होंने लिखा—

सस्ता-साहित्य-मंडल
अजमेर
४-८-२८

भाई विनोद,

तुम शायद एकांगी समालोचनाओ के पक्षपाती हो, इसीलिए मेरी बातों में तुम्हें महत्व नही मालूम पड़ता। हृदय विशाल होने पर मित्रों की सच्ची बातें नही खटकती—तुमको मेरी बाते खटकती है तो आश्चर्य है! सत्य ऐसी ही रूखी वस्तु है।

मैं तो हिन्दीवालों के सम्बन्ध मे निराश होता जा रहा हूँ। अंग्रेजी मे कैसी आलोचनाएं निकलती हे। घनिष्ट से घनिष्ट मित्र साहित्यसेवी की""""गुण-दोष की विवेचना के साथ उसके व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए कैसी सुन्दर आलोच-

नाएँ होती है ! मैंने उसी ढंग पर चलने की कोशिश की थी। लेख छपे या न छपे, मुझे सन्तोष है कि मैंनें प्रसादजी के प्रति कर्त्तव्यपालन किया है !

तुम्हारा
'सुमन'

सुमन की उड़ान आरम्भ से ही लम्बी होती थी। हिन्दीवालो के प्रति उन्हे घोर निराशा थी, वह सदैव बर्नार्ड शॉ, मैटरलिंक और रोम्यॉं रोलॉं से कम बाते न करते थे। उनकी बातों लेकर मंडली में काफी मनोरंजन होता था। एक बार उसी ढंग का एक लेख गौड़जी ने भी 'जागरण' के लिए लिखा था। उसका शीर्षक था—भाई बनार्ड शॉ से भेट।'

१९३० मे सुमन का विवाह हुआ। अब वे पूर्ण गृहस्थ गाँधीवादी के रूप मे सन्तुष्ट और सुखी है।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने हिन्दू विश्वविद्यालय से एम० ए० पास किया था। वे निरालाजी के गाँव के ही रहनेवाले है। अपने अध्ययनकाल से ही वे प्रसादजी के यहाँ आते थे। प्रेमचन्दजी और मैथिलीशरण गुप्तजी की रचनाओ पर उन्होंने अनेक आलोचनाएँ लिखी थी। उनकी आलोचनाओ का उस समय काफी प्रभाव पडा था। प्रेमचन्दजी तो उनसे घबडा उठे थे और उनके प्रति शिष्टाचार भी भूल जाते थे।

प० नन्ददुलारेजी 'भारत' के सम्पादक होकर प्रयाग गये। उनकी सरलता इस पत्र से प्रकट होती है—

लीडर प्रेस
प्रयाग
१०–९–३०

प्रियवर विनोद जी,

भारत के लिए प्रसादजी की कहानी मिली, छप रही है। भारत बिना आप लोगो के, अच्छे ढंग से नही निकल सकेगा। मैं तो इस क्षेत्र मे अभी रंगरूट ही कहा जाऊँगा.........आपके सहृदय भाव को मैं पहचान गया हूँ, इसीलिए मुझे अपने व्यवहार की चिन्ता नही रहती।

आपका ही—
नन्ददुलारे

नन्ददुलारजी के प्रति प्रसादजी का भी स्नेह-भाव था। प्रसादजी के प्रयत्न से ही वे 'भारत' के सम्पादक नियुक्त हुए थे।

प्रसाद के आदेशानुसार ही प० वाचस्पति पाठक भारती भण्डार के व्यवस्थापक नियुक्त हुए। प्रसाद अपने सभी स्नेह-भाजनो के प्रति सदैव अपना कर्त्तव्य पालन करते रहे। केवल एक मैं ही ऐसा हूँ। जो उनकी विशेष कृपा का पात्र होते

हुए भी, अपने स्वाभिमान के कारण कोई आर्थिक लाभ उनके द्वारा नही उठा सका। लाभ ही क्यो, मुझे पर्याप्त हानि भी उठानी पडी।

प्रसादजी को पत्र-पत्रिकाएँ निकालने की बडी लालसा रहती थी। जब किसी नवीन पत्रिका के प्रकाशन की चर्चा छिडती, तब वे बड़े उत्साह मे उसकी प्रत्येक बात पर ध्यान देते —कितनी छपेगी ? कागज और छपाई का हिसाब बनने लगता। उनकी इसी प्रवृत्ति के कारण 'इन्दु का जन्म हुआ और उन्ही की प्रेरणा से 'जागरण' और 'हस' प्रकाशित हुए थे। इन तीनो पत्र-पत्रिकाओ को उनका हार्दिक सहयोग प्राप्त था। बहुत कुछ मैटर वही प्रत्येक अंक के लिए स्वयं प्रस्तुत कर लेते थे। उन्ही के आदेशानुसार पत्र की नीति और 'स्टैन्डर्ड' निश्चित होता था।

प्रत्येक अंक को वे बडी सावधानी से देखा करते थे और एक-एक फार्म की बडी उत्सुकता से प्रतीक्षा करते थे।

प्रसादजी ने अपनी समस्त पुस्तको का अधिकार मुझे दे दिया था। जो पुस्तके भारती-भण्डार द्वारा प्रकाशित हो चुकी थी, उन्हे छोडकर जो कुछ आगे वे लिखते, वह सब मै ही प्रकाशित करता - ऐसा उन्होने वचन दे दिया था। इसी बल पर मैंने पुस्तक प्रकाशन का कार्य आरम्भ किया। पुस्तक-मन्दिर' की स्थापना हुई। 'एक घूंट' और 'आधी' मैं प्रकाशित कर चुका था और उपन्यास लिखने के लिए प्रसाद से मेरा विशेष आग्रह था।

'जागरण' मे 'तितली' उपन्यास वे धारावाहिक रूप से लिखते रहे। धीरे-धीरे उपन्यास समाप्त हो जायगा इसी तरह नियमित क्रम से वे लिखते भी रहेगे—ऐसा मेरा विश्वास था।

पाक्षिक जागरण के १२ अक निकले। ६ मास म ही चारो ओर से सकट का सामना करना पडा। 'जागरण' बन्द हुआ। 'तितली' के फर्मे पुस्तक रूप मे छप चुके थे, केवल कुछ अश बाकी था। महीनो, प्रतिदिन अनुरोध और आग्रह का परिणाम कुछ न हुआ। प्रसादजी ने उस ओर ध्यान नही दिया। सदैव बीमारी और लाचारी का बहाना कर टालटूल करते रहे। महीनो बीते। मैंने देखा कि अब उपन्यास पूरा होता नही दिखाई पडता। उधर श्री राय कृष्णदास से प्रसाद की कोई दूसरी स्कीम चल रही थी।

एक दिन कुछ उखड़े स्वर मे मेरी—उनकी बातचीत हुई। वे बाहर चौकी पर बैठे थे। घन्टो इधर-उधर की बातो के बाद जब मैंने कहा—तितली को पूरा कर दीजिये, बड़ी हानि हो रही है !........

उन्होने कहा —क्या 'तितली' के लिए मैं अपनी जान दे दूं।

मैं एक शब्द भी न बोला। चुपचाप वहाँ से चला आया। कई दिनों तक उनके

वहाँ नहीं गया। उनके प्रति मन दुखी हो चुका था। ऐसा कभी नही होता था कि बनारस में रहकर किसी दिन उनसे भेंट न हो।

एक सप्ताह के बाद प्रसाद मेरे यहाँ आये। मैं नीचे अपने बड़े कमरे में बैठा था।

छोटे कमरे में बैठते हुए उन्होंने कहा—जरा यहाँ आइयेगा ?

मैं उनके सामने बैठ गया। दोनों की आकृति बिगड़ी हुई थी।

सिर नीचा किये कुछ देर वे चुप बैठे रहे। मैं दूसरी ओर देखता रहा।

उन्होंने कहा—देखिये, मैं एक बात आपसे कहना चाहता हूँ.......मैं उनकी ओर देखने लगा।

उन्होंने कहना आरम्भ किया—अपने जीवन में मैं इसकी कभी चिन्ता नही करता कि कोई मुझसे प्रसन्न हो अथवा रुष्ट हो; लेकिन आपको मैने अपना आत्मीय समझा, अपने छोटे भाई की तरह मानता रहा। इसलिए मेरे-आपके दिल में यदि कोई अन्तर पड गया हो तो उसे साफ कर लेना चाहिये।

मैं उनकी बातो पर विचार करता रहा। कुछ देर बाद मैंने कहा—वह अब साफ नही हो सकता !

उन्होंने अन्तिम बार पूछा—साफ नही हो सकता ?

मैंने कहा—नही !

वे आवेश मे छड़ी उठाकर उठे और चले गये।

मेरे हृदय में विस्फोट हो रहा था। इस समस्त विश्व मे कोई अपना नही है—प्रति क्षण मैं यही अनुभव कर रहा था। जिसके ऊपर पूरा विश्वास करता था, जिसकी आज्ञा और संकेत पर बराबर चलता रहा, उससे ऐसी आशा नहीं थी। मैं महीनों घर से बाहर नही निकला। क्योंकि प्रसादजी को छोड़कर दूसरा कोई ऐसा नही था, जहाँ मैं जाता।

यह आघात इतना भीषण था कि जीवन पर्यन्त फिर वैसा अनुभव मैंने नहीं किया।

पं० वाचस्पति पाठक कभी आते तो प्रसाद का समाचार मिलता। उन्होंने भी बहुत प्रयत्न किया, मुझे बहुत समझाया; लेकिन मैं अपने विचार पर अटल था। मैंने पाठक से कहा—मैं चाहता हूँ कि तितली के फर्मे उनके यहाँ भेज दो !

सम्भवतः यही बात वे लोग भी सोच रहे थे !

पाठकजी के प्रयत्न से 'तितली' के फर्मे उठकर भारती भण्डार चले गये। लागत से भी कम पैसे उसके मिले। जहाँ इतनी बड़ी हानि हो चुकी थी, वहाँ पैसों का प्रश्न ही क्या ! लेकिन नहीं क्यों, इसी पैसे के प्रश्न में ही तो सब कुछ बँधा हुआ था।

तितली उपन्यास पर मेरा पूरा अधिकार था। मेरी इच्छानुसार ही वह लिखा गया था। मैंने प्रसादजी से कहा था कि इस नवीन उपन्यास की भाषा सरल हो और ग्रामीण चित्रण हो। उन्होंने उसी क्रम से उसे लिखा भी। उस पर मेरी ममता थी। मनोमालिन्य और आवेश में मैंने हजारों रुपयों की अपनी हानि की।

दो महीने भी नही हुए थे, तितली प्रकाशित हो गई। मेरे कहने पर वह पूरी नही हुई, और फर्मे भेजते ही इतनी शीघ्रता से प्रकाशित हो गई—इस विचार से मेरा रोष और भी तीव्र हो उठा। फिर 'जले पर नमक छिड़का गया था—पुस्तक पर लिखा था—'विनोद के लिए' प्रसाद मेरे स्वभाव से परिचित थे, उन्होंने समझा था कि इस प्रयोग के कारण मेरे भाव बदल जाएँगे।

उनके संसर्ग में रहनेवालों के सामने उनके प्रति कुछ खरी और सत्य बातों का मैंने प्रयोग किया। मुझे विश्वास था कि वे बाते उनके कानों तक पहुँच जाएँगी। उसे सुनकर उन्होंने कहा—वह जो चाहे कहे किन्तु मै उनके प्रति कुछ नही कह सकता !

मैंने समझा कि वे कह ही क्या सकते है !

दो-एक बार सडक पर वे जाते दिखाई पडे। दृष्टि बचाकर अलग हो गया। मेरा—उनका सामना नही हो सका। इस तरह १५ महीने कट गये। जहाँ एक दिन का नागा अखरता था, वहाँ इतना लम्बा समय कट गया।

वाचस्पति आते और प्रसाद के सम्बन्ध मे ऐसी बाते करते, जिससे मलिनता दूर हो जाय। उन दिनों उनका स्वास्थ्य भी खराब हो गया था। बहुत दिनों से बीमार थे। मैंने समझा कि इस क्षणभंगुर जीवन के अस्तित्व को जानते हुए भी इतना द्वन्द्व ठीक नही। जो हानि होनी थी, वह तो हो चुकी। फिर मेरे भाग्य मे जो है, वही होगा ! उसमें प्रसाद या अन्य कोई क्या कर सकता है ?

उस दिन वाचस्पति के साथ मैं प्रसाद के यहाँ गया। मुझे देखते ही वे आश्चर्य से चकित हो गये। उनकी आँखे भरी थीं, मेरा कंठ रुँधा था। कुछ बोलने का साहस नही होता था। हम सब चुप थे।

कुछ देर इधर-उधर की बातें होती रही। देखने में कोई परिवर्तन नही था। चलते समय प्रसाद ने कहा—तुम जो चाहो समझो, किन्तु मेरे हृदय मे कोई अन्तर नही है !

पैसों का प्रश्न ही आपस मे अनबन का मूल कारण होता है। घोर आर्थिक कष्ट के दिनों में भी प्रसाद से किसी तरह एक पैसा कर्ज अथवा सहायता के रूप में मैंने कभी नही लिया था; केवल इसीलिए कि कही हमारी मित्रता में कटुता न उत्पन्न हो।

पुस्तक-प्रकाशन के सम्बन्ध में उनकी योजना थी कि पुस्तक मंदिर, सरस्वती प्रेस, भारती-भण्डार आदि संस्थाओं को मिलाकर लिमिटेड कम्पनी का रूप दे दिया

जाय। मैं उसका मैनेजिंग डाइरेक्टर बना दिया जाऊँ। मैंने उनकी यह योजना अस्वीकृत कर दी। मेरी यह धारणा थी कि सम्मिलित रूप से कार्य करना ठीक नहीं। अन्त में सम्मिलित हिन्दू परिवार की भाँति उसमें भी छीछालेदर होती है और कम्पनी फेल हो जाती है।

प्रसाद ने अपनी साहित्यिक कृति से कोई लाभ नहीं उठाया। मैं जानता था कि वे उससे किसी तरह का आर्थिक लाभ नही चाहते। मैंने अपने मन मे निश्चय कर लिया था कि सफलता और लाभ होने पर, अन्य रूप से उसे उनके लिए उपयोग किया जायगा।

जीवन के अन्तिम प्रहर में प्रसाद की मनोवृत्तियों मे कुछ परिवर्तन हो चला था। वे समझने लगे कि उनकी समस्त पुस्तकों की व्यवस्था एक लिमिटेट संस्था द्वारा संचालित हो, तो फिर हिसाब में कोई त्रुटि न होगी और नियमित रूप से उसकी आय भी प्राप्त होती रहेगी। उनकी योजना भी सफल हुई। श्री राय कृष्णदास ने अपना भारती भंडार, लीडर प्रेस को दे दिया। प्रसाद की समस्त पुस्तकें रॉयल्टी पर थीं। लीडर प्रेस द्वारा प्रबन्ध होने पर उसमे लाभ होने का पूर्ण विश्वास था। ऐसी स्थिति में मेरी संस्था पर उन्हें कोई भरोसा नही था। मेरे सामने आर्थिक कठिनाई भी थी। दूसरी ओर आपस में कहीं पैसे के मामले में अड़चन न पड़े—यही प्रमुख कारण था!

मैं सोचता था कि प्रसाद के आदेशानुसार मैंने सब कार्य किया, फिर भी हजारों का घाटा हुआ। अब किसी तरह पुस्तकों द्वारा उसकी पूर्ति होगी। मेरे–उनके स्वार्थों का द्वन्द्व था।

मैं साफ बातें ही पसन्द करता हूँ। यदि यही बाते प्रसाद स्पष्ट कर देते तो मुझे तनिक भी दुख न होता और मैं प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेता। लेकिन वे गुप्त रूप से भीतर-भीतर काम कर रहे थे। खुलकर बातें करना उनके स्वभाव के एकदम विपरीत था।

मैं यह मानता हूँ कि कर्ज के कारण उनकी आर्थिक स्थिति सदैव मुक्तहस्त होने में बाधक होती थी। प्रसाद ने अपने जीवन मे न तो विलासिता में खर्च किया, न उन्हें कोई व्यसन था। युवावस्था मे वे भाँग पीते थे। जबसे मेरा–उनका साथ हुआ, मैंने कभी कोई नशा करते उन्हें नही देखा। मित्रों के लिए भाँग बनती। वे केवल ठंडाई ही पीते। उनका कहना था कि शराब उन्होंने जीवन-भर नही पी थी। जूए की ओर कभी उनका आकर्षण नहीं हुआ। ऐसी स्थिति मे सदैव ही उनका व्यय सीमित था।

घर से बाहर निकलकर घूमने-फिरने में उन्हें बड़ा आनन्द मिलता था। आवेग के प्रति उनमें आकर्षण था। युवावस्था में घोड़ों की तेज चाल देखने का उनका स्वभाव

था। अवस्था ढलने पर या अनेक बार दुर्घटना का सामना होने के कारण, वे बहुत मन्दगति से चलना पसन्द करने लगे थे। बाद मे मोटर की सवारी उन्हें रुचती थी। जब किसी आकर्षक मोटर को देखते तो कम्पनी का नाम और उसका दाम बड़े कौतूहल से पूछते थे। मोटर पर कम्पनी का नाम देखकर उसके सम्बन्ध मे मैं अन्य बातें बतलाता। प्रति वर्ष नया मॉडल निकलता था। छोटी आस्टिन प्रसादजी को अधिक प्रिय थी। वे एक छोटी मोटर लेना चाहते थे। उसमे खर्च भी कम पड़ता था और खिलौने की भांति दिखाई पडती थी। किन्तु दुर्भाग्य से उसे खरीदने के लिए आर्थिक प्रश्न बाधा डाल देता था।

रेडियो के प्रति भी उनका बहुत आकर्षण था। एक रेडियो सेट खरीदने की उनकी बड़ी इच्छा थी। बीमारी के अन्तिम दिनो मे उन्होने एक रेडियो खरीदा था। पलंग पर वे पड़े थे और सामने दालान मे रेडियो लगा था।

मुझसे उन्होंने पूछा—रेडियो कैसा ?

मैंने कहा—ठीक है। बहुत अच्छा किया। इससे आपका मनोरंजन होगा और सूनापन भी नही मालूम होगा।

रेडियो के आविष्कार पर उन्हे आश्चर्य और कौतूहल दोनो था। बीमारी की अवस्था मे भी वे यंत्र को चलाने (सुई घुमाने) मे विशेष प्रसन्नता अनुभव करते थे।

प्रसादजी की रुचि अग्रेजी फैशन अथवा नई रगत की तनिक भी नही थी। वे प्राचीन संस्कृति के समर्थक थे और खुद भी अपनी पुरानी चाल पर चलते थे। उन्हे पैन्ट और कोट पहने हुए मैंने कभी नही देखा। गर्मी मे कुरता पहनते और कड़े शीत मे चेस्टर पहना करते थे। उन्हे कुरता ही अधिक पसन्द था और गर्मी जाड़े मे बराबर उसे पहनते थे। हलके जाडे मे चादर कधे पर रख लेते। उन्हे तूश बहुत ज्यादा पसन्द था। घर पर आधे बाँह की बन्डी ही पहने रहते थे। कमीज पहनते हुए भी मैंने उन्हे कभी नही देखा। खद्दर के वे प्रेमी थे। हाथ के बने वस्त्र ही उनकी रुचि के अनुकूल थे। ढाके का मलमल और मुर्शिदाबादी सिल्क उन्हे अत्यन्त प्रिय था। रुई की बन्डी और चेस्टर पर सकरपारे की सीवन उनकी अपनी विशेषता थी। सबसे अधिक उन्हे सुँघनी रग ही भाता था।

मैंने एक दिन मजाक मे उनसे पूछा—सुँघनी साव होने के कारण ही क्या आप सुँघनी रग पसन्द करते है ?

मुस्कराते हुए उन्होने कहा—तुम यह नही समझते कि गन्दा होने पर भी यह रंग अपना असली रूप नही खोता। इस पर दूसरा रंग चढ भी नही सकता।

प्रसाद के स्वभाव मे सादगी और उनकी पोशाक में पुरानी संस्कृति झलकती थी।

हिन्दी-संसार मे प्रसाद की ख्याति बढ रही थी। पत्र-पत्रिकाओं से प्राय उनकी

फोटो माँगी जाती। उनके संग्रह में बचपन के कई चित्र थे, प्रौढ़ावस्था के भी कई चित्र थे, किन्तु प्रकाशन के उपयुक्त उनका कोई चित्र नहीं था। मेरे आग्रह पर उन्होंने अपना चित्र खिंचवाया। बहुत प्रयत्न करने पर भी उनकी कोई स्वाभाविक फोटो नहीं उतर पाई। फोटो खींचते समय आकृति ऐसी हो जाती जो बनावटी मालूम पड़ती। चित्र खिचवाते समय वे स्वयं गड़बड़ा जाते थे। यही कारण है कि उनका कोई भी चित्र विशेष आकर्षक नही बन सका।

प्रसाद की आँखों में स्वाभाविक लालिमा थी। बातचीत में वे बड़े ही सरस थे। दूसरों की कहानी बड़े चाव से सुनते; छेड़-छेड़कर जो कहने लायक न होती, उसे भी सुन लेते। मीठी चुटकियों से गुदगुदा देते। लेकिन अपने पते की बात कभी भूलकर भी न कहते। 'लहर' की इस पंक्ति में उनके स्वभाव की यही गोप्यता है—"क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ ?"

प्रसादजी से अलग हुए एक युग बीत गया। किन्तु आज भी उनकी मुस्कराती हुई आकृति सामने खड़ी है।

प्रसाद से परिचित सभी लोग जानते थे कि पत्र का उत्तर देने में वे बहुत शिथिल थे। इसका प्रमुख कारण मैं यही समझता हूँ कि अपनी महानता और अपने पत्रों के महत्व को वे भलीभाँति समझते थे। इसीलिए पत्र-व्यवहार में अपने विचारों को अपनी लेखनी से वे प्रकट नही करना चाहते थे।

व्यवसाय सम्बन्धी जितने पत्र आते, उनका उत्तर वे प्रतिदिन स्वयं लिखते या कर्मचारी से लिखा देते थे; किन्तु साहित्यिक पत्रों पर विशेष ध्यान नहीं देते थे। ऐसे पत्रों का उत्तर मैं ही दिया करता था। पत्र-पत्रिकाओं में उनकी रचनाएँ भी मैं ही भेजा करता था।

मैं उनके जीवन और साहित्य के सम्बन्ध में आवश्यक सामग्री एकत्रित कर रहा था। उन्होंने अपने सभी पत्रों को मुझे दे दिया था। आरम्भ से जितने पत्र उनके पास आये थे, व्यक्तित्व और महत्व के अनुसार मैंने सबका क्रम लगा दिया था। मनोमालिन्य होने पर भी इस संग्रह को उन्होंने मुझसे वापस नही माँगा था।

बीमारी के अन्तिम दिनों में, एक बार बातचीत के सिलसिले में उन पत्रों के सम्बन्ध में उन्होंने पूछा। मैंने अपने मन में समझा कि सम्भवत: उन पत्रों को वे अपने पास ही रखना चाहते हों ! अतएव मैंने कहा—पत्रों का क्रम लगा चुका हूं; किसी दिन सब लेता आऊँगा। वे चुप थे, इसलिए मेरा विश्वास दृढ़ हो गया।

मैंने जीवन भर प्रसाद से कोई वस्तु नही माँगी थी, अतएव उसे भी वापस कर देना उचित समझकर मैं उस संग्रह को उनके सामने ले गया। उन्हें सब दिखला और समझाकर मैंने कहा—अब इसे आप अपने यहाँ सुरक्षित रखें।

मैं चला आया। उसके कई दिनों बाद नौकर ने दो पुस्तकें लाकर मुझे दी। यह

'प्लूटार्क्‌स लाइफ' के दो भाग थे।[1] इस पुस्तक का अंग्रेजी साहित्य में बड़ा महत्व है और शेक्सपियर जैसे महान नाटककार ने इसकी सहायता से अपने नाटक लिखे थे। मेरे पिता के संग्रह मे ऐसी ही अमूल्य पुस्तके थी। प्रसादजी जब कभी कोई पुस्तक मेरे यहाँ से ले जाते तो उसे पढ़कर वापस कर देते; किन्तु 'प्लूटार्क्‌स लाइफ' के दोनों भाग वे अपनी आलमारी मे रखे थे। मैंने कभी उसे वापस भी नही माँगा था।

वर्षों के बाद जब उन्होने स्वयं ही उसे वापस कर दिया, तब मैंने समझा कि वे अपने देने-पावने का हिसाब बराबर कर रहे है!

लखनऊ प्रदर्शनी देखकर मैं लौटा था। उसका वर्णन सुनकर प्रसादजी वहाँ जाने के लिए प्रस्तुत हुए। मुझे फिर से अपने साथ ले जाने के लिए उन्होंने आग्रह किया तो मैंने कहा—सब व्यवस्था ठीक कर दूँगा। आप देख आइये!

वे अपने पुत्र के साथ लखनऊ गये। वहाँ से लौटने पर बीमार पड़े। दिन-पर-दिन अवस्था बिगड़ती ही गई। डॉक्टरो ने क्षयी बतलाया।

मैं बराबर मिलने जाता था। घंटो बाते होती। आरम्भ मे उन्हे आशा थी कि वे निरोग हो जाएँगे, किन्तु अन्त मे हताश हो गये थे।

प्रसाद अपना साहित्यिक कार्य समाप्त कर चुके थे। आगे चलकर वे कुछ ठोस पुस्तकें देना चाहते थे। 'इन्द्र' पर एक बहुत खोजपूर्ण नाटक लिखने का उनका विचार था। इसके लिए वे कई वर्षो से अनुसन्धान कर रहे थे। यह उनका सर्वश्रेष्ठ नाटक होता—ऐसी उनकी धारणा थी। इसके अतिरिक्त वे एक दर्जन छोटे उपन्यास लिखनेवाले थे। 'इरावती' उसका प्रथम उदाहरण है।

प्रसाद सब तरफ से अपनी स्थिति ठीक कर चुके थे। अपनी रुचि के अनुसार,

१. यहाँ प्लूटार्क्‌स लाईफ से प्लूटार्क की जीवनी का भ्रम नही होना चाहिए। वस्तुत 'प्लूटार्क्‌स—पैरेलल लाइव्स' की दो जिल्दे रही जिन्हे व्यासजी को वापस भेजने का आदेश मिला था। प्लूटार्क के विषय मे ज्ञातव्य है कि उसके जन्म के सौ वर्ष पूर्व से ग्रीस रूम साम्राज्य का प्रान्त हो गया था और जब वह एथेन्स के दार्शनिक ऐमोनियस और काय चिकित्सक ओनिसाक्रिटीज़ से शिक्षा ले रहा था तब ६६ ईसवी मे नीरो सम्राट् पहली बार ग्रीस आया। उसे रोम प्रवास के अनेक अवसर मिले, जिनसे वहाँ के भूगोल, इतिहास और जनजीवन का उसे पर्याप्त ज्ञान हो गया और इस 'पैरेलल लाइव्स' की—जिसमे रोम और ग्रीस के समसामयिक महानों के समानान्तर जीवनवृत्त हैं—रचना वह कर सका। शेक्सपीयर अथवा किसी भी पश्चिमीय साहित्यकार के लिए यह चरित्रों का वह आकर ग्रन्थ है। उन्होंने इस स्रोत का उपयोग किस रूप मे किया है यही देखना वांछित रहा होगा, जिसका अब अवसर कहाँ?

रहने के लायक एक नया मकान भी उन्होंने बनवा लिया था। उनकी समस्त पुस्तकों के प्रकाशन की व्यवस्था भी लीडर प्रेस से हो चुकी थी। सुर्ती के व्यवसाय का कार्य भी अच्छे ढंग से चल रहा था। अपने एक सम्बन्धी उमाप्रसाद के ऊपर रोजगार का भार उन्होंने दे दिया था। उमाप्रसाद बहुत ईमानदार व्यक्ति हैं और अब तक अपना कर्त्तव्य-पालन कर रहे हैं।

अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के विचार से वे कभी भी व्यर्थ खर्च नहीं करते थे। ऐसे रोग में लाखों खर्च हो जाता है; किन्तु प्रसाद अपनी बीमारी में अधिक खर्च नहीं करना चाहते थे। इसके दो कारण थे। एक तो—'जो होना होगा, वही होगा'—उनका सिद्धान्त; और दूसरे, अधिक खर्च हो जाने पर सन्तान को संकट का सामना करना पड़ेगा। ९-१० महीनों तक होमियोपैथिक चिकित्सा होती रही। उनकी जर्जर अवस्था देखकर मुझे एक दिन क्रोध आ गया। मैंने कहा—इस तरह एक साधारण चिकित्सक के चक्र में इतना समय बीत गया, कुछ लाभ न हुआ। यह ठीक नहीं!

मैंने उनसे अपने गंगा-तटवाले मकान में अथवा किसी 'सेनिटोरियम' में चलने का आग्रह किया। उन्होंने कुछ न माना। वे किसी का एहसान लेना नहीं चाहते थे।

बीमारी की अवस्था मे उन्हे अनेक कटु अनुभव हुए थे। मरने के दो-तीन सप्ताह पहले, एक दिन मेरी ओर वे बड़े ध्यान से देख रहे थे।

वे कुछ बोलना चाहते थे। मैं उनकी ओर देख रहा था।

उन्होंने बड़े क्षीण स्वर मे कहा—तुम्हारा सिद्धान्त ठीक है!

मैंने कहा—क्या?

'यही खाओ, पिओ, मस्त रहो'—उनकी वेदना स्वयं खड़ी होकर बातें कर रही थी।

मैंने कहा—आप उसे ठीक समझते है?

हूँ—कहते हुए वे मौन हो गये।

प्रसाद का जीवन अपनी स्थिति ठीक करने में ही बीत गया। सब व्यवस्थित हो जाने पर वे अपनी अभिलाषाओं को पूर्ण करेंगे। उनके मन के किसी कोने में यह लालसा छिपी बैठी थी। मनुष्य सोचता कुछ है और विधाता करता कुछ और है! उनके जीवन के सुनहले स्वप्न सोते ही रह गये, जाग न सके।

'मेरे सिद्धान्त ठीक हैं'—इसका प्रमुख कारण यही था। खा-पी कर मस्त रहना, कल क्या होगा—इसकी चिन्ता न रखना ही जीवन का वास्तविक अर्थ है!

बौद्ध ग्रन्थों का प्रसादजी ने विशेष रूप से अध्ययन किया था। उनकी रचनाओं में निराशा की झलक दिखाई पड़ती है। जीवन में दुख और कष्टों की विवेचना करने में वे अधिक तन्मय हो जाते थे। बौद्ध दर्शन का काफी प्रभाव उन पर पड़ा था।

प्रसाद 'आनन्द' के उपासक थे। उनके काल्पनिक आनन्द के दिन वास्तविक रूप मे आनेवाले थे। यही कारण है कि अपने रोग की भयंकरता से परिचित होते हुए भी, जीवन के प्रति लालसा उनमे दिखाई पड़ती थी। दार्शनिक और विद्वान होते हुए भी, अन्त मे जब डॉक्टर कहता है कि आपको जो कुछ कहना हो तो कह दीजिये! इस पर भी वे मुस्करा कर उत्तर देते हैं—कफ को दूर करने की दवा दीजिये! क्या अभी कुछ कहना बाकी है?



तितली के प्रथम प्रसाद-मन्दिर-सस्करण (१९८५ ई०) की 'सूचना' मे उसके प्रथम प्रकाशन (१९३४ ई०) के आनुपूर्वी तथ्य बता चुका हूँ। चौदह फार्म छपे थे जिस पर तीन सौ उनतीस रुपए छ आने हुए व्यय को भारती भण्डार से पाकर व्यासजी ने फर्मे उठवा दिए। ऐसी दशा मे हजारो रुपयो के नुकसान की बात कहने मे आक्रोश जनित अतिरंजना ही ध्वनित है।

यह कहना सही है वे वस्तुतः चाहते थे कि हस, पुस्तकमन्दिर, सरस्वती प्रेस, भारती भण्डार सभी को एक मे मिलाकर लिमिटेड कपनी का रूप दिया जाय—और व्यासजी उस कंपनी के मैनेजिंग डायरेक्टर बनाए जाय—यह योजना यदि व्यासजी को स्वीकार्य होती तो उन्हे इस बात का पश्चात्ताप न होता कि नन्ददुलारे जी, पाठकजी, जिज्जाजी आदि की उन्होने लीडर प्रेस मे नियुक्ति करा दी और अपने सर्वाधिक कृपापात्र (व्यासजी) के लिए कुछ नही किया। किन्तु, लिमिटेड कम्पनी मे पाई-पाई का हिसाब आडिट होता—जो व्यासजी की प्रकृति के प्रतिकूल था इसीलिए उन्होने स्वीकार नही किया, और एक बडी योजना साकार न हो सकी, ठीक उसी प्रकार जैसी अपने पुस्तको के प्रकाशन के सन्दर्भ मे—श्री अम्बिकाप्रसाद गुप्त और श्री मुकुन्दीलाल गुप्त के सम्मिलित उद्योग की कल्पना करते एक योजना उन्होने पहले बनाई थी और श्री अम्बिकाप्रसादजी ने उसे साकार नही होने दिया था। दोनो ही विशेष कृपापात्र रहे, किन्तु सकुचित स्वार्थवृत्ति ने दोनो को नष्ट किया—'अपने मे सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा, यह एकान्त स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा।' (कामायनी)

—रत्नशंकर प्रसाद



प्रसादजी की याद

—राय कृष्णदास

भारतेन्दु पत्र अगस्त १९०५ ई० से उदित होकर एक वर्ष तक निकलता रहा। किन्तु शैशवमरण हिन्दी पत्रों की पुरानी व्याधि है। जुलाई १९०६ ई० को अपनी बारहवीं संख्या के साथ यह अस्त हो गया। उसके मई–जून वाले संयुक्त १०वी और ११वीं संख्या में प्रसादजी की एक रचना प्रकाशित हुई है जो उनकी सर्वप्रथम प्रकाशित कविता है, उसका शीर्षक है 'सावन पंचक'। पहले चार पद्य रोला छन्द में है और पाँचवां सवैया में। यह रचना ब्रजभाषा में है और उसमें उन्होंने अपना उपनाम 'कलाधर' दिया है। (अवलोक्य-प्रसाद वाङ्मय प्रथम खण्ड पृष्ठ २)

प्रसादजी जब पढ़ने योग्य हुए तब उनका शिक्षाक्रम उनके पिता ने ऐसा रखा कि उन्हें संस्कृत, हिन्दी और उर्दू की अच्छी योग्यता हो जाय तथा साहित्यिक रुचि भी उद्बुद्ध हो जाय। उन्होंने अपने आरम्भिक पाठ स्वर्गीय मोहिनीलाल गुप्त से पढ़े। वहाँ भारतेन्दुजी के भ्रातृ-पुत्र ब्रजचन्द्रजी उनके सहपाठी थे। वह असमय में न चल बसे होते तो अच्छी साहित्यिक ख्याति प्राप्त करते। श्री लक्ष्मीनारायण सिंह 'ईश' भी वहीं उनके सहपाठी थे। प्रसादजी इस छोटी-सी पाठशाला को सदा अपना आरम्भिक सरस्वती-पीठ कहा करते। (श्री अम्बिकाप्रसाद गुप्त भी वहीं पढ़े थे। सं०)

मोहिनीलालजी हिन्दी साहित्य शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे और स्वयं कविता भी करते थे। उनका उपनाम था 'रसमय सिद्ध कवि'। उन्होंने कई काव्य भी लिखे थे, जिनमें सबसे बड़ा है—'सिद्ध मनोरंजन'। यह बड़े आकार वाले सौ डेढ़ सौ पृष्ठों में प्रकाशित हुआ। इसमें एक ओर काम क्रोध आदि और दूसरी ओर संयम, शान्त, तप आदि को पात्र बनाकर रूपकमय कथा कही गई है। प्रसादजी को उन्होंने हिन्दी और संस्कृति के साथ-साथ साहित्य शास्त्र की भी शिक्षा दी। यों वह बड़े कठोर शिक्षक थे, किन्तु प्रसादजी ने पर्याप्त समय तक उनसे काव्य रचना विषयक बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया।

प्रसादजी की निमातृ प्रतिभा १९०६ ई० के भी कई वर्ष पहले से विकसित हो चली थी। प्रसादजी ने अपनी सर्वप्रथम रचना रसमय सिद्धजी के सामने की—

हारे सुरेस, रमेस, धनेस, गनेसहूँ सेस न पावत पारे।
पारे हैं कोटिक पातकी पुंज, 'कलाधर' ताहि छिनौलिखि तारे॥

तारेन की गिनती सम नाहिं, सुजेते तरे. प्रभु पापी बिचारे।
चारे चले न विरंचिहू के, जो दयालु ह्वै संकर नेकु निहारे ।।

जब प्रसादजी ने यह कविता अपने गुरु के सामने संशोधन के लिए रखी तब उन्होने उनकी पीठ ठोक दी। उस समय उनकी वय ७ से ९ वर्ष से अधिक न रही होगी। कुछ दिशाओ से यह शंका उठाई गई है कि क्या इतना अल्पवयस्क ऐसी कविता कर सकता है ? हमारा कथन है कि कर सकता है। यदि भारतेन्दुजी का ७ वर्ष की वय में रचा गया यह दोहा--

लै ब्यौंडा ठाढे भये श्री अनिरुद्ध सुजान,
वाणासुर की सैन्य को हनन लगे भगवान।

—उनके पिता महाकवि गिरधरदास अपने दशावतार कथामृत मे सम्मिलित कर सकते है तो यह संशय निस्सार है कि प्रसादजी उस अल्पावस्था मे ऐसी रचना नही कर सकते थे।

इस रचना से तथा 'भारतेन्दु' मे प्रकाशित रचना से यह अनुमान भी होता है कि तब तक प्रसादजी अपनी दूकान पर जो गुप्त रूप से रचनाएँ करते थे उनमे 'कलाधर' उपनाम रहा होगा। क्योकि १९०९ ई० से प्रकाशित 'इन्दु' मे उनकी जो भी रचनाएँ निकली है 'प्रसाद' उपनाम से। खेद है कि उनकी कलाधर' उपनामवाली शेष कविताएँ सर्वथा अप्राप्त है।[1]

---

१. कलाधर उपनामवाले कुछ छन्द मुझे पुरानी वहियो मे 'सुँघनी साहु' के इश्तहार के पीछे लिखे मिले जो प्रथम खण्ड (प्रसाद वाङ्मय) मे दे दिए गए है। प्रसाद उपनामवाली रचनाएं इन्दु के दूसरे वर्ष (कला–२) से मिलती है उसकी किरण (सं० १९६७) मे 'प्रार्थना' 'सन्ध्यातारा' शीर्षक कविताएँ और 'पचायत' शीर्षक आख्यायिका तक प्रसाद उपनाम नही मिलता–मिलता है केवल जयशकर। उसी के बाद 'चम्पू' शीर्षक लेख मे है जयशकर (प्रसाद)। अगले लेख 'कवि और कविता' मे भी यही नामरूप मिलता है ठीक उसी के बाद 'वर्षा मे नदी कूल' शीर्षक कविता से "प्रसाद" नामाक स्थिर हुआ। इसके हेतु की चर्चा कानन कुसुम की 'अवतरणिका' मे कर चुका हूँ। अतः इन्दु की दूसरी कला किंवा संवत् १९६७ के श्रावण शु० द्वितीया से अग्रसर अंक की पहली किरण मे 'प्रसाद' उपनाम 'वर्षा मे नदी कूल' से प्रचलित पाया जा रहा है। 'भारतेन्दु' मे प्रकाशित 'सावन पंचक' को देख अग्रज साहु शम्भुरत्न ने जब कहा कि 'या तो कविता करके भारतेन्दु का हश्र भोगो या व्यवसाय करो'—इसी के खेद मे कलाधर ने १९०६ तक की प्रायः चार सौ रचनाएँ किमाम के भट्ठे मे झोक दी— 'कलाधर' का दाह स्वय कलाधर ने ही कर दिया—फिर जयशंकर से

१९०८–९ ई० तक तो उन्होंने यद्यपि बहुत कुछ लिख डाला था तथापि कहीं प्रकाशनार्थ नहीं भेजा था। उनका यही संकल्प था कि वह सब स्वतः प्रकाशित करेंगे। इस उद्देश्य से उन्होंने अपने भांजे स्व० अम्बिका प्रसाद गुप्त द्वारा अग्रवाल स्पोर्ट्स क्लब से यह अनुरोध किया कि क्लब 'भारतेन्दु' के पुनः प्रकाशन की अनुमति गुप्तजी को दे दे, किन्तु क्लब ने कुछ ऐसी शर्तें रखी जिनका पालन सम्भव नहीं था। ऐसा याद पड़ता है कि इसी प्रसंग में प्रसादजी की कुछ चर्चा भी क्लब मे हुई थी, क्योंकि तब उनका साहित्यिक व्यक्तित्व काशी में विदित हो चला था। प्रसादजी अनुमति के न मिलने से विशेष हताश हुए क्योंकि भारतेन्दुजी पर उनकी अगाध श्रद्धा थी। तब उन्होंने प्रकाश्य मासिक पत्र का नामकरण 'इन्दु' किया। उन्होंने मुझसे स्वयं कहा था कि इन्दु को इन तीन उद्देश्यो मे आरम्भ कराया था–(१) अपनी रचनाओं का प्रकाशन, (२) अम्बिका प्रसाद गुप्त को साहित्यिक रुचि के उपयोग पूर्वक कुछ आर्थिक लाभ, (३) अपने सुर्ती के व्यापार का विज्ञापन। इस प्रकार श्रावण शुक्ल स० १९६६ (१९०९ ई०) से 'इन्दु' का प्रकाशन आरम्भ हुआ।

आरम्भ से ही 'इन्दु' का एक निजस्व रहा और उसने अपने को भारतेन्दु काल से शृंखलित किया यदि हम 'इन्दु' के प्रथम अंक को 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के किसी अंक के साथ पढे तो यही जान पड़ेगा कि 'इन्दु' उसी परम्परा मे है। ई० १९११ में लगी इलाहाबाद प्रदर्शनी की सुखद स्मृतियाँ अन्तस मे संजोते वही बना रहा। वहाँ दारागंज में मेरी ननिहाल है। पूर्वी उत्तरप्रदेश में वहाँ के बड़ी कोठी वालों को कौन नही जानता। उनकी तीन शाखाओं में ज्येष्टतमा मेरी ननिहाल। तीन घरों में केवल एक नाती मैं—क्या पूछना है मुझ पर लाड प्यार का। स्वर्गीय मामाजी को दारागंज अपना राजा मानता और मैं उनकी आँखों का तारा था। बनारस से बढ़कर इलाहाबाद मेरा घर था। निदान वहाँ जमा हुआ अपनी एक पुरानी अभिलाषा पूरी करने में प्रवृत्त था– अभिलाषा थी एक सचित्र साहित्यिक मासिक निकालने की। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उसका सम्पादन–भार ग्रहण किया, नामकरण हुआ— सरोज।

प्रयाग में इण्डियन प्रेस तो था ही, ला जर्नल प्रेस भी उच्चकोटि का काम करने में उससे उन्नीस न था। परन्तु इन दोनों प्रेसो को 'सरोज' का मूद्रण न देकर दिया स्व० कृष्णकान्त मालवीय के अभ्युदय प्रेस को। वह सकारण था—एक तो उन्ही दिनों कृष्णकान्तजी ने 'सरस्वती' की प्रतिद्वन्द्विता मे 'मर्यादा' नामक सचित्र मासिक

ही तब तक काम चला जब तक वह हेतु सम्मुख नही नही आया—अर्थात देवि विन्ध्यवासिनी के द्वारा 'प्रसाद' शब्द का संकेत नही मिला (अवलोक्य कानन कुसुम की अवतरणिका)। (सम्पादक)

पत्रिका निकलनी आरम्भ की थी। अतः उनके पास तरह-तरह के उत्कृष्ट छपाई के कागजों के नमूने और उनके रियायती दर मौजूद थे, रंगीन और सादे ब्लाक बनाने वालों से उनका व्यावसायिक सम्पर्क था। सर्वोपरि बात यह थी कि उन्हीं दिनों प्रेस ऐक्ट का संशोधन हुआ था जिसमें सामयिक पत्रों से आर्थिक जमानत माँगने का अधिकार जिलाधीशों को दिया गया था जिससे 'सरोज' स्वभावतः बचना चाहता था क्योंकि वह राजनीति से रहित था। एतदर्थ कृष्णकान्तजी ने मुझे निश्चित कर दिया था। 'सरोज' के लिए स्व० पं० बालकृष्ण भट्ट, आचार्य द्विवेदीजी, गो० किशोरीलाल, मु० देवीप्रसाद, गुलेरीजी आदि के लेख तथा पं० श्रीधर पाठक की 'वनाष्टक' नामक कविता प्राप्त हुई। अन्य अग्रगण्य साहित्यिकों का भी योगदान था। प्रथम अंक का मुखचित्र था—अवनीन्द्रनाथ अंकित 'मानस सरोज' के वराटक पर नाचते नवनीतधारी बालकृष्ण। इस पर पत्र द्वारा राष्ट्रकवि मैथलीशरण से कविता की याचना की। पत्र-व्यवहार द्वारा उनसे परिचय हुआ जो क्रमशः आजीवन बन्धुत्व में परिणत हो गया। उन्होंने मुखचित्र विषयक एक अष्टक लिख भेजा जिसकी आरम्भिक पंक्तियां थी—

जै भक्त मानस सरोज निवास-कारी।
लीलामृते सगुण-निर्गुण रूपधारी॥

प्रसादजी की रचना प्राप्त करने के लिए भरे जेठ महीने में प्रयाग से काशी आया। छह साढ़े छह महीने पर बन्धु मिलन का आनन्द उनका 'सरोज' के प्रति समुत्साह देखकर द्विगुण हो उठा। उन्होंने उसके लिए यह चतुर्दशपदी तैयार कर दी—

अरुण अभ्युदय से हो मुदित मन, प्रशान्त सरसी में खिल रहा है।
प्रथम पत्र का प्रसार करके, सरोज अलि-गन से मिल रहा है॥
गगन में सन्ध्या की लालिमा से, किया संकुचित बदन था जिसने।
दिया न मकरन्द प्रेमियों को, गले उन्ही के वो मिल रहा है॥
तुम्हारा विकसित बदन बताता, हँसे मित्र को निरख के कैसे।
हृदय निष्कपट का भाव सुन्दर, बदन पै तेरे उछल रहा है॥
निवास जल ही में है तुम्हारा, तथापि मिश्रित कभी न होते।
मनुष्य निर्लिप्त होवे कैसे, सु-पाठ तुमसे ये मिल रहा है॥
उन्हीं तरंगों में भी अटल हो, जो करना विचलित तुम्हें चाहती।
'मनुष्य कर्त्तव्य में यों स्थिर हो', ये भाव तुम में अटल रहा है॥
तुम्हें हिलावे भी जो समीरन, तो पावे परिमल प्रमोद पूरित।
तुम्हारा सौजन्य है मनोहर, तरंग कहकर उछल रहा है॥
तुम्हारे केशर से हो सुगन्धित, परागमय हो रहे मधुव्रत।
'प्रसाद' विश्वेश का होवे तुम पर, यही हृदय से निकल रहा है॥

इस रचना में दो बाते महत्वपूर्ण है—एक तो इसका छन्द उर्दू का है, दूसरे शब्दों का उच्चारण भी उर्दू की भाँति हलन्त तथा दीर्घ स्वरों के ह्रस्व एवं ह्रस्वतर रूप में। उनकी यह प्रवृत्ति उन दिनोंवाली अन्य कविताओं में भी बहुधा विद्यमान है।

काशी के इस त्रिदिवसीय पडाव मे उनकी आत्मीयता की एक अभिव्यक्ति ने मुझे चकित और पुलकित के साथ-साथ गौरवान्वित भी कर दिया। उन्होंने विशेष शोधपूर्वक चन्द्रगुप्त मौर्य पर एक अध्ययनीय पुस्तिका प्रकाशित कर रखी थी जो समर्पित थी उनके इस अभिन्न को। कैसी पुलक हुई मुझे उस समय जब उन्होंने उसकी हस्ताक्षरित प्रथम प्रति मुझे दी—प्रेमालिगन सहित। रहस्यमय वह थे ही, मुझको कोई सुनगुन न लगने दी थी। अतः इस अतर्कित विस्मयपूर्ण आनन्दोद्रेक ने मुझे विभोर कर दिया। यों प्रमोदपूर्ण तीन दिन बाद प्रयाग लौटा। 'सरोज' को तडपड मुद्रित कराया। सुन्दर सावरण प्रतियाँ सिल-सिलाकर तैयार हुई। किन्तु जब पंजीकरण का आवेदनपत्र दिया गया तब पाँच सौ की जमानत तलब हुई। सारे आश्वासन का हवाई किला हवा हो गया। लम्बा बिल चुकाने और प्रतियो को रद्दी के भाव बेचने के साथ 'सरोज' का किस्सा तमाम हो गया।

इलाहाबाद महीना सवामहीना और रहकर जुलाई मे काशी लौट आया। उसके बाद ही यह विचार हुआ कि भाद्र शुक्ल मे भारतेन्दुजी की जयन्ती उनके जन्मतिथि पर मनाई जाय। हिन्दी मे साहित्यिक जयन्ती मनाने का यह पहला अवसर था। यह सूझ हिन्दी के मिशनरी सेवक और जीवित विश्वकोश पं० केदारनाथ पाठक की थी। प्रसादजी, स्व० ब्रजचन्द्र और मैंने इस प्रस्ताव का स्वागत ही नही किया, उसे कार्यान्वित करने मे जुट भी गए। पुरातनवादियो को तो यह समारम्भ कुछ जँचा नही और वे अन्त तक रोडे अटकाते रहे किन्तु जैसी उत्साहपूर्ण सुधर और सुधरी वह जयन्ती हुई वैसी आज तक देखने मे न आई। भारतेन्दुजी के तैल चित्र के फ्रेम पर विविध रग और सुगन्ध वाले फूलो का, जिसमें स्थान-स्थान पर सुन्दर पत्तियाँ भी थी, एक दर्शनीय चौखटा बनाकर लगा दिया गया। जयन्ती के सभापति थे महामहोपाध्याय पं० अयोध्यानाथजी। थे तो वह काशी के फलित ज्योतिष-सम्राट किन्तु बहुत ही सहृदय भी थे। अपूर्व मिठास भरा हारमोनियम बजाते और ब्रजभाषा की कविता भी करते थे, उपनाम था 'अवधेश' वह भारतेन्दुजी के भक्तों मे थे और उनके छन्दों मे भारतेन्दुजी की झलक रहती थी। खेद है कि उनका कोई संग्रह न प्रकाशित हुआ।

निदान, अवधेशजी के मंचासीन होने पर भारतेन्दु नाटकमण्डली द्वारा मांगलिक गान हुआ और तब कविताओं का पाठारम्भ। राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त जयन्ती के प्रायः दो सप्ताह पूर्व काशी आए थे, वह एक कविता दे गए। वह पढ़ी गई। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी कबिता-पाठ किया। अब प्रसादजी खड़े हुए। उनकी उस दिन

वाली वेशभूषा इस समय भी आँखों में नाच रही है। खस के अतर से मुअत्तर ढाके की बारीक जामदानी वाले अँगरखे के नीचे से झलकती हुई 'हरी मिर्जई की छटा निराली थी। सिर पर महीन चुनी हुई अदा वाली दोपलिया टोपी और पाँव में चूड़ीदार पाजामा था। हाथ में सुन्दर बांस की छड़ी जिसकी मूँठ बारहसिंघे की थी। प्रसादजी की इस प्रिय छड़ी को उनके समी अरि, भक्त आज भी न भूले होंगे। वह उनकी चिरसंगिनी थी। जयन्ती के लिए उन्होंने भी एक सुन्दर कविता लिखी थी। पढ़ी भी उन्होंने बड़े ठाठ से, यद्यपि किसी ऐसे समाज में कविता पढ़ने का उनके लिए यह पहला अवसर था। भारतेन्दुजी के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी और अनेक अंशों में वह प्रसादजी के आदर्श व्यक्ति थे। सो इस अवसर की रचना में हार्दिकता का होना स्वाभाविक था, फलतः इस रचना को उनकी उस काल वाली प्रतिनिधि ब्रजभाषा की रचनाओं में रख सकते है। उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

सज्जन चकोर भये प्रफुल्लित मानि मन में मोद को।
सहृदय हृदय शुचि कुमुद विकसे विशद बन्धु विनोद को॥
छिटकी सुहिन्दी चन्द्रिका आनन्द अतिहि विधायनी।
यह भारतेन्दु भयो उदय धरि कान्ति जो सुखदायिनी॥

(प्रसाद वाङ्मय प्रथम खण्ड पृ० १४१—सं०)

× × ×

'मध्याह्न होते ही सूर्य अस्ताचल का मार्ग ग्रहण करता है'—यह प्रकृति का शाश्वत नियम है। १२-१२-१९११ ई० के दिन सम्राट जार्ज पंचम का दिल्ली दरबार हुआ। उधर दरबार हो रहा था, इधर बनारस में प्रसादजी कह रहे थे—'यह ब्रिटिश साम्राज्य का मध्याह्न है।' वहाँ दिल्ली में क्या हो गया इसका रंचमात्र ज्ञान न उन्हें था न उनके उक्त भविष्यवाणी के सुनने वालों को।

दिल्ली दरबार के साथ-साथ एक प्रदर्शनी भी लगी थी जो कुछ दिन चलती रही। प्रसादजी उसे देखने गये। साथ में उनके एक अन्तरंग मित्र थे जिनका साहित्य से कोई लगाव न था। नाम था मोहनलाल रस्तोगी। प्रसादजी की दूकान के पास ही उनकी गोटा टोपी की दूकान थी। मित्रता का कारण था उनका उदात्त स्वभाव और आत्मगौरव, यद्यपि अभिमान उनमे छू नही गया था। उनकी एक आदत थी कि टेंट में सदैव पच्चीस गिन्नी रखे रहते थे। प्रायः प्रसादजी की दूकानवाली मण्डली में आ बैठते और बीच बीच में हँसी मजाक हुआ करता। इस दिल्ली प्रवास में एक दिन ऐसा संयोग हुआ कि किसी दुकानदार ने इन लोगों की सादी वेशभूषा देख कर सोचा कि इन्हें माल क्या दिखाएँ—कुछ खरीदेंगे तो है नहीं। मोहनलाल ने अण्टी में से गिन्नियाँ निकालकर चुपचाप उसके सामने रख दीं, बस वह पानी पानी हो गया।

मोहनलाल के प्रसंगवश कई और व्यक्ति याद आ गए जो प्रसादजी के बहुत निकटवर्ती थे। यद्यपि प्रसादजी मूर्त्तिमान साहित्य थे तथापि यह एक अचरज की बात है कि उनके एक ऐसे अनन्य बाल-संघाती थे जिनका साहित्य से कोई सम्बन्ध न था। उनके पुकारने का नाम था गज्जन। वास्तविक नाम था मुंशी गयाप्रसाद। प्रसादजी का और उनका बचपन से साथ था, सहपाठी भी थे। उस समय से उन लोगों में जो स्नेहबन्ध हो गया वह आजन्म बना रहा। गज्जनजी पढ़-लिखकर सरकारी नौकरी में चले गये—बढ़ते-बढ़ते बनारस जिलाधीश के पेशकार तक हो गए थे। प्रसादजी ने साहित्यिक मार्ग ग्रहण किया। गज्जनजी का उससे कोई सम्बन्ध न था, किन्तु दोनों बालमित्र नित्य मिलते और उनमे ऐसी सख्यपूर्ण बातचीत होती कि कोई कह नही सकता था कि दोनों के मार्ग बिल्कुल विभिन्न दिशाओं में हैं। जब प्रसादजी 'प्रसादजी' हो चुके थे और सन्ध्या के समय उनकी नरियरी टोला वाली दूकान पर साहित्यिक मण्डली जुटती और चर्चा का विषय एक मात्र साहित्यिक ही रहता, तब भी गज्जनजी वहाँ नियमपूर्वक आते और सबकी बातें सुना करते। प्रसादजी अपने बालसुहृद को हृदय से मानते थे और अक्सर उनकी चर्चा भी मुझसे करते। गज्जनजी की सरलता और सौम्यता पर वह मुग्ध थे। ऐसे साधु स्वभाव के साथ-साथ गज्जनजी बड़े हँसोड़ और खिलवाडी थे।

मेरे यहाँ एक चौबेजी आया करते थे। थे तो वह माथुर पर निवासी थे आगरे के, हुण्डी-पुर्जे की दलाली से हजार पाँच सौ प्रतिमास कमा लेते। अत्यन्त शुद्ध हृदय, भगवद्-भक्त और नीतिज्ञ थे। एक-एक बात लाख-लाख रुपये की होती, खूब हँसते-हँसाते रहते। प्रसादजी को वह 'सुगन्धी' कहा करते, क्योंकि उनके यहाँ जाते ही सारा घर सुगन्धपूर्ण पाते। प्रसादजी के यहाँ माँग की अधिकता के कारण सुर्ती के पत्ते और डण्ठल मशीन से पीसे जाते। तब आयल इन्जन या इलेक्ट्रिक इन्जन नहीं चले थे। पत्थर के कोयले का बड़ा भारी स्टीम इन्जन था, उसी से पिसाई होती। एक दिन प्रसादजी चौबेजी को पिसाई दिखा रहे थे। साथ मे गज्जन भी थे। उन्होंने पिसी हुई तम्बाकू के ढेर में पाँव से ठोकर मार दी। सुँघनी चौबेजी के नाक में घुस गई और छींकते-छींकते बुरा हाल हो गया, लेकिन वह ऐसे अलमस्त जीव थे कि बुरा मानने के बजाय छींकते जाते और हँसते जाते।

प्रसादजी के एक अन्य घनिष्ठ मित्र थे जिनका साहित्य से कोई सम्बन्ध न था। प्रसादजी को उदात्त प्रकृति के लोग बहुत पसन्द थे। इसी कारण उनको अपने इन पड़ोसी से बड़ी घनिष्ठता थी। इनका पुकारने का नाम था बोकी सिंह (सूर्यनारायण सिंह)। वह जमींदार थे। वे दोनों मित्र प्रतिदिन मिला करते और खूब गपशप करते। बोकी सिंह को एक ऐसी बीमारी हो गई थी जिसकी शल्य चिकित्सा आवश्यक थी। एक दिन उन्होंने प्रसादजी से कहा—'भैया मुझे अस्पताल ले चलो

और नश्तर लगवा दो, जो होना है होगा।' प्रसादजी ने उन्हें धीरज बँधाया और अस्पताल ले गए। आपरेशन सफल हुआ, प्रसादजी को बड़ी प्रसन्नता हुई। कभी-कभी उनके संग बोकी सिंह मेरे यहाँ भी आते थे।

प्रसादजी के भाई साहब के एक दरबारी थे सिंघा। वह ठाकुर थे, अंग्रेजी की कृपा से सिंह से सिंघा बन गए थे। हृदय में मरोर उठाने वाली चीजों के गाने में उन्हें कमाल हासिल था। स्वर ऐसा पल्लेदार था कि होली पर शहनाई के संग गाते तो उनकी आवाज इक्कीस रहती। भाई साहब के गत हो जाने पर प्रसादजी के यहां उनका आना कभी-कभी होता। जब आते तब क्या ही समां बंध जाता। एक बचनू थे। फूहड़ बातों को शाल में लपेट कर कहना उनकी विशेषता थी। प्रतिदिन दूकान पर पहुंचते और बीच-बीच में विदूषक की भूमिका अदा करते रहते। एक बार होली पर चन्द्रग्रहण पड़ा। वह फर्माने लगे—'आज पापी को नरककुण्ड में डाल देना चाहिए। प्रसादजी सन्ध्या समय दूकान जाने के पहले डेढ़-दो घण्टे अपने घर के सामने वाले विस्तृत चबूतरे पर बैठते। एक पत्थर की चौकी उनका आसन थी। इस समय भी एक मण्डली जुटती कभी-कभी भांग-बूटी भी छनती। उस समय नियमपूर्वक एक महाशय आया करते जो बुढ़ापे की देहली तक पहुंच चुके थे परन्तु चलते थे अकड़कर, सिर पर तिरछी टोपी। सब लोग उन्हे छेड़ा करते। उनमें एक सनक थी कि एक छोटे-मोटे राज सरीखी जमींदारी पर जो उनकी सम्पत्ति है किसी ने कब्जा कर लिया है। सभी उन्हें रायसाहब कहते और गम्भीर मुद्रा में पूछते—'कहिए राय साहब, रियासत कब वापस मिलेगी?'—'बस महीने-दो महीने में। तब देखना मेरी शान।' अकड़े वक्ष को और अकड़ाकर वह जवाब देते। इसी प्रसंग को लेकर उनसे और मजाक भी किये जाते, पर वह भांप न सकते। पक्के शराबी थे परन्तु कभी बदमस्त न होते। एक वृद्ध परमहंसजी अक्सर आने वालों में थे। सदा ब्रह्मानन्द में लीन रहते जो उनके निरन्तर हंसते रहने से व्यक्त हुआ करता। उनमें कोई इहा न थी, सबसे घुलमिल जाते और अलग के अलग बने रहते।

जी चाहता है कि यहां प्रसादजी के दो नौकरों की चर्चा भी कुछ पंक्तियों में कर दूं—पहला, उनका ड्योढ़ीदार था रंजीत सिंह। बहुत मुस्तैद और कर्त्तव्य-परायण। चढ़ी हुई राजपूती दाढ़ी और वैसा ही स्वभाव। प्रसादजी के हुक्म की देर थी, बस रंजीत दिन देखता न रात तत्पर होकर काम सुचारु रूप से सम्पन्न कर देता। दूसरा था, सन्तू नामक प्रसादजी का खिदमतगार कितनी लगन लेकर उनकी सेवा करता, उन्हें कुछ कहने की आवश्यकता न पड़ती। एक मिनट का भी फर्क पड़े बिना सब सेवाएं ऐसे हो जाती कि आटोमेटिक मशीन क्या करेगी। एक दिन उसे अपने गांव की याद आ गई और ऐसी आ गई कि वह एक क्षण भी न रुका—घर चला गया। प्रसादजी को फिर वैसा सेवक न मिला।

१९१२ ई० के अगस्त में एक विचित्र सामूहिक बीमारी बनारस में फैली। इसका देशी नाम 'लंगड़ा बुखार' था और डाक्टरी नाम 'डेंगू बुखार'। मैं सपरिवार इस डेंगू ज्वर से पीड़ित हुआ, और अच्छा होने पर आबहवा बदलने और निर्बलता दूर करने के लिए हम शहर के मकान से बगीचे में चले गये। मन ऐसा रमा कि वहीं रहने लगे। अब प्रसादजी से मिलना इस प्रकार होता कि वह अपने घर से नित्य सन्ध्या को नागरीप्रचारिणी सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय में आ जाते और मैं भी बगीचे से वही आ जाता। पुस्तकालयाध्यक्ष स्व० पं० केदारनाथ पाठक हम लोगों के अभिन्न मित्र होने के साथ-साथ हिन्दी जगत के जीवित विश्वकोश भी थे। उदीयमान साहित्यकारों के उत्साहवर्द्धन, मार्गदर्शन में अद्वितीय थे। अत्यन्त सहृदय भी थे। सारा समय उन्हीं की संगति मे बीतता और प्रतिदिन हम लोगों को नई उपलब्धि अवश्य होती। यद्यपि पुस्तकालय बन्द हो जाता तथापि बातचीत का सिलसिला चलता रहता। उन दिनों प्रत्येक हिन्दी सेवी का यही ध्येय था कि जैसे भी हो एक दिन में ही हिन्दी को उछाल कर शिखरासीन कर दें। हम लोग सभा के सामने वाली सड़क की पटरी पर खड़े होकर बातों मे खो जाते। हमें देखते ही हमारे कोचवान गाड़ियों में मोमबत्ती वाले लम्प बाल देते, किन्तु कौन उधर ध्यान देता। कभी-कभी आधा घण्टा बीत जाता, विलग होने का मन ही न होता। एक दिन पाठकजी ने सव्यंग कहा—'अरे, बनियों की बत्ती जल रही है, कुछ इसका तो ख्याल कीजिए।' उत्तर—प्रसादजी और मैने मिलकर—तुरन्त एक दोहे में दिया—

बनियों की बत्ती जले, जले तुम्हारी........।
पाठकजी तुम हो नही, हो तुम पूरे भांड़॥

ऐसे ही पटरी वाले वार्त्तालाप में मैंने एक दिन पाठकजी से पूछा—'हिन्दी में कोई रबीन्द्र भी है।' उन्होंने तत्काल प्रसादजी की ओर इंगित करते हुए कहा—'क्यों नहीं, यह खड़े तो हैं सामने।' प्रसादजी यद्यपि उन दिनों 'प्रसादजी' नहीं हुए थे, नवोदित साहित्यकार थे, तथापि निगाहदार पाठकजी ने उन्हें तभी से पहचान लिया था।

उन्हीं दिनों एक औपन्यासिक घटना घटी। नागरीप्रचारिणी सभा का हिन्दी शब्दसागर तैयार हो रहा था। उसके सम्पादक-मण्डल में श्री जगन्मोहन वर्मा भी थे। वह भाषाविज्ञान के अच्छे विद्वान तथा वैदिक, संस्कृत और फारसी भाषाओं के ज्ञाता थे। उनके यहाँ कहीं से भटकता हुआ एक अपरिचित युवक आया। उन्होंने उसे आश्रय दिया। यद्यपि उसका रंग तो बहुत काला था तथापि नकशा सुन्दर था। लम्बी केशराशि कुछ-कुछ घुंघराली थी। वह प्रतिदिन आर्यभाषा पुस्तकालय में आता और अखबार तथा पुस्तकें पढ़ा करता, कोई उसकी ओर विशेष ध्यान न देता। प्रसादजी तो वहाँ के नियमित आनेवालों में थे। उन्होंने उसका नाम 'आबनूस का

कुन्दा' रख छोड़ा था। हम लोग इसी नाम से उसकी चर्चा करते और उसका रहस्य जानने को उत्सुक रहते। अब एक दिन ऐसा आया कि एक ग्रामीण महिला रूपवती युवती कन्या को लिए हुए वहाँ पहुँची और सबसे कहने लगी कि वह युवक उसका दामाद है और उसकी कन्या को छोड़कर गायब हो गया था, बहुत खोजते-खोजते यहाँ तक पहुँची। यद्यपि 'आबनूस का कुन्दा' सदैव नकारता रहा तथापि वह महिला अपनी बात पर अड़ी रही और सबसे बार-बार यही अनुरोध करती कि इन दोनों का मेल करा दें। इस विलक्षण परिस्थिति नें वातावरण मे एक रंगीनी ला दी किन्तु किसी का कोई वश न चला। प्रसादजी भी इस नाटकीय घटना को दिलचस्पी से देखते और मुस्कुराते रहे। एक दिन उन्होंने उस रहस्यमय युवक से कहा कि पहले तो तुम्हें 'आबनूस का कुन्दा' ही समझा था, किन्तु अब 'अगर की गांठ' भी मानने लगा। ज्ञातव्य है कि आबनूस और अगर नामक दोनों ही अत्यन्त सुगन्धित लकड़ियाँ घोर काले रंग की होती है जबकि अगर की सुगन्ध चन्दन को भी मात करती है। प्रसादजी की सहृदयता और प्रतिभा ही ऐसी सुन्दर तुलनात्मक उपमा दे सकती थी। वह रहस्यमय युवक जैसे प्रगट हुआ था वैसे ही एक दिन अदृश्य भी हो गया और वह रहस्यमयी युवती भी न जाने कहाँ चली गई—एक अधूरी कहानी का कुतूहल छोड़ कर।

इसके महीने डेढ़ महीने बाद का हाल सुनाने के लिए हमें तीन बरस पहले चलना होगा—१९१० ई० के लगते भाई काशीप्रसाद जायसवाल विलायत से उच्च शिक्षा प्राप्त कर लौटे। उन्हें विद्यार्थी अवस्था से ही प्राच्य-विद्या से प्रेम था। इंग्लैण्ड प्रवास में ही उनका साथ सावरकर सरीखे क्रान्तिकारियों से हुआ था फलतः उन्होंने भारतीय इतिहास और पुरातत्व सम्बन्धी पाश्चात्य दृष्टिकोण पर गम्भीर चिन्तन किया और पाया कि पश्चिमीय विद्वानों का दृष्टिकोण संकीर्ण तथा विपरीत था जिससे हमारे पुरावृत्त का गलत आकलन उन्होंने किया है। अतः जायसवालजी ने भारतीय पुराविद्या के मूल्यांकन का नया मार्ग ढूँढ़ा जो राष्ट्रीय होते हुए सर्वथा निष्पक्ष था। इससे भारतीय पुरातत्व अनुसंधान को एक नई दृष्टि मिली और अन्य विद्वान इससे प्रेरित हुए। भारत लौटने पर उन्होंने कलकत्ता हाइकोर्ट में प्रैक्टिस आरम्भ की जहाँ उन्हें मात्र बैरिस्टर ही नहीं वरन प्राच्य-विद्या-विशारद का स्थान दिया गया। उन्ही दिनों फ्रान्स से दो सुन्दर युवती बहनें कलकत्ता आई, उनके पिता वहाँ व्यवसाय करते थे। बड़ी बहन चित्रकला विशारद थी और ठाकुर शैली में उसने 'इचिंग' का प्रशिक्षण आरम्भ किया। छोटी बहन को संस्कृत से प्रेम था और साधारण ज्ञान भी। भारतीय संगीत में भी उसकी प्रवृत्ति थी, उसने सितार भी सीखना आरम्भ किया। कलकत्ता के मनीषी समाज ने उन दोनों का स्वागत किया और छोटी बहन 'सुजान' को संस्कृत प्रेम के कारण 'भारती' पदवी भी प्रदान की।

उसने अपना नामकरण भी कर लिया—पूर्णिमा। सचमुच पूर्णिमा की रूपराशि पूर्णिमा के ही तुल्य थी। इन दोनों बहनों को काशी में रहकर अपनी कला और विद्या सम्वर्द्धित करने की इच्छा हुई और जायसवालजी ने मेरे नाम परिचय-पत्र देकर यहाँ भेज दिया। यह सन् १९१३ के आरम्भिक महीनों की बात है। वे यहाँ 'होटल-डी-पेरिस' में ठहरीं और नित्य मेरे यहाँ आना-जाना, मिलना-जुलना होने लगा। वह उम्र ऐसी थी कि सुजान और मैं एक दूसरे के प्रति बहुत आकृष्ट हुए। प्रसादजी से मेरा कोई पर्दा न था, अपनी भावात्मकता का इजहार भी उनसे किया करता। फिर वह दिन आया जब वे दोनों बहनें कलकत्ता लौट गईं। इसके उपरान्त प्रसादजी ने 'बिदाई' शीर्षक से बारह दोहों में एक कविता लिखी जो 'इन्दु' कला ४ खण्ड २ में पृष्ठ सं० ५६ पर प्रकाशित हुई। इनमें 'मनमानिक नीलाम करि' की ध्वनि यह है कि उन दिनों यूरोपीय प्रवासी जब भारत छोड़ते तब अपनी वस्तु कौड़ी के मोल पर नीलाम करके रुपया खड़ा कर लेते। यहां प्रसादजी ने मेरे हृदय की वही दशा प्रस्फुटित की है। अन्तिम दोहा भी बहुत ही भावपूर्ण है, वह भी मेरी मनोदशा का सुन्दर चित्रण है।

सुजान के चले जाने पर वह प्रायः मुझ पर फब्ती कसा करते—'हाय, तुम उस पार मैं इस पार, बीच में अपार पारावार।' उनका यह मनोविनोद कुछ समय तक चलता रहा। तभी मैंने 'उपवन' नामक अपनी कविताओं का संग्रह मुद्रित कराया जो पेपर कवर में पुस्तकाकार तैयार होकर भी प्रकाशित नहीं हुआ। इसका समर्पण भारती पूर्णिमा को ही है। प्रसादजी इसे ताड़ गये और मुझे समर्पण वाले छन्द के आद्याक्षर दिखाते हुए अपनी रहस्यमयवाणी में कहने लगे—'अच्छा ....।' इतना ही नहीं वह अक्सर मुस्कराते हुए लम्बी सांस लेकर मुझे सुनाते—'हाय, तुम उस पार, मैं इस पार।' उस विछोह में 'उपालम्भ' शीर्षक एक कविता भी लिखी थी जो 'इन्दु' में और पुनः 'उपवन' में निकली। इसके कुछ दिन बाद प्रसादजी की फुटकर कविताओं का प्रथम संग्रह 'कानन कुसुम' प्रकाशित हुआ। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस संग्रह की 'समर्पण' शीर्षक कविता में 'उपवन' शब्द मुझसे छेड़छाड़ के लिए ही रखा गया था। जब इसका रस वह ले चुके तब उपवन शब्द के ऊपर एक छपी हुई चिप्पी लगवा दी जिसमें 'उद्यान' शब्द को उपवन का स्थान दे दिया गया।

१९०९ ई० से प्रसादजी के अवसान तक मैंने उन्हें निकट से निकट तक निरखा है, उनके अन्तस् में पैठा हूँ। उनकी समूची गतिविधि से अवगत रहा हूँ। उनके हृदय का कोना-कोना मेरे लिए उन्मुक्त रहा है। इसी बूते पर उनके जीवन वाले उन लगभग १९१० से १४ का जो उनके विलासी जीवन का अथ से इतिश्री है, यथार्थ चित्र उरेहना अपना कर्तव्य समझता हूँ।

बनारस की एक बिरादरी का पेशा है संगीत—गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रीभिः

संगीतमुच्यते:। उन परिवारों में कुछ ऐसी युवतियाँ भी होती थीं जो संगीत प्रवीण होकर केवल भले घरों के स्त्री समाज में अपनी कला प्रस्तुत करती थीं। जब किसी बड़े घर में कोई शुभकार्य या उत्सव होता तब उस मांगलिक वातावरण को अन्त:पुर में मुखरित करने के लिए ये बुलाई जातीं। कभी-कभी तो प्रमुदित महिला मण्डली सारी रात जागी रहती, उसे रतजगा कहा जाता। मांगलिक अवसरों के अतिरिक्त वर्षा-वसन्त में भी ऐसे समारोह हुआ करते।

इसी प्रकार के किसी आयोजन में प्रसादजी के घर में एक रूपसी युवती का प्रवेश हुआ। उसकी कला एवं अदा ऐसी लुभावनी थी कि वह अक्सर बुलाई जाने लगी। उसका नाम था श्यामा। ऐसे अवसर भी आए कि प्रसादजी की निगाह उस पर पड़ी और उसकी रसभरी आयत आंखों ने उन्हें आकृष्ट कर लिया— निगाहें चार होती हैं, मुहब्बत आ ही आ ही जाती है'—चरितार्थ हुआ। भगवान ने उसे सूरत के साथ-साथ सीरत भी दिया था। वह निस्सन्देह प्रेमपरायणा थी, अर्थपरायणता नाममात्र ही। प्रसादजी के भवन के सामने ही एक विस्तीर्ण कच्चा चबूतरा था, उसके बीच में थी एक छोटी-सी सुबुक बंगलिया। रंग-विरंगे सुन्दर-सुन्दर फूलपत्तियों वाले गमलों से वहां बहुत रमणीयता रहती। उसी मे उसे वास मिला। उन दिनों अधिकांश कुलांगनाओं की मनोवृत्ति यह थी कि यदि उन्हे पति का पूर्ण प्रेम प्राप्त होता तो उनमें पति की रक्षिता के प्रति सौतिया डाह न होता। उनके पति-प्रेम में आराध्य भाव भी रहता। ऐसे सम्बन्ध के प्रति उनका दृष्टिकोण यह होता कि यदि हमारे प्रति हमारे आराध्य का अनुराग अक्षुण्ण है तो उनकी मौज में हमें भी सुख है। यही अनुकूल परिस्थिति प्रसादजी के अन्त:पुर मे थी। उनकी प्रेमिका के लिए उनकी जनानी ड्योढी का द्वार सदैव उन्मुक्त रहा। प्रसादजी जब हवा खाने गाड़ी पर निकलते, तब कभी-कभी मर्दानी पोशाक मे उसे भी संग लिए रहते। एक दिन मेरे यहाँ फाटक तक आकर न जाने क्यों सकुच गए, उल्टे पाँव लौट गए—कई दिन बाद खुले। प्रसादजी का जीवन एक खुली किताब थी।

इस जीवन मे वह ढाई-तीन बरस रमे रहे। उभय पक्ष से कभी कोई बेवफाई नहीं हुई—प्रसादजी स्वयमेव निवृत्त-तर्ष हो गए, एक दिन। जब उपरत हुए तब सदा के लिए उपरत हुए, कभी पीछे मुड़कर न देखा, न ही मन मे कोई वासना या पछतावा रहा—उनके जीवन की यही विशेषता थी। 'जीवन-समुद्र थिर हो गया' तो सदा के लिए हो गया। वह अपने सारे आभूषण उन्हें सौंपने लगी, उन्होंने बिना किसी रुखाई के दृढ़तापूर्वक ना कर दी। झंझटों से वह दूर रहा करते। इसके बाद एक दिन मैंने उनसे पूछा कि कुछ उसका पता-ठिकाना है उन्होंने बिल्कुल तटस्थ भाव से कहा—'सुना कि मर गई।' किन्तु कई बरस बीत जाने पर वह अकस्मात प्रगट हुई। 'अरे तुम....?' प्रसादजी ने उसे देखकर निस्संग भाव से साश्चर्य

पूछा। बरसों से जिसको वह मृत समझते थे उसे अचानक जीवित देखकर उनका चकित होना स्वाभाविक था। फिर वह अन्दर चली गई। प्रसादजी की कहानी 'चूड़ीवाली' की कल्पना उसी की परछाईं है। प्रसादजी के इस जीवन के सम्बन्ध में जिन लोगों ने लिखा है वह वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ है—

'जाकी रही भावना जैसी, हरि मूरत देखी तिन्ह तैसी।'

यहां तक कि एक लेखक ने तो उन्हें पंकलिप्त भी कर डाला है। इसी से मिलती-जुलती और गलत-फहमियां भी प्रचलित की गई हैं, यथा—प्रसादजी गाना सुनने के लिए कोठे पर जाया करते थे। इन सारी नितान्त मिथ्या जल्पनाओं ने मुझे हक्का-बक्का कर दिया है। मजा यह है कि प्रसादजी के जीवन वाले उस परिच्छेद के समय वे लोग न तो उनके सम्पर्क में आए थे न ही उस वय तक पहुंचे थे जिसमें आदमी दुनिया को देख-सुन-समझ पाता है।

इतना अवश्य है—प्रसादजी की दूकान के उत्तरी ओर सटा एक छोटा-सा मकान था, जिसकी ऊपरी मंजिल में एक कोठा था। जिन जवाहिर बाई का वह कोठा था वह अपने समय की एक ही गायिका थी—जैसा कण्ठ पाया था वैसी ही तालीम भी। रंगीन-गान तो बहुत रसीला गाती ही थी, पक्की चीज़ गाने में भी कमाल हासिल था। इधर कोठेवालियों पर बहुत कुछ लिखा गया है किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि उसमें रूप को वरीयता दी गई है, ऐसी स्थिति में गुण को नज़रअन्दाज कर देना स्वाभाविक है। जवाहिर बाई में रूप का सर्वथा अभाव था, तब भला वह क्योंकर उल्लेखनीय होती। जवाहिर बाई जवानी बीतने के पहले ही गत हो चुकी थीं। जिस समय की बात कह रहा हूं उनकी नौची उस कोठे पर बैठा करती। उसने कोठेवालियों का स्वभाव नहीं पाया था, किन्तु क्या करती, उस पेशे में लगा दी गई थी। सायंकाल जब प्रसादजी की साहित्यिक मण्डली उस मकान के सामने वाले तख्ते पर जुटती तब वह बड़े चाव से सारी साहित्यिक चर्चा और हास परिहास सुना करती और अपने को उस सहृदय समाज का सदस्य लेखती। कभी-कभी उस समवाय की अभ्यर्थना के लिए एक पुड़िया में इलायची बांधकर वासना-विहीन भावपूर्वक वहीं से प्रसादजी के उछंग में डाल दिया करती। वह विगत-विकार आभारपूर्ण दृष्टि से उधर एक बार देख भर लेते। तब, पुड़िया खोलकर इलायची अपनी मण्डली को बांटते और स्वयं भी खाते। कोई किसी तरह की फिकरेबाजी या आवाजाकशी न करता। यह क्रम तबतक चला जबतक वह उस कोठे पर रही। पीछे से उस जीवन से ऊबकर उसने घर कर लिया, वह घरनी होने के लिए ही जन्मी थी।

१९१२ ई० के अन्तिम महीनों में मैंने भी अपने को एक फन्दे में फंसा दिया। एक ऐसा सम्बन्ध स्थापित किया जिसमें प्रेम का नाम भी न था, केवल वासना ही

वासना थी, जिसके कारण मैं बिल्कुल असन्तुलित हो गया। मुझ पर जो भूत सवार था उसे मैं प्रसादजी से कैसे छिपाता। उसी सिलसिले में एक दिन मुझे एक भाव सूझा, मैंने वह प्रसादजी को सुनाया और उनसे कहा कि इसे छन्दोबद्ध कर दो। उन्होंने तत्काल उसे एक निरनुप्रास कविता का रूप दे दिया। पढ़कर जब मैंने प्रसन्नता व्यक्त की तब उन्होंने केवल एक शब्द पर अंगुली रखकर कहा—'बस, इसमें मेरा इतना ही है।' सच पूछिए तो कविता का प्राण वही शब्द है, क्योंकि जिस पतिता को मैंने अपनाया था उसकी इस शब्द द्वारा पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाती है। वह शब्द है—'पांसुला।' इसका अर्थ है—कूड़े-कर्कट में गिरी हुई। किसी तरह जुलाई-अगस्त १९१४ ई० मे उस नागपाश से मेरा छुटकारा हुआ, यद्यपि उसकी खुमारी उतरी कुछ दिनों बाद।

बचपन से ही मलेरिया ने मेरे शरीर मे घर कर लिया था। १९१५ के मार्च में ज्वर मन्थर रूप में उभरा। मेरे डाक्टर ने चिकित्सा करके वह उपद्रव शान्त कर दिया, किन्तु सलाह दी कि तुरन्त किसी पहाड़ पर चले जाओ और अक्टूबर तक वहीं रहो, अन्यथा जुलाई लगते ही मलेरिया बहुत तंग करेगा। तदनुसार मैंने मंसूरी जाना निश्चित किया। वहा पहले भी तीन बार थोड़े-थोड़े दिनों के लिए आ चुका था। मुझे वह पहाड़ बहुत अच्छा लगता था। निदान वहां पर एक कोठी किराये पर ठीक करके अप्रैल में सपरिवार चला गया। और अक्टूबर बीतने पर काशी लौटा। मंसूरी कुछ ऐसी अच्छी लगी और स्वस्थ्य सुधरा जिसका ठिकाना नहीं। सो, मार्च १९१६ ई० मे वहाँ पर एक कोठी खरीद ली और गर्मी आरम्भ होते ही सपरिवार वहाँ चला जाता। कोठी काफी बड़ी थी, इस कारण मित्रों को भी बुलाकर महीनों वहाँ टिकाये रखता था। बडी इच्छा थी कि प्रसादजी भी वहाँ आएँ, किन्तु उन दिनों उनकी प्रथम पत्नी का क्षय रोग इतना बढ़ गया था कि उनके लिए एक क्षण भी घर छोड़ना असम्भव था। जुलाई या अगस्त में भाई मैथिलीशरण लगभग एक महीने के लिए मंसूरी आए—साहित्यिक मनोरंजन का खूब समा रहा। उन्हें अपनी कई रचनाओं के प्रकाशनार्थ कागज खरीदने के सिलसिले मे कलकत्ता, कानपुर, बनारस की यात्रा करनी थी अस्तु वे अपने गन्तव्य की ओर प्रस्थित हुए। कुछ दिनों बाद कलकत्ता के लिए मार्गस्थ भाई मैथिलीशरण ने बनारस से यह दु:संवाद दिया कि प्रसादजी की पत्नी नही रही। उन दिनों बनारस में गंगाजी में बहुत बड़ी बाढ़ आई थी। वहाँ दशाश्वमेध घाट के पास गोदोलिया नामक प्रसिद्ध चौमुहानी है। बाढ़ का पानी करीब करीब चौमुहानी तक आ गया था। मैथिलीशरण ने वहीं प्रसादजी को पिण्डदान करते पाया।

जिस रात प्रसादजी की पत्नी का देहान्त हुआ, वह अपने मकान के सबसे बाहरी कमरे मे अकेले दुख मे निमग्न बैठे थे। किसी भी क्षण दु:संवाद मिलने की

आशंका उनके चौगिर्द मँडरा रही थी। उसी समय कहीं से एक मेढ़ा उस कमरे में आ घुसा। उसके दोनों सींग सिन्दूर से रंगे थे और ललाट पर भी सिन्दूर लगा था। उन्हीं के शब्दों में—'उसे देखकर मेरे रोंगटे खड़े हो गए, वह क्षण भर में लौट गया और तभी घर में से सूचना मिली कि किस्सा तमाम हो गया।'

१९१६ ई० के दिसम्बर में कांग्रेस का अधिवेशन लखनऊ में होने वाला था। इस अधिवेशन का विशेष महत्व था क्योंकि सजा काट कर लौटे लोकमान्य तिलक और सरोजिनी नायडू विशेष रूप से इसमें योगदान कर रहे थे। लखनऊ जाने के पहले प्रसादजी पर बहुत जोर डाला कि वह भी चलें। पहले तो वह निरन्तर नहीं करते रहे। अन्त में एक दिन कहा कि—'तुम जाओ, मैं भी आऊँगा।' लखनऊ से लौटकर जब उन्हें न आने का उलाहना दिया तब ऐसा रूपक रचा उन्होंने कि मुझे यही प्रतीति हुआ कि वह भी लखनऊ पहुँचे थे और उनके बार-बार पुकारने पर भी मैं उनकी ओर उन्मुख नहीं हुआ। इस कारण मैं बहुत लज्जित और दुखित भी हो जाता। कुछ दिनों बाद उन्होंने इस भ्रम का निवारण कर दिया।

लखनऊ से लौटने पर मैंने उन्हें वे गद्य-गीत दिखाए जिन्हें मसूरी में लिखना आरम्भ किया था और तबसे लगातार लिखता जाता था। उनकी संख्या लगभग अस्सी हो गई थी। प्रसादजी ने उन्हें बहुत पसन्द किया—केवल जबानी ही नहीं। एक दिन आए—सुदामा की तरह कुछ छिपाए हुए। उसे बहुत छीना-झपटी और हाँ-नहीं के बाद बड़े हाव-भाव से दिखाया। उन दिनों उनकी ऐसी आदत थी कि अपनी रचनाएँ दिखाने में बड़ा तंग करते : और अब तक भी—'गई न सिसुता की झलक।' वह एक साफ सुथरी छोटी-सी कापी थी जिसमे बीस के लगभग उनके गद्य-गीत थे। मैंने कइयों को झाँका सुन्दर थे। एक में का सन्ध्या वर्णन अभी तक नहीं भूला, किन्तु मैं उन दिनों बावला हो रहा था, अपनी शैली पर इतना ममत्व और आग्रह था कि जरा भी उदार नहीं होना चाहता था। मैंने छूटते ही कहा—'क्यों गुरु, मुझी पर हाथ फेरना।' वह मेरी संकीर्णता पहचान गए। कई दिन बाद मुनासिब बात कहकर अपनी कापी उठा ले गए, और उन भावों में से कतिपय को छन्दोबद्ध कर डाला। उनके 'झरना' के प्रथम संस्करण का अधिकांश उन्हीं कविताओं का संकलन है। सौभाग्यवश उनके गद्य-गीतों में से एक उपलब्ध है जिसे उन्होंने अपनी कहानी 'पत्थर की पुकार' में गुंफित कर दिया था।

वह साल बीतते-बीतते प्रसादजी बिल्कुल प्रकृतिस्थ हो गए थे, १९१७ ई० के आरम्भिक दिनों में उनका दूसरा विवाह तय हुआ। फरवरी के उत्तरार्द्ध में विवाह की लग्न निश्चित हुई। कोई विशेष समारोह नहीं हुआ—फिर भी सभी इष्ट-मित्र एकत्र हो गए थे। वर-रूप में प्रसादजी ने सिर पर जरीदार बनारसी सेल्हे का साफा बांधा था और गले में एक सुन्दर मोतियों की माला थी। शेष वस्त्र मामूली शेरवानी

पाजामा था। विवाह आनन्दमय वातावरण में सम्पन्न हुआ। उन दिनों मैथिलीशरण और प्रसादजी बहुत निकट आ गए थे। उन लोगों ने निश्चय किया कि सम्मिलित होकर रामचरित पर एक पद्यमय नाटक लिखें, किन्तु कथानक के विषय में कुछ मौलिक मतभेद होने के कारण वह काम न हो सका। १९१८ की कोई विशेष घटना याद नहीं आती सिवा इसके कि शिवरात्रि को उनके पैतृक विशाल शिवालय में जो घर के सामने ही है विशेष भजन-पूजन और जलसा होता था। प्रसादजी २४ घण्टों का निराहार व्रत करते। रेशमी पीताम्बर पहने, त्रिपुण्ड लगाए और कण्ठ में ११ बड़े-बड़े गौरीशंकर रुद्राक्षों की माला पहने प्रसादजी की वह छटा दर्शनीय होती। शिवजी का निरन्तर रुद्राभिषेक होता रहता साथ ही मन्दिर के जगमोहन में वेश्या का नाच-गाना भी। इष्ट-मित्रों की और मुहल्ले के संभ्रान्त लोगों की अच्छी भीड़ जुटती, कुछ तो आसपास की जनपदों से भी आते। उनमें मोहनसराय के सुकवि मुकुन्दीलाल और मिर्जापुर जिले के कवि शिवदासजी का नाम उल्लेखनीय है। सभी आगतों की पहली खातिर भांग से होती। ऐसी स्वादिष्ट भांग बनती जिसका नाम नहीं। उसमें केशर; कस्तूरी, इलाइची, गुलाबजल और बादाम के साथ-साथ मलाई के छोटे-छोटे टुकड़े भी होते। लोग नशे का डर भूलकर कुल्हड़ पर कुल्हड़ जमाते थे। जिस शिवरात्रि की चर्चा कर रहा हूँ उसमें नर्तकी ने एक गीत गाया, जिसकी टेक थी—'बेकार आँखें हो गईं।' संयोगवश आगतों में उसी मुहल्ले के एक समृद्ध जमींदार थे जो काने थे। गजल सुनकर सब लोग उनकी ओर देखकर ठठाकर हँसने लगे, किन्तु वह भी ऐसे रसिया थे कि झूमते हुए स्वयं भी कहकहा लगाया—यहाँ तक कि अन्य हँसने वाले फीके पड़ गए।

उन दिनों मैं एक बड़े मुकदमे में व्यस्त था जिसके कारण अधिकांश समय इलाहाबाद में ही बीता और साल बीतते-बीतते एक लम्बे प्रवास का भी आरम्भ हुआ, अतएव बनारस से बहुत कम सम्पर्क रहा। जब नवम्बर के पहले सप्ताह में काशी वापस लौटा तो इस बीच १९१८–१९ ई० में प्रसादजी की दूसरी पत्नी का प्रसूति रोग में देहान्त हो चुका था और तीसरा विवाह भी हो गया था। अतः लौटने पर उन्हें बिल्कुल प्रसन्न चित्त पाया। अपने लम्बे प्रवास में मंसूरी में एक योजना तैयार की जो चिर-अभिलषित थी। वह भारतीय कला और पुरातत्व का एक विशाल संग्रहालय बनाने की रूपरेखा थी। बनारस लौटने पर जब प्रसादजी से चर्चा हुई तब उन्होंने योजना का स्वागत ही नहीं किया, कमर कस कर मेरे साथ काम करने को तैयार भी हो गए अन्ततोगत्वा पहली जनवरी १९२० को भारत कला परिषद की स्थापना हुई जो आज काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संग्रहालय भारत कला भवन नाम से विख्यात है। प्रसादजी पहले दिन से परिषद के साथ थे। उन्हें ऐसी लगन हो गई कि दुकान जाने के पहले नित्य सन्ध्या को परिषद में—जो गोदौलिया

मारवाड़ी अस्पताल के सामने एक विशाल कोठी में स्थित था—आते और अधिक नहीं तो एक घण्टा अवश्य रहते तथा अनेक उपादेय परामर्श देते ।

१९२१ ई० की केवल दो घटनाएँ याद हैं। मेरे बगीचे से सन्ध्या समय प्रसादजी और मैं फिटन पर उनके घर आ रहे थे। घर के बिल्कुल निकट चेतगंज की सड़क पर कई लड़के ऊधम मचा रहे थे। कोचवान गाड़ी रोके-रोके कि एक लड़का पहिए के नीचे आ गया और उसका सिर बुरी तरह फट गया। देखते-देखते भीड़ जमा हो गई और सभी लोग कहने लगे कि गाड़ी को थाने ले चलो। उस हुल्लड़ में आहत लड़के का बाप भी था। प्रसादजी उसी की ओर केन्द्रित हुए। चट से जेब से २० रुपये निकालकर उसके हाथ पर रखे और समझाया कि यह तो सोचो कि यदि रपट लिखाने के लिए गाड़ी को थाने ले चलोगे तो उतनी देर में बच्चे का क्या हाल होगा। आओ बच्चे को लेकर गाड़ी पर बैठ जाओ, हम लोग तुरन्त अस्पताल चलकर इसकी चिकित्सा का प्रबन्ध करें। उसके बाद थाने ले चलोगे तो हम लोग सहर्ष चले चलेंगे। उनकी बात उसकी समझ में आ गई और भीड़ के हो हल्ले पर बिल्कुल ध्यान न देकर बच्चे को लिए हुए गाड़ी पर बैठ गया। उन्होने गाड़ी अस्पताल की ओर मुड़वा दी और भीड़ स्वभावत. तितर-बितर हो गई। अस्पताल के डाक्टर मेरे घरेलू डाक्टर भी थे। उन्होंने चटपट लड़के को वार्ड में दाखिल कर लिया; उसकी मरहम पट्टी भी अपनी देखरेख में ठीक-ठीक कराई। ईश्वर-कृपा से वह कुछ ही दिन में चंगा हो गया। उस दिन यदि प्रसादजी की उन्मेषशालिनी बुद्धि काम न करती तो बड़ी दिक्कत उठानी पड़ती।

१९२१ ई० की शरद ऋतु में संयोगवश मुझे मंसूरी जाना पड़ा। मेरे मित्र श्री खुशालचन्द्र देसाई आई० सी० एस० को भयंकर टायफाइड हो गया था, डाक्टरों ने पूर्ण स्वस्थ्यलाभ के लिए पहाड़ पर जाने की सलाह दी। अपनी कोठी थी ही मंसूरी मे। मैंने उन्हें वहाँ भेज दिया पीछे से एक अच्छी खासी अन्तरंग मित्र-मण्डली लेकर मैं भी पहुँचा। प्रसादजी पर बहुत जोर डाला किन्तु वह सनातन प्रवास-भीरु थे। मेरे अनुरोध का कोई असर न हुआ। वहां उनके लिए चित्त बड़ा कचोटता रहा। सारे आनन्द में एक फीकापन व्याप्त रहा। उन्हें एक आग्रह-पूर्वक पत्र लिखा जो नीचे देता हूँ। उसका उत्तर भी बहुत पुर-बहार था, उसे भी देता हूँ—

मंसूरी २७–९–२१

प्रिय,

आइये। अवश्य आइये। अनुग्रहपूर्वक आइये। कृपा पूर्वक आइये। दयापूर्वक आइये। प्रेमपूर्वक आइये। स्नेहपूर्वक आइये। प्रसन्नतापूर्वक आइये। मानपूर्वक आइये। अभिमानपूर्वक आइये। भावपूर्वक आइये। भंगीपूर्वक आइये। अदा से

आइये। नखरे से आइये। नाज से आइये। अन्दाज से आइये। साज से आइये। आइये....आइये....

दादाजी के आग्रह से आइये। केशवजी के आग्रह से आइये। देसाईजी के आग्रह से आइये। सेठजी के आग्रह से आइये। सन्त बाब के आग्रह से आइये और....इस जन के आग्रह से आइये।

वही कृ०
काशी ९-१०-२१

प्रियेवरेषु,

एक साथ ही बहुत लोगों के निमन्त्रण और आवाहन ? मैं तो घबरा गया हूँ। फिर आना भी कई प्रकार से, यह और भी समस्या ? विचार उत्पन्न हो गया है, सम्भवतः न आ सकूंगा। अच्छा, कोई चिन्ता नही।

रायकृष्णदास साहिब
मंसूरी।

भवदीय
जयशंकर प्रसाद

१९२२ ई० के लगभग में हस्तलिखित पोथियां संचित कर रहा था। एक विशाल पोथी-भंडार का पता चला जिसे हरप्रसादजी नामक एक ब्राह्मण देवता ने संग्रहीत किया था। वे प्रसादजी के और मेरे भी सुपरिचित थे। प्रसादजी, पं० केशवप्रसाद मिश्र और मेरी सलाह हुई कि वह संग्रह देखा जाय। ठीक दोपहरी में त्रिमूर्ति हरप्रसादजी के घर पहुंची। उन्हे दोहरी प्रसन्नता हुई। एक तो प्रसादजी और मुझसे वर्षों बाद मिलकर, दूसरे इस आशा से कि उनके ढेर के ढेर पुस्तकों के रुपये खड़े हो जायेंगे और उनके अन्तिम दिन बिना आर्थिक कठिनाई के बीतेंगे। उनके घरवालों ने पुस्तकों के बण्डल हमलोगों के सामने धर दिए। आचार्य केशवजी, प्रसादजी और मैं उन्हे खोल-खोलकर देखने लगे। उनमें तन्त्र, मन्त्र, अनुष्ठान, स्तोत्र, झाड़-फूंक और जादू टोने के सिवा कोई काम की चीज देखने में न आई, एकाध बण्डल में कुछ दार्शनिक ग्रन्थ मिले। हरप्रसादजी को निराश करना उचित न था अतएव हमलोग विचार करके उत्तर देने की बात कहकर बिदा हुए। बाहर आकर प्रसादजी ने गम्भीर वाणी में कहा कि ये पुस्तकें हमारे अधःपतन के उस काल की प्रतीक हैं, जब राष्ट्र की यह मनोवृत्ति थी कि कुछ करना न पड़े और सब कुछ हो जाय। उनके इस वाक्य में समाज की कर्मठता की आवश्यकता की पूरी अभिव्यक्ति है और इसका उनके तथाकथित नियतिवाद से सर्वथा असामंजस्य है।

प्रसादजी की बहुत इच्छा थी कि पारम्परिक व्यवसाय के अतिरिक्त कोई नया व्यवसाय भी करें। संयोगवश १९२२ में उन्हें एक ऐसे व्यक्ति मिल गये जिन्हें उन्होंने नये व्यवसाय के लिए उपयुक्त समझा—किन्तु उनका ऐसा समझना आंशिक रूप से ही ठीक था—ये थे गुजरात के मगनभाई देसाई। उन दिनों हिन्दू विश्व-

विद्यालय के अध्यापकों वाली बस्ती मे बाजार करने की आज जैसी सुविधा न थी और अध्यापकों को अपनी गृहस्थी के सामानों के लिए शहर दौड़ना होता था। अतएव प्रसादजी ने विश्वविद्यालय से अनुमति प्राप्त करके मगनभाई से वहां दुकान खुलवाई। विश्वविद्यालय ने एक उपयुक्त क्वाटर भी दिया—गल्ला, किराना, वस्त्र, और लिखने-पढ़ने की सामग्री आदि सामान रखने के लिए। अपरम्पार बिक्री होने लगी। इस दूकान पर प्रसादजी और मैं प्राय: दूसरे-तीसरे अपराह्न में जाया करते। एक दिन प्रसादजी ने दूकान के दर्जी को एक बड़ा अच्छा जरी का चोंगा दिया कि उसे काटकर वह उनके लिए एक जवाहर जैकेट बना दे। किन्तु, वह पुरानी कारीगरी का एक ऐसा अच्छा नमूना था कि मैंने उसे कला-परिषद के लिए मांग लिया। आज भी कलाभवन के वसन विभाग मे वह एक दर्शनीय वस्तु है। वहां एक अतर की दूकान भी खुली थी। जब दोनो दूकानें पूरी गतिवान हो गई तभी मगनभाई के पिता के देहान्त की सूचना आई यद्यपि उनके पिता उनकी ओर से तटस्थ थे तथापि मगनभाई को एकाएक काम छोड़ देने वाले अपने स्वभाव को अच्छा अवसर मिला और वह बिना कुछ यहां का उचित प्रबन्ध किए चले गये। अस्तु, प्रसादजो को अपने एक निकट सम्बन्धी उमाप्रसाद को वहां की जिम्मेदारी सौंपनी पड़ी किन्तु उनमें उतनी योग्यता न थी। फलत: कार्य-गति एकदम पट हो गई और प्रसादजी की एक अच्छी खासी रकम जो विक्रेय-वस्तुओं की खरीद में लगी थी, फंस गई। अन्त में घाटा देकर उन्होंने वह काम बन्द कर दिया। बहुत कुशलता से उन्होंने इस घाटे से अपना पारम्परिक व्यवसाय बचा लिया।

इसी प्रकार की उनकी व्यवहार कुशलता की एक और बात याद आती है। उनके मकान के सामने जो ऊंचा विशाल मैदान था उसकी सीमा पर एक मकान बिक रहा था। वेचनेवाला उसी मुहल्ले का था। वह उनके पास आया और मकान खरीद लेने का आग्रह किया, किन्तु वे बोले कि—'भाई, इस समय तो मुझे नही लेना है।' तब वह खुला और कहा कि दूसरा ग्राहक ठीक कर चुका हूँ। बैनामे पर आपकी गवाही की आवश्यकता है। उन दिनों 'हकशफा' नामक कानून चलता था जिसके अनुसार दो सटे मकानो मे यदि एक बिके और दूसरे के गृहपति को मालूम न हो तो उसे अधिकार था कि दावा करके बैनामा रद्द करा दे और उतना रुपया देकर वह मकान स्वयं प्राप्त कर ले। किन्तु बैनामे पर गवाही कर देने से वह उम अधिकार से वंचित हो जाता था। प्रसादजी तो व्यवहारदक्ष थे ही। उन्होंने कहा कि पहले उस ग्राहक को मेरे पास ले आओ, उससे बातें कर लूं तब बैनामे पर गवाही कर दूंगा। ग्राहक के आने पर उन्होंने उसे चेतावनी दी—'यदि तुम मकान खरीद कर मेरी जमीन की ओर खिड़की दरवाजा न खोलने का इकरारनामा लिख दो, तो मैं हस्ताक्षर कर दूंगा अन्यथा

नहीं।' खरीददार गर्जमन्द था, उसने सहर्ष इकरारनामा लिख दिया और प्रसादजी ने भी बैनामे पर साक्षी कर दी। प्रसादजी की व्यवहारबुद्धि का यह एक प्रतिनिधि उदाहरण है।

१९२२ ई० में ही प्रसादजी और मैंने काशी के सभी मेले देखने का निश्चय किया। इसी सिलसिले में श्रावण की कजरी-तीज का मेला हमलोगों ने जगह जगह जाकर देखा और भरपूर आनन्द लिया। अगहन के पहले मंगलवार को 'प्याले' का मेला होता है जो पैगम्बर ख्वाजा खिज्र के सम्मान में होता है। बनारस में यह मेला बरना के तट पर चौकाघाट पर होता था। जब इसके देखने की पारी आई तब प्रसादजी ने कहा—'मैं न चलूंगा क्योंकि मेरे कुल मे इसमें सम्मिलित होना वर्जित है।' मैंने कहा—'चलो, हमलोग दूर से देखेंगे, मेले के पास नहीं जायँगे।' यह बात वे मान गये और इस प्रकार हमलोगों ने बहुत दूर से उस मेले का आनन्द लिया।

जुलाई १९२४ ई० में उन्होंने केशवजी और मुझसे कहा—'इधर दस बारह दिन पहले एक नई चीज पूरी की है, जिसे तुमलोगों को अथ से इति तक सुनना है।' केशवजी ने अपने खुशनुमा बगीचे में कुर्सियां लगवाई और प्रसादजी न दो चार शब्दों में परिचय देते हुए समग्र 'आंसू' तन्मयता के साथ सस्वर सुनाया जिसे सुनकर हमलोग झूमने लगे।....यद्यपि आंसू का 'वस्तु' ऐहिक है या आध्यात्मिक, इस पर बहुत कुछ लिखा गया है, तथापि खेद के साथ कहना पड़ता है कि उसमें का अधिकांश आत्मनिष्ठ है न कि वस्तु निष्ठ। प्रसादजी की रचनाओं में गहरी पैठ रखनेवाले डा० राजेन्द्रनारायण शर्मा जो पिछले दिनों में उनके विशेष वात्सल्यभाजन रहे थोड़े शब्दों में आंसू के तत्व पर जो कुछ कहा है उसके मुकाबले मे किसी की कोई उपज या तर्क ठहर नहीं सकते। 'प्रेम लिंग-भेद से परे है—भगवान की भाँति, क्योंकि वह अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूप कहे गये हैं', 'वाच्य वाचक भेदेन भवानेव जगन्मयः।' आँसूकार के जीवनकाल में ही उनसे पूछा गया कि आप अपने रहस्यमय घूंघट और अंचल वाले प्रियतम का नाम बतलाइये।—

शशिमुख पर घूंघट डाले, अंचल में दीप छिपाये—
जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आये।।

बोले—'आंसू प्रेम के देवता की अर्चना है। प्रेम अपनी माया के विग्रह से अनन्त रमणीय रूप धरता है। उसे न स्त्री कहा जा सकता है, न पुरुष। न कोमल कहा जा सकता है, न परुष।' और, उन्होंने पास ही रखी हुई 'राजेन्द्रजी वाली प्रति पर ये पंक्तियां अपने हाथ से लिख दी—

ओ मेरे प्रेम बता दे—तू स्त्री है या कि पुरुष है।
दोनो ही पूछ रहे हैं, कोमल है या कि परुष है।।

उनको कैसे समझा दूं तेरे रहस्य की बातें।
जो तुमको समझ चुके हैं, अपने विलास की घातें॥

इस प्रकार राजेन्द्रजी की उक्त सारगर्भित सूक्ष्म व्याख्या इन दो वाक्यों के साथ पूर्ण हो जाती है -- 'उक्त पंक्तियों की मीमांसा व्यर्थ है। उनके प्रकाश में आँसू के लक्ष्य, आराध्यदेव कौन है—सहृदयों के लिए खोज व रहस्य का विषय नहीं रह जाता।' आँसू के विषय में कुछ और भी उल्लेख्य है—आँसू की रचना १९२२ ई० में हुई जब प्रसादजी के मन में अपने प्रथम दाम्पत्य जीवन और द्वितीय दाम्पत्य जीवन की किसी दुखद स्मृति का कोई अवशेष न था। दूसरी पत्नी के जाने पर उन्होंने तीसरी बार घर बसाया, और उनके इस दाम्पत्य जीवन पर पहले के दोनो दाम्पत्य जीवनों की कोई उदास छाया कम से कम मुझे तो कभी न दीख पड़ी। बिल्कुल सामान्य दाम्पत्य जीवन चल रहा था और १-१-२२ को चि० रत्नशंकर के जन्म ने यदि कहीं कोई दूरागत उदासी छिपी रही हो तो उसे भी निःशेष कर दिया था। आँसू की रचना उसके महीनों बाद हुई। अतः यह प्रश्न ही नहीं उठता कि उनके आँसू पोंछने के लिए भाई मैथिलीशरण ने कुछ देर गुनगुना कर यह पद बना दिया—

जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छाई।
दुर्दिन मे आँसू बनकर वह आज बरसने आई॥

और, उनसे इसी राह पर चलने की स्वीकृति उपलब्ध कर ली। इस सम्बन्ध में यह भी कथ्य है कि मैथिलीशरण की पद-योजना सर्वथा भिन्न थी और उक्त शैली वाला उनका एक भी छन्द खोजे न मिलेगा। एक बात और उक्त छन्द में 'स्मृति सी' पद मात्र उपमान है, इसके अतिरिक्त उसकी कोई इयत्ता नहीं। अतः उस पर जो बहुतेरे उहापोह किये गये हैं—वे निरर्थक हैं।

कुछ आलोचकों का यह कथन कि प्रसादजी पर रवि बाबू का प्रभाव है—सर्वथा अनर्गल है। यद्यपि प्रसादजी ने बंग भाषा सीखी अवश्य थी और उसका कुछ साहित्य भी देखा था, तथापि जब उन्होंने पाया कि मैं अपने लिए जो पथ बना रहा हूँ उससे बहक जाऊँगा, तब बंगला साहित्य का पढ़ना ही नहीं छोड़ दिया, उस भाषा को भी बिल्कुल भुला दिया। एक दिन मैंने प्रसादजी से कहा कि रवि बाबू यहाँ एकान्तवास कर रहे है, उनसे मिलने चलोगे। उन्होंने मेरा प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया और मैंने कविगुरु को एक पत्र लिखकर इसके लिए समय माँगा। यह ९-१२-२२ की बात है। उन्होंने सन्ध्या का समय दिया। हम लोग वहाँ गए। प्रसादजी को उन्होंने बड़े प्रेम से लिया और जब मैंने प्रसादजी का गुणगान किया तो वे प्रसन्न हो गए, किन्तु हिन्दी के सम्बन्ध में वह सदा उदासीन रहे। साहित्य के

विषय में प्रसादजी से उन्होंने कोई विशेष जिज्ञासा न की। उस समय कवि गुरु ने मौके पर बात केवल इतनी कही कि—'हर भाषा की अपनी एक विशेषता होती है। हिन्दी में 'हट' और 'पन' प्रत्ययान्त शब्द जैसे घबराहट, लड़कपन बंगला में नहीं है, और यह अभाव हम लोगों को बहुत खटकता है। किन्तु, एक भाषा का परिधान दूसरी भाषा नहीं पहन सकती'। थोड़ी देर बाद हम लोग लौटे और मार्ग में मैंने उनसे यह कहा कि हर भाषा में शब्द ऊपरले और निचले दोनों स्तरों से बनते हैं।

१९२५ ई० के दिसम्बर में कांग्रेस का अधिवेशन था। वहाँ मैंने खादी पहनने का व्रत लिया। जनवरी के प्रथम सप्ताह में घर लौटा और प्रसादजी को भी खादी-धारण के लिए सहमत कर लिया। उन्होंने बड़े उत्साह से खादी पहननी आरम्भ कर दी। इसके दो-चार दिन बाद ही वे माघ में त्रिवेणी स्नान के लिए प्रयाग गये। एक किराये की बस में बीस-पच्चीस मित्र मण्डली गई थी। दारागंज में मेरा ननिहाल था और मेरे मामाजी से प्रसादजी की खूब पटती थी क्योंकि वह मस्त और उदात्त स्वभाव के थे। सन्ध्या समय खादी भण्डार जाकर कुर्ते के लिए अच्छे किस्म का अमरसी रंग का पश्मीना पसन्द किया और वहीं के दर्जीखाने में सिलने के लिए दे दिया। दूसरे दिन जब उसे लेने वहाँ गये तब क्या पाया कि कुर्त्ता उनकी पउली तक पहुँचता था। कुर्त्ता क्या बना था, फकीरों का कफनी था। खैर, बिना कुछ कहे सुने बिल चुकाकर उसे ले लिया। काशी लौटने पर उस कुर्त्ते को मुझे देकर बोले कि शायद तुम्हे ठीक हो। पहनने पर वह मुझे भी अतिरिक्त लम्बा निकला, अतः मैंने दर्जी से कटवा-छँटवा कर अपने नाप का करा लिया। बहुत दिनों तक वह कुर्त्ता मेरा प्रिय पहनावा रहा। कपड़े की उत्तमता और प्रसादजी की प्रसादी के कारण उसपर मेरा दोहरा प्रेम था। मुझे खेद है कि मैं उसे सुरक्षित न रख सका। इसके बाद ही भाई मैथिलीशरण बनारस आये, क्योंकि फरवरी में मेरी बड़ी लड़की की शादी थी। तब तक वह मिलमेड कपड़े पहनते थे। प्रसादजी ने उन्हें अपना चेला बनाया। उनकी यह बनियई दलील चल न पाई कि खादी महँगी पड़ती है। प्रसादजी ने सहास कहा—'क्या भारत भारती इसी लचर दलील के लिए लिखा था।' १९२६ के मार्च में मेरी बड़ी लड़की का विवाह हुआ। प्रसादजी ने न दिन को दिन समझा, न रात को रात। बराबर प्रबन्ध में लगे रहे। मैं कुछ करता-धरता नहीं था। उनके यहाँ एक इतनी बड़ी दरी थी कि जितनी काशी में और कहीं न थी। चार मजबूत पेशराज उसे रस्से से बाँधकर बाँस के सहारे कंधे पर रखकर कहीं ले जाते थे। वह दरी भी उन्होंने मेरे लम्बे-चौड़े आँगन में बिछवा दी थी। और दिन तो सकुशल बीते, प्रीतिभोज 'बड़हार' के समय मेरे समधी इस बात पर अड़ गये कि मेरे एक चचेरे भाई जो उनके बहनोई भी थे, उनके संग बैठकर भोजन करें। मेरे भाई साहब का कहना था कि अपने ही आँगन में अपनी ही भतीजी के ब्याह में कैसे

बारातियों के संग बैठ सकता हूं। दोनों ओर की आड़ में रात को एक बज गया। मामला सुलझता ही न था। जब बड़े बूढ़ों की कोशिशें बेकार हुई तब प्रसादजी ने समधी साहब को केवल इतना कहा—'देखिये, वह तो आपके बहनोई हैं, आप ठहरे साले, बहनोई की आड़ रखना साले का काम है। यदि आप उनसे अपनी बात मनवा लेंगे तो दुनिया यही कहेगी कि देखो साले ने बहनोई को नीचा दिखाया, तब दुनिया में हंसाई होगी आपकी।' प्रसादजी ने ऐसे लहजे में यह वाक्य कहा कि ठहाका लग गया और चुटकी बजाते गुत्थी सुलझ गई। घण्टों का बोझिल वातावरण बात की बात में निरभ्र हो गया। पीछे मैंने प्रसादजी को उलाहना दिया कि अगर यही बात तुमने पहले कह दी होती तो इतनी बदमजगी न होती। उन्होंने उत्तर दिया—'तुम समझे नहीं, पहले कहता तो बात काम न करती। जब मैंने देखा कि ठीक अवसर आ गया है तो तीर चला दिया।' अहरौरा के रईस श्री सदायतन पाण्डेय के मझले भाई श्रीशचन्द्र पाण्डेय की बारात जौनपुर जिले के रुधौली कस्बे के एक प्रमुख जमींदार के यहां गई थी। कन्यापक्ष ने आतिथ्य का शानदार प्रबन्ध किया था। पाण्डेयजी भी अपने संग काशी के प्रसिद्ध रामभण्डार से तरह-तरह की स्वादिष्ट मिठाइयां और एक से एक शर्बत आदि ले गये थे। दो दिन बारातियों ने छक कर स्वाद लिया तीसरे दिन पाण्डेयजी की समधी साहब से किसी बात पर खटक गई। उन्होंने समधियाने से रसद लेना बन्द कर दिया। इधर यार लोग अपने ओर की सारी माल मलाई सरपोट चुके थे। शर्बतों में भंग का शर्बत भी था, जिसने बारातियों की क्षुधाग्नि धमका दी थी। सभी खेमों में बाराती टाप रहे थे। हम चार जन भी—प्रसादजी, आचार्य केशवजी, दादाजी और मैं—अपने खेमे में किंकर्तव्य विमूढ़ बैठे थे। प्रसादजी ने निस्तब्धता भंग की। वह निरे नाटककार ही न थे, उन्हें नाटक करना भी आता था। बिना किसी चेष्टा के चुपचाप उठे और अपने असबाब में से 'ऐय्यारी' का बटुआ खोलकर एक डिब्बा निकाला, उसे मण्डली के बीच में रख दिया—'अगर खाना है तो लीजिए खाइए भरपेट, और कोई आशा न रखिए। यह देहात की बारात है, इसमें ऐसा किस्सा बराबर हुआ करता है।' अब सबकी बांछे खिल गईं। डिब्बे में थाक की थाक पूरियां और आम का सूखा अचार था। पूरियां आटे को दूध में गूंथकर बनाई गई थीं। ऐसी पूरियां आठ-दस दिन तक नहीं बिगड़ती। सबने आकण्ठ पेट पूजा की। दो-चार ग्रास खाने पर जान में जान आने पर केशवजी ने प्रसादजी से कहा—'पहले ही क्यों न बताया, हो तुम पूरे गुरु घण्टाल।'—'हुई हैं गुरु घण्टाल, यदि पहले ही बता दिया होता तो यह मजा कैसे आता। जब देखा कि रसभंग का बिन्दु आना चाहता है तो यह तोशा निकाला'—प्रसादजी ने सहास उत्तर दिया और हम सब के समर्थन हास्य से वह सन्नाटा खेमा गूंज उठा।

१९३१ के जाड़ों में प्रसादजी और आचार्य केशवजी को लेकर मैं अपनी एक ज़मींदारी पर गया। वह दस गाँवों का एक ताल्लुका था। नित्य पूर्वाह्न में प्रसादजी केशवजी को लेकर गाँव देखने जाते। ग्रामजीवन और समाज के खुले ब्यौरे तथा जमीनों के विषय में वे करिन्दे से तरह-तरह के प्रश्न करते। मैं समझता था कि वे प्रश्न मात्र कुतूहल के लिए हैं, किन्तु जब उन्होंने अपना दूसरा उपन्यास 'तितली' लिखा तब उक्त संचित सामग्री का पूरा उपयोग किया। यद्यपि तितली पर कई प्रवीण आलोचकों ने पर्याप्त विमर्श किया है तथापि मेरी राय में बीकानेर के सम्भ्रान्त ठाकुर रामसिंह एम० ए० ने जो अंग्रेजी साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अंग्रेजी साहित्य के अपने ढंग के एक ही प्राध्यापक थे, अपने इन वाक्यों में तितली के सम्बन्ध में सब कुछ कह दिया—'ग्राम्य जीवन का ऐसा सजीव, सूक्ष्म और अनुरंजनकारी चित्र हिन्दी साहित्य में कम देखने को मिला है। विशेषत: गर्वोन्मत्त निष्ठुर जमीदारों और मूक ग्राम्य जनता के पारस्परिक व्यवहारों का और उनके सुख दुखों का चित्र चित्त पर गहरी छाप डालता है।·····कितना सराहनीय है तितली का त्याग, कष्ट-सहिष्णुता, आत्मावलम्बन ! और प्रेम—कितना मर्मस्पर्शी है, सुन्दर है तितली और मधुवन का पुर्नमिलन - उपन्यास का अन्त।'

१९३३ ई० के जाड़ों में आचार्य द्विवेदीजी काशी पधारे और सदा की भाँति मेरे अतिथि हुए। इस समय तक नागरी प्रचारिणी सभा से उनके सम्बन्ध सुधर गए थे। सभा ने उनका सम्मान कृते एक मानपत्र भी अर्पित किया। मुझसे शिवपूजनजी ने कहा कि केवल मानपत्र ही देना उचित नहीं—एक अभिनन्दन ग्रन्थ भी अर्पित किया जाना चाहिए। अस्तु हम दोनों ने मिलकर एक अपूर्व अभिनन्दन-ग्रन्थ निकाला। उसमें हिन्दी के सभी दिग्गजों की रचनाएँ सम्मिलित थीं, केवल प्रसादजी ने कुछ नहीं दिया था। मैंने उनसे कहा कि 'कल तुम्हारे यहाँ आकर भोजन करूँगा और दक्षिणा भी लूँगा।' उन्होंने मुस्कुराते हुए कहा—'जरूर आना, अपने हाथ से खुद बनाऊँगा।' प्रसादजी का सबसे प्रिय आहार था खिचड़ी। तरह-तरह की खिचड़ी वे बनाया करते, उसके आगे वे कोई अन्य पदार्थ न खाते। उस दिन उन्होंने मेरे लिए अपने हाथ से खिचड़ी बनाई थी। जिस प्रकार उनके साहित्य में आस्वाद और मौलिकता है वही बात उस खिचड़ी में भी थी। जब उनके संग सानन्द भोजन हो चुका तब मैंने उनके यहाँ का स्वादिष्ट पान खाते हुए कहा—'अब दक्षिणा।' उन्होंने गम्भीर होकर उत्तर दिया—'तुमने कभी इस बात पर भी विचार किया है कि द्विवेदीजी ने मेरे लिए कुछ किया भी है।'—मैं निरुत्तर हो गया।

जब प्रसादजी का साहित्यिक उत्कर्ष प्राय: पूर्ण रूप से विकसित हो चुका था, तभी दुलारेलालजी भार्गव की 'माधुरी' नामक सचित्र पत्रिका हिन्दी जगत में धूम मचा रही थी, साथ ही वह अपनी स्वर्गीय पत्नी की स्मृति में 'गंगा ग्रन्थमाला'

नामक एक पुस्तक माला निकालते थे। कुछ प्रमुख साहित्यकारों को भी उन्होंने अपने पक्ष में कर लिया था। यद्यपि उन्हें आर्थिक अभाव था, तथापि रत्नाकरजी से 'विहारी रत्नाकर' प्रकाशनार्थ प्राप्त कर लिया था। भाई मैथिलीशरण भी 'माधुरी' में प्रायः लिखा करते। उनके हाथ नही चढ़े तो केवल प्रसादजी। मात्र एक छोटी-सी कविता के अतिरिक्त उन्होंने भार्गवजी को कभी कुछ नहीं दिया। इसकी बड़ी कुढ़न थी। उन्ही दिनों प्रसादजी ने 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' नाटक लिखा था। दुलारेलालजी चेष्टा करते रहे कि उसे गंगा पुस्तक माला में प्रकाशित करें तथापि वह भारती भण्डार से ही निकली। मूर्द्धन्य साहित्यकारों का एक ऐसा वर्ग था जो प्रसादजी की कटु आलोचना करता था- सर्जक मानता ही न था। इस दल में दो महारथी और उनके दो अनुगामी थे, किन्तु महारथियों ने उन्हीं को वास्तविक अग्रणी बनाया। एक ने तो अंग्रेजी आलोचना की पुस्तकों से चोरी कर करके स्कन्दगुप्त की लम्बी-चौड़ी शब्दाडम्बर-पूर्ण कटु आलोचना लिखी जिसे भार्गवजी ने पुस्तकाकार प्रकाशित कर दिया। दूसरे ने नाटक को ऐतिहासिक भूलों से पूर्ण दिखाना आरम्भ किया। उन सज्जन का नाम स्व० डा० धीरेन्द्र वर्मा से इतना मिलता-जुलता था कि लोग यही समझने लगे कि जब ऐसे श्रेष्ठ विद्वान स्कन्दगुप्त में ऐतिहासिक भूलें पकड़ रहे है तो वस्तुतः वह इस दिशा मे त्रुटिपूर्ण है। ठीक उन्ही दिनों कलकत्ता से रामानन्द बाबू के सम्पादकत्व मे 'विशाल भारत' का साज-सज्जा पूर्ण प्रकाशन आरम्भ हुआ था। यह सत्य है कि अपने प्रकृतिगत स्वाभाविक मनोवृत्ति के कारण एक साहित्यकार दूसरे साहित्यकार को अच्छी निगाह से नहीं देख सकता। सम्पादक भी अपने आदत से लाचार थे। वे एक साहित्यिक के बारे में दूसरे साहित्यिक की राय लेते। निदान प्रसादजी की रचनाओं के सम्बन्ध में उन्होंने दो कवि वरेण्यों की सम्मति प्राप्त की। अतएव अब विशाल भारत में भी प्रसादजी पर बौछार शुरू हुई। इस प्रकार जैसे अभिमन्यु के लिए सात महारथियों का घेरा तैयार हुआ था, उसी प्रकार प्रसादजी के लिए छह महारथियों का घेरा। अन्तर केवल इतना था कि अभिमन्यु निरीह होकर उस घेरे का शिकार हुआ, किन्तु प्रसादजी अडिग रहे सो भी निःशस्त्र। प्रसादजी की तटस्थता को अनदेखा करते कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'साकेत' आदि की धूल उड़ाने लगे। 'आज' के प्रत्येक अंक में उन प्रहारकर्त्ताओं की वाक्यवाणावली प्रकाशित होने लगी। उन लोगों ने ऐसे तीर बरसाये कि सभी विपक्षी ठण्डे पड़ गये। इसी बीच भाई मैथिलीशरण काशी आए। १९३० के गर्मी के दिन थे। हमारी अनुपस्थिति में प्रसादजी हमारे घर आए, जब उन्हें विदित हुआ कि हमलोग स्नान करने गंगाजी गये है तब वे भी घाट पर चले आये। उन्हें देखकर राष्ट्रकवि ने कहा—'आओ जयशंकर तुम भी स्नान करो, सीधे नहीं आओगे तो मैं पानी उछाल कर भिगो दूंगा।' और

क्या करोगे तुम, कीचड़ तो उछाल ही चुके हो, अब पानी भी उछाल लो'—मुस्कुरा कर प्रसादजी ने कहा और घाटिये की चौकी पर चुपचाप बैठ गये। स्नान करके घर लौटते समय रास्ते भर हमलोग मौन रहे। प्रसादजी की मनोव्यथा का अनुभव करके मैं भी कुछ बोल न सका। घर के फाटक तक पहुंचकर उन्होंने चुपचाप नमस्कार किया और लौट गये। यद्यपि हमलोगों में कोई दुराव न था, तथापि इस बार इस अप्रिय प्रसंग की कोई चर्चा न हुई। गुप्तजी जब काशी आते, प्रसादजी नित्य आते और आमोद-प्रमोद चलता। और, कम से कम एक बार अपने घर पर सुस्वादु भोजन उन्हें अवश्य कराते। इस बार वे एक दिन भी न आए, निमन्त्रण का तो प्रश्न ही नही। लौटने के एक दिन पूर्व गुप्तजी नागरी प्रचारिणी सभा गये, मैं तो सदैव साथ रहता था, संयोग से प्रसादजी भी वहां थे। उनसे गुप्तजी ने कहा—'जयशंकर, मैं कल चिरगांव जा रहा हूं।' उन्होने केवल नमस्कार कर लिया। यद्यपि गुप्तजी बीच-बीच में यहां आते रहे किन्तु पौने दो बरस अनबोला बना रहा। श्री वाचस्पति पाठक इस बिलगाव पर हृदय से व्यथित हुए और वे इसके निराकरण में निरन्तर लगे रहे। अन्त में वे सफल भी हुए। १९३२ की जाड़ों में उन दोनों जनों का मिलन करा ही दिया।

१९३४ मे भारती कला के विद्वान स्व० मोतीचन्द लन्दन से लौटे थे, वे मेरे निकट सम्बन्धी भी थे। वे प्रसादजी की निकटता के बहुत अभिलाषी थे। जब मैंने उन्हें प्रसादजी से मिलाया तब प्रसादजी ने मुस्कुराते हुए कहा—'मैं तो तुम्हारे चाचा के साथ पढ़ा हूं, फिर मुझे तुम्हारे परिचय की क्या आवश्यकता।' फिर तो प्रसादजी की दूकान पर वह प्राय: नित्य सन्ध्या को जाने लगे। उनकी बातें साहित्यिक न होकर बनारस की पुरानी रंगीनियत पर होतीं। डा० मोतीचन्द्र के शब्दों में—'प्रसादजी आगे बढते हुए दुनिया के विरोधी न थे, पर आमोद प्रमोद के नए साधनों के सामने जब वे पुरानी कला और शिल्पों को मरते हुए देखते तब दुखी उठते।' एक दिन मोतीचन्द से प्रसादजी ने कहा, हँसी में—'भाई तीन पुश्त का अपना कारबार छोड़ दिया।' डा० साहब ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया—'प्रसादजी, पुरखे इतना कमा रहे है कि दो चार पीढ़ी बिना कविता किए काम चल जायगा।' प्रसादजी खिलखिला उठे। कुछ मित्रों ने मोतीचन्द को एक फिल्म कम्पनी चलाने का परामर्श दिया और पूरा आर्थिक योगदान का विश्वास भी। इस प्रकार 'नटराज फिल्म्स' प्रस्तुत हो गई। जब कथानक की आवश्यकता पड़ी तब डा० साहब ने प्रसादजी से कहा कि आप कोई रचना कर दीजिए। इस पर वे 'इरावती' लिखने को प्रस्तुत हुए। उसके कथानक में ऐसे स्थल रखे गए हैं जो फिल्म में खिल उठते यथा—कलिंग राज का गज-घटा के साथ युद्ध-प्रस्थान, इसमें

हाथियों का झुण्ड का झुण्ड फिल्म में अपनी रंगत दिखाता। किन्तु, प्रसादजी का स्वास्थ्य तेजी से गिर रहा था—उपन्यास पूरा न हो सका।

१९३६ ई० की सावनी तीज को भाई मैथिलीशरण ने अपने जीवन के पचास वर्ष पूरे किए। इस अवसर पर प्रसादजी ने अपनी एक नई रचना 'इन्द्रजाल' कहानी-संग्रह गुप्तजी को बहुत ही ममत्व और स्नेहपूर्वक समर्पित करके प्रकाशित कराई। उसकी प्रति पाकर गुप्तजी ने जो धन्यवाद का पत्र लिखा उसमें अतिरिक्त विनय और कृतज्ञता-ज्ञापन तो था किन्तु प्रीतिमय कुछ वाक्य भी न था। प्रीति के अपेक्षित प्रसादजी को उधर से मात्र रीति निभाने वाला आभार ही प्राप्त हुआ। इससे वह बहुत आहत हुए। उन्होंने कहा कि कितने भाव मे जो भेंट चढ़ाई गई उसकी प्रसाद को यह प्रसादी मिली।

इस पंचाशत-पूर्त्ति के उपलक्ष में आचार्य केशवजी के विशिष्ट शिष्य स्व० पद्मनारायण आचार्य एक धूमधामी अभिनन्दनोत्सव की तैयारी कर रहे थे। तैयारी जन्मदिन से कहीं पहले आरम्भ हो गई थी। 'मैथिलीमान' नामक एक हस्तलिखित अभिनन्दनग्रन्थ तैयार किया जाना आरम्भ हुआ जिसे विजयादशमी के दिन विश्व-वन्द्य बापू मे गुप्तजी को प्रदान करना निश्चित हुआ था। किन्तु विजयादशमी से सत्रह दिन पहले एक शोकपूर्ण घटना हो गई—कथा-सम्राट मुंशी प्रेमचन्द का अवसान। एक उदीमान कथाकार जो मुंशीजी को अपना गुरू मानते थे और अपने को उनका कुटुम्बी मुंशीजी के अवसान के कुछ पहले काशी आकर उनकी सुश्रूषा में रहते थे। उन महोदय ने राय दी कि प्रेमचन्दजी ने जो कुछ लिखा है वह राष्ट्र की सम्पत्ति है अतएव उनकी समस्त रचनाओं का एक ट्रस्ट बन जाना चाहिए। शोकातुरशिवरानी देवी और व्यावहारिकता से अनभिज्ञ उनके दोनों पुत्रों को इस समय उन्होंने अपने अनुकूल बना लिया था। संवेदना के लिए भाई मैथिलीशरण भी आए थे। यद्यपि प्रसादजी का और उनका बहुतेरी बातों पर मतभेद रहता तथापि इस समय वे दोनों महारथी एक हो गए और ट्रस्ट का जोरदार विरोध किया। उनका एक ही मुख्य सवाल था—यदि ट्रस्ट हो गया तो इन मासूम लड़कों का क्या होगा। इस दलील का उन कथाकार महोदय के पास कोई उत्तर न था। पद्मनारायणजी का समारोह विजयादशमी के कई दिन पहले से आरम्भ हो गया था—जिसमें ऐसे ऐसे कार्यक्रम रखे गए जिनका साहित्य से कोई सम्बन्ध न था। प्रसादजी यह सारा तमाशा देखकर मोतीचन्द से बार-बार कहते—'डाक्टर, मैं तो कुछ न बोलूंगा, अगर जबान खोली तो उसका दूसरा ही अर्थ लगाया जायगा, किन्तु देखो यह क्या हो रहा है।'

जिस विजयादशमी के दिन (२५-१०-३६) राष्ट्रकवि को बापू ने अभिनन्दन ग्रन्थ प्रदान किया उस अवसर पर कुछ काव्य-पाठ भी हुए। कृष्णानन्दजी प्रसादजी को

देखकर कविता पाठ करने के उपरान्त उनके निकट,जा बैठे। 'अच्छा, गुप्त अभिनन्दन मे कितने ही गुप्त प्रकट हो रहे है'—अपने रहस्यमय स्मितपूर्वक प्रसादजी ने उनसे कहा। इसके बाद दो तीन दिन तक अन्य कार्यक्रम थे जिनमें भदैनी के तुलसी पुस्तकालय वाले कार्यक्रम में भी प्रसादजी ने कविता पाठ किया था। साधारणत. प्रसादजी कवि-सम्मेलनो और गोष्ठियों मे काव्य पाठ नही करते थे। इस अवसर के अतिरिक्त केवल चार-पाँच मुझे याद है —१९११ मे भारतेन्दु जयन्ती पर, १९२३ मे तुलसी त्रिशती पर, १९२९ मे कोशोत्सव समारोह पर उसके बाद मालती शारदा सदन मे विवशत. उन्हे सुनाना पडा।

अब १९३६ के अन्तिम महीने आए। लखनऊ मे एक बडी प्रदर्शनी हो रही थी। प्रसादजी उसे देखने के बडे इच्छुक थे। एक दिन हमलोग अय्यरजी के खादी भण्डार गये, वहाँ सुनहले रग की रेशम की सुन्दर छीट पर प्रसादजी लहालोट हो गए। मुझसे कहा कि इस छीट का रूईदार लबादा और कन्टोप हमलोग बनवाएँ और उसे लखनऊ प्रदर्शनी मे पहने, बस लोग प्रदर्शनी के बदले हमलोगों को देखने लगेंगे। लखनऊ यात्रा के लिए वह मुझसे बराबर आग्रह कर रहे थे। मैंने बहुत कुछ स्वीकृति दे भी दी थी। दिन निश्चय हो गया। किन्तु, उसके एक दिन पहले चि० आनन्दकृष्ण को गलसुआ निकल आया जिसके कारण ज्वर भी हो गया। मेरा जाना असम्भव हो गया। वह अकेले ही लखनऊ गए। कैसी विडम्बना है कि १९१६ ई० के दिसम्बर मे मै उन्हे लखनऊ ले जाना चाहता था परन्तु वह न गए। और, इसके ठीक बीस बरस बाद दिसम्बर १९३६ मे जब वह मुझे लखनऊ ले जाना चाहते थे तब मैं न जा सका। वहाँ स्व० दुलारेलाल भार्गव के सयोजकत्व मे एक कवि सम्मेलन का आयोजन था। भाई मैथिलीशरण उन्ही के अतिथि थे। उन्होने भार्गवजी से कहा—'प्रसादजी के स्थान पर जाकर उन्हे आग्रहपूर्वक आमन्त्रित करना तुम्हारा कर्तव्य है।' उन्होने उत्तर दिया -'निमन्त्रण पत्र तो भेज दिया गया है।' मैथिलीशरण ने पुन: कहा—'यह पर्याप्त नही है, तुम्हे स्वयं वहाँ जाना चाहिए।' किन्तु दुलारेलाल जी, प्रसादजी से बुरा मानते थे। यद्यपि उन्होने कहा कि अच्छी बात है, परन्तु वह गये नही। जब मैथिलीशरण सम्मेलन के मण्डप-द्वार पर पहुँचे तब उन्होंने भार्गवजी से पूछा—'तुम प्रसादजी के यहाँ से हो आए।' उन्होने कहा—'मैं न जा सका, कहाँ-कहाँ जाऊँ।' फलत: मैथिलीशरण भी उस कवि सम्मेलन मे सम्मिलित नही हुए। लखनऊ से लौटने पर एक सन्ध्या को मेरे यहाँ पं० श्री नारायण चतुर्वेदी ने प्रसादजी को कुछ सुनाने को कहा। वे चतुर्वेदी जी को अपनी नवीनतम कविताएँ सुनाते जाते थे और बीच-बीच मे खाँसी आने लगती तथा कफ भी निकलता। फिर भी समा अच्छा बँधा और चतुर्वेदीजी बहुत ही प्रमुदित हुए। उनके चले जाने पर मैंने प्रसादजी से कहा 'खासी तो बहुत बढ़ गई है।' उन्होंने

उत्तर दिया—'हाँ, इसीलिए तो मैं तुम पर लखनऊ चलने के लिए जोर डालता था, मैं चाहता था कि वहाँ मेडिकल कालेज में मेरी भलीभाँति परीक्षा करा दो।'

यद्यपि प्रसादजी जवानी में बहुत बलिष्ठ और स्वस्थ थे, तथापि १९२८ ई० से उन्हें एक भयंकर बीमारी आरम्भ हुई। रह-रहकर आँतों में भयंकर दर्द होता जो उन्हें मूर्छित कर देता। उनके मुहल्ले के अनुभवी होमियोपैथी डाक्टर हुबदार सिंह की दवा से दर्द शान्त होकर आराम हो जाता था, किन्तु कुछ दिनों बाद उनकी दवा भी कोई काम न करती। तब बहुत ज़ोर डालकर मैंने अपने कौटुम्बिक एलोपैथी डाक्टर शोभाराम का इलाज आरंभ कराया। यद्यपि लाभ होने लगा था तथापि डाक्टर साहब का कहना था कि इलाज लम्बे समय तक चलेगा, किन्तु वास्तविकता यह थी कि रोग का निदान ठीक से नहीं हुआ। कुछ दिन तक तो प्रसादजी ने उनकी दवा ली किन्तु फिर न जाने क्यों उनका इलाज बन्द कर दिया। कुछ दिनों बाद प्रसादजी ने हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेद विभागाध्यक्ष कविराज प्रतापसिंह को दिखाने का निश्चय किया। मैं प्रसादजी को उनके पास ले गया। उन्होंने रोग का पूरा विवरण पूछकर भलीभाँति परीक्षा की फिर पूछा—"क्या आपने बादाम का बहुत सेवन तो नहीं किया है?' प्रसादजी के स्वीकार करने पर उन्होंने बताया कि यही आपके रोग का कारण है। निदान उनकी चिकित्सा आरम्भ हुई—उससे लाभ हुआ और यह क्रम कुछ दिनों तक चला, फिर दवा का असर कम होने लगा, तब प्रसादजी पुनः होमियोपैथी पर आ गए। अब उदरपीड़ा के साथ-साथ अपराह्न में तबियत कुछ-कुछ भारी-सी रहने लगी। यद्यपि प्रसादजी मन बहलाने के लिए दोपहर बाद मेरे यहाँ आ जाते और घंटों गपशप—चुहलबाजी के बाद अपना भारीपन भूलकर चार बजे के लगभग वापस जाते, किन्तु रोग भीतर-भीतर उनके शरीर में घर कर रहा था। वस्तुतः उन्हें आँतों का क्षय हो गया था और यही उनके पेट-दर्द और भारीपन का कारण था। किसी चिकित्सक का ध्यान उस ओर न गया और क्षय फेफड़े की ओर बढ़ने लगा उन्हें खाँसी आने लगी, फिर उनकी आस्था होमियोपैथी में ही बनी रही। काशी में उन दिनों एक सुविज्ञ एलोपैथ डाक्टर कैप्टन शरतकुमार चौधरी थे। वे भी मेरे कौटुम्बिक चिकित्सक और बड़े ही प्रेमी जीव थे, प्रसादजी से भी वे स्नेह करते थे और उनके साहित्य से प्रभावित भी थे। मैंने उनसे प्रसादजी की परीक्षा कराई और उन्होंने निश्चित निदान दिया कि क्षय हो गया है, किन्तु अभी विकट स्थिति नहीं है, ठीक-ठीक चिकित्सा होने से निरोग हो जायँगे।

जनवरी १९३७ में डा० मोतीचन्द के सबसे छोटा भाई का विवाह समारोह था, उसी अवसर पर २८ जनवरी को काशीनरेश महाराज आदित्यनारायण सिंह के आदरार्थ एक महफिल का आयोजन था। संयोगवश उन्हीं दिनों मेरे एक चचेरे भाई का शरीरान्त हो गया था, इस कारण मैं विवाह में तो सम्मिलित न हुआ। महाराज

वाली महफिल के दिन तक मेरे भाई का दसवाँ हो चुका था, अतएव मैं छिपकर भारतेन्दु भवन गया, भाई मैथिली शरण भी मेरे साथ थे, प्रसादजी भी आ गये थे। महफिल के पहले ज्योनार भी था। मैं कैसे खुलकर शरीक होता अतएव डाक्टर साहब ने एक अलग कमरे में हम तीनों जनों के भोजन का प्रबन्ध किया, इस प्रकार उस ज्योनार का भरपूर आनन्द हम लोगों ने लिया। कौन जानता था कि प्रसादजी के संग भोजन के आनन्द का आज यवनिका पतन है। मैं उसी कमरे में बैठा रहा और प्रसादजी तथा गुप्तजी महाराज की फ़हमिल मे चले गये। वही बहुत जाड़ा देकर प्रसादजी को ज्वर आ गया। महफिल से उठकर बड़ी कठिनता से घर पहुँचे और जो शय्याग्रस्त हुए तो अन्तिम दिन तक शय्या न छोड़ सके। ३० जनवरी के लगभग अपने दो भतीजों के विवाह के सिलसिले मे मुझे पटना जाना पड़ा। १३ फरवरी के आसपास वहाँ से लौटने पर मैं मोतीचन्दजी के साथ ही प्रसादजी को देखने गया—१४–३–३७ को, पाया कि वे बहुत ही क्षीण हो गये है। कलेजा धक् से हो गया।

इस बीच ३ फरवरी के लगभग 'कामायनी' की मुद्रित प्रतियाँ प्रयाग से उनके पास आ चुकी थी। इतने क्षीण होते हुए भी उन्होने मजे से बात की और कामायनी की हस्ताक्षरित प्रतियाँ हम दोनों को दी। मोतीचन्दजी की नियुक्ति प्रिन्स आफ वेल्स म्यूजियम मे हो चुकी थी। अत कई दिन बाद वे प्रसादजी से अन्तिम बार मिले और बम्बई चले गये। यह निश्चित हो चुका था कि प्रसादजी का एक फेफड़ा क्षय से पूर्णतः आक्रान्त हो गया था। मेरे अनुरोध पर कैप्टन चौधरी की चिकित्सा आरम्भ हुई। उन दिनों एलोपैथी मे क्षय की चिकित्सा यह थी कि छाती में बित्ते भर की सूई प्रविष्ट करके फ़ेफड़े में इन्जेक्शन देते थे जिससे रुग्ण फेफड़ा क्रमशः जल जाता था। कोई २०–२५ सूइयों का वह कोर्स होता था। डा० चौधरी ने सलाह दी कि प्रसादजी घर छोड़कर किसी खुले बगीचे मे चले जायँ और वही सूई का उपचार किया जाय। सारनाथ मे एक बगीचा किराये पर ठीक किया गया, उनका सामान बँध गया, ले जाने के लिए बस भी आ गई। ठीक उसी समय उनकी तबियत एकाएक बहुत बिगड गई—सम्भवतः इसका कारण मानसिक था, सूई की चिकित्सा न कराने की अनिच्छा का ही यह मूर्त रूप था। बस, यात्रा स्थगित हो गई। वह मुझसे कहने लगे—'जब बित्तेभर की सूई मेरी छाती में घुसेड़ी जायगी तब मेरी क्या दशा होगी। अब मैं अपने को विश्वनाथ पर छोड़ता हूँ। डा० चौधरी खाने की दवा देते रहे और उससे कुछ लाभ भी होता रहा। वसन्त ऋतु बीती और गर्मी आरम्भ हुई। प्रसादजी बहुत कुछ ठीक हो चले थे, खाँसी भी काफी कम हो गई थी—केवल तीसरे पहर कुछ तापमान हो जाता था। उन्हीं दिनों मेरे पूछने पर डा० चौधरी ने कहा—'इन्हें पूर्ण विश्राम मिलना चाहिए, यदि बरसात आने पर

भी रोग का यही क्रम बना रहा तो यह समझना चाहिए कि निरोग हो जाने की आशा है।'

एक दिन कोई ८ बजे पूर्वाह्न में उनके पास पहुँचा तो पाया कि वे बिल्कुल अकेले हैं। मेरे पहुंचने पर उन्होंने अपनी पत्नी को पुकारा और वह एक बकस लिए हुए आई और मुझे देखकर घूंघट काढ़ लिया, इस पर प्रसादजी ने कहा—'इनसे घूंघट न किया करो। उस बक्से में पुरानी चाल के स्वर्णाभूषण थे जिनकी तौल तीन-चार सौ तोले से कम न थी। सब मुझे दिखाते हुए कहने लगे—'बच्चा के विवाह की तैयारी धीरे-धीरे करनी है, इन सब गहनों को नये चाल का बनवा दो।' 'बात यह थी कि मेरे यहाँ के गहने स्व० कन्हैयालाल नामक सोनार बनाते थे। वे अपने हुनर में प्रवीण थे। गुप्तजी उनके विषय में कहा करते थे कि कन्हैयालाल तो सोने की गढ़ाई में कविता करते है। परन्तु वह बड़े ही आलसी थे और काम में बरसों लगा देते। प्रसादजी उनकी यह आदत जानते थे फिर भी उनकी कला-अद्वितीयता के कायल थे। कहने लगे—'कन्हैयालाल दो तीन बरस में धीरे-धीरे बना देंगे, तब तक बच्चा के ब्याह का समय आ जायगा। परन्तु मैं इतनी जोखिम अकेले ले जाने में हिचकिचावा। उनके बार-बार के अनुरोध पर यह तय हुआ कि शाम को एकाध व्यक्ति और लेकर तांगे से आऊँगा और जोखिम ले जाऊँगा। किन्तु शाम को इस प्रबन्ध के साथ उनके पास जाने पर उन्होंने उलाहना दिया कि—'सबेरे यदि ले जाते तो ले जाते, अब इस पर रोक लग गई है।' बात यह थी कि जब उनकी बड़ी भाभी को यह बात मालूम हुई तब उन्होंने कहा—'झारखण्डी, घर का सोना बाहर नही जायगा।' प्रसादजी अपनी भाभी का बड़ा सम्मान और आदर करते थे, और उनकी आज्ञा टाल नहीं सकते थे।

बरसात लगते ही उनकी हालत एकाएक बिगड़ गई, तापमान अधिक होने लगा, मुंह और कण्ठ में छाले पड़ गये, स्वर-भंग हो गया, सांय सांय बोलने लगे। कठिनता यह थी कि सबेरे से शाम तक लोग उनसे मिलने आते थे, उन्हें जरा भी विश्राम न मिलता था। इससे उनका मन तो बहलता किन्तु थक बहुत जाते। उन दिनों स्वभावतः उनके सुहृद और हिन्दी प्रेमी बहुत चिन्तित थे फलतः बहुतेरे पत्र उनके पास आते कि आपका जीवन केवल आपका ही नही—हिन्दी जगत का है, आप समुचित चिकित्सा कीजिए और किसी ठण्डे पहाड़ पर चले जाइये, व्यय की चिंता न कीजिए, मैं (पत्रलेखक) उसका भार वहन करूंगा....आदि... आदि। एक दिन प्रातःकाल जब प्रसादजी की तबियत तनिक सम्भली थी प्रो० कृष्णानन्द उनके पास गये, देखा एक पत्र उनके पास ही पड़ा है। वह उस पत्र की लिपि से परिचित थे, बोले—'महाराजकुमार डा० रघुबीरसिंह का पत्र जान पड़ता है।' 'हाँ, देखो।' कृष्णानन्दजी ने उसे पढ़ा, उसमें महाराजकुमार ने बहुत ही आग्रह-अनुनय पूर्वक

उपर्युक्त अनुरोध किया था। 'तब, आपने क्या निश्चय किया ?'—पूछते हुए कृष्णानन्द उनकी ओर देखने लगे। जिसमें एक मूक आग्रह भी था—अनुरोध मान लेने का। प्रसादजी उनका भाव समझ गए—एक लम्बी सांस के साथ उनका उत्तर था—'बहुत ऋण-शोधन किया है, कृष्णानन्द जी। अब किसी का ऋण लेकर नहीं जाना चाहता।' एक दिन नवीनजी प्रसादजी को देखने कानपुर से आए। यद्यपि नवीनजी खड़ी बोली की कविता के उस दौर वाले कवि थे जो आचार्य द्विवेदीजी की देन है, फिर भी भावुक होने के कारण और प्रसादजी की शैली में पैठ के कारण उनको वे महाकवि और साहित्य-स्रष्टा मानते थे और उन्हें बहुत ऊँची दृष्टि से देखते थे। कानपुर लौटने पर 'प्रताप' मे अपनी ओजस्वी भाषा में बहुत ही संवेदना-पूर्ण अग्रलेख लिखा जिसमें प्रसादजी पर विशद और भावपूर्ण विवेचन था, अन्त में उनके स्वस्थ्य-लाभ की कामना भी। उसे देखकर प्रसादजी ने मुझसे कहा कि नवीनजी ने तो जीते-जी मार डाला मुझे। इस रूप में उन्होंने उस संवर्द्धना के प्रति आभार प्रगट किया। किन्तु वास्तविकता थी कि बालकृष्ण जी को अवगत हो गया था कि मामला बेढब है। एक दिन जब मैं प्रसादजी के पास गया तब उन्हें उदास पाया। 'क्यों क्या बात है ?'—मैंने चिन्तित होकर पूछा। उन्होंने कहा कि आज उमाप्रसाद से बच्चा का झगड़ा हो गया। 'क्या करूँ, मैं तो—पंगु भयो मृगराज आज नखरद के टूटे—होकर पड़ा हूँ नहीं तो एक क्षण में उमाप्रसाद की अकिल दुरुस्त कर देता।' मैंने उन्हें समझा-बुझा कर शान्त किया।

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन को प्रसादजी की मुमूर्ष दशा का पूरा पता था। उन्होंने उनको देखने की इच्छा प्रकट की। भाई मैथिलीशरण और मैं उन्हें लेकर प्रसादजी के यहाँ गए। राजर्षि बहुत समझदार थे। वह कुछ देर उनके पास बैठे किन्तु बातचीत करके उन्हें कष्ट नही दिया। बाहर आने पर कहा—'कामायनी का मनन कर चुका हूँ, वह मंगलाप्रसाद पुरस्कार के योग्य है, आगामी वर्ष का पुरस्कार उन्हीं को मिलेगा। तुम प्रसादजी को इसकी सूचना दे आओ।' कमरे में जाकर जब मैंने यह समाचार सुनाया, तव अपना दाहिना हाथ उठाकर उन्होंने जिस निस्संग भाव से यह समाचार ग्रहण किया उससे स्पष्ट था कि कितना आपूर्यमाण हृदय था उनका। ११ नवम्बर को पूर्वाह्न मैं उनके पास गया। स्वरभंग तो हो ही चुका था, अब बोलने में भी कष्ट होता था, अतएव मैने बात करने का यह रास्ता अपनाया कि कि उन्हें बोलना न पड़े। वह ध्यानपूर्वक सुनते रहे। मेरे कथन का ढंग ऐसा था कि उन्हें बीच में बोलने का कष्ट न करना पड़ा। उसी दिन सन्ध्या की गाड़ी से मुझे प्रयाग जाना था। १२ या १३ तारीख को भाई मैथिलीशरण के 'साकेत' पर उन्हें मंगलाप्रसाद पुरस्कार मिलने वाला था। १४ की सबरे वाली गाड़ी से लौटकर, उनसे मिलकर प्रयाग का पूरा वर्णन सुनाने की बात कहकर मैंने विदा ली। किन्तु १४ का

मिलन भाग्य में कहाँ लिखा था, कौन जानता था कि यह मिलन सदैव के विछोह के लिए है। कवि के शब्दों में—'आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे।'

संयोग देखिए कि २८ बरस पहले इसी नवम्बर महीने के उत्तरार्द्ध में उनसे पहले पहल मिलन हुआ और अब इसी के उत्तरार्द्ध में वियोग। परम माहेश्वर होने के कारण प्रसादजी संसृति का नटराज के नर्तन रूप में दर्शन करते थे। 'काश्यां मरणान्मुक्तिः' का विशद वर्णन बहुत तन्मयता से एक दिन मुझे सुनाया था जब स्वस्थ थे—काशी में जिस समय जीव प्रयाण करने लगता है, माँ अन्नपूर्णा अपने आँचल से उसे पंखा झलने लगती हैं। इसकी शीतलता से उसके त्रिविध ताप की सद्यः निवृत्ति हो जाती है। उस समय भगवान भूतभावन उसे तारक मन्त्र का उपदेश देते हैं और वह मुक्त हो जाता है। प्रसादजी का अवसान १४-१५ नवम्बर की रात को तीसरे प्रहर हुआ, जिस समय १५ तारीख लग चुकी थी। उस समय का जो शब्द-चित्रण उनके आत्मीय डा० राजेन्द्रनारायण शर्मा से सुना है उससे निःसंशय हो जाता है कि प्रसादजी ने उक्त कैवल्य-लाभ किया है।



प्रसादजी के कुछ संस्मरण

डॉ० कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह

(१)

८ जुलाई, सन् १९३६ ई०। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे एम० ए० (हिन्दी) मे प्रवेश हेतु मैं वाराणसी पहुंचा। उस समय तक मेरी गद्य-पद्य की रचनाएँ हिन्दी के प्रमुख पत्रों मे स्थान पाने लगी थी। तबतक महाप्राण निराला का ,मैं अनन्य स्नेहभाजन बन चुका था तथा कविवर सुमित्रा नन्दन पंत से भी मेरा घनिष्ठ परिचय हो चुका था। किंतु आधुनिक काव्य की तत्कालीन नूतन धारा—छायावाद के प्रवर्तक महाकवि प्रसाद के दर्शन का सौभाग्य मुझे अभी तक नही मिल सका था, यद्यपि उनकी तबतक प्रकाशित प्राय सभी रचनाये मैं पढ चुका था तथा उनकी 'आँसू' आदि कई रचनाये मुझे कंठस्थ हो गयी थी। इसलिए वाराणसी पहुँच कर सबसे पहले मुझमे प्रसादजी का दर्शन करने की लालसा जाग्रत हुई। वाराणसी मे मैं अपने एक संबंधी के यहाँ ठहरा था, जहाँ से प्रसादजी का निवास-स्थान गोवर्धनसराय निकट ही था।

दूसरे दिन प्रात नित्यकर्म से निवृत्त हो मैं पता पूछते हुए, प्रसादजी के निवास तक पहुँच गया। देखता हूँ—सामने एक बडी कोठी है। उसके सामने चबूतरे पर लोगों के बैठने के लिये पत्थर की शिलाओं की सादी आसन्दियाँ हैं। चबूतरे से संलग्न एक कोठरी है, जो वंश परम्परा मे चले आ रहे तम्बाकू के व्यवसाय हेतु भण्डार गृह के काम आती है। इसी कोठरी के अलिन्द मे, बिना बिछावन के एक तख्त पर बैठे दो सज्जन शतरंज खेलने मे तल्लीन थे। प्रसादजी के पहले देखे चित्रो के आधार पर मैंने फौरन ही पहचान लिया कि केवल गंजी पहने, पश्चिमाभिमुख बैठे हुए, पुष्टतन सौम्य सज्जन ही प्रसादजी है। पास जाकर मैंने उन्हें प्रणाम निवेदित किया। बिना दृष्टि उठाये, इशारे से ही, प्रसादजी ने मेरा अभिवादन स्वीकार किया तथा पास ही पड़ी हुई एक बेंच पर बैठने का संकेत किया।

प्रसादजी का वह प्रथम दर्शन मेरे लिए बड़ा ही रोमांचकारी अनुभव था। उनके कृतित्व से तो मैं पहले से ही प्रभावित था, उस दिन उनके निश्छल व्यक्तित्व से भी मैं अभिभूत हो उठा। मैंने देखा—वे बालकों की तरह सरल हैं। शतरंज के

खेल में किसी असावधान चाल के कारण अपनी हार देखकर चाल लौटा देने के लिए वे बाल हठ कर बैठते और विपक्षी खिलाड़ी के विरोध को दरकिनार कर चाल लौटाकर ही दम लेते हैं। इस प्रकार चाल लौटाकर तत्काल पराजय को तो वे टाल जाते हैं, पर अन्ततः अपनी हार नहीं बचा पाते।

दूसरी बार बिसात बिछे, इसके पूर्व ही प्रसादजी की दृष्टि मुझ पर पड़ी। थोड़े-थोड़े अन्तराल पर, एक-एक कर कई प्रश्न उन्होंने मुझसे पूछ डाले—'कहाँ से आये हैं ?' 'सीतापुर से।' आने का प्रयोजन ? मैंने बताया कि लखनऊ विश्वविद्यालय में एम० ए० की पढ़ाई की व्यवस्था न होने से हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रवेश लेना चाहता हूँ। तबतक बिसात फिर बिछ चुकी थी। फिर पूछा, 'आपका नाम क्या है ?' 'चन्द्रप्रकाश सिंह मैंने बताया। मेरा नाम सुन कुछ क्षण वे मौन रहे, फिर सिर उठाकर मुस्कुराते हुए बोले—"आप कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह हैं ?" मेरे 'हाँ' कहते ही उनके मुखमण्डल पर उन्मुक्त हास्य की छटा खिल उठी उन दिनों मेरे गीत 'माधुरी' 'सुधा' आदि में मुख पृष्ठ पर प्रकाशित होते थे मेरे साथ बात करने की वजह से प्रसादजी की बाजी गड़बड़ा गयी और उनका वजीर कट गया। इस पर 'फिर बाद में खेलेंगे' कहकर प्रसादजी ने खेल समाप्ति की घोषणा कर दी। मेरी ओर मुखातिब हो हँसते हुए बोले—"आपकी कविताएँ मैं पढ़ता रहता हूँ। पर आप चले कहाँ गये थे ? आपको खोजते हुए आपके पिताजी, निरालाजी का पत्र लेकर मेरे पास आये थे। वे कई दिन यहाँ मेरे पास ठहरे थे। मैंने आपकी काशी भर में खोज करवायी थी।" (प्रसादजी ने निरालाजी के जिस पत्र की चर्चा की वह अब प्रसादजी के पत्र-संग्रह में प्रकाशित हो चुका है) कुछ देर तक उनके पास बैठकर और प्रसाद-स्वरूप सुमिष्ठ सत्कार का आस्वादन कर मैं वहीं से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय चला गया।

× × ×

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रवेश प्राप्त कर मैं दुर्गाकुण्ड से नवाबगंज जानेवाली सड़क पर एक मकान लेकर रहने लगा। नवाबगंज में स्व० पं० वाचस्पति पाठक का घर था, जिनसे पहले ही मेरे संबंध जुड़ चुके थे। पाठकजी स्व० राय-कृष्णदास के 'भारती भण्डार' के व्यवस्थापक थे। उन दिनों भारती भण्डार में निरालाजी के दो ग्रन्थ—'गीतिका'-काव्य-संग्रह तथा 'निरुपमा'-उपन्यास प्रकाशित हो रहे थे। इसलिए निरालाजी भी उन दिनों काशी में ही थे। आरंभ में कुछ दिन पाठकजी के साथ रहकर वह मेरे यहाँ आकर रहने लगे। 'गीतिका' के अन्तिम छः गीत तथा 'निरुपमा' का अन्तिम अंश उन्होंने मेरे यहाँ रहकर ही लिखा था। 'राम की शक्ति-पूजा' की प्रथम दो पंक्तियाँ भी वहीं लिखी गयी थीं।

अब तो मैं प्रायः, निरालाजी के साथ, प्रसादजी के दर्शनार्थ जाने लगा।

निरालाजी के मन में प्रसादजी के प्रति अत्यधिक आदरभाव था और वे उन्हें अपना अग्रज मानते थे। प्रसादजी के प्रति निराला का यह आदर-भाव उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।

उन दिनों काशी एक साहित्यिक तीर्थ जैसी थी। आचार्य प्रवर श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य केशव प्रसाद मिश्र, डॉ० सम्पूर्णानन्द, कलामर्मज्ञ एवं मनीषी राय कृष्णदास, उपन्यास सम्राट् मुंशी प्रेमचंद, पं० विनोदशंकर व्यास, हरिऔधजी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी प्रभृति अनेक साहित्यिक विभूतियाँ उस समय काशी मे विद्यमान थीं। राष्ट्रकवि स्व० मैथिलीशरण गुप्त प्रायः वहाँ आते रहते थे और राय कृष्णदास जी के गंगा तट पर स्थित भवन मे ठहरते थे। प्रकाशन की दृष्टि से भी १९३६ ई० का वर्ष आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में अविस्मरणीय है। 'कामायनी', 'गीतिका' 'राम की शक्ति पूजा', 'गोदान', निरुपमा' आदि अनेक श्रेष्ठ रचनाएँ इसी वर्ष प्रकाशित हुई थी। मैं सौभाग्यशाली हूँ कि ऐसे महत्वपूर्ण वर्ष मे मुझे काशी में रहने तथा हिन्दी के श्रेष्ठ साहित्यकारों के सान्निध्य का सुअवसर सुलभ हुआ था।

इन्ही दिनों बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जी भी काशी आये और रायकृष्णदास के आवास पर ही ठहरे। एक दिन जब प्रसादजी राय साहब की कोठी पर आये, तो सब लोगों ने प्रसादजी से अनुरोध किया कि वे अपने यहाँ की प्रसिद्ध कचौड़ियाँ खिलाएँ। प्रसादजी ने हँसते हुए कहा—'कचौड़ियाँ ही क्यो ? कल, आप सब लोगों का मेरे यहाँ भोजन होगा।' यह निमंत्रण पा हम लोगों को बड़ी खुशी हुई।

दूसरा दिन आया और मैं बडी उत्सुकता से संध्या की प्रतीक्षा करने लगा। साँझ होते ही निरालाजी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, वाचस्पति पाठक तथा मुझे साथ ले प्रसादजी के यहाँ पहुँच गये। उनकी कोठी के सामने एक प्रशस्त चबूतरा था जिस पर, जहाँ तक मुझे याद है, प्रस्तर के आसन बने हुए थे। उस दिन उन पर आस्तरण बिछा दिये गये थे। वह भाद्रपद की बड़ी ही सुहावनी संध्या थी, आकाश मे अधिक बादल नही थे। कुछ मेघखण्ड, संभवतः परिहास की इच्छा से, इधर-उधर विचर रहे थे। प्रसादजी एक प्रस्तर आसन्दी पर विराजमान थे। उनके पास वाली आसन्दी पर उनके एक संगीतज्ञ मित्र बैठे थे, जिनके पार्श्व मे एक सितार रखा हुआ था।

धीरे-धीरे अन्य लोग भी आने लगे। रायकृष्णदास जी के साथ मैथिलीशरण गुप्त और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आये। जहाँ तक मुझे याद है, मुशी अजमेरी जी भी जो राष्ट्रकवि गुप्तजी के साथ चिरगाँव से आये थे, उस भोज मे शरीक थे। कुछ क्षणों मे आचार्य शुक्ल, आचार्य केशव प्रसाद मिश्र, डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा और विनोद शंकर व्यास भी वहाँ आ गये। इनके अतिरिक्त काशी के और भी कई

गण्यमान्य साहित्यकार उक्त भोज में समुपस्थित थे, किन्तु विद्वज्जनों में सबसे कनिष्ठ थे, वाचस्पति पाठक जी और स्वयं मैं। इस प्रकार चबूतरे पर स्थित आस्तरण सज्जित प्रस्तर-आसनों पर विद्वानों की सभा जुड़ी। इस अवसर के लिए प्रसादजी ने इत्र से सुवाषित विशेष प्रकार की तम्बाकू तैयार कराई थी। उस समय काशी में मिट्टी के बड़े ही कलात्मक हुक्के बनते थे। इनकी प्रमुख विशेषता यह थी कि चिलम भी हुक्के के साथ ही बनाई जाती थी। वे हुक्के भर कर लाये गये। तम्बाकू पीने के शौकीन साहित्यकारों—राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, रायकृष्णदास, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', निराला आदि ने इन हुक्कों को सोल्लास ग्रहण किया। हुक्का गुड़गुड़ाते हुए अनेक साहित्यिक विषयों पर चर्चा चल रही थी। हुक्कों से निकलकर सुगन्धित धूम्र वातावरण को आमोदित कर रहा था। हुक्का पीनेवाले प्रसादजी की सुगन्धित तम्बाकू की सराहना भी करते जा रहे थे।

भोजन में थोड़ा ही विलम्ब था। एकाएक मेघ-घटा घिर आयी और लोगों के बचाव का अवसर दिये बिना बरसने लगी। लोग अपने-अपने हुक्के छोड़ प्रसादजी की बैठक की ओर भागे। बैठक करीने से सजी हुई थी, जिसे देख सहज ही अनुमान किया जा सकता था कि यह किसी रससिद्ध कवि-कलाकार की बैठक है। बैठक में पहुँच कर काव्यपाठ का दौर आरंभ हुआ। निरालाजी, अजमेरीजी और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने अपनी कवितायें सुनाकर सम्मोहन का सर्जन किया। प्रसादजी के विशेष आदेश से मुझे भी अपना एक गीत सस्वर प्रस्तुत करना पड़ा। फिर भोजन के लिए बुलावा आ गया। सभी लोग भूमि पर बिछे सुन्दर और स्वच्छ आसनों पर बैठे। संभवतः प्रसादजी की भाभीजी की बनाई कचौड़ियाँ और दही-बड़े बहुत प्रसिद्ध थे। मैथिलीशरणजी तो काशी आते ही प्रसादजी की भाभीजी के हाथ की बनी कचौड़ियों की फरमाइश कर बैठते थे। हम सब लोग प्रसादजी के यहाँ के सुस्वादु भोजन का भरपूर आस्वाद ले रहे थे। साहित्य महारथियों की, भोजन के दौरान चल रही विनोद वार्त्ता सुनकर भी हम आनंद विह्वल हो रहे थे। प्रसादजी के एकमात्र पुत्र रत्नशंकरजी, जो उस समय १३-१४ वर्ष के रहे होंगे, भी दत्तचित्त हो भोजन परोसने में जुटे हुए थे। वे प्रसादजी को पानी परोसना भूल गये थे जिसे लक्ष्य कर प्रसादजी ने फारसी का एक शेर पढ़ा, जिसका आशय था —

'काफिर मरने के बाद भी अपने पितरों को जलदान करते हैं लेकिन तू मेरे जीते जी ही मुझे प्यासा रख रहा है।' इतना सुनते ही हँसी के ठहाके फूट पड़े। भोजन कार्यक्रम अपेक्षाकृत अधिक देर तक चला। साहित्यिकों के वाग्वैदग्ध्य ने बहुविध व्यञ्जनों को नवरसमय बना दिया।

भोजन करते-करते उपद्रवी मेघखण्ड जा चुके थे। चन्द्रमा और तारे निकल आये थे। अब सब लोग बाहर निकल कर चबूतरे पर स्थित प्रस्तर आसन्दियों पर

बैठने का उपक्रम करने लगे। तब उन्हें अपने हुक्कों की याद आयी। प्राय: हुक्के अपने स्थान से हट गये थे, इसलिए कौन व्यक्ति कौन-सा हुक्का पी रहा था, पहचानना मुश्किल हो गया। सहसा निरालाजी ने झपट कर एक हुक्का उठा लिया और बोले—"यही मेरा है। यह और किसी का हो ही नही सकता।" यह कहकर उस पर ताजी भरी चिलम रखकर आनन्द से पीने लगे। अन्य लोग ऐसा साहस न कर सके। उनके लिए दूसरे हुक्के मँगाने पड़े। अब संगीत की सभा जुड़ी। तब तक रात्रि के दस से अधिक बज चुके थे। उस समय के काशी के एक विशिष्ट सितार-वादक ने, जिनका नाम मुझे इस वक्त याद नही आ रहा, सितार के तारों के साथ-साथ हृदयों को भी झंकृत कर दिया। उन्होंने प्रसाद की प्रिय रागिनी बागेश्वरी बजायी। लोग भाव-विभोर हो झूमने लगे। मीड़ों और मूर्च्छनाओं के साथ-साथ सुनने वाले के हृदय मीड़ों और झरनों के साथ झूम-झूम उठते थे। महाकवि प्रसाद के आवासीय परिसर में रात के दो-तीन प्रहर किस भाँति बीत गये, किसी को पता नही चला। संगीत सभा की समाप्ति के पश्चात् घर लौटते समय हमे अपना ही श्वासोच्छ्वास किसी अज्ञात सुरभि मे सना प्रतीत हो रहा था। आज भी जब उन मधुर क्षणों की याद आती है, तो सहसा मुख से निकल पड़ता है—आह! "वे कुछ दिन कितने सुंदर थे।" (वे सितार वादक उस्ताद आशिक अली थे—सं०)

(२)

उन्ही दिनों घटित हुई एक अन्य घटना ने मुझे प्रसादजी के और भी निकट पहुँचा दिया। उन दिनों काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष थे आचार्य श्यामसुन्दरदास। 'शास्त्री' उपाधिधारी एक दक्षिण भारतीय सज्जन, नाम स्मरण नही, आर्ट्स कालेज के प्रिंसिपल थे। प्रतिवर्ष सत्रारम्भ के समय आर्ट्स कालेज के प्रिंसिपल उससे संबद्ध सभी साहित्यिक-संस्थाओं को सास्कृतिक-छात्र-अनुदान दिया करते थे। उस वर्ष अन्य विभागों की तुलना में हिन्दी विभाग को कम अनुदान मिला। बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने शास्त्रीजी को पत्र लिखकर इसके प्रति अपना विरोध व्यक्त किया तथा उनसे हिन्दी विभाग की अनुदान राशि भी अन्य विभागों के बराबर करने का आग्रह किया। साथ ही, ऐसा न होने पर उस वर्ष हिन्दी विभाग द्वारा विश्वविद्यालय मे कोई भी कार्यक्रम न करने की चेतावनी भी उन्होंने दे डाली।

प्रिंसिपल शास्त्रीजी कुछ मामले मे बड़े कट्टर थे। उनके कक्ष मे जूते पहन कर जाने की सख्त मनाही थी। बाबू श्यामसुन्दर दास जी इसके लिए तैयार नहीं थे। अत: उक्त विवाद के चलते बाबू साहब ने उस सत्र के हिन्दी समिति के समस्त कार्यक्रम रद्द कर दिये। तुलसी जयन्ती आयी और चली गई, विभाग में कोई आयोजन नही हुआ। भारतेन्दु जयन्ती भी निकट आ गई। उन दिनों मैं विभागीय

हिन्दी-समिति का मंत्री था। डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल इसके अध्यक्ष तथा बाबू साहब संरक्षक थे। मैं डॉ० बड़थ्वाल तथा अन्य मित्रों से विचार-विमर्श कर बाबू श्यामसुन्दरदासजी के पास भारतेन्दु जयन्ती मनाने हेतु अनुमति लेने गया। अपनी पूर्व घोषणा के बावजूद हमारी भावनाओं का खयाल करते हुए बाबू साहब ने अपनी तरफ से इसकी स्वीकृति प्रदान कर दी, किन्तु साथ ही यह भी कह दिया कि यदि बीच में कोई व्यवधान आवे तो मेरे पास न आना।

बाबू साहब की आशंका सच थी, इसका भान हमें जल्दी ही हो गया। हम भारतेन्दु जयन्ती मनाने हेतु कालेज का बड़ा हाल प्रदान करने संबंधी प्रार्थनापत्र लेकर, जूते बाहर निकाल, नंगे पाँव प्रिंसिपल साहब के कमरे में गये। प्रिंसिपल साहब को हमारा प्रार्थनापत्र अस्वीकार करने मे एक क्षण का भी समय नहीं लगा। उन्होंने अंग्रेजी में लिखा—हाल नहीं दिया जा सकता। निराशा के साथ हमें बाबू साहब का भय भी सता रहा था। हम लोग प्रो० वाइसचांसलर महोदय के पास भी गये। उन्होंने भी प्रिंसिपल साहब के आदेश में परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं समझी। कुलपति महामनाजी के पौत्र, जिनका नाम संभवत: शशिकान्त था और जो उन दिनों अंग्रेजी मे एम० ए० कर रहे थे, के सहयोग से हम किसी प्रकार मालवीय जी तक पहुँचने में सफल हो गये। महामना जी की उस समय की वात्सल्यमयी मुद्रा एवं उनके नेत्रों से छलकता असीम स्नेहभाव हमें अभिभूत कर गया। मुझे लगा जैसे परम शुभ्र वसन धारण किये हुए साक्षात् सतोगुण मूर्त्तिमान हो हमें अपने अशीर्वाद से अभिसिक्त कर रहा हो। हमने अपनी समस्या बताते हुए प्रिंसिपल साहब द्वारा अस्वीकृत किया जा चुका प्रार्थना-पत्र मालवीय जी के हाथ में दे दिया। महामना ने प्रिंसिपल के आदेश को पढ़ा। फिर उसे काटकर अपनी ओर से आदेश लिखा—"वह हाल यथासमय भारतेन्दु-जयन्ती के लिए खोल दिया जाय, मैं स्वयं इस सभा में उपस्थित रहूँगा।"

उक्त आदेश को पढ़कर हमारे हर्ष की सीमा न रही। इसकी जानकारी होने पर बाबू साहब (आचार्य श्यामसुन्दर दास) का रोष भी शान्त हो गया। अब समस्या उठ खड़ी हुई कि भारतेन्दु-जयन्ती की अध्यक्षता कौन करे। पहले यह शुभ कार्य महाकवि निराला द्वारा सम्पन्न होना था, किन्तु अपरिहार्य कारणों से वे एकाएक लखनऊ चले गये थे। अब शिवनारायणलाल श्रीवास्तव जैसे सब मित्रों ने मुझसे कहा—'आप प्रसादजी के स्नेहभाजन हैं, आप उन्हें इस समारोह में ले आयें।' मैंने पहले ही सुन रखा था कि वे सार्वजनिक समारोहों में नहीं जाते। फिर भी, साहस बटोरकर मैं प्रसादजी के पास गया और उनसे समारोह में चलने का अनुरोध किया। मैंने उन्हें बताया कि विभाग के छात्रों के प्रतिनिधि के रूप में मैं आपके समक्ष उपस्थित हुआ हूँ। मेरे सहयोगियों को पूर्ण विश्वास है कि आप मेरा अनुरोध स्वीकार

कर समारोह में अवश्य पधारेंगे। प्रसादजी ने मेरी बातें बड़े ध्यान से सुनीं। फिर सहज मुसकान के साथ बोले—'मैं अवश्य चलता।' फिर, पिछले किसी अवसर का स्मरण करते हुए उन्होंने कहा—'एक बार मैं विश्वविद्यालय के एक सार्वजनिक समारोह में गया था। सभा में छात्रों का सीटी बजाना, चिड़ियां उछालना आदि अशिष्ट और असांस्कृतिक व्यवहार देख मुझे बड़ी ग्लानि हुई। तभी से मैंने प्रतिज्ञा कर ली कि मैं किसी भी सार्वजनिक समारोह में नहीं जाऊँगा। किन्तु अब आप जैसा कहें, मैं वैसा ही करूँगा। हाँ, यदि आप मुझे समारोह में ले जाने का हठ न करें, तो मैं आपसे वायदा करता हूँ कि निराला जी के लखनऊ से वापस आने पर मैं आपके घर आकर 'कामायनी' के कुछ अंश सुनाऊँगा। मुझे तो जैसे बड़ा भारी वरदान मिल गया। मैंने लौटकर अपने मित्रों से सारी बात बतायी। प्रसादजी के समारोह में न आने की बात से वे सब खिन्न तो अवश्य हुए, किन्तु वे मुझसे यह वचन लेकर संतुष्ट हो गये कि प्रसादजी के मेरे घर आकर कामायनी के अंश सुनाने के सुअवसर पर मैं उन्हें भी आमन्त्रित करूँगा।

भारतेन्दु जयन्ती समारोह आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की अध्यक्षता में धूम-धाम से संपन्न हुआ। वाजपेयी जी का बड़ा ओजस्वी तथा विद्वत्तापूर्ण भाषण हुआ। खराब स्वास्थ्य के कारण मालवीय जी यद्यपि स्वयं समारोह में उपस्थित न हो सके, किन्तु उनका लिखित शुभकामना संदेश मिला।

इसके कुछ दिनों बाद निरालाजी लखनऊ से लौट आये। वे प्रायः प्रतिदिन या दूसरे-तीसरे प्रसादजी से मिलने जाया करते थे। एक दिन वे यह सन्देश लेकर आये कि आज सायंकाल प्रसादजी आयेंगे। मैंने तत्काल जानकी वल्लभ शास्त्री परमानन्द वाजपेयी, ब्रह्मदत्त 'शिशु' शिवनारायणलाल श्रीवास्तव, लक्ष्मीनारायण मिश्र 'संचय', वाचस्पति पाठक, आदि मित्रों की इसकी सूचना दे दी। फिर निरालाजी के निर्देशन में प्रसादजी के स्वागत-सत्कार की आवश्यक तैयारी हुई। सायंकाल तक मेरी समस्त मित्र-मण्डली वहाँ पहुँच चुकी थी। पं० वाचस्पति पाठक जी पड़ोस में ही रहते थे। उन्होंने अपने किसी चुनिन्दा पानवाले से पान की गिलौरियाँ मँगायीं। यथा समय प्रसादजी पधारे। छत के ऊपर एक छोटी-सी विशिष्ट सभा जुड़ी। सबसे पहले जानकी वल्लभ शास्त्री ने अपनी बाल-पिक वाणी में, अपने कुछ गीत गाकर सुनाये। फिर हमारी मित्र-मण्डली में जो कवि थे 'उन्होंने अपनी रचनाओं का पाठ किया। निराला जी ने अपनी रचना 'तुलसीदास' के कुछ अंश सुनाये। फिर अपने कुछ नये गीत गाकर सुनाये। सबसे अन्त में प्रसादजी ने अपने सधे, संयत, भावपूर्ण उतार-चढ़ावयुक्त, ललित-गम्भीर, उदात्त स्वर में 'कामायनी' के अन्तिम दो सर्गों का वाचन किया। अपने सुमधुर वाचन द्वारा उन्होंने 'कामायनी' के अन्तिम दो सर्गों के भाव-वैभव से हम सबको अभिभूत कर दिया। उनके हाथ में 'कामायनी' के अन्तिम दो

सर्गों के छपे हुए फर्मे थे। जब तक उनका वाचन समाप्त हुआ, उस वर्षा एवं शरद की सन्धिकालीन संध्या के वातावरण में एक रसमयी निस्पन्दता व्याप्त हो गयी थी। कुछ क्षण तक मौन छाया रहा। फिर निराला जी के शब्द-स्वर मुखरित हो उठे—"आधुनिक हिन्दी के महाकाव्य का अवतरण हो चुका है। हिन्दी का यह स्वर्णयुग अपने पूर्ण प्रकर्ष पर है।" उन क्षणों के उल्लास को शब्दों में बाँध पाना मेरे लिए संभव नहीं है। हमें युग के दो श्रेष्ठ कवियों के, एक साथ काव्य-पाठ-श्रावण का अनुपम सुअवसर प्राप्त हुआ था।

काव्य-पाठ का दौर समाप्त होने के पश्चात्, कुछ देर तक प्रसादजी हम लोगों के साथ आत्मीयतापूर्ण वार्तालाप करते रहे। वे वहाँ उपस्थित परिचित-अपरिचित, सबके सगे प्रतीत हो रहे थे। वह ज्योतिर्मयी, हिरण्यमयी सन्ध्या मेरी स्मृति में अमर बन गई है। जब भी कभी उसकी याद आती है प्रसादजी द्वारा उस दिन पढ़े गये 'कामायनी' के अंश की ये पंक्तियाँ स्वतः स्फुटित हो उठती हैं—

समरस थे जड़ या चेतन, सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती, आनन्द अखण्ड बना था।।

× × ×

प्रतिफलित हुईं सब आँखें उस प्रेम ज्योति विमला से।
सब पहचाने से लगते अपनी ही एक कला से।।

× × ×

सब भेदभाव भुलवा कर दुःख सुख के दृश्य बनाता।
मानव कह रे ! यह मैं हूँ, यह विश्व नीड़ बन जाता।।

उस रागमयी सन्ध्या को, प्रसादजी की दिव्य-वाणी में उपनिषदों का सार-तत्व विद्यमान था।

(३)

इन्हीं दिनों साहित्यिक क्षेत्र में एक चिन्ताजनक समाचार फैल गया कि प्रेमचंद जी बहुत अस्वस्थ हैं। वे लखनऊ से लौट आये हैं। वहाँ के डाक्टरों ने उनके स्वास्थ्य के संबंध में आशा का संचार करनेवाला कोई विशेष आश्वासन नहीं दिया है। उनकी हालत गिरती जा रही थी। निरालाजी को प्रसादजी से उनके निरंतर गिरते हुए स्वास्थ्य का समाचार मिला, तो वे अत्यन्त व्यथित हुए। 'गीतिका' गीत-संग्रह और 'निरुपमा' उपन्यास दोनों प्रकाशित हो चुके थे। अब वे लखनऊ लौट जाना चाहते थे। लखनऊ जाने के पहले वे 'प्रेमचंद' जी से मिलने गये। निराला जी ने देखा, प्रेमचंद जी नितान्त अशक्त हो गये है। पेट फूला हुआ है, हाथ उठाकर प्रणाम का उत्तर देने में भी कठिनाई का अनुभव कर रहे हैं तथा कठिनाई से आँखें खोल पा रहे हैं।

जब वे लौटे तो उनकी आँखों में करुणा और शोक का सागर लहरा रहा था। उस रात उन्होंने बहुत आग्रह करने पर अन्यमनस्क भाव से थोड़ा भोजन किया और लिखने बैठ गये। लगभग घंटे भर में उनका लेख तैयार हो गया। शीर्षक था, 'हिन्दी के गर्व और गौरव प्रेमचंद जी।' यह लेख प्रयाग से निकलने वाले अर्ध साप्ताहिक पत्र 'भारत' में प्रकाशित हुआ जिस मन:स्थिति में निराला जी ने यह लेख लिखा, उसका मैं साक्षी था। निराला जी कितने महान थे; यह लेख उसका मापदण्ड है। इस लेख में उनकी वेदना का निर्झर शत-शत धाराओं में बह चला था। उन्होंने प्रेमचंद जी के कृतित्व की महिमा का आवेगपूर्ण वर्णन करते हुए मूल्यहीन होती हुई समकालीन राजनीति की पाखण्डपूर्ण प्रवृत्तियों पर करारा आघात किया था। उन्होंने लिखा था—'हिन्दी के युगान्तर साहित्य के सर्वश्रेष्ठ रत्न, अन्तर्प्रान्तीय ख्याति के प्रथम साहित्यिक, प्रतिकूल परिस्थितियों से निर्भीक वीर की तरह लड़नेवाले, उपन्यास—संसार के एकछत्र सम्राट्, रचना-प्रतियोगिता मे विश्व के अधिक से अधिक लिखनेवाले मनीषियों के समकक्ष आदरणीय श्रीमान प्रेमचंद जी आज महाव्याधि से ग्रस्त होकर शय्याशायी हो रहे हैं।

"कितने दु:ख की बात है कि हिन्दी के जिन पत्रों मे हम राजनीतिक नेताओं के मामूली बुखार का तापमान प्रतिदिन पढ़ते रहते है, उनमें श्री प्रेमचंद जी, हिन्दी का महान उपकार करने वाले प्रेमचंद जी की अवस्था की साप्ताहिक खबर भी पढ़ने को नही मिलती। दु:ख नही, यह लज्जा की बात है, हिन्दी भाषियों के लिए मर जाने की बात है। उन्होंने अपने साहित्यिकों की ऐसी दशा नही होने दी कि वे हँसते हुए जीते और आशीर्वाद देते हुए मरते। इसी अभिशाप के कारण हिन्दी महारानी होकर अपनी प्रान्तीय सखियों की भी दासी है।" इस लेख के अन्त में प्रेमचंद जी के स्वास्थ्य लाभ की कामना करते हुए उन्होंने लिखा था—'हे राम! केवल दस वर्ष और।'

जहाँ तक मुझे स्मरण है, यह लेख लिखकर उन्होने प्रसादजी को भी दिखलाया और फिर उसे प्रकाशनार्थ अर्ध साप्ताहिक 'भारत' में भेज दिया। प्रसादजी भी प्रेमचंद जी की असाध्य होती हुई बीमारी के कारण बहुत उद्विग्न थे। मैंने देखा, उस दिन प्रसादजी की बैठक का वातावरण गहरी उदासी से भरा हुआ था। निराला जी जब लौटे, तो चिन्ताकुल तो थे ही, कलम-कागज लेकर फिर कुछ लिखने बैठ गये। देर तक कागज पर कुछ खाँकते रहे। मैंने पूछा, 'पंडितजी आज क्या लिख रहे हैं?' उत्तर दिया, 'एक बड़ी कविता लिखना चाहता हूँ, उसी के लिए छन्द का स्वरूप निर्धारित कर रहा हूँ।' थोड़ी देर बाद उस कागज पर दो अमर पंक्तियाँ उतर आयीं, वे थीं—

रवि हुआ अस्त, ज्योति के पत्र में लिखा अमर,
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर।

मुझे लगा, वे प्रेमचंदजी के जीवन-संघर्ष की परिणति को देखकर अपने जीवन-संघर्ष के साथ मिलाते हुए उसे किसी बड़े उदात्त रूप में परिणत करना चाहते हैं। मेरे सामने मेरे निवास पर केवल ये दो ही पंक्तियाँ लिखी गयी, फिर वे लखनऊ चले आये।

निरालाजी का उपर्युक्त लेख प्रकाशित हुआ, तो साहित्यिक क्षेत्रों में कुछ हलचल भी हुई। संभवतः उसी को पढ़कर जैनेन्द्रजी, प्रेमचंदजी को देखने दिल्ली से वाराणसी आये। उन दिनों जनार्दन राय नाम के एक उदीयमान कहानी लेखक 'हंस' के पन्नों पर उभर रहे थे। वे उदयपुर के निवासी थे। काशी विश्वविद्यालय में एम० ए० अन्तिम वर्ष के छात्र थे। एक दिन विश्वविद्यालय मे ही उनसे समाचार मिला कि अब कोई आशा नही है। दूसरे दिन प्रातःकाल जब हम लोग विश्व-विद्यालय के अपने विभाग में, कक्षा में गये, तो देखा हमारे आचार्यगण उदास बैठे हैं। आचार्य श्यामसुन्दरदास ने प्राध्यापकों और छात्रों को एक कक्ष में आने के लिए कहा। उन्होंने बताया कि आज रात्रि के अन्तिम प्रहर में उपन्यास-सम्राट् प्रेमचंदजी का निधन हो गया है। तुम सब लोग अंतिम श्रद्धांजलि देने के लिए उनके निवास पर जाओ, आज कक्षायें नही होंगी। आचार्य प्रवर डॉ० पीताम्बर दत्त बड़श्वाल ने शोक प्रस्ताव रखा था। उनके संबंध में कुछ बोले भी थे। जहाँ तक मुझे स्मरण है, उस दिन के किसी पत्र में प्रेमचंदजी के निधन का कोई समाचार नही निकला था।

हम सब छात्र विह्वल होकर प्रेमचंदजी के निवास स्थान पर पहुँचे। घर में कोहराम मचा हुआ था। शिवरानी देवी अत्यंत करुण रोदन कर रही थी। प्रसादजी वहाँ प्रातःकाल होते ही पहुँच गये थे। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयीजी भी हम लोगों से कुछ पहले पहुँचे थे। जैनेन्द्रजी, जनार्दन राय, परिपूर्णानन्द वर्मा आदि कुछ नये साहित्यकार भी वहाँ थे। किंतु उस शोकाकुल वातावरण में प्रसादजी का व्यक्तित्व विशिष्ट प्रतीत होता था। मुख पर गहरी उदासी और आँखों में विचित्र चमक लिए हुए वे शवयात्रा की तैयारी करवा रहे थे और लोगों को यथोचित निर्देशन दे रहे थे। शिवरानी देवीजी के हृदय को हिला देने वाले क्रन्दन के बीच प्रेमचंदजी का शव कफन में लपेटा जा रहा था। विश्व-साहित्य की अमर कथा 'कफन' का लेखक 'कफन' की सीमा में बाँधा जा रहा था। प्रसादजी बहुत निकट खड़े हुए सब देख रहे थे। कभी-कभी बीच में धीरे-धीरे कुछ निर्देश भी देते थे। जन्म और मृत्यु के रहस्यों का ज्ञाता, संघर्ष-संकुल जीवन की असंख्य सम-विषम जीवन परिस्थितियों का व्याख्याता महाकवि गीली आँखों से अपने महान मित्र की अन्तिम विदा का यह आयोजन देख रहा था। एकाएक स्वजनों के विलाप का स्वर कानों और नेत्रों के

लिए असह्य हो उठा। मानवता के महान् कथाकार' प्रेमचंदजी की शवयात्रा चल पड़ी। घर की सीमाओं के बाहर आकर यह विलाप-कलाप मूर्च्छित नीरवता में बदल गया। हम सब अर्थी के पीछे धीरे-धीरे चले जा रहे थे। श्मशान तक यात्रा करने वालों की संख्या अधिक नहीं थी। थोड़े से परिजन, कुछ संवेदनशील साहित्यकार और सबके पीछे हम सब विद्यार्थी। मैं प्रसादजी के पीछे-पीछे चल रहा था। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी उनके बराबर चल रहे थे। जब हम बनारस की गलियों से निकलने लगे, तो हम विद्यार्थियों को देखकर एक दुकानदार बोल उठा—'लगता है कोई मास्टर मरा है।' प्रसादजी के मुख पर हल्की मुस्कान की रेखा झलक उठी। वाजपेयीजी से बोले —'वाजपेयीजी, देखा यह बनारसी रंग।' वाजपेयीजी ने अपने किसी संस्मरण में इस घटना की चर्चा की है।

धीरे-धीरे शवयात्रा मणिकर्णिका घाट पहुँच गयी। सामने गंगा बह रही थी। तट पर अनेक चितायें जल रही थी। मैंने भगवान शंकर के इस सनातन श्मशान का प्रथम बार दर्शन किया था। शव चिताओं पर रखे जा रहे थे।

प्रसादजी के ही निर्देशन में प्रेमचंदजी की चिता सजायी गई। जहाँ तक मुझे स्मरण है, प्रसादजी के द्वारा निर्दिष्ट अंतिम संस्कार की समस्त शास्त्र विधि पूरी की गई और प्रेमचंदजी के पुत्र ने चिता में आग दी। प्रेमचंदजी जीवनभर जिन दुःखियों के मसीहा बने रहे, सर्जना के उच्चातिउच्च शिखरों पर आरोहण करनेवाले प्रेमचंद जी के जीवन की यह परिणति ! हम लोग भी थक गये थे। प्रसादजी की 'कामायनी' की यह पंक्ति मेरे मन में गूँजने लगी—

मृत्यु, अरी चिर-निद्रे ! तेरा अंक हिमानी सा शीतल।

(४)

जाड़ा आरंभ हो गया था, धूप प्रिय लगने लगी थी, छुट्टी का दिन था। मैं अकेले ही प्रसादजी के दर्शन करने घर से निकल पड़ा। पं० वाचस्पति पाठक भी उन दिनों प्रयाग में थे। मैं प्रसाद मंदिर पहुँचा, तो ज्ञात हुआ वे अपने उद्यान में हैं। देखा, उद्यान में बैठे हुए वे अंग्रेजी का एक समाचार पत्र, संभवतः लीडर पढ़ रहे थे। मुझे देखकर बड़े स्नेह से बैठने को कहा। मेरे ही समवयस्क एक युवक वहाँ पहले से ही बैठे थे। प्रसाद जी ने उनसे मेरा परिचय करवाया। कहा 'ये सर्वदानन्द जी हैं, उदीयमान कवि और कथाकार। प्रसिद्ध विद्वान् और स्वतंत्रता संग्राम के अग्रणी नेता बाबू सम्पूर्णानन्द जी के पुत्र है।' मेरा परिचय भी उन्होंने दिया। हम लोग मिलकर प्रसन्न हुए। कुछ देर वे समाचार-पत्र पढ़ने में तल्लीन रहे। फिर पूछा, 'आप लोगों ने आज का समाचार पत्र पढ़ा ?' मेरा उत्तर था नहीं। मैंने पूछा क्या आज कोई विशेष समाचार है। वे बोले, विशेष ही नहीं अति विशेष समाचार है। हम लोगों की ओर समाचार-पत्र बढ़ाकर कहने लगे, 'देखो यह प्रथम पृष्ठ पर ब्रिटेन

के प्रधानमंत्री चेम्बरलेन का चित्र है। वे छाता लिये हुए हिटलर से मिलने जा रहे हैं, शांति के दूत बनकर। दूसरी ओर इसी पृष्ठ पर विन्सटन चर्चिल का भाषण है। उसने अपने देश की पार्लियामेण्ट में बड़े जोरदार शब्दों में चेम्बरलेन के शांति प्रयास का विरोध किया है।' चर्चिल के भाषण के कुछ वाक्य पढ़कर उन्होंने सुनाये। जहाँ तक मुझे स्मरण है, चर्चिल ने कहा था, 'चेम्बरलेन जो कुछ कर रहे हैं उसका परिणाम उल्टा होगा। देश भयावह संकट में फँस जायेगा।' चर्चिल के भाषण की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा, चर्चिल की भविष्यवाणी सत्य होगी और संकटकाल में चर्चिल ही ब्रिटिश साम्राज्य का उद्धारक बनेगा। दूसरा विश्वयुद्ध आरंभ हुआ। रह-रहकर मैं प्रसादजी की भविष्यवाणी का स्मरण करता था। चेम्बरलेन को प्रधानमंत्री पद छोड़ना पड़ा और चर्चिल उस संहारक युद्धकाल में ब्रिटेन के प्रधानमंत्री बने थे। युद्ध के महार्वण में डूबते हुए अपने राष्ट्र को उन्होंने ही अवलम्ब दिया था।

सोचता हूँ, प्रसादजी के नाटकों मे राष्ट्र की रक्षा और राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने के इतने सूत्र सन्निहित हैं। कुभा से जावा तक प्रसरित अपने राष्ट्र का कितना गौरवशाली मानचित्र उन्होंने अपने नाटकों में निर्मित किया है, प्रसाद की वह कल्याणी आर्षवाणी राष्ट्रनेताओं ने नहीं सुनी। वह मानचित्र खंडित हो चुका है, देश का अंग-भंग हो गया है।

(५)

दिसम्बर १९३६ ई० का प्रथम सप्ताह—मैं प्रसादजी का दर्शन करने उनके निवास पर गया। प्रणाम करके जैसे ही मैं बैठा, प्रसादजी बताने लगे— सरकार ने लखनऊ में एक बड़ी प्रदर्शनी लगाने का निश्चय किया है, साथ ही हिन्दुस्तानी एकेडमी के तत्वावधान में हिन्दी-उर्दू की समस्या पर विचार गोष्ठी भी होनी है। उर्दू के पक्षधर मौलाना सुलेमान मदनी, मौलाना अबुलहक जैसे बड़े-बड़े विद्वान और लियाकत अली और नवाब हजारी जैसे लोग उसमें भाग लेंगे! हिन्दी के पक्षधरों में से आचार्य शुक्ल जी, मिश्रबन्धु, पं० पद्मसिंह शर्मा आदि आमंत्रित हैं। मुझे भी निमंत्रण आया है। वैसे तो मैं नहीं जाता, किन्तु (पुत्र रत्नशंकर की ओर संकेत करते हुए) इनकी प्रदर्शनी देखने की बड़ी इच्छा है। इसलिए मुझे चलना पड़ेगा। लखनऊ में आवास की व्यवस्था को लेकर मैंने प्रसादजी को अपने खानदान के ही एक चाचा, कुँवर राजेन्द्र सिंह के बारे में बताया। वे एक समय उत्तरप्रदेश की अंग्रेज सरकार में कृषिमंत्री थे और साइमन कमीशन के लखनऊ आने पर उन्होंने उसके विरोध में, राय राजेश्वरबली के साथ मन्त्रिपद से इस्तीफा दे दिया था। चाचाजी उस समय के हिन्दी के अच्छे लेखकों में से थे। विशेषतया 'सरस्वती' और 'माधुरी' में विविध विषयों पर उनके लेख बराबर प्रकाशित होते रहते थे। उनके राजभवन में

विशिष्ट अतिथियों के लिए कई अच्छे आवासीय भवन खण्ड थे। उस समय के प्रसिद्ध अंग्रेजी दैनिक 'लीडर' के सम्पादक सी० वाई० चिन्तामणि जब भी लखनऊ आते थे, तो उन्हीं के यहाँ ठहरते थे। मैंने प्रसादजी से आग्रह किया कि आप लखनऊ चलकर वहीं पर निवास करें। प्रसादजी ने कहा—मैं कुँवर राजेन्द्र सिंह के लेख पढ़ता रहता हूँ, उनके राजनीतिक व्यक्तित्व से भी मैं परिचित हूँ। अतः ऐसे व्यक्ति का अतिथि होना मेरे लिए बहुत अच्छा रहेगा। किन्तु मेरे साथ मेरे कुछ कर्मचारी भी जायेंगे, जो मेरे भोजनादि की व्यवस्था करेंगे। उनका अतिथि होकर भी मैं अपनी अलग व्यवस्था करूँ—यह उनको बुरा तो नही लगेगा।

मैंने कहा कि इस सम्बन्ध मे चाचाजी से बात करके ही कुछ कह सकता हूँ। उन दिनों एम० ए० पूर्वार्द्ध की वार्षिक परीक्षा नहीं होती थी। दो वर्ष की पढ़ाई के अन्त में आठ प्रश्न-पत्र एक साथ होते थे। इस वजह से प्रथम वर्ष में हम सब पढ़ाई के प्रति उतने सजग नहीं थे, जितना होना चाहिए था। तब तक प्रसाद जी ने लखनऊ जाने की तिथि निश्चित नही की थी। मैं उन्हे बताकर पहले ही लखनऊ के लिए चल पड़ा। पहले इलाहाबाद गया। वहाँ निराला जी भी लखनऊ जाने को तैयार थे। हम दोनों ने रात्रि की गाड़ी से लखनऊ के लिए प्रस्थान किया। लखनऊ पहुँच कर मैं कुँवर राजेन्द्र सिंह जी से मिला और उन्हें प्रसादजी के आगमन के विषय में बताया। वे बड़े प्रसन्न हुए। बोले—जिस फ्लैट में सी० वाई० चिन्तामणि जी ठहरते हैं, उसी में प्रसादजी के आवास की व्यवस्था की जायगी। मैं प्रसन्न मन लौटा और निराला जी को इसकी सूचना दे दी।

अभी तक प्रसादजी की ओर मे उनके लखनऊ आगमन की कोई निश्चित सूचना मुझे नहीं मिल पायी थी। विक्टोरिया पार्क के बहुत बड़े क्षेत्र मे उक्त प्रदर्शनी लगी थी, जिसमें गीता प्रेस गोरखपुर का भी प्रतिष्ठान सजा हुआ था और आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी उसके इंचार्ज होकर प्रदर्शनी मे आये थे। मैंने वाजपेयी जी को प्रसादजी से हुई वार्ता के संबंध मे बतलाया, तो उन्होंने कहा, रत्न शंकर के कारण वे आवें तो आवें, वैसे काशी से कही बाहर जाने के विषय में प्रसादजी बहुत आगा-पीछा करते रहते हैं। हम सब लोग प्रसादजी के आगमन की तिथि की सूचना पाने के लिए उत्कंठित थे।

हिन्दुस्तानी एकेडमी की बैठक मे आने वाले हिन्दी के विद्वानों के आवास आदि की व्यवस्था का दायित्व मिश्र बंधुओं मे ज्येष्ठ पं० श्यामबिहारी मिश्र को सौंपा गया था। जिस दिन सायंकाल, प्रसादजी गाड़ी से लखनऊ पहुँचे, मिश्र बंधु—दोनों भाई—स्टेशन पर उनके स्वागतार्थ उपस्थित थे। प्रसादजी के एक पुराने मित्र त्रिभुवन नाथ सिंह 'सरोज' भी मिश्र-बंधुओं से सूचना पाकर प्रसादजी के स्वागतार्थ स्टेशन पर उपस्थित थे। प्रसादजी आये। मिश्र-बंधुओं के बहुत अनुनय विनय के

बावजूद प्रसादजी उनकी कोठी पर ठहरने के लिए नहीं गये और अपने पुराने मित्र 'सरोज' जी के यहाँ ठहरने की इच्छा व्यक्त की। 'सरोज' जी के लिए यह प्रस्ताव अप्रत्याशित किंतु आह्लादकर था। उनका मकान बहुत छोटा था तथा मौलवीगंज मोहल्ले में था, जो आज भी लखनऊ का एक अविकसित क्षेत्र है। प्रसादजी के साथ पाँच-छः लोग और थे, जिनमें से केवल दो के नामों का मुझे स्मरण है—रत्नशंकरजी और रत्नाकर रसिक मण्डल के पं० रामानन्द मिश्र। मिश्र बंधुओं की कार छोड़कर प्रसादजी, तीन-चार ताँगों में अपना सामान लदवा कर सरोज जी के निवास पर पहुँच गये और जहाँ तक मुझे याद है, लगभग एक सप्ताह वहीं रहे।

प्रसादजी के आगमन की सूचना पाकर निरालाजी के साथ मैं, उनसे मिलने सरोज जी के आवास पर गया। मकान की छोटी-सी बैठक में प्रसादजी का सामान ठसाठस भरा हुआ था। जाड़े के दिन थे। बाहर के चबूतरे पर एक बड़ी-सी दरी बिछी थी, जिस पर बैठकर प्रसादजी मालिश करवा रहे थे। काशी से पधारे अन्य आगन्तुक भी उनके साथ ही बैठे थे। मिलते ही बोले—मैं आपको सूचना नहीं दे पाया। अन्त तक अनिश्चय की स्थिति में था। अंततः तार द्वारा मैंने मिश्र-बंधुओं को सूचित किया। उन्हीं के द्वारा सरोजजी को भी जानकारी हो गयी। जितने दिन प्रसादजी लखनऊ रहे, वहाँ के साहित्यिक क्षेत्र का वातावरण बड़ा ही उल्लासमय रहा। प्रतिदिन गीता प्रेस के प्रतिष्ठान में, जहाँ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का आधिपत्य था, बैठक जमा करती थी। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, पं० रूपनारायण पाण्डेय, निरालाजी, प्रसादजी, सरोजजी तथा हम सब कनिष्ठवय साहित्यकार नित्य प्रति बैठक में उपस्थित हो जाया करते थे। साहित्यिक वार्तालाप और हास्य-विनोद का गहरा रंग जमता था। एक दिन उस गोष्ठी में ओरछा नरेश वीर सिंह जूदेव भी आये थे। उन दिनों मैं अधिकांशतः प्रसादजी के ही सान्निध्य में रहा। एक दिन प्रसादजी, मैथिलीशरणजी, सियारामशरणजी तथा निरालाजी के साथ पं० रूपनारायण पाण्डेयजी के घर रानी कटरा गये। मैं भी साथ था। वहाँ लगभग एक घंटे बैठक जमी।

इस प्रकार उन दिग्गज साहित्यकारों के सान्निध्य में रहकर मुझे उनके अन्तर में झाँकने का सुअवसर मिला तथा मुझे दृढ़ विश्वास हो गया कि जो मानव के रूप में महान् होता है, वही महान साहित्यकार भी हो सकता है। लखनऊ में राजकीय आवास की सुविधाओं को छोड़कर प्रसादजी ने अपने पुराने मित्र के कष्ट कर, अकिंचन सुविधाहीन घर में रहना पसंद किया—यह उनकी उस आंतर-महिमा का परिचायक है, जिससे प्रेरित और अनुप्राणित हो श्रेष्ठ साहित्य जन्म लिया करता है।

सन् १९३७ ई०। काशी विश्वविद्यालय के नये सत्रारम्भ के साथ ही मैं बीमार पड़ गया। मलेरिया और रक्तातिसार से पीड़ित हो मैं घर लौट गया। फिर दीवाली से दो सप्ताह पूर्व मैं काशी आया। जानकी बल्लभ शास्त्रीजी अपने छात्रावास में थे। उनसे मिलकर ज्ञात हुआ कि प्रसादजी गम्भीर रूप से बीमार हैं। लखनऊ से ही अवस्थ होकर लौटे थे और वह अस्वस्थता अब उग्रतर हो चली थी। मैं जानकी बल्लभ शास्त्री के साथ प्रसादजी के दर्शनार्थ उनके निवास पर पहुँचा। वे ऊपर की मंजिल पर थे। वहाँ से उनके खाँसने की आवाज हम दोनों तक पहुँच रही थी। हम दोनों उनकी कोठी के बाहर पड़े एक तख्त पर बैठ गये। एक परिचारक आया। उससे हमने प्रसादजी से मिलने की इच्छा व्यक्त की। परिचारक ने बताया कि डाक्टर ने प्रसादजी से मिलने और बात करने से मना कर रखा है। डाक्टर की हिदायत स्वीकार करते हुए हमने परिचारक से आग्रह किया कि वह हम दोनों का नाम बताकर प्रसादजी को हमारा प्रणाम निवेदित कर दे। इस पर परिचारक ने जाकर प्रसादजी को हमारा प्रणाम निवेदित किया। उन्होंने हमें ऊपर ही बुलवा लिया। उन्हें देखकर मैं हतप्रभ हो गया। वे अस्थि-पंजर मात्र रह गये थे। हमारे मना करने के बावजूद वे तकिये के सहारे उठकर बैठ गये। हमारे लिए वह उनका अन्तिम दर्शन था, किन्तु वही उनकी महीयसी अपराजेय प्रतिभा से हमारा साक्षात्कार भी था। हम उन्हें बैठने अथवा बात करने से मना करते तो वे हँसकर टाल जाते थे। बीमारी की चर्चा चलने ही नहीं देते थे। हिन्दी-हिन्दुस्तानी विवाद पर उन्होंने गम्भीर चिन्ता व्यक्त की और कहा कि यदि संगठित होकर इस रोग का निदान न किया गया, तो स्वाधीनता प्राप्ति के बावजूद राष्ट्रभाषा का मार्ग निरापद नहीं रह पायेगा। हम उनके विचार सुनते रहे। बीमारी के बारे में पूछा तो बोले—होम्योपैथिक उपचार चल रहा है, ठीक हो जाऊँगा। भविष्य की योजनाओं पर चर्चा करते हुए बोले—अभी बहुत कुछ लिखना है। इन्द्र पर एक नाटक लिखना चाहता हूँ। उस नाटक की योजना के विषय में धीमे स्वर में बताते रहे। इन्द्र पर उनका एक लेख नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका में प्रकाशित हुआ था, उसका एक-एक प्रिंट हम दोनों को दिया। फिर 'इरावती' उपन्यास के बारे में बताने लगे, जिसकी रचना उन्होंने आरंभ कर दी थी। पूछने पर 'कामायनी' के दार्शनिक आधार के विषय में भी दो-चार बातें बतायीं। फिर मैं साहस करके पूछ बैठा—आप इतने दुर्बल हो गये हैं, आपको रोग की बिलकुल चिन्ता नहीं है?" यह सुनकर प्रसादजी हँस पड़े। उनकी वह हँसी कालजयी हँसी थी—वह उस मृत्युञ्जय महाकवि की हँसी थी जिसने जीवन-काल में ही मृत्यु के रहस्य का साक्षात्कार किया था तथा मन-प्राण से उसे जीत लिया था। हमने साश्रु-नयन उनके श्री चरणों में प्रणाम-निवेदन किया और

शोकोच्छ्वासित हृदय से लौट पड़े। जानकी बल्लभ ने उस अन्तिम मुलाकात के सम्बन्ध में एक लेख भी प्रकाशित कराया था।

× × ×

दीपावली के एक दिन पहले मैं लखनऊ लौट आया। निरालाजी लखनऊ में ही थे। मैंने उन्हें प्रसादजी की चिन्ताजनक हालत से अवगत कराया। सुनकर कुछ देर तक वे जड़वत् खड़े रहे। फिर बोले--'तुम्हारी जान पहचान का कोई ज्योतिषी है ?' मैंने कहा—'हां -है !' मैं निरालाजी को अपने एक परिचित ज्योतिषी के यहाँ, जो वाक्सिद्ध थे, ले गया। वे मेरे जैसे ही युवक थे और ज्योतिष विद्या के गहन अध्येता थे। मैने उनसे निरालाजी का परिचय दिया। ज्योतिषीजी बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने निरालाजी का हार्दिक स्वागत करते हुए उनके आने का प्रयोजन पूछा। निरालाजी बोले, 'मेरे मित्र प्रमादजी बहुत बीमार है। आप कृपया बतायें कि वे कैसे स्वस्थ हो सकते है ?' ज्योतिषी ने प्रश्न का समय लिखा, प्रश्न लग्न कुण्डली बनायी, कुछ देर विचार किया, फिर बोले 'अब कोई आशा नही है। दो-तीन सप्ताह से अधिक की जीवनावधि शेष नही है –ऐसा प्रतीत होता है।' उन्होंने यह भी कहा, 'प्रश्न लग्न कुण्डली बताती है कि जिनके सम्बन्ध मे आपने प्रश्न किया है वे महापुरुष है और बड़े ही यशस्वी है।

यह सुनकर निरालाजी उदास हो गये, उनकी आँखे डबडबा आयी। ज्योतिषीजी ने निरालाजी के हाथों की छाप ली और हम घर लौट आये।

उक्त घटना के दस-बारह दिन बाद कार्त्तिक शुक्ल पक्ष की देवोत्थानी एकादशी के दिन प्रसादजी ने इस संसार को त्याग कर परम शिव का सायुज्य प्राप्त किया।

× × ×

जब मैं प्रसादजी के संस्मरण तैयार कर रहा इसी बीच आयुष्मान् रत्नशंकरजी का एक बहुमूल्य पोस्टकार्ड मुझे मिला। उन्होंने इसके द्वारा प्रसाद और निराला दोनों महापुरुषों से संबंधित एक घटना की मुझे याद दिलाई। उनके पोस्टकार्ड में अंकित संस्मरण इस प्रकार है—

"काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पूज्य निरालाजी के कविता पाठ का प्रसंग संभव है आपके संस्मरण में आये। अनुमान है कि यह आपके छात्र जीवन की घटना है। उस काव्य पाठ के लिए यही से तैयार होकर गए थे। उस तैयारी की आंशिक स्मृति मुझे यह। है कि स्नान कर कपड़े पहनने के पश्चात् उन्होंने कहा, 'बाबू साहब कुछ खुश्बू वुश्बू' पिताजी ने मुश्क अम्बर की शीशी सामने रख दी, उन्होंने तेल की भाँति हथेली पर उड़ेल कर सिर

में लगाया। और शेष इत्र अपने जूतों में डाल दिया और कुछ बोले बैसवाड़ी में—नई धारा के आलोचकों के प्रति विशिष्ट विशेषणों के उपोद्घात सहित !'

इस घटना की चर्चा आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयीजी ने मुझसे की थी, पोस्टकार्ड में निबद्ध वृत्त अक्षरशः सत्य है। यह घटना सन् १९२८–२९ की है। उन दिनों आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी हिन्दू विश्वविद्यालय में एम० ए० के अन्तिम वर्ष के छात्र थे। उन्होंने स्वयं लिखा है, "उन दिनों मै काशी विश्वविद्यालय की एम० ए० कक्षा का विद्यार्थी था। निरालाजी कभी प्रसादजी के घर रहते और कभी हमारे 'आर्यभवन लाज' में रहा करते थे। समवयस्क या अपने से छोटी उम्र के लोगों के साथ रहने मे उनकी अधिक रुचि थी। अपने से बड़ों के साथ उन्हें अंशतः संकोच होता था। प्रसादजी से उनका वार्त्तालाप सीमित होता था। दोनों एक दूसरे का सम्मान करते थे परन्तु निरालाजी आयु में छोटे होने के कारण प्रसादजी को वैयक्तिक सम्मान अधिक देते थे।' प्रसादजी के प्रति निरालाजी के हृदय में कितना आदर और सम्मान था, मैं अपने को इसका सबसे बड़ा साक्षी मानता हूँ—अनेक वर्षव्यापी उनके साहचर्य के आधार पर। एक बार मैंने निरालाजी से पूछा था, आपको 'आँसू' का कौन सा अंश सबसे प्रिय है ? उन्होंने तुरन्त निम्नलिखित पंक्तियाँ सुनाई—

रजनी की रोई आँखें
आलोक बिन्दु टपकातीं
तम की काली छलनायें
उनको चुप चुप पी जातीं

सुख अपमानित करता—सा
जब व्यंग–हँसी हँसता है
चुपके से तब मत रो तू
यह कैसी परवशता है

अपने आँसू की अञ्जलि
आँखों में भर क्यों पीता
नक्षत्र पतन के क्षण में
उज्ज्वल होकर है जीता

रत्नशंकरजी के द्वारा पोस्टकार्ड में उल्लिखित घटना के सब सूत्रों को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने के लिए आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के संस्मरणों का वह अंश मैं यहाँ दे रहा हूँ। जिसका उक्त कविता पाठ से सीधा संबंध है। कवितापाठ के लिए जाते समय निरालाजी सेंट या इत्र में अपने केशों और वस्त्रों को नहलाया करते थे,

यह मैंने लखनऊ में भी कई बार देखा है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के साथ निरालाजी प्रसादजी के आवास से इत्र-स्नान कर कविता पाठ के लिए गये थे, यह बात मुझे वाजपेयीजी ने स्वयं बतलायी थी—"....एक दिन मेरे मित्रों ने आकर प्रस्ताव किया कि विश्वविद्यालय में निरालाजी का भाषण और काव्य पाठ कराया जाय। मैं उन दिनों एम० ए० की अंतिम वर्ष की कक्षा में था और हिन्दी अध्यापकों का स्नेहभाजन बन चुका था। उन दिनों विभाग की हिन्दी समिति का मैं कर्त्ता-धर्त्ता भी था। मैंने विभागाध्यक्ष डॉ० श्यामसुन्दरदास से जब इस विषय का प्रस्ताव किया, तब उन्होंने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और श्री हरिऔधजी से मिलने और राजी करने का संकेत किया। शुक्लजी ने नाही तो नहीं की पर किसी अन्य कार्य में लगे रहने का उल्लेख किया। उपाध्यायजी राजी हो गये और हम लोगों की सभा उन्हीं की अध्यक्षता में प्रारम्भ हुई। प्रसादजी तथा नगर के अन्य साहित्यिक भी आये हुए थे। निरालाजी आरंभ में आधुनिक हिन्दी का विकास क्रम बताते रहे। पूर्ववर्ती कवियों की प्रशंसा भी की, परन्तु वे ज्यों ही नये छायावादी काव्य की चर्चा करने लगे, सहसा उत्तेजित हो गये और बोले 'हमारी इस कविता को पुराने साहित्यिक और समीक्षक उसी प्रकार नहीं समझ सकते, जिस प्रकार कोई मिडिल कक्षा का विद्यार्थी एम० ए० के पाठ्यक्रम को नही समझ सकता।' शायद निरालाजी अपनी कविता के विरुद्ध उठाये गये उन दिनों के साहित्यिक आन्दोलन से विक्षुब्ध थे, अन्यथा उनका-सा सहृदय और शीलवान व्यक्ति ऐसे वाक्य का प्रयोग नही कर सकता था। पर जो कुछ होना था, हो चुका था। सभा में एक विचित्र दृश्य उपस्थित हो गया। हरिऔधजी जो मुझ पर अपार स्नेह करते थे, सभा छोड़कर चले गये। शुक्लजी को सूचना मिली तो वे मुझसे खिन्न और रुष्ट हो गये। बाबू साहब (डॉ० श्यामसुन्दर दास) इस विषय में अधिक तटस्थ थे, उन्होने पूरा वृत्तांत सुनने के बाद एक मंद मुस्कान से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की। उस दिन के भाषण के बाद काव्यपाठ भी हुआ। नये साहित्यिक, विद्यार्थी सैकड़ों की संख्या में निराला का कविता-पाठ सुनकर आह्लादित और विमुग्ध हुए।" ('कवि निराला' पृष्ठ —५-६)

रत्नशंकरजी के पोस्टकार्ड में उल्लिखित घटना हिन्दू विश्वविद्यालय में मेरे छात्र होने के पहले की है। उस समय पं० नंददुलारे वाजपेयी के अतिरिक्त डॉ० रामअवध द्विवेदी, बिहार के सुप्रसिद्ध राजनेता और महान् हिन्दी सेवी श्री लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु', पं० सोहनलाल द्विवेदी आदि हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के छात्र थे।

अन्त में यह स्मरण करा दूं कि रत्नशंकरजी के पत्र में आलोचकों को लक्ष्य कर जूतों पर मुश्क अम्बर की शीशी उड़ेलने का जिक्र है। इसके पहले भी वे संपादकों

के द्वारा लौटाई हुई रचना को हाथ में लेकर अपनी प्रतिक्रिया निरालाजी इसी शैली में व्यक्त कर चुके हैं। इसका उल्लेख 'सरोज स्मृति' में देखा जा सकता है—

लौटी रचना लेकर उदास
देखता हुआ मैं दिशाकाश
पास की नोचता हुआ घास।

यह 'घास' ही हृदयहीन संपादकों के लिए निराला की भाव की पूजा बन जाती है—'भाव की चढ़ी पूजा उन पर।'



कुल सामान उन्नीस अददों में बंधा था। उसमें दो दमचूल्हे एक बोरी कोयला (लकड़ी का) दो लालटेने और पांच गैलन मिट्टी का तेल तथा पांच सात सेर आलू भी था। यात्रा-प्रसंग मे तेल और कोयले के अशुभत्व की जब किसी ने बात की तब उन्होंने कहा कि आवश्यकता पर इनका जो अभाव संभावित है उसी को मैं अशुभ मानकर उससे बचना चाहता हूँ।

सरोजजी की ससुराल काशी के कबीरचौरा मुहल्ले में है : इसका उल्लेख करते मिश्र-बन्धुओं से कहा कि इन्हें कैसे अप्रसन्न करूँ—केवल इसी कारण से आप लोगों से क्षमा चाहता हूँ। सरोजजी कुछ विस्मित मुद्रा में अलग खड़े थे। मिश्र बन्धुओं के जाने के बाद बोले 'प्रसादजी' पहले से मुझे यह ज्ञात होता तो मैं व्यवस्था करता' : 'वह कृत्रिम होती सहज नही, मै जानता हूँ—कहाँ मुझे क्लेश और कहाँ सुख होगा—उनके यहाँ की कैदबन्दी मुझे प्रिय न होती— तुम क्यों चिन्तित हो—सब ठीक है चलो। किन्तु, आपका भोजन! 'फिर वही बेमतलब की बात' अरे जहाँ कन्यादान दिया गया वहाँ भोजन? तुम्हारा तुम्हारे परिवार का भोजन मेरे चौके में ही होगा। इस समय के लिए तो पर्याप्त पूरियाँ और मगदल हैं ही—सुबेरे से करामात देखना। केवल पानी लूँगा जो कि सरकारी है'—सुतराम् हम लोग; महेश प्रसाद स्ट्रीट— मौलवीगंज में पहुँचे—और तख्तों चारपाइयों के नीचे असबाव ठसाठस भर गया। जिसका उल्लेख आदरणीय कुँवर साहब ने किया है। (सम्पादक)

प्रसादजी और स्वाधीनता संग्राम

—डा० रघुनाथ सिंह

वे जितने सुंदर थे—उतनी ही उनकी वाणी मधुर थी। वे जितने सरल थे, उतना ही सरल उनका स्वभाव था--वे गौरवपूर्ण थे। मृदुभाषी थे। वे अपने विचारों के दृढ़ थे। वे अडिग रखने के लिए प्रसिद्ध थे। वे न तो सरकार को प्रसन्न करने के लिए लिखते और न जनता के मनोरंजन के लिए—उनका लेखन स्वान्तः सुखाय होता था। इसलिए उनकी लेखनी में ओज होता था—और होती थी दृढ़ता।

मेरा उनके कुटुम्ब से बहुत पुराना संबंध है। हमारे बड़े मामा स्वर्गीय बैजनाथ सिंह जी भी कवि थे। लेकिन उन्होंने कभी न अपनी कविता प्रकाशित करायीं और न प्रचार के फेर में पड़े। वे दोनों व्यक्ति जब मिलते थे और बैठते थे तो अनायास कवि हृदय खुल जाता था। जयशंकर प्रसादजी से जो लोग मिलना चाहते थे, उनके लिए किसी प्रकार का बंधन नहीं था। वे खुलकर अपने साथियों से तथा मिलने वालों से बातें करते थे। वे बातों और विचारों को छिपाने की कोशिश नहीं करते थे।

उनके यहाँ मेरा भी आना जाना आठ वर्ष की अवस्था से था। मेरी ससुराल उनके घर से कुछ ही कदमों पर थी। मेरे चचिया ससुर श्री लक्ष्मीनारायण सिंहजी 'ईश' अपने समय के अच्छे कवि थे, उनका मकान भी प्रसादजी के मकान से सिर्फ सौ कदम दूर पड़ता था। इस प्रकार जयशंकर प्रसादजी के यहाँ सायंकालीन गोष्ठी प्रायः हुआ करती थी। यह गोष्ठी स्थानीय चौक थाने के पीछे उनकी पुश्तैनी दुकान जो 'सुँघनी साहु' के नाम से प्रसिद्ध है उसके सामने चबूतरे पर भी होती थी।

प्रसादजी बड़े सामाजिक थे वे अपने महाल के लोगों का बहुत ख्याल रखते थे गरीबों के विवाह शादी में आर्थिक सहायता चुपचाप करते थे। मेरे विवाह का जब प्रश्न उपस्थित हुआ तब प्रसादजी ने खुलकर कह दिया कि उनका विवाह श्री जयकृष्ण सिंह की कन्या के साथ होगा। उन्होंने एक दिन हँसकर मेरे ससुर से कहा आपको विवाह की चिन्ता नहीं करनी है। हमारे ससुर ने यह नहीं पूछा कि कहाँ ठीक किया है, केवल मुस्करा कर रह गए। वे दिन बड़े अच्छे थे विवाह शादी आजकल की तरह व्यापार नहीं हो गया था।

जयशंकर प्रसादजी गांधीजी के प्रशंसक थे। तब वे गांधीवाद पर किसी प्रकार समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे। यद्यपि वे जेल कितने ही कारणों से नहीं

जा सके किन्तु उनका मन सर्वदा उनकी प्रसंशा करता था। देश के लिए वे त्याग करते और कष्ट उठाते थे।

उन दिनों काशी में स्वदेशी वस्त्र प्रदर्शनी प्रायः हर साल हुआ करती थी। जिन दिनों का मैं जिक्र कर रहा हूँ उन दिनों बनारस म्युनिस्पिलटी सरकार के हाथों में आ गई थी। लिंच साहब प्रशासक थे पर उनका साहस नहीं था कि प्रदर्शनी रोक दें। प्रदर्शनी टाउनहाल के मैदान में होती थी। झंडा फहराने के प्रश्न पर विवाद खड़ा हो गया था। सरकारी तन्त्र इस बात पर अड़ा था कि किसी प्रकार राष्ट्रीय तिरंगा झंडा प्रदर्शनी में न फहराया जाय। उन दिनों काशी में कांग्रेस में दो दल थे। एक दल श्री गोविन्द मालवीय और हम लोगों का था। और दूसरा दल जो लोग हम लोगों के विचारों से सहमत नहीं थे उन लोगों का था। हम लोग पूरे गांधीवादी थे।

काशी के जयशंकर प्रसाद जैसे विद्वान हम लोगों के दल में थे। प्रश्न उपस्थित हुआ कि राष्ट्रीय झंडा फहराने पर सरकार प्रतिबन्ध लगा देगी तो उस स्थिति में क्या करना होगा, जयशंकर प्रसादजी कमेटी के सदस्य नहीं थे। किन्तु हम लोग सदा आमंत्रित करते थे और सैद्धान्तिक प्रश्नों पर उनसे सलाह लिया करते थे। जब राष्ट्रीय झंडा फहराने का प्रश्न उपस्थित हुआ तब जयशंकर प्रसादजी ने बड़े ही जोरदार शब्दों में झंडा फहराने का समर्थन किया और यहाँ तक कह दिया कि जेल जाना होगा तो वे सबसे आगे रहेंगे। कहना नहीं होगा कि काशी की जनता हम लोगों के साथ थी। श्री गोविन्द मालवीय पर जिम्मेदारी सौंपी गई, वे जैसा निश्चय करेंगे हम लोग वही करेंगे। प्रसादजी के परामर्श-अनुसार गोविन्द मालवीय ने तत्कालीन काशिराज श्री आदित्य नारायण सिंहजी से सम्पर्क स्थापित कर उन्हें टाउनहाल में आने के लिए तैयार कर लिया। फल यह हुआ कि काशीराज व गोविन्द मालवीय दोनों महानुभाव एक साथ टाउनहाल में आये और गोविन्द मालवीय ने चुपचाप झंडा काशिराज की उपस्थिति में फहरा दिया। काशिराज से गोविन्द मालवीय के सहयोग के कारण सरकार तथा सरकार समर्थक व्यक्ति उनके सामने नहीं आये। पुलिस हट गई।

जयशंकर प्रसादजी पूर्णतः निर्भीक व्यक्ति थे। उन्हें किसी प्रकार के जोर दबाव की चिन्ता नहीं थी। तथापि, युक्ति से काम लेने का कौशल भी उनमें अपूर्व रहा। उनके ये विचार उनके अन्त समय तक कायम थे। जयशंकर प्रसादजी के संबंध में यह कहना ही पड़ेगा कि वे निर्भीक और अपने विचार पर अडिग खड़े रहने वालों में एक ही थे।



लोक मनीषी—श्री जयशंकर 'प्रसाद'

—डा० जयशंकर द्विवेदी

लेखक को ८ वर्ष की बाल्यावस्था मे ही प्रसादजी के सान्निध्य का सुअवसर प्राप्त रहा। मेरे पिता पं० जटाशंकर द्विवेदी प्रसादजी के एक अभिन्न अंग थे। प्रसादजी का संगीत प्रेम इतने लालसा-युक्त उत्कृष्ट कोटि का था कि वे पिताजी को सदैव अपने सहवास मे ही चाहते थे। कोटा, बूंदी, अलवर के नरेशों ने पं० जटाशंकरजी से कतिपय बार अपना सम्पर्क कर लिया था। उदयपुर के सवाई महाराज सुयशलोक सिंह जू के संगीतज्ञों के बीच बैठ उन्होंने मांड़ राग जो राजस्थान का प्रधान गीति-राग है, सुनाकर उन्हें मुग्ध कर चुके थे। मेरे चचेरे भाई रायबहादुर पं० कमलाकर द्विवेदी उन दिनों महाराज उदयपुर के प्रधान सचिव पद पर भारत सरकार द्वारा नियुक्त थे।

किन्तु, इन सब प्रसिद्धियों के कायल प्रसादजी नही थे। पिताजी नई धुनें, लय और तानों व मूर्च्छनाओं की रचना करते। प्रसादजी के नाटकों में प्रयुक्त उनकी कविताओं की स्वर-लिपि रचना करते।

प्रसादजी का सम्पर्क रायकृष्णदासजी से घनिष्ठ था। रायकृष्णदासजी के यहाँ एक मुनीमजी संगीतज्ञ बराबर रहते थे। प्रसादजी के स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त नाटकों की कविताओं की स्वर-लिपियों का संशोधन रायसाहब और प्रसादजी के सन्निधान में पिताजी किया करते थे। स्कन्दगुप्त की प्रसिद्ध रचना 'हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार, उषा ने हंस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक हार' की भूपाली राग में पिताजी ने प्रस्तुति की। भूपाली पूर्वांग प्रधान राग है। अपने गाम्भीर्य से यह मंच के सामने बैठी परिषद को मोहित करने वाली चीज है।

पिताजी को कजली-बनारसी बड़ी प्रिय थी। अतः कई रचनाओं को कजली की धुन में ही रखा गया है। चन्द्रगुप्त मे 'सुधा सीकर से नहला दो' को कजली की ही धुन में पिताजी ने रखा है। कजली की धुन के वे इतने सिद्ध गायक थे कि उनके कजली गायन के दिनों में प्रसादजी के ऊँचे चबूतरे पर भीड एकत्र हो जाती थी। एक घटना का उल्लेख यहाँ कजली के सम्बन्ध में रोचक होगा --

सिगरा चौमुहानी पर रथयात्रा का मेला लगता है। वहाँ भैरो नाम के बड़े प्रसिद्ध तत्कालीन कजली गाने वाले माने जाते थे। उन्हें लोग भंगी कहते थे। पर बात ऐसी नहीं थी। वे वास्तव में भैरोनाथ मन्दिर के पोषित कुत्तों को खिलाया करते थे।

भैरोनाथी न प्रसिद्धि हुई, प्रसिद्धि हुई 'वे भंगी हैं'। भैरोनाथजी की कजली को भीड़ चौराहे पर सुनने में तल्लीन थी। किसी भी प्रकार से केन्द्र पर पहुँचकर किसी और को सुअवसर नहीं प्राप्त हो सकता था। ऐसे ही समय में प्रसादजी के अग्रज साहु शंभुरत्न जिन्हें लोग सुंघनी साहु भी कहते थे पिताजी को अपनी टमटम पर बैठाये हुए पहुँचे। पिताजी से उन्होंने भैरव के जवाब में कजली सुनाने की इच्छा प्रकट की।

किन्तु प्रश्न था—केन्द्रस्थल तक भीड़ इतनी संकीर्ण दीवार सी बनी खड़ी थी कि वहाँ तक पहुँचना मुश्किल था। टमटम को छोड़कर पिताजी उतर पड़े। किसी प्रकार केन्द्र में पहुँच नई धुनकी कजली शुरू कर दी। जनसमूह में सुंघनी साहु के साथ पिताजी की जय-जयकार हुई। साहुजी जब गोबरधनसराय लौटे तो पिताजी को एक कीमती दुशाला ओढ़ाकर खजुरी के लिए अपनी टमटम से प्रस्थान कराया। कम लोग जानते है कि कंकाल के प्रकाशन के बाद लोक कथाकार प्रेमचन्द' ने प्रसादजी को 'लोक मनीषी कवि प्रसाद' की उपाधि दी थी।

अपनी अवढरदानी वंशपरम्परा के अनुरूप ही प्रसादजी का भी स्वभाव था। मेरी बुआ के विवाह के अवसर पर दुलहा (वर) जब खिचड़ी पर वैठा तब उसने घोड़े की मांग की—अब तत्काल घोड़ा कहाँ से लाकर दिया जाय। पिताजी खिन्न होकर गोवरधनसराय चले गये बैठकखाने में लेटे रहे कुछ ही देर में प्रसादजी ऊपर से आए और उन्हें देखते ही विस्मय से पूछा--'का हो तोहरे इहाँ खिचड़ी होत होई और तूं इहाँ पसरल हउअऽ'! पिताजी ने खिन्न होकर कहा 'दुलहवा घोड़ा मांगत हौ अउर कौनो चीज मांगत त वजार से ले के दे जाय अब घोड़ा कहा से आई'। प्रसादजी ने छूटते ही कहा 'चल जा अस्तबल में से मुश्की घोड़ा ले जा पूरा-साज कसवाय के अउर देखऽ संभार के ओपर वैठे बड़ा पाजी हौ एक दाईं बरना के पुल पर टमटम उलट देहले रहल हार्थ भर बचली नाही बरना मे चल जाइत जा जल्दी जा'। जब हमारे पिताजी को मुश्की घोड़े पर सवार आते लोगों ने देखा—आश्चर्य चकित रह गए। अपने समधी से परिहास करते पिताजी ने कहा 'अश्वमेध की पूर्णता कैसे होती है जानते हैं?' वे झेंप गए किन्तु कह बैठे--'वह तो आप पूरी करके ला रहे हैं'। हमारे सम्पूर्ण खजुरी के दुबे परिवार में—जो सैकड़ों व्यक्तियों का है—कोई शादी ब्याह हो सुंघनी साहु से सुर्ती तम्बाकू बराबर प्राप्त रहा है। इस विषय के महामहोपाध्याय सुधाकरजी के पुर्जे अभी भी प्रसादजी के कागजों में मिलेंगे।

आज अपनी शारीरिक अशक्तता में इतना ही लिख पा रहा हूँ—इसका खेद है। विश्वविद्यालय से लौटते गोवरधनसराय रुकने और कुछ खाकर ही जाने का उनका आदेश भला मैं कैसे टालता वे मेरे पितृ स्थानीय जो रहे। अनेक स्मृतियां आती जाती हैं किस-किस का मनुहार करूं।



मेरे भैय्या महाकवि 'प्रसाद'

—मुकुन्दीलाल गुप्त

प्रथम साक्षात्कार

ईसवी संवत् १९१२ में मैं जब प्रथम बार काशी गया तो मेरी अवस्था ५ वर्ष की थी और मुण्डन संस्कार के लिये मुझे काशी लाया गया था। यह प्रथम अवसर था जब मैंने प्रसादजी का दर्शन किया। उन्होंने मुझे 'हाबा' शब्द से सम्बोधित किया—

मुण्डन के पश्चात् प्रसादजी ने मुझे सुन्दर वस्त्रों मे सुसज्जित किया और मुझे पाँच रुपये दिये।

× × ×

तदनंतर मैं ८ वर्ष की आयु में प्रसादजी से काशी में मिला। मैंने उस समय उनकी दिनचर्या को लक्ष्य किया जो कि बाद में भी बराबर उसी क्रम से चलती रही। वे प्रातः ५ बजे शैय्या त्याग करते। शौच जाने के पहले वे खैनी (चूने के साथ मली गयी तम्बाकू) खाते। शौचादि से निवृत्त होकर वे पान खाते। प्रातः भोजन अथवा कलेवा करते मैंने उन्हें कभी नही देखा। स्नान के पूर्व सिवाय पान-जर्दा के वे कुछ भी नहीं खाते थे।

पान खाकर वे जर्दा बनाने के कारखाने में प्रवेश करते प्रायः ठीक ७ बजे प्रातः। कभी-कभी मैं भी उनके साथ कारखाने मे चला जाया करता।

कारखाने में सुरती के डंठल पीसने की एक मशीन थी जिसका इंजिन वाष्प चालित था। उन्होंने मुझे बताया कि यह उसी प्रकार की रेल है जिस पर हबड़ा से बैठकर 'हाबा' कलकत्ता से काशी पहुँचा।

कारखाने की एक कोठरी के सामने प्रसादजी आसन जमाते और जर्दा तम्बाकू में आवश्यक मसाले के मिश्रण का वे कार्य कराते। जो कर्मचारी इस कार्य के लिये नियुक्त था उसकी आँखों पर पट्टी बँधी रहती ताकि वह 'फार्मूला' जान न पाये। यह कार्य १० बजे तक चलता।

भवन की बाँयी ओर खपड़ैल का एक मकान था। उसी में से बगीचे, अखाड़ा तथा शिवालय का प्रवेश द्वार था। उसी की दालान में तारकेश्वरी गमछा

पहन कर प्रसादजी खाट पर विराजमान होते। आगन्तुक लोग यहीं पर उनसे मिलते। मिलने वालों में साहित्यकार, सहयोगी तथा अन्य सज्जन भी होते। सभी का स्वागत-सत्कार पान तम्बाकू से किया जाता।

प्रसादजी या तो अखाड़े में व्यायाम करते अथवा टहलते थे। यहीं उनके शरीर पर तेल मालिश की जाती। शिवालय के निकट ही कुंआ था जहाँ वे स्नान करते और पूजन-अर्चन के लिये शिवालय में प्रवेश करते। मुख्य भवन में वापस आकर वे भोजन करते और उपरान्त लगभग एक घण्टा विश्राम करते।

अपराह्न ३ बजे से संध्या ६ बजे तक वे पुनः उसी खपड़ैल में उसी खाट पर बैठते और पुनः मिलने वाले उनके पास पहुँचते।

सायंकाल ६ बजे के बाद वे स्नान करते। इसके बाद अस्तबल से लैण्डो (घोड़ा-गाड़ी) द्वार पर आ जाती और वे उसमें बैठकर दूकान जाते। यह दूकान चौक के पास नारियल गली में है। दूकान के सामने चबूतरा था। उसी पर प्रसादजी आसन जमाते और यहां भी उनके अनेक बंधु आते, बैठते और आलाप होता। जो भी प्रसादजी से मिलता तो वह यही समझता जैसे उसकी प्रसादजी से प्रगाढ़ मैत्री हो। विशेष स्नेह-भाव प्रसादजी का चित्रकला मर्मज्ञ राय कृष्णदास से था। एक सज्जन और भी थे जो दूकान के सामने चबूतरे पर प्रसादजी के निकट बैठे पाये जाते। वे जरी के काम का व्यवसाय करते। उनका नाम श्री मोहनलाल था। साहित्यिक लोग वहाँ आ जाते और तरह-तरह की बातें हँसी दिल्लगी होती।

रात को १० बजते-बजते प्रसादजी घर वापस आ जाते और भोजन के अनन्तर अध्ययन लेखन करते। रात के पिछले पहरों मे मुश्किल से दो-ढाई घण्टे सोते।

काशी जाने पर प्रसादजी का 'हावा' उन्हीं के समीप रहता था। बहुत दिनों बाद एक दिन सोचने लगा—इस 'हावा' शब्द की व्युत्पत्ति क्योंकर है। अकस्मात ध्यान में आया कि मैं हावड़ा से गाड़ी में बैठकर उनके समीप पहुँचा था अतः हावड़ा से कर्ण कटु ड़ अक्षर को निकाल कर उन्होंने मुझे 'हावा' नाम से सम्बोधित किया। किन्तु अब इसकी पुष्टि किससे कराता—वे तो जा चुके थे।

रुचि तथा व्यंजन

प्रसादजी स्वादिष्ट भोजन पसन्द करते। मिष्ठान्न में उन्हें मगदल प्रिय था, किन्तु कलकत्ते के मुख्यात मिष्ठान्न-प्रतिष्ठान गुप्ता ब्रदर्स (संस्मरण के लेखक द्वारा संचालित) द्वारा निर्मित खीर-मोहन भी उन्हें प्रिय था। यह खीरमोहन प्राप्त होता तो उसे वे भोजनोपरान्त अवश्य ग्रहण करते।

शीतकाल में मगदल अवश्य खाते। हरी मटर और चिउड़े की खिचड़ी उन्हें बहुत प्रिय थी।

वे शीतकाल में भोजनोपरान्त नमक के साथ अदरख खाया करते।

भोजन-व्यंजन में अरहर की दाल उन्हें सर्वाधिक प्रिय थी। किन्तु अस्वस्थ होने के बाद वे मूंग की दाल खाने लगे।

पोशाक

ईसवी संवत् १९१७-१८ का प्रसंग है जब कि मैं काशी गया। शीतकाल के दिन थे और भयावह ठंड बढ़ रही थी। इस काल में जब दूकान जाने को वे तैयार होते तो ऐसा लगता जैसे कोई राजा, नवाब या रईसे-आजम सांध्य वायु-सेवन को या दरबार में जा रहा हो। सर पर रोयेंदार बड़ी टोपी, भव्य ऊनी शेरवानी और चूड़ीदार पैजामा—पैर में पंप जूते। हाथ में सुन्दर छड़ी। मुख्य द्वार पर लैण्डो आकर खड़ी होती और उसमें सवार होकर वे दूकान जाते।

वे बाद में खादी के सादे वस्त्र धारण करने लगे।

भांग पियले हौ

कलकत्ते में कुछ समय स्व० पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र तथा वैसे ही कतिपय साहित्यकारों के समागम से मुझे भंग पीने का व्यसन हो गया था। कुछ कविताएं भी लिखी थीं इसलिये मैं काशी गया ताकि उन रचनाओं को उन्हें दिखाऊं।

शाम को मैंने भंग पीने की इच्छा प्रकट की। कलकत्ते में एक पैसे की (वह पैसा जो एक रुपये में ६४ होते थे) भंग पीकर मुझे परम सन्तोष होता था। काशी में भी मैंने यही कहा कि एक पैसे की भांग मेरे लिये पर्याप्त है। एक पैसे की भांग आयी और मैंने उसका भोग किया। परिणाम यह हुआ कि नशा तीव्रतर हुआ और मैं सुध-बुध खो बैठा। भोजन के लिये गया तो खाता ही रहा। स्त्रियों के शंका प्रकट करने पर प्रसादजी ने कहा—'भांग पियले हौ, बौराय गैल हौ।' वास्तविकता यह थी कि उस समय काशी में एक पैसे की भांग उतनी ही मिलती थी जो कलकत्ते में पांच पैसे में मिलती थी। यह पांचगुनी भाग का प्रभाव था।

प्रसादजी ने नाड़ी की गति देखी और सुराही का सारा ठंडा जल मेरे सर पर डाल दिया। उससे नशा तो कम अवश्य हुआ किन्तु मैं दूसरे दिन शीतज्वर से पीड़ित हो गया। सेवा-सुश्रूषा सभी प्रसादजी स्वयं करते थे।

उसी दिन से भांग का पीना सर्वदा के लिये समाप्त हो गया।

हाल एण्डरसन और भकुण्डरसन

'प्रसाद'जी कितने विनोदी और प्रत्युत्पन्न मति वाले व्यक्ति थे, इसका उदाहरण मेरे साथ घटी एक घटना द्वारा लग जाता है। जाड़े का दिन था। 'प्रसाद'जी के साथ मैं दशाश्वमेध घाट पर गंगा के किनारे टहल रहा था। अचानक उनकी दृष्टि मेरे चेस्टर पर पड़ी। लगे हाथ वे पूछ बैठे—तुमने यह चेस्टर कहाँ सिलवाया, बड़ा अच्छा सिला गया है?' मैंने कहा—"भइया, इसकी सिलाई कलकत्ते में हुई है, वहाँ

'हालएण्डरसन' नाम की एक सीविंग कम्पनी है। थोड़ी महँगी तो पड़ती है, पर सिलाई अच्छी होती है"। अपनी बात समाप्त करते ही स्वभावतः मेरे मुँह से भी निकल पड़ा —'भइया, आपका यह चेस्टर किसने सिला है?' उन्होंने बड़ी गम्भीर मुद्रा में कहा—'तुम नहीं जानते? यहाँ एक बड़ी प्रसिद्ध सीविंग कम्पनी है, मैं तो अपने कपड़े वहीं सिलवाता हूँ उसका नाम है भकुण्डरसन। भकुण्डरसन नाम सुनते ही मैं हँस पड़ा और फिर वे भी हँसने लगे। बड़ी देर तक हम दोनों इसे याद कर हँसते रहे।

'नरा' की चिकित्सा

नरोत्तमदासजी, मेरे अग्रज, एक बार मस्तिष्क विकार से पीड़ित हो गये। प्रसादजी को जब यह संवाद मिला तो उन्होंने मेरे ज्येष्ठ भ्राता पुरुषोत्तमदासजी को पत्र लिखा कि नरोत्तमदासजी को काशी पहुँचा दिया जाय ताकि उनकी देखभाल में चिकित्सा हो। प्रसादजी नरोत्तमदासजी को 'नरा' कहकर पुकारते थे। पुरुषोत्तमदासजी प्रसादजी को खण्डा या खण्डेराव कहा करते थे। प्रसादजी को उत्तर भेजा गया कि नरोत्तमदासजी को काशी भेजा तो जा सकता है लेकिन चार जवान आदमी भी उन पर नियंत्रण नहीं कर पाते, प्रसादजी ने प्रत्युत्तर दिया—किसी भी स्थिति की चिन्ता न कर 'नरा' को काशी पहुँचा दीजिये। नरोत्तमदासजी को काशी लाया गया। कलकत्ते से साथ में आये हुए व्यक्तियों को वापस कर दिया गया और नरोत्तमदासजी अकेले प्रसादजी के सान्निध्य में रह गये। नरोत्तमदासजी के केश काफी बढ़ गये थे तथा दाढ़ी-मूँछ ने उनका रूप विकराल कर दिया था। प्रसादजी ने टोंका —'नरा! यह क्या रूप बना रखा है, तुमने? तुम तो शौकीन तबियत के आदमी हो।' बस नरोत्तमदासजी क्षौर-कर्म कराने को सहज ही राजी हो गये। एक नाई को बुलाया गया। प्रसाद मंदिर से सटा छोटा-सा चबूतरा है उसी पर नरोत्तमदासजी को बैठा दिया गया। नाई जिस समय छूरे पर धार दे रहा था तो नरोत्तमदासजी ने उस पर इतना कड़ा प्रहार किया कि वह बेहोश होकर गिर पड़ा। प्रसाद जी दौड़कर बाहर आये। नरोत्तमदासजी बेहोश नाई पर पुनः प्रहार करने ही वाले थे कि प्रसादजी ने उनका हाथ पकड़ लिया और अब दोनों में मल्लयुद्ध प्रारम्भ हो गया।

प्रसादजी उनसे अधिक बलशाली थे, अतएव उन्होंने नरोत्तमदासजी को पटक दिया और बलिष्ट जाघों से उनकी पीठ दबाकर पिटाई शुरू कर दी। नरोत्तमदासजी परास्त हो गये और मुक्ति याचना की। प्रसादजी ने शर्त पेश की 'तुम मेरी सभी बात मानो तो?' नरोत्तमदासजी ने अपनी स्वीकृति दी। प्रसादजी ने उन्हें मुक्त कर दिया और प्रश्न किया—'तुमने नाई पर क्यों प्रहार किया?' नरोत्तमदासजी ने उत्तर दिया—'भइया, वह मुझे छुरा दिखा रहा था।' प्रसादजी ने कहा—

'अभी दूसरा नाई आ रहा है,. क्या तुम उसे भी मारोगे ?' उत्तर मिला—'नहीं।' क्षौर कर्म सम्पन्न हुआ.।

प्रसादजी ने प्रायः छ मास उन्हें अपने पास रखा और चिकित्सा होती रही। नरोत्तमदासजी पूर्ण स्वस्थ होकर कलकत्ता वापस आ गये।

× × ×

मधुर चाँदनी रातों की उज्ज्वल गाथा वाले श्री जयशंकर प्रसाद को अन्धेरे पाख का चाँचर बाँचने वाला समझने वालों की समझ पर तरस आती है। आज, उस गाथा को उनकी एकमात्र प्रणय-कथा को जिस पर उनके मन्द स्मिति की मुहर लगी है और जो कवि जीवन की पावन ऋचा है—वर्णित कर देना मेरा कर्त्तव्य है। परिवार के अन्तरंग वार्त्ताओं को मैंने कभी गम्भीरता से नहीं लिया किन्तु १९१४ में प्रतिसंस्कृत—'प्रेमपथिक' का इस वार्त्ता के सन्दर्भ में जब सावधानी से अध्ययन करने लगा तब कुछ तारतम्य का आभास मिला : और एक बार मैंने प्रसादजी से कहा— 'भइया, मैं प्रेमपथिक का रहस्य जानना चाहता हूँ। उसे पढ़कर मुझे शंका होती है।' प्रसादजी ने उत्तर दिया—'शंका का उदय तो मनुष्य के मन में होता ही है, ऐसा होना स्वाभाविक भी ही है।' मैंने कहा—'भइया, फिर शंका का समाधान भी तो होना चाहिए।' उन्होंने कहा—'कुछ ऐसी शंकायें भी होती है जिनका समाधान किया नही जाता, अपने आप होता है। प्रेमपथिक सम्बन्धी शंका का समाधान होगा, जब तुम उसे पढ़ोगे। उसका पढ़ना ही उसका समाधान है।'

मैंने कई प्रकार से घुमाफिरा कर प्रसादजी के मुंह से प्रेमपथिक के रचना-रहस्य को सुनने का प्रयास किया किन्तु उनसे कुछ भी जानने में असमर्थ रहा। उत्तर में उन्होंने कहा—'तुम बड़े जिद्दी हो।' मैंने कहा—'भइया, आप ही तो कहते हैं कि जिद्दी होना भी मनुष्य के अच्छे स्वभाव का लक्षण है इसलिए मेरा जिद्दी स्वभाव—' प्रसादजी इतना सुनकर हँस पड़े और बात वहीं समाप्त हो गयी।

कालान्तर में जब मैं फिर काशी गया तो मैंने फिर प्रेमपथिक का प्रसंग उठाया और मैंने उन्हें बताया—'प्रेमपथिक के रहस्य का उद्घाटन तो मैंने कर लिया।' 'कैसे ?' उन्होंने पूछा तो मैंने उत्तर दिया—'यह मैं कैसे कहूँ ?' यह सुनकर वे हँसने लगे और कहा—'मैंने कहा न कि तुम बड़े जिद्दी हो।'

जब कभी मैं प्रेमपथिक का पाठ करता हूँ तो कवि के भग्न हृदय की भावना मूर्त्त हो जाती है और उसकी प्रत्येक पंक्ति प्रेम-वेदना-सिक्त लगती है। उसके रहस्य से अवगत होने के कारण मैं संवेदना से अभिभूत हो जाता हूँ।

प्रसादजी का किशोरावस्था में एक अन्य स्वजातीय परिवार के घनिष्ठ सम्पर्क रहा और वे उस सगोत्रीय परिवार से बहुत हिलमिल गये। उस परिवार की एक किशोरी से उनकी घनिष्ठता थी और किशोरावस्था से युवावस्था में प्रवेश करते ही

यह परिचय एक हृदयग्राही प्रेम में परिणत हो गया ।' प्रसादजी का पर्याप्त समय इस आकर्षण के कारण उस परिवार में व्यतीत होता था । उन्होंने अपनी आदरणीया भाभी से परामर्श किया और उनसे यही उत्तर मिला कि तुम दोनों विवाह-सूत्र में बद्ध नहीं हो सकते क्योंकि रक्तगत अन्तर अभी सात पुरुषों का नहीं हुआ है । अतएव इस प्रेम की दुखान्त परिणति हो गई ।' कालान्तर में उस किशोरी का अन्यत्र विवाह हो गया, और—

रूखा शीशा जो टूटे तो सब कोई सुन पाता ।
कुचला जाना हृदय कुसुम का किसे सुनाई पड़ता है ॥—(प्रेमपथिक)

इस पंक्ति में उसी विरह की वेदना है । किन्तु, उस विवाह में वे निस्संग भाव से सम्मिलित रहे जो उनके अनुपम चारित्र्य का प्रमाण है ।

परिवार की परम्परा, अनुशासनबद्ध संयमी जीवन के कारण प्रसादजी वियोग का विष-पान कर गये । प्रेमपथिक में इस अनन्य प्रेम की झलक है—कसक है । प्रेमपथिक में बिद्ध-हृदय के इस चीत्कार के रहस्य को क्या कोई जानता है ? प्रेमपथिक में मर्माहत वेदना की वैसी अभिव्यक्ति है जिसे कोई सुन नही पाया, कोई देख न सका और वह महान आत्मा अपनी व्यथा किससे- किस प्रकार प्रकट करता, किससे सहानुभूति पाता ।

यह अन्तर्वेदना प्रसादजी के जीवन के साथ रही और साथ गयी ।

उनका जीवन एक खुली किताब जैसा था, किन्तु उसे पढ़ने की क्षमता चाहिए । लहर में संकलित आत्मकथा कविता वस्तुतः आत्मकथा ही है—सम्पूर्ण ! आज उसकी पंक्तियों के अर्थ बताऊँ तो अनेक लोगों का कोपभाजन बनूँगा । किन्तु, 'भूलें अपनी या प्रवंचना औरों की' पढ़कर वे प्रवंचक तो मन ही मन समझ गए थे । व्यास ने कहीं कहा है प्रसादजी 'डुप्लिकेट' थे : अवश्य थे किन्तु व्यास के अर्थ में नहीं प्रत्युत योगवासिष्ठ वाले अर्थ में—जहाँ उपदिष्ट हैं—

बहिः कृत्रिम संरंभहृदि संरंभ वर्जितः ।
कर्त्ता बहिरकर्त्तान्तिर्लोके विहर राघव ॥

और इस 'डुप्लिकेशन' तक पहुँचने में व्यास अनेक जन्मों के बाद भी सफल होंगे या नहीं सन्देह है ।

एक संन्यासी का समागम

एक संन्यासी के प्रति प्रसादजी की बड़ी श्रद्धा थी । संन्यासी प्रायः प्रसादजी के पास आते थे, क्यों आते थे, यह भी रहस्य ही रह गया । वह संन्यासी इटावा के थे, कठोर भाषी पूरे संन्यासी, रुक्ष और गम्भीर ।

घोर शीतकाल में प्रसादजी ने उस संन्यासी को एक मूल्यवान कम्बल दिया । लेकिन जब दूसरे दिन वह आये तो कम्बल न था—वह उसी प्रकार शीत से कष्ट

पा रहे थे। प्रश्न करने पर संन्यासी ने बताया कि एक शीतग्रस्त भिखारी को उन्होंने कम्बल दे दिया, उन्हें शीत नहीं लगती। स्वामीजी कभी-कभी कुछ विशिष्ट आहार ग्रहण करने की इच्छा प्रकट करते और प्रसादजी तुरन्त उसकी व्यवस्था करते—समय-असमय का विचार न करते। भोजन तैयार रहते हुए भी यदि स्वामी जी कहते कि 'मैं खिचड़ी खाऊँगा' तो फिर उनके लिये खिचड़ी बनायी जाती।

प्रसादजी को द्वितीय पत्नी से एक पुत्र हुआ वे ६ दिन बाद प्रसूति ज्वर में गत हो गईं। पुत्र जन्मोत्सव के मंगलाचार हो रहे थे कि वही स्वामीजी आ गए और बोले 'अभी तो मगन हो साव अब रुदन सुनोगे।' कुछ ही क्षणों बाद प्रसूति ज्वर ग्रस्त पत्नी ने ६ दिनों का शिशु छोड़कर शरीर त्याग दिया। और, उधर श्मशान में मुखाग्नि होते-होते शिशु भी चल बसा, तुरन्त उसके शव को लेकर रंजीत सिंह श्मशान पहुँचे। उसे देखकर प्रसादजी बोले 'माता को खोजते यहाँ तक पहुँचे जाओ गोद में सो जाओ।' और, शिशु का शव भी उसी चिता को समर्पित हो गया। कैसे-कैसे निर्मम आघात उस कवि ने झेले है और कभी आर्त्त नही हुए। कोमल कल्पनाओं के आश्रय उस कवि के हृदय की गंभीरता अनन्त रही।

× × ×

प्रसादजी दूलह मैं सहबाला

यद्यपि मैं विवाहिता था, पर 'प्रसाद' जी के तृतीय एवं अन्तिम विवाह (१९१८ ई०) में 'सहबाला' बनने का सौभाग्य मुझे ही मिला। रुद्रपुर (गोरखपुर) के एक सज्जन ने मेरे विवाह का प्रस्ताव किया, तो वे ठठाकर हँस पड़े और कहने लगे, 'क्या इसका पुनर्विवाह होगा!'

× × ×

हारमोनियम लाओ तो कविता सुनाऊँ

एक बार 'निरालाजी' प्रसादजी के यहाँ ठहरे थे। वे जब कभी काशी आते, तब प्रायः 'प्रसादजी' के यहाँ ही ठहरते थे। एक दिन मैंने 'प्रसाद'जी से कहा—'भैय्या, सुनता हूँ निरालाजी बहुत सुन्दर कविता पाठ करते हैं। कुछ इनसे सुनवाइये। प्रसादजी ने निरालाजी की ओर संकेत किया और कहा—'निरालाजी, आपकी कविता सुनने के लिए लोग उत्सुक हैं, कुछ सुना दीजिए।' निरालाजी ने झट उत्तर दिया—'हारमोनियम मंगाओ तो सुनाऊँ।' यह सुनकर प्रसादजी हँसने लगे और उन्होंने मुझसे कहा—'लो, यदि सुनना हो तो निरालाजी को हारमोनियम लादो।' मुहल्ले के एक सज्जन के यहाँ से हारमोनियम मँगाया गया और निरालाजी ने लगभग डेढ़ घंटे तक अपनी कविताएँ सुनाईं।

× × ×

तुम दोनों ही अच्छा पढ़ते हो

कभी कभी जब मैं काशी पहुँचता था विश्वम्भरनाथ जिज्जा भी वहाँ आ जाते थे। वे इलाहाबाद के लीडर प्रेस में काम करते थे, पर प्रसादजी से मिलने के लिए महीने में दो एक बार अवश्य ही आ जाया करते थे। प्रसादजी की उनके ऊपर बड़ी कृपा रहती थी।

एक बार मैं काशी में था और जिज्जाजी भी आ गये। जब प्रसादजी अपनी कोठरी में सुरती का मसाला मिलाने लगते हम लोग बाहर इधर उधर टहलते घूमते थे। मुझे आँसू की पंक्तियाँ याद थी, प्रायः उन्हीं को गाया करता था। जिज्जाजी भी आँसू की पंक्तियाँ बड़े मधुर स्वर में गाते थे। जिस समय हम लोग आँसू की पंक्तियाँ गुनगुनाते, प्रसादजी सुनकर विभोर हो जाते थे। कभी कभी तो एक ही छन्द कई बार सुनते थे।

मुझमें और जिज्जाजी में होड़ लग गई। पंक्तियाँ आँसू की थी। हम दोनों गा रहे थे। श्रोता प्रसादजी थे। मैंने कहा -'मैं अच्छा गाता हूँ।' पर जिज्जाजी मेरी इस चुनौती को मानने को तैयार न थे; उन्होंने कहा--'मै अच्छा गाता हूँ'। निपटारा के लिए हम दोनों ने प्रसादजी को निर्णायक मान लिया। हम दोनों उनके पास गये। एक छन्द का सस्वर पाठ हम लोगों ने उन्हे सुनाया और निर्णय की प्रतीक्षा करने लगे—थोड़ी देर बाद निर्णय देते हुये प्रसादजी ने कहा—

'तुम दोनों ही अच्छा पढ़ते हो'

× × ×

अशिष्टता के विरुद्ध रोष

काशी मे मैं जितने दिन रहता था, प्रसादजी मुझे अपने साथ लेकर ही निकलते थे। एक दिन उन्हे अपने किसी मित्र के यहा जाना था। मित्र महोदय काशी के एक जाने-माने रईस थे। उन्होंने एक नई कार खरीदी थी। 'प्रसाद' जी ने अपने मित्र महोदय से जितनी देर तक बाते की, कार की प्रशंसा का प्रसंग ही प्रधान था। अन्त में वहां से 'प्रसाद'जी ने कही अन्यत्र जाने का कार्यक्रम बनाया। उनके मित्र महोदय ने कहा—'चलिए मैं अपनी गाड़ी से आपको पहुंचा देता हूं'। इतना कहकर वे स्वयं गाड़ी के पास आये और उसमें बैठ गये। गाड़ी के भीतर से उन्होंने हाथ से हम लोगों को भी बैठ जाने का संकेत किया। उनका यह आचरण मुझे अच्छा न लगा और मैंने धीरे से प्रसादजी से कहा—'भैया, मैं तो गाड़ी में न बैठूंगा'। उन्होंने कहा--'ऐसा क्यों ?' मैंने कहा—'फिर बताऊंगा'। मेरे इस निर्णय को सुनकर प्रसादजी ने अपने मित्र महोदय से कहा—'आप जाइये, इस समय मैं न जा सकूंगा। कुछ आवश्यक कार्य आ गया है'। घर आकर प्रसादजी ने मुझसे पूछा—'तुमने गाड़ी में बैठने से क्यों नाही की ?' मैंने कहा—'भैया, आपके मित्र को शिष्टाचार मालूम

नहीं है। वे पहले स्वयं ही गाड़ी में बैठ गये, फिर उन्होंने हम लोगों को भीतर बैठने के लिए संकेत किया यह शिष्टाचार नहीं है ! उन्हें, हम लोगों को बैठाकर स्वयं बैठना चाहिए था।' प्रसादजी ने कहा—'क्या कलकत्ते में लोग ऐसा ही करते हैं ?' मैंने कहा—'कलकत्ता ही क्या हर जगह का यही शिष्टाचार है'। मेरे इस विचार से प्रसादजी बड़े प्रभावित हुए।

प्रसादजी से मेरी एक झड़प

अपने जीवन के अन्तिम चार वर्षों में उन्होंने एक व्यक्ति (गंगाराम नाई) को अपने कचहरी के कारपरदाज़ और गृह संपत्ति के प्रबन्धक के रूप में रख लिया था। यद्यपि वह व्यक्ति निम्न श्रेणी का था पर था बड़ा ही चालाक और वाक्‌पटु। वह प्रसादजी का बड़ा ही मुंहलगू हो गया था। कचहरी में मामले-मुकदमें का तथा मकानों की किराया वसूली का काम वही करता था। 'प्रसाद'जी के सम्मुख उसकी धृष्टता भरी बड़ी-बड़ी बातें और अविनम्र आचरण मुझे अच्छा नहीं लगता था। पर उसने प्रसादजी को मानो वशीभूत कर लिया था।

एक दिन मुझसे नही रहा गया। मैंने प्रसादजी से कहा—'भैया, इस व्यक्ति को आपने सिर पर चढ़ा लिया है, यह अच्छा नहीं लगता। यह तो अपने को आपसे तनिक भी कम नहीं समझता और आपके मुंह लगा रहता है। इसका प्रभाव दूसरों पर भी अच्छा नहीं पड़ेगा। मेरी ये बातें 'प्रसाद'जी को अच्छी न लगीं और उन्होंने कुछ क्रोध में आकर कहा--'तो मैं क्या करूं, कचहरी का काम स्वयं करूं किराया स्वयं वसूल करूं ?' उसमें कुछ गुण भी तो है, तुम लोगों को तो दोष ही दिखाई पड़ता है।' मैंने कहा—'भैया, आप जो चाहे करें मैने तो अपना एक विचार मात्र व्यक्त किया क्योंकि मुझे इसका परिणाम शुभ नहीं जान पड़ता। काशी में बहुत से लोग आपको मिल सकते हैं, जो आपका कारबार संभाल सकें और देख सकें। पर यह व्यक्ति निश्चय ही अच्छा नहीं है। आप में और इसमें आकाश-पाताल का अन्तर है। आपके सामने बराबरी के साथ इसकी बातें शोभा नहीं देती।' मेरी इन बातों को सुनकर प्रसादजी कुछ मौन-से हो गये और फिर कहने लगे—'तुम्हें मेरी विवशताओं पर भी तो कुछ ध्यान रखना चाहिए'। इतना सुनकर मैं भी चुप हो गया।

अहरौरा-यात्रा

बात सन् १९२८ या २९ की है। उस समय मैं कुछ दिनों के लिए काशी में ही था। अहरौरा में एक सम्बन्धी के यहां विवाहोत्सव था। उसमें मैं भी आमंत्रित था। प्रसादजी भी आमन्त्रित थे। हम लोगों ने सराय गोवर्द्धन से साथ ही अहरौरा के लिए प्रस्थान किया। हम लोगों के साथ बचनू महराज, कवि महिदेव पण्डित और लंबोदर वैद्य भी थे। हम पांचों आदमी कैण्ट स्टेशन आये। वहीं हम लोग गाड़ी में

सवार हुए। जब गाड़ी राजघाट स्टेशन पर आकर रुकी तो हमारे कम्पार्टमेंट के दरवाजे के सामने एक देहाती आ पहुंचा, उसके हाथ में एक बड़ी लाठी थी। दरवाजा बन्द था, उसने दरवाजा खोलने के लिए कहा, पर दरवाजे पर बैठे हुए बचनू महराज और महिदेव पण्डित ने दरवाजा नहीं खोला। उन दोनों ने भीतर से दरवाजे में अपने पांव टेक लिए जिससे दरवाजा किसी प्रकार खुल न सके। देहाती बड़ा मुसचण्ड था। उसने चिल्लाकर कहा—'सरऊ दरवज्जा खोलबऽ कि तोड़ देईऽ'। यह सुनकर प्रसादजी हंसने लगे और बचनू महाराज को दरवाजा खोल देने के लिए इशारा किया, लेकिन महिदेव पण्डित ने दरवाजा नहीं खोला। उन्होंने कहा—'भइया, इ सरवा गारी, देहले हो, दरवाजा न खोलब'। इसी बीच गाड़ी खुल गई; पर वह देहाती बाहर से दरवाजा पकड़ कर लटक गया। जब गाड़ी पुल पर पहुंची तो भीतर से महिदेव पण्डित ने उस देहाती को सम्बोधित करते हुए कहा—'का हो सरऊ अब तोहें, इहैं से ढकेल देईं तऽ कहां जइबऽ'। देहाती चुप था। मुगलसराय के निकट गाड़ी की गति मन्द होने लगी। अब बचनू महराज ने महिदेव पण्डित को सम्बोधित करते हुए कहा—'का हो गुरु, अब का होई, मुगलसराय में गाड़ी रुकी, और एकरे हाथे मे लाठी हो'। महिदेव पण्डित चुप थे। गाड़ी रुकी और उन्होंने उस देहाती से कहा—'भय्या, बुरा मत मनिहा, भीतर चल आवा, इ तो हंसी-मजाक रहल है'। पर देहाती कुछ बोला नही। गाड़ी से उतरा और चुपचाप चला गया।

हम लोग अहरौरा पहुंचे। दूसरे दिन हम लोगों ने वहां के पहाड़ी स्थानों में घूमने और वन-भोज का निश्चय किया। एक पहाड़ पर पहुंच कर हम लोगों ने भोजन बनाने की व्यवस्था की। भोजन बनाने का काम प्रसादजी ने स्वयं अपने हाथ में लिया। गोहरा के दो अहरे दग गये। भात और दाल की दो हंड़ियां चढ़ गईं। प्रसादजी चावल-दाल छोड़ रहे थे। धुएं से उनका चेहरा लाल हो उठा। मैंने कहा—'भइया, आज का भोजन तो हम लोगों को बड़ा मँहगा पड़ेगा, आपको बहुत कष्ट हो रहा है।' यह सुनकर वे हँसने लगे और उन्होंने कहा—'कष्ट कुछ नहीं है, अभी धुआँ समाप्त हो जाता है।' प्रसादजी के हाथ से बनी अरहर की उस दाल में जैसा स्वाद मुझे मिला। आज तक वह मुझे नही भूलता।

अहरौरा से बारात चंदौली जाने वाली थी, जिसमें प्रसादजी तो आमंत्रित थे ही, मैं भी आमंत्रित था। उसमें नाच का प्रबन्ध प्रसादजी के द्वारा ही हुआ था। काशी की एक सुप्रसिद्ध नर्तकी के नृत्य और गान का आयोजन था। हम दोनों बारात में सम्मिलित हुये। दूसरे दिन जनवासा था। उसमें प्रसादजी आगे की पंक्ति में बैठ गये और मुझे भी उन्होंने अपनी बगल में बैठा लिया।

नाच आरम्भ हुआ। नर्तकी नाचते-नाचते प्रसादजी के सामने आकर ठहर

जाती। दो-एक बार ऐसा होने पर प्रसादजी ने अपनी जेब से ५ रु० निकाल मेरे हाथ में धीरे से रख दिया। उनका संकेत रुपयों को नर्तकी के हाथ में देने का था। पर वे स्वयं नहीं देना चाहते थे। मेरे हाथ से दिलाना चाहते थे। मैंने रुपया अपनी जेब में रख लिया। यह देखकर उन्होंने मुझे फिर देने के लिए संकेत किया। पर मैंने रुपये नहीं दिये। मैंने उनसे कहा यह रुपये मैं किसी गरीब को दे दूंगा। यहाँ देने से क्या लाभ ? यह सुनकर वे मुस्कुरा उठे; फिर बोले पैसे के लिए जो यह वृत्ति स्वीकार कर ले वह क्या अमीर है ?

× × ×

अहरौरा के प्रसंग मे बता देना है कि वहाँ प्रसादजी के पितामह श्री शिवरतन साहु की बहन ब्याही थी और दोनों कुलो मे केवल रिश्तेदारी ही नहीं परस्पर अति घनिष्ट सम्पर्क भी था अहरौरा के बच्चे काशी आकर रहते और उनकी शिक्षा होती अखाड़े में उन्हें ज़ोर कराया जाता यह नही लगता था कि दो परिवार है। व्यवसाय की दृष्टि अहरौरा बहुत उन्नत रहा। वहाँ इसीलिए तीन वृहत आढ़त स्वरूप गोले थे एक हम लोगों के सम्बन्धियो का साहु बेचूलाल कन्हैयालाल का सर्वाधिक प्रशंसित इसलिए था कि जिन बैपारियों के माल का खरीदार नही जुटता था उसे गद्दी स्वयं खरीदकर बैपारी को नगद दाम देती थी, यह व्यवस्था अन्य दो गोलो मे नहीं थी या थी भी तो बैपारियों को दबकर बाजार दर से कम मिलता था इस कारण से अधिकांश बैपारी इसी गोले में आते थे। मुझे साहु कन्हैयालाल की वह गद्दी प्रसादजी ने दिखाई थी जो गोला के प्राय: मध्य मे एक ऊँचे चबूतरे के रूप मे थी। वस्तुत यह एक पत्थर या ईट से बना सन्दूक जैसा था जिसमे चार लाख रुपए सदा भुगतान के निमित्त रहते थे गद्दी की साख प्रचण्ड थी एक छोटे से पुर्जे पर कानपुर कलकत्ता की मण्डी से दस पाँच लाख का माल आ जाता था। लाह की भी लेवा बड़ी होती थी जब लाह का काम बढ़ा तब मिर्जापुर मे भी एक गद्दी खुली। अहरौरा से दक्षिण उसी व्यापारी मार्ग पर स्थित पिंडरा में भी उसी परिवार की एक शाखा ने आढ़त खोली और खूब चली। किन्तु, लक्ष्मी को जब जाना होता है तब सौ चरणो मे जाती है। साहु कन्हैयालाल के बाद अवनति का क्रम चला। लाह के काम मे भारी घाटा लगा मिरजापुर का काम मुख्यतः साहु सरजू प्रसाद के जिम्मे था वे रिश्ते मे हम लोगों के भाई लगते थे। कारबार के सिलसिले में कलकत्ता आने पर स्वाभाविक था कि हमारे यहाँ रहते— किन्तु भाग्य ने उनका साथ कभी नही दिया, क्या करते परिवार के लोग भी ऐसी दशा में जैसा कि होता है सरजू भैया को कदर्थित करने लगे। प्रसादजी उनको बड़े भाई के समान मानते थे। कर्ज बहुत बढ़ गया था और उन्हें त्रस्त देखकर परिवार के अन्य पक्षों को काशी बुलाया, सरजू भैया तो वहां पहले से ही थे। कई दिनों तक केवल बातें चली निष्कर्ष कुछ नहीं; इस पर सब लोगों ने प्रसादजी से कहा आप जो फैसला करेंगे हमें

मान्य होगा। इस पर प्रसादजी ने अपने हाथों से फैसला लिखा जिसकी प्रतिलिपियाँ करके सभी पक्ष ले गए मूल पंचायतनामा जो प्रसादजी के हाथों का लिखा और पक्षों द्वारा हस्ताक्षरित है—प्रसाद मन्दिर में वह अभी भी सुरक्षित है। यह घटना टोडरमल परिवार के सन्दर्भ में तुलसीदासजी के फैसले की याद दिलाती है। यह अभिलेख अब एक साहित्यिक दस्तावेज है। उसकी प्रतिलिपि प्रसाद मन्दिर से मँगवा कर नीचे दे रहा हूँ—

"हम लोग आपस में बराबर सलाह करके काम को चलाने के लिये और उपस्थित कठिनाइयों को दूर करने के लिये—महाजन का रुपया अदा करने के लिए नीचे लिखे हुए नियमों के पाबन्द होते है।

१—गोला का किराया और परजवट का काम बाबू सरजू प्रसाद के सुपुर्द होता है वह उसे उतार कर कोठी में जमा करावें और उसमें से बराबर का दो हिस्सा होगा जिसे कोठी दोनों आदमियों को अपना रोजमर्रा का खर्च चलाने के लिए दे देगी।

२—आढ़त, खोंची, कौड़ी, नजराना, का काम शारदा प्रसाद को सुपुर्द रहेगा उसका इन्तजाम वह करेंगे और कोठी में जमा करेंगे—जिसकी आमदनी कुल कोठी का जरूरी खर्च देकर और गृहस्थी के नैमित्तिक कामों को चलकार महाजन के पास जायगी। उसमें और कोई अपना स्वार्थ नहीं कर सकता।

३—महावीरी का खेत बगैचा से शिवाला और पोखरा वगैरह का खर्च चलेगा। आमदनी कोठी में जमा होगी। और वही से दिया जायगा।

४—मकान मरम्मत और करनी व गृहस्थी के कार्यों को कोठी की आमदनी से चलाया जायगा। इनकम टैक्स—मालगुजारी वगैरह भी कोठी देगी।

५—महावीरी का खेत और बगैचा तथा रहने का मकान कारखाने का व गोला और पास की जमीन परजवटकी व बाग छोड़कर सब बकीया जमीनों को बेचकर महाजन को अदा करने का प्रबंध सब लोग फौरन करेंगे इसमें सुस्ती न होगी।

६—कोई बात नई करने के पहले आपस में कमेटी करके राय कायम कर लेंगे ताकि फिर कोई झंझट न पैदा हो।

७—और हर एक महाजनों को सन्तोष देकर फौरन उनके रूपए को अदा करने का प्रबन्ध करेंगे। और ऐसा फेल हरगिज न करेंगे कि हम में नया बखेड़ा हो या जायदाद पर कोई नया बोझ बढ़े।

८—पिंडरा की आमदनी भी साफ-साफ दिखलाई जायगी और सब महाजनों को दी जायगी कोई शख्स अपने निजी खर्च का उसमें से न कर सकेगा। दुकान का खर्च उसी में से होगा जो कि बाबू शम्भू प्रसाद करेंगे।"

९—बदरी प्रसाद को ८ रु० महीना कोठी देगी और वह अपना निजी खर्च उसमें करें।

१०—कोठी के काम अलावे जो कोई कर्ज वा फेल करेगा वह उसका जाती जिम्मेदार होगा। ईस्टेट से कोई ताल्लुक न होगा।"

सरजू प्रसाद बा० खुद
शारदा प्रसाद

× × ×

प्रयाग यात्रा

प्रयाग-कुम्भ का अवसर था। मैं कलकत्ते से अपनी माँ, नानी और अग्रज के साथ कुछ पहले ही इलाहाबाद पहुँच गया। लगभग एक सप्ताह प्रयाग में रहने के बाद मैं काशी चला आया, पर मेरे साथ के अन्य सदस्य प्रयाग में ही रहे। अभी कुम्भ में दस-पन्द्रह दिनों की देर थी। काशी में मुझे खाली हाथ देखते ही—प्रसादजी बोल उठे, 'तुम, अभी कहाँ से आ रहे हो, सामान कहाँ है'--मैंने कहा—'भइया, मैं अभी प्रयाग से आ रहा हूँ, वहाँ मैं कई दिनों से हूँ, साथ माताजी, नानीजी और बड़े भाई साहब भी हैं सब लोग कुम्भ स्नान करने आये हैं।' मेरे इस उत्तर को सुनकर उन्होंने बड़ी गम्भीर मुद्रा में कहा--'अच्छा, आप लोग कुम्भ नहाने चले हैं।'

इसके बाद मैं बड़ी भाभी के दर्शन हेतु ऊपर चला गया। कुशल क्षेम के पश्चात मैंने बड़ी भाभी से कहा -'भाभी, कुम्भ का अवसर है, फिर जीवन में आयेगा या नहीं। चलकर स्नान कर आइये। वहाँ मेरी माँ, नानी और बड़े भाई साहब भी आये हैं। उन्होंने कहा -'कइसे चली मकुन्दीलाल—का उहो चलिहै' उनका संकेत प्रसादजी की ओर था। मैंने कहा—'भाभी मैंने तो उनसे इस सम्बन्ध में चर्चा नहीं की। कहो, तो पूछ लूं।

रात में जब हम लोग भोजन पर बैठे। प्रयाग यात्रा का प्रसंग उठा। मैंने कहा -'भइया, चलिए कुम्भ स्नान कर आइये'। बड़े गम्भीर स्वर में उन्होंने कहा—'अच्छा, बात हो चुकी है, तो फिर मैं चलूंगा। तुम मेरे चलने की क्या व्यवस्था करोगे। मैंने कहा—'आप चलना स्वीकार कीजिए। सारी व्यवस्थायें हो जायेंगी, उसकी जिम्मेदारी मेरी है। उन्होंने कहा—'तुम मेरे लिए एक स्टेशन वैगन ठीक कर दो, मैं रेल से यात्रा नही करूंगा'। मैने एक पंजाबी की स्टेशन वैगन ठीक कर दी और प्रयाग चला गया। निश्चित तिथि पर प्रसादजी पूरे परिवार के साथ प्रयाग पहुंच गये। उन्हें लेने के लिए मैं इलाहाबाद चौक में पहले से खड़ा था। मुझे देखते ही उन्होंने कहा—'मैं आ गया' मैंने कहा- 'हां—आप आ गये, मैं भी देख रहा हूँ'।

छोटी भाभी के पांव में जूते नही थे, यह बात मुझे खटकी। क्योंकि मेरे परिवार के सभी लोगों के पांव में जूते थे। एक दिन हम इलाहाबाद चौक में घूम रहे थे। हम लोग एक गाड़ी में थे। सामने एक जूते की दूकान दिखाई पड़ी। मैंने बगल में

बैठे 'प्रसादजी की ओर संकेत किया, कि यहां उतर कर भाभीजी को जूते खरीद लिये जाये। उन्होंने मुझसे कहा—' यह प्रस्ताव तुम्हीं करो, मैं नहीं करूंगा और मेरे कहने से शायद वे पहिनेगी भी नहीं तीर्थ करने आई हैं न—बड़ी जिद्दी है।' मैंने बहाने से गाड़ी वहीं रोक दी और सबको लेकर जूते की दूकान में प्रवेश किया। वहां बड़ी आरजू मिन्नत के बाद भाभीजी ने जूते पहिने, फिर भी जूते वाले को उन्होंने अपना पैर नहीं छूने दिया, अपने हाथ से लेकर पहिना।

× × ×

जिस दिन कुंभ-स्नान के लिए हम सब लोग त्रिवेणी संगम जाने के लिए तैयार हुए, प्रसादजी ने कहा, 'तुम लोग जाकर स्नान कर आओ मैं नहीं जाऊँगा' मैंने कहा—'यह क्यों ?' उन्होंने कहा—'इस भीड़ में मैं नहीं जाऊँगा, मैं यहीं से गंगा-यमुना को नमस्कार कर लूंगा।' मैंने बहुत कहा पर वे नहीं ही गये। और वहीं डेरे में पड़े रहे।

जिस मकान में हम लोग वहां ठहरे थे, वह एक जैतली महोदय का था। उनका नाम था—श्री मुरलीधर जैतली। मकान काफी बड़ा था,[1] प्रसादजी मेरे इस आवास प्रबन्ध से बड़े सन्तुष्ट थे।

× × ×

प्रसादजी का त्याग

प्रसादजी में अद्‌भुत त्याग था। इसका परिचय उनके जीवन का एक घटना में मिल जाता है। प्रसादजी अपने ननिहाल से कुछ क्षुब्ध और विरक्त रहते थे। कारण क्या था, मैं नहीं बता सकता। उनके ननिहाल में मामा-मामी के अतिरिक्त और कोई नहीं था। उनके ६ किता संगीन मकान रानी कुंआ में थे और वे लोग वहीं रहते थे। मामा ने अपने जीवन के अन्तिम समय में न जाने कितनी बार प्रसादजी को बुलवाया, पर वे कभी भी उनसे मिलने नहीं गये। अन्त में वे मर गये, फिर भी प्रसादजी वहाँ नहीं गये। मामा के देहावसान के कुछ ही दिनों बाद उनकी मामी भी बीमार पड़ी। उन दिनों मैं काशी में ही था। मेरे सामने उनकी मामी के कई बुलावे आये, पर वे मामी से भी मिलने न गये। मैंने उनसे कहा—'भैय्या, क्या बात है, मामी बीमार हैं, वे आपसे मिलना चाहती हैं, आप क्यों नहीं उनसे मिल लेते ?' यह सुनकर वे मेरे ऊपर बिगड़ गये और बोले—'तुम नहीं जानते, उनके पास ६ किता संगीन मकान हैं एक बड़ा सा बाग है—सारंग पर और कुछ पैसे हैं, वहीं देने के लिए वे मुझे बुलाती हैं और मैं उनकी सम्पत्ति लेना नहीं चाहता।' इसीलिये मैं वहाँ जाना नहीं चाहता और जाऊँगा भी नहीं।' यह सुनकर मैं चुप हो गया।

१. लोकनाथ महादेव के पास मुहल्ला खुशहाल पर्वत में यह मकान था। (सं०)

इसी बीच शिवशिव (बा० अम्बिका प्रसादजी) अपनी मां के साथ वहाँ आये। उन्होंने मुझसे धीरे से कहा—'भैय्या, यदि ये मामी की सम्पत्ति नहीं लेना चाहते, इनके पास बहुत है तो मुझे ही दिला दीजिए।' पर मैंने इसका कोई उत्तर उन्हें नहीं दिया। बात वहीं समाप्त हो गई।

सन् १९०७ में अग्रज के देहावसान के बाद प्रसादजी गुरुतर ऋण भार से दबे थे। लगभग ६–७ मास पर्यन्त सोच विचार करने के बाद बरदह वकेस का इलाका और चौक का एक मकान बेचकर उन्होंने अपने आपको ऋण मुक्त किया। ऋण का भार उनके लिए असह्य था उन्होने जीवन में ऋण कभी नहीं लिया क्लेश उठाकर भी वे इससे विरत रहे—अन्त तक ऐसी परिस्थिति के प्रति वे सजग रहे कभी न तो ऋण लिया न वंश की प्राचीन निधि को छुआ उनके पूर्व पुरुषों के उन्मुक्त दान की कथा विख्यात थी। प्रसादजी ने बताया था कि खानदानी बटवारे के पहले तक एक करोड़ रुपयों का दान हमारे यहाँ हो चुका था—मुझे विस्मित देख उन्होंने एक पुरानी बही निकलवाई और वह टोटल दिखाया जिसमे अन्तिम टोटल एक करोड़ कुछ हजार रुपए की रही—ऐसे ही नही किसी वंश में प्रसाद जैसा महापुरुष जन्म लेता है।

प्रसादजी ने चौधुराने का पद कैसे छोड़ा

प्रायः जब मैं काशी जाता था, 'प्रसाद'जी को कुछ स्वजातीय बन्धुओं द्वारा घिरा पाता। वे विरादरी सम्बन्धी कोई न कोई राग-रामायण लेकर 'प्रसाद'जी को घेरे रहते और चार-चार छः छः घंटे उनसे विरादराने की ऊल-जलूल बाते किया करते। उनका यह रवैया मुझे इसलिए बुरा लगता कि 'प्रसाद'जी के महत्व और उनके समय का मूल्य उनके लिए कुछ नही था। मुझे बराबर यह बात खटकती रहती, अन्त में एक दिन मुझसे नही रहा गया तो मैं उनसे पूछ बैठा—'भइया, ये हलवाई जो आपको घेरे रहते है, क्या इन्हें कोई काम नही है? उन्होंने कहा, 'काम क्यों नही है, अभी लगन का समय नही है, इसलिए खाली है, विरादरी की कोई समस्या लेकर आ जाते है। एक दिन एक हलवाई विरादरी वाले ने चौधुरी 'प्रसाद' जी के सम्मुख विरादरी की एक ऐसी समस्या प्रस्तुत की जिसे सुनकर मुझे बड़ा क्लेश हुआ और मैंने यह तय किया कि निश्चय ही चौधुराने का यह काम प्रसादजी के लायक नहीं है। जब तक ये इसमें रहेगे तब तक वे वह काम नही कर सकेंगे जिसके लिए अपनी असामान्य प्रतिभा लेकर ये आये हैं। ये क्षुद्र और तुच्छ बुद्धि विरादरी वाले इनके महत्व को क्या जाने। उसी समय महात्मा गान्धी ने अछूतोद्धार की समस्या को लेकर उपवास किया और उसमें उन्हें सफलता मिल चुकी थी। मैंने अपने मन में निश्चय किया कि यदि मैं अपने पवित्र मन से 'प्रसाद' को उनके

चौधुरी पद से हटाने का प्रयत्न अपने उपवास-व्रत के द्वारा करूं तो सफलता अवश्य मिलेगी अब मैं इसके लिए कृत संकल्प हो गया।

सबेरा हुआ, हम लोग (मैं और प्रसादजी) कारखाने में टहल रहे थे। एकाएक मेरे मुख से निकल पड़ा —'भइया, आप तो पूरे हलवाई हैं' उन्होंने कहा—'हाँ, मैं तो हलवाई हूँ ही, इसमें क्या सन्देह—क्यों क्या बात है ? मैंने कहा—'अन्तर, इतना ही है कि हम लोग, मीठे का पाग लेते हैं, चीनी का चासनी लेते हैं, आप तम्बाकू की, यह सुनकर वे मुस्कुरा उठे। बात वहीं समाप्त हो गई पर मुझे अपने उपवास व्रत का ध्यान बराबर बना रहा।

दूसरे दिन हम दोनों गंगा स्नान कर लगभग ११ बजे लौटे। वे तो ऊपर चले गये और मैं नीचे की बैठक में जा बैठा। थोड़ी देर बाद ऊपर से भोजन करने की बुलाहट हुई। मैंने भोजन करने मे नाही कर दी। मेरे इस उत्तर ने प्रसादजी को आश्चर्य में डाल दिया और वे स्वयं नीचे आये और मेरे भोजन न करने का उन्होंने कारण पूछा—मैंने कहा 'भइया, इस घर में मैंने आमरण उपवास का व्रत लिया है और वह भी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न लेकर'। उन्होंने कहा—'वह कौन सा महत्वपूर्ण प्रश्न है' मैंने कहा 'जब तक आप चौधुरीपद से त्याग पत्र नही देंगे, मैं अपना उपवास नहीं तोड़ूँगा।' उन्होंने कहा -यह कैसे होगा—यह तो मेरा पैतृक अधिकार है, इसे मैं कैसे छोढ सकता हूँ' अन्त में यह समाचार बड़ी भाभी के पास पहुँचा और वे भी नीचे आई और उन्होंने कहा--'मकुन्दीलाल तू ई सब का करत हउआ, ई कैसे होई ? इहै करै बदे तू इहाँ आयल हउवा' मैंने उनसे कहा—'भाभी, आप इसमें मध्यस्थता न करे, मैं अपने संकल्प पर दृढ़ हूँ। इस प्रकार दिन के तीन बज गये। भोजन किसी ने नही किया प्रसादजी मेरे पास आये, बड़ी गम्भीर मुद्रा में उन्होंने कहा —'अच्छा तुम त्यागपत्र लिखो मैं उस पर हस्ताक्षर कर दूंगा। मैंने कहा —'आप स्वयं लिखें, आपकी भावनाओ को मैं कैसे व्यक्त करूंगा। या आप बोले तो मैं लिखूं'। अन्त में उन्होने बोलना आरम्भ किया और मैं लिखता गया। पूरे एक पृष्ठ में उनकी इबारत समाप्त हुई। नीचे थोड़ा सा स्थान बच गया था, उन्होंने अपना हस्ताक्षर किया। फिर क्या था मेरी विजय हुई और मैंने घोषित किया कि—'मेरा उपवास ब्रत टूट गया'। मै उस त्यागपत्र को लेकर बाहर निकला और 'प्रसाद' जी से मैंने कहा आप चलकर भोजन करें, मैं तुरन्त आता हूँ। मैं 'इन्दु' के सम्पादक बाबू अम्बिका प्रसादजी के पास मै पहुँचा। 'हलवाई वैश्य संरक्षक' नाम का पत्र दूसरे ही दिन निकलने वाला था। वे उसके भी सम्पादक थे। मैंने उनके हाथ में पत्र देकर कहा—शिव शिव ! यह पत्र कल निकल जाना चाहिए। पत्र को पढ़कर उनकी त्यौरी चढ़ गई। उन्होंने कहा—'यह मेरे नाना का पैतृक अधिकार है, इसे छोड़ने का अधिकार उन्हें नही है और मै इसे अपने पत्र में छापूंगा भी नही। अन्त

मे पत्र के साथ वे प्रसादजी के पास आये और उन्होने इसका निराकरण किया। प्रसादजी की अनुमति पाकर वे खिन्न मन लौट गये और दूसरे दिन पत्र छपा देखा गया उसी दिन शाम की गाडी से मै कलकत्ते आ गया ।

× × ×

कई मास बाद 'प्रसाद' जी का पत्र मुझे कलकत्ते मे मिला। उन्होने लिखा था—'यदि तुम दो-चार दिन के लिए काशी आ जाओ तो बडा अच्छा हो'। मैं उसी दिन शाम की गाड़ी से काशी के लिए रवाना हो गया। काशी पहुँचने पर 'प्रसादजी' इस बार मुझसे बडी प्रसन्न मुद्रा मे मिले। उन्होने कहा—'मुकुन्दीलाल, तुमने मुझसे चौधुराने का पद छुडवा कर मेरा बडा उपकार किया। अब मेरे पास कोई नही आता, मुझे पर्याप्त समय मिल गया। देखो, मैने एक महाकाव्य की रचना का आरम्भ किया है।

रात मे ऊपर वाले बडे कमरे मे हम दोनो का विस्तर लगा। सर्दी का दिन था—वे कम्बल ओढ़कर पड गये, और कामायनी की पाण्डुलिपि मेरे हाथ मे देकर उन्होने कहा—'इसे धारा प्रवाह पढो, 'जब मेरी समझ मे कुछ नही आता और मै कुछ पूछता तो वे डाट बैठते तो बराबर पढते रहने के लिए कहते। यही क्रम कई दिनो तक लगा रहा। रात को दो या तीन बज जाते। फिर दूसरे दिन वे तो अपने समय पर ही उठ जाते पर मुझे कुछ विलम्ब हो जाता था।

व्यापार और परिवार

एक बार प्रसादजी ने मुझे काशी पहुँचने के लिए लिखा। उनका पत्र मिलने के दूसरे दिन ही मैने भी काशी के लिए प्रस्थान कर दिया। मेरे काशी पहुँचने पर प्रसादजी' ने दो दिनो तक मुझसे कोई बात न की जिसके लिए उन्होने मुझे बुलाया था। अन्त मे मुझे ही पूछना पडा 'भैय्या आपने मुझे किस लिये बुलाया है? कुछ बताया नही। उन्होने कहा 'बताऊँगा अभी ठहरो'। मैने फिर पूछा- 'तो मुझे कब तक यहाँ ठहरना होगा'। उन्होने कहा 'जब तक मै जाने के लिए न कहूँ'। उस समय उनका चेहरा कुछ तमतमा-सा गया। मै भी चुप हो गया।

दूसरे दिन हम दोनो बैठे थे। कुछ इधर-उधर की बाते चल रही थी। उस समय प्रसादजी कुछ भावुक से और प्रसन्न मुद्रा मे प्रतीत हो रहे थे। अचानक उन्होंने मुझसे कहा—'तुम शिवालय के सामने वाली जमीन ले लो और मकान बना लो। अपना परिवार भी यही रखो'। मैने उनसे पूछा 'भैय्या, ऐसा करने से आपका और मेरा क्या लाभ है?' उन्होने कहा-'इसमे तुम्हारा चाहे कोई लाभ न हो, पर मेरा बहुत लाभ होगा उसे अभी न बताऊँगा।' बात के ही क्रम मे उन्होने मुझसे फिर कहा—'जानते हो इस समय मेरे पास एक पैसा नही है'। यह सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ और मैने फिर पूछा—'भैय्या, कैश किसके हाथ मे रहता है?' उन्होंने कहा—

'भाभी के'। मैंने फिर कहा—'व्यापार का काम तो आप करते हैं, फिर कैश उनके हाथ में रहने का क्या मतलब है'। उन्होंने कहा—'उनके मन में यह बात बराबर बनी रहती है कि मैं आधे की हिस्सेदार हूँ' और इसी बात को ध्यान में रखकर उन्होंने अपने भतीजे उमा प्रसाद को यहाँ रख लिया है। वे ही दूकान से कैश लाते हैं और भाभी के हाथ में दे देते हैं। उनका परिवार भी यहीं रहता है।' यह सुनकर मैंने उनसे कहा 'तो भैय्या, इस तरह आपके पास सचमुच एक पैसा नहीं, रह सकता। जब आपके पास पैसे ही नहीं हैं, तो व्यापार में लेन-देन का काम आप कैसे कर सकेंगे। व्यापार में तो लेन-देन के लिए पैसे की आवश्यकता हर समय बनी रहती है।'

एक दिन जब मैंने देखा कि प्रसादजी अपनी प्रसन्न मुद्रा में हैं। मैंने उनसे कहा—'भैय्या, यदि आप मुझे क्षमा करें और आज्ञा दें तो मैं आपसे एक अनुरोध करूँ। क्षमा इसलिए चाहता हूँ कि जो बात मैं कहना चाहता हूँ, उसका सम्बन्ध आपके परिवार से है।' यह सुनते ही वे बोल उठे --'तो फिर क्या तुम अपने को मेरे परिवार का व्यक्ति नही समझते? कहो, क्या कहना चाहते हो।' मैंने बड़ी विनम्रता से कहा —'भैय्या कैश आप अपने हाथ में रखिये। भाभी यदि अपने को आधे का हिस्सेदार समझती हैं तो उमाप्रसाद के द्वारा उन्हें हिसाब समझा दिया कीजिए। उमाप्रसाद को भी रखिये क्योंकि भाभी के आधे हिस्से की सूचना उन्हें बराबर मिलती रहे। मेरी यह बात सुनकर वे आधे घंटे तक मौन होकर कुछ सोचते रहे। फिर उन्होंने कहा—'तुम ठीक कहते हो, कल से मैं ऐसा ही करूँगा।' इसके बाद दूसरे दिन मैं कलकत्ता चला आया।

लगभग छः महीने के बाद जब मैं फिर काशी गया, तो प्रसादजी मुझसे बड़ी प्रसन्न मुद्रा में मिले और उन्होंने कहा—'मैंने, तुम्हारी युक्ति से काम लिया, मेरा बड़ा लाभ हुआ। 'अब मुझे बाजार का कुछ भी देना नही है और चार-पाँच हजार रुपये पास भी हैं।'

× × ×

यह मेरा व्यवसाय नहीं व्यसन है

एक बार प्रसादजी से मिलने के लिए एक सज्जन आये; उनके साथ तीन-चार व्यक्ति और थे। वे सज्जन कहीं के राजा थे, या राजकुमार थे यह मैं नहीं कह सकता। प्रसादजी एक खाट पर बाहर बैठे थे उनकी बगल में ही एक तख्ते पर मैं बैठा था। कुछ इधर-उधर की बातें चल रही थीं। प्रातःकाल के आठ बज रहे थे।

उक्त सज्जन ने प्रसादजी को अपना परिचय दिया। उन्होंने बगलवाली चौकी पर बैठ जाने के लिए संकेत किया। थोड़ी देर बाद उस सज्जन ने प्रसादजी से कहा—'आपके प्रेम-पथिक को मैंने पढ़ा। उससे मैं बहुत प्रभावित हूँ। यदि आप

उसे मुझे समर्पित कर दें तो यह आपकी मुझ पर कृपा होगी। इसके लिए जो कहें, सेवा करने के लिए तैयार हूँ।

सेवा का नाम सुनते ही प्रसादजी की त्यौरी बदल गई। उन्होंने बडी विनम्रता से कहा—'आप लोग राजा हैं, आपके पास इतनी सम्पत्ति है कि आप लोग सब कुछ कर सकते हैं; पर आपकी सम्पत्ति लेने की क्षमता और सामर्थ्य भी तो होनी चाहिए। आप जानते हैं, मै सुर्ती और जर्दे का व्यवसायी हूँ, कविता मेरा व्यवसाय नही व्यसन है। यदि आपके पास पैसे है तो मुझसे अच्छा से अच्छा जर्दा, इतर, खुशबू माँग सकते हैं। यह मेरे व्यवसाय के अन्तर्गत है; पर काव्य रचना मेरा व्यवसाय नही है।' प्रसादजी के मुँह से यह उत्तर पाकर वे सज्जन बहुत लज्जित हुये और उन्होंने अपनी धृष्टता के लिए क्षमा प्रार्थना की।

चलते समय उक्त सज्जन ने प्रसादजी से कहा—'यदि आप आज्ञा दें तो मै 'प्रेम पथिक' की एक पंक्ति लेकर अपने दरबार मे टाँग दूं। वह मुझे बहुत प्रिय है। प्रसादजी ने कहा—यह तो आपका अधिकार है, पर वह पंक्ति कौन सी है? उस सज्जन ने बतलाया 'इस पथ का उद्देश्य नही है श्रान्त भवन मे टिक रहना किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नही।'

× × ×

प्रसादजी परम यात्रा-भीरु थे

'प्रसाद'जी यात्रा से बहुत घबड़ाते थे। यदि कभी उन्हें यात्रा करनी होती तो महीनों पहले से उन्हे चिन्ता हो जाती और उसकी तैय्यारी होने लगती। कभी-कभी तो यात्रा की सारी तैयारी हो जाने पर भी यदि उनकी इच्छा नही होती तो ठीक मौके पर अपनी यात्रा स्थगित कर देते थे।

एक बार मैंने कलकत्ते में स्वजातीय वैश्य महासभा का आयोजन किया। उसमें प्रसादजी को सभा का अध्यक्ष बनाया गया था और मैं मंत्री था। मेरे अग्रज श्रीपुरुषोत्तमदासजी उसके प्रबन्धक थे। इसकी सूचना प्रसादजी को दे दी गई और साथ ही निमंत्रण भी। उन्होने उक्त आयोजन मे सम्मिलित होने की स्वीकृति भी भेज दी।

उस समय कलकत्ते में हिन्दी के प्रमुख साहित्यकारों से मेरा अच्छा परिचय हो गया था। उनमें भी पं० बेचन शर्मा उग्र, श्री विश्वम्भरनाथ जिज्जा और पं० माधव शुक्ल तो मेरे अत्यन्त निकट के व्यक्ति थे। मेरे आयोजन का सारा उत्तरदायित्व इन्हीं लोगों पर था। 'प्रसाद'जी के आगमन की सूचना ने यहाँ के आयोजकों में दूना उत्साह उत्पन्न कर दिया। आयोजन को सफल बनाने के लिये पूरा प्रयास हुआ और बड़ी सज-धज के साथ तैयारी की गई।

जिस दिन आयोजन सम्पन्न होने वाला था, प्रातःकाल हम लोग बड़ी तैयारी के

साथ प्रसादजी के स्वागत में स्टेशन पहुँचे। घण्टों प्रतीक्षा के बाद गाड़ी आई, हम लोग बड़ी उत्सुकता और उमंग के साथ प्लेटफार्म पर आगे बढ़े। हम लोग प्रसादजी को ढूंढ़ने लगे, पर एक कम्पार्टमेण्ट से निकले उनके कार्यवाहक व्यक्ति तथा श्री दुर्गाप्रसादजी गुप्त। पूछने पर ज्ञात हुआ कि प्रसादजी नहीं आ रहे हैं, उनका स्वास्थ्य अनुकूल नहीं था। हम लोगों की आशा पर एकदम पानी फिर गया। मुझे तो उनके ऊपर क्रोध भी आया, पर क्या करता, उनमें मेरी श्रद्धा भी कम न थी। आयोजन को तो किसी प्रकार सम्पन्न किया गया, पर अनुत्साह पूर्वक ही। श्रीदुर्गाप्रसादजी ने 'प्रसाद'जी का प्रतिनिधित्व किया।

इसके बाद लगभग एक वर्ष तक मैं काशी नहीं गया। कारण प्रसादजी के ध्यान में था। उन्होंने पत्र लिखकर मुझे बुलाया। वहाँ पहुँचने पर उन्होंने मुझे प्रसन्न करने के लिए अनेक उपाय किये। अन्त में बातों को ध्यान में रख मेरे हृदय का सारा रोष जाता रहा।

एक दिन जब मैंने उनसे पूछा -- भैय्या, उस समय आप कलकत्ते क्यों नहीं आये ?' उन्होंने कहा--'अजी प्रपंच में पड़ने कौन जाता ?'

× × ×

प्रसादजी में सहनशीलता भी कम न थी

मेरे पिताजी बीमार थे। हम लोग उनकी चिकित्सा कराने के लिए काशी ले गये थे। बांसफाटक मुहल्ले में एक पूरा मकान किराये पर लिया गया था। वहीं हम लोग ठहरे थे। मकान और हम लोगों के आवश्यक सामानों का सारा प्रबन्ध प्रसाद जी ने ही किया था। पिताजी बीमारी के कारण दुर्बल तो थे ही, उनके स्वभाव में भी कुछ चिड़चिड़ापन आ गया था। छोटी सी बात पर भी उन्हें क्रोध आ जाता था, और जो सामने पड़ता उस पर बरस पड़ते थे। प्रसादजी पिताजी का समाचार लेने के लिए सुबह-शाम प्रतिदिन आते थे। प्रातःकाल गंगा स्नान के समय आ जाते और सायंकाल दूकान जाते समय पिताजी को एक बार देख लिया करते थे।

पिताजी एक दिन किसी बात को लेकर प्रसादजी पर काफी नाराज हो गये और उन्होंने बहुत कुछ कहा। पर 'प्रसादजी' ने उनका एक भी उत्तर नहीं दिया। वे चुपचाप सुनते रहे। मालूम पड़ा— जैसे, पिताजी की बातों का उनके ऊपर कोई असर ही नहीं हुआ। उनके आने-जाने का क्रम पूर्ववत बना रहा। वे जब भी पिता जी को देखने आते थे, मुझे अपने साथ ले लेते थे। फिर घंटे दो घंटे बाद वे मुझे छोड़ देते और मैं पिताजी के पास आ जाता।

व्यापार विषयक संस्मरण

प्रसादजी का पुश्तैनी कारबार था सुर्ती–जर्दा का। जो अब भी उनके आत्मज श्री रत्नशंकर प्रसाद की देख-रेख में पूर्ववत् चालू है। इस पुश्तैनी प्रतिष्ठान का नाम

है—'शिवरतन साहू देवी प्रसाद सुंघनी साहु'। यह प्रतिष्ठान सुर्ती–जर्दा, और सुंघनी तैयार करता है। इसी आधार पर इनका घराना सुंघनी साहु के नाम से विख्यात हुआ और इसी नाम से आज भी ख्यात है। कही बताया जा चुका है कि शैशव काल में ही प्रसादजी पितृहीन हो गये थे और कारोबार देखा करते थे—आप। मात्र १६ वर्ष की उम्र में अग्रज की भी छत्रछाया आपके सिर से जाती रही और कारोबार का पूरा भार आप पर आ पड़ा। निष्कपट, सरल, कविहृदय प्रसादजी उस जागतिक चातुर्य से सर्वथा अनभिज्ञ थे जो कारोबार सम्भालने के लिए आवश्यक होता है। शनैः शनैः कारोबार का ज्ञान तो आपने प्राप्त कर लिया पर उसमे निहित चातुरी और छल प्रपंच से सदा अनभिज्ञ ही रहे क्योंकि प्रकृति से उन्हे यह मिला ही नही था। प्रतिष्ठान का एक एजेंट था जिसका नाम था श्री शारदा प्रसाद। वही सर्वत्र जाया करता था और पावना वसूल किया करता था। पूर्वी बंगाल मे इस प्रतिष्ठान के माल की बड़ी खपत थी। एक तरह से सारा कारोबार उसी एजेंट के हाथ मे आ गया था और कालान्तर मे उसने धोखाधड़ी देना शुरू कर दिया और काफी नुकसान पहुँचाया। उसकी दुरभिसंधि को आप जान तो गये पर यह न सोच पाते थे कि उससे छुटकारा कैसे पाया जाय। एक बार प्रसादजी ने मुझसे पूछा कि उक्त एजेंट के सम्बन्ध मे मेरी क्या धारणा है। मैंने उन्हे बताया कि मै उसे परम धूर्त और कुटिल समझता हूँ। यह सुनकर उन्होंने मुझसे पूछा कि यह बात तुमने पहले क्यो नही बताई। मेरे यह कहने पर कि आपके व्यापारिक बातो मे अपनी राय प्रकट करना है मै अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर समझता हूँ, आपने मुझसे राय मागी कि इस व्यक्ति से छुटकारा पाने के लिए अब क्या करना चाहिए। मैंने परामर्श दिया कि आर्डर सप्लाई का काम उससे न करवाइए और वसूली का काम करवाते रहिए जब तक बकाया रकम वसूल न हो जाय। पर ऐसा करने मे इस बात का डर भी था कि एजेंट की नीयत और न खराब हो जाय और वह रकम वसूल करके हड़पने न लगे। अनन्तोगत्वा यह तय किया गया कि उसे नौकरी से हटा दिया जाय और आर्डर लेने का और वसूली का काम एक पुराने मुनीम को सौपा जाय। ऐसा ही उन्होने किया और इस बीच सभी व्यापारियों को पत्र द्वारा सूचित कर दिया गया कि वह एजेंट (शारदा प्रसाद) अमुक तारीख से नौकरी से हटा दिया गया है और अदायगी की कोई रकम उसे न दी जाय।

दि बनारस परफ्यूमरीज़

एक बार परफ्यूमरी का कारबार चलाने का विचार उनके मन मे आया। उनकी योजना यह थी कि परफ्यूमरी सुगंधि द्रव्य) बनाने का एक प्रतिष्ठान कलकत्ता में किसी विश्वनीय व्यक्ति के साझेदारी मे स्थापित किया जाय। इस सम्बन्ध मे उन्होंने मुझे बनारस बुलाया। उनका ख्याल था कि चूंकि कलकत्ता में

मैं (मुकुन्दीलाल गुप्त) 'गुप्ता ब्रदर्स' नामक मिष्ठान्न निर्माता पुश्तैनी प्रतिष्ठान को चलाता ही हूँ इसलिए परफ्यूमरी वाला प्रतिष्ठान भी मेरी साझेदारी में सुगमतापूर्वक चल सकता है। मैं उनकी योजना से सहमत हो गया। आधे-आधे की साझेदारी में 'दि बनारस परफ्यूरीज्' नामक एक प्रतिष्ठान कलकत्ता में खोलना तय पाया। परफ्यूमरी में बनाने की मूल सामग्री वह बनारस से खुद भेजेंगे ऐसा निर्णय उन्होंने लिया। उनके आदेशानुसार कलकत्ता वापस आकर मैंने उक्त नाम से एक प्रतिष्ठान चालू करने की सारी व्यवस्था कर दी। स्थान ले लिया गया आफिस सज गया और एक क्लर्क भी रख लिया गया। मूल सामान आने की प्रतीक्षा की जाने लगी। तीन चार महीने बीत गये पर बनारस से कोई सामग्री नहीं आई। क्लर्क को मैंने आदेश दिया वह एक रिमाइण्डर प्रसादजी को भेजे, क्लर्क मद्रासी था और उसने अंग्रेजी में पत्र टाइप करके और मुझसे हस्ताक्षर कराके भेज दिया। पत्र में क्लर्क ने किसी एक ऐसे शब्द का प्रयोग किया था जिससे प्रसादजी बहुत नाराज हो गये। मुझे ठीक-ठीक याद नही है पर शायद उस शब्द से चातुरी की शिकायत का दूरस्थ आभास मिलता था। परिणाम यह हुआ कि सारी योजना गर्त में चली गई और उन्होंने प्रतिष्ठान बन्द करने को कह दिया। मैं उनके मूड से परिचित था। मै समझ गया कि उनकी तत्कालीन मनः स्थिति में, प्रतिष्ठान को चालू रखने का आग्रह व्यर्थ है और उससे उन्हें और क्षोभ मिलेगा। सुतरां प्रतिष्ठान बन्द कर दिया गया। पर यह सब हुआ इस शिष्टता के साथ कि हमारे आपसी सम्बन्ध में रच मात्र भी अन्तर नही आया और उनका स्नेह मुझ पर पूर्ववत बना रहा।

पुस्तक प्रकाशन की योजना

एक बार प्रसादजी ने पुस्तक प्रकाशन का कारोबार चलाने का विचार किया। इस सम्बन्ध में मुझे काशी बुलाया। उन्होंने अपनी योजना मुझे बताई। मैं उससे सहमत हो गया। उस काम में घाटा आने की कोई गुंजाइश नही थी। तय यह हुआ कि हम दोनों की आधे-आधे की साझेदारी में यह काम शुरू किया जाय काशी में। उसकी वित्तीय व्यवस्था का भार मैंने लिया। मेरा अपना पुश्तैनी कारोबार कलकत्ता में था जहाँ से मेरा हटना सम्भव ही नहीं था। प्रकाशन के काम का दायित्व उन्होंने श्री अम्बिका प्रसाद गुप्त को सौंपा। अम्बिका प्रसाद जो उनके भांजे थे सुतरां उनके अपने आत्मीय थे। उन पर प्रसादजी का स्नेह और विश्वास भी था। वे एक स्वजातीय मासिक पत्र के सम्पादक भी थे। काफी होशियार आदमी थे और उस काम को चलाने की क्षमता भी उनमें थी। उन्हें मेरी आधे की साझेदारी की बात कम जँची, उन्होंने मुझे बड़े ढंग से समझाया कि मैं जो भी रकम लगाऊँ उसका ब्याज ले लिया करूँ। मैं उनके सुझाव को सुनकर स्तब्ध रह गया क्योंकि ब्याज पर रकम लगाने के लिए तो कलकत्ता काशी से कहीं अधिक अनुकूल स्थान है। मैंने अपनी

असहमति सद्यः व्यक्त कर दी। मशीनों आर्डर तार से वहीं से कैंसिल कर दिया और जो कागज आ चुका था वह वापस कर दिया गया—और यह योजना भी खटाई में पड़ गई।

मेरे अनुज के विवाहोत्सव में सम्मिलित होने के निमित्त प्रसादजी का कलकत्ता आगमन

बात सन् १९३१ की है। मैं अनुज के विवाह का निमंत्रण देने काशी पहुँचा। वहाँ मुझे देखते ही प्रसादजी ने पूछा—'अचानक आना कैसे हुआ ?' मैंने कहा—'आपको स्मरण दिलाने आया हूँ।' उन्होंने कहा—'किस बात का ?' मैंने कहा —'आप मेरे पिता को वचन दे चुके है कि मैं नन्दू के विवाह में कलकत्ता अवश्य चलूँगा' अब नन्दू का विवाह निश्चित हो चुका है। उसी का स्मरण दिलाने के लिए मुझे आना पड़ा, क्योंकि निमंत्रण देने पर तो आप जायेगे नहीं। मेरे विवाह में निमंत्रण लेकर भी आप नही पहुँचे। उसी समय से आप वचनबद्ध हो चुके हैं।

इसके बाद उनका प्रश्न हुआ—'और किसको-किसको तुम आमंत्रित कर रहे हो ?' मैंने कहा —'उसका विचार तो मैं अब करूँगा', क्योंकि मैं उन्हीं लोगों को निमंत्रित करना चाहता हूँ, जिनके द्वारा आपकी यात्रा मे किसी प्रकार की बाधा न हो। वैसे एक निमंत्रण बाबू अम्बिका प्रसादजी को तो देना ही है। प्रयाग में श्री जैतली महोदय को भी निमंत्रित करना है।' प्रसादजी के साथ मेरी बात यही समाप्त हो गई। दूसरे दिन मैं शिवशिव (बाबू अम्बिका प्रसादजी) के पास पहुँचा। उन्होंने मुझे देखते ही पूछा—'कब आये ?' मैने कहा—कल ही आया। 'कहाँ ठहरे हो ?' उन्होंने फिर प्रश्न किया। मैने कहा—'होटल मे'। मेरे इस उत्तर से वे कुछ क्षुब्ध हुए—क्योंकि प्रातःकाल वे मुझे प्रसाद मन्दिर मे देख चुके थे। उनका प्रातः-स्नान प्रतिदिन वहीं होता था। उन्होंने कहा 'क्या वह होटल गोवर्द्धन सराय म है ?' मैने कहा, 'हाँ, अब वह मेरे लिए होटल ही है।' फिर उन्होंने पूछा—'तुमने और किसे निमंत्रित किया है ?' मैंने कहा—'अपनी बिरादरी में अमुक-अमुक को और परजात में बाबू जयशंकर प्रसाद को (चौधराना छोड़ने की प्रतिक्रिया मे जातीय महासभा ने उन्हें जाति बहिष्कृत कर दिया था इसलिए मैने परजात कहा) मेरे मुख से यह सुनकर उनकी त्यौरियाँ चढ़ गई। पर चुप रह गये। फिर उन्होंने एक ऐसे व्यक्ति को निमंत्रित करने की सलाह दी, जिसे मै नहीं चाहता था, पर उनके आग्रह को भी मै टाल न सका। अनिच्छा रहने भी स्वीकार करना पड़ा। उन्होंने कहा—'मै उस आदमी को बुलवा देता हूँ।' मैने कहा—'अभी तो मझे समय नही है, प्रयाग जाना है। उधर से लौटकर उन्हे निमंत्रण दे दूंगा।' इतना कहकर मै चलता बना। इलाहाबाद से लौटकर मै फिर काशी आया, पर शिव-शिव (अम्बिका प्रसाद) के पास नहीं गया। कलकत्ता चला आया।

मेरे अनुज के विवाहोत्सव में सम्मिलित होने के लिए प्रसादजी ने ट्रेन में एक पूरा कम्पार्टमेण्ट रिजर्व कराया। तिलकोत्सव के एक दिन पूर्व वे बनारस एक्सप्रेस से कलकत्ता पहुँचे। संयोगवश उसी गाड़ी से 'इन्दु' के सम्पादक, बाबू अम्बिका प्रसादजी भी कलकत्ता आये। पर 'प्रसादजी' से उनकी कोई बातचीत नहीं थी। इन दोनों के बीच यह तनाव उस समय से था, जब से प्रसादजी ने बिरादरी के चौधुरी के पद से त्यागपत्र दे दिया था। और अन्त तक रहा। शिवशिव प्रायः उसी समय १९३७ ई० में बीमार पड़े थे, मरने से प्राय एक मास पूर्व वे प्रसादजी को एक बार देखने गए और शिव-शिव कहकर बैठ गए। लगभग घण्टे भर बैठे रहे किन्तु परस्पर कोई बात नही हुई। मार्च १९३७ में शिवशिव का निधन हो गया प्रसादजी ने उनके सभी कृत्य कराए और बहुत दुखी हुए थे। बहुत देनकी तक तब उन्हे देखकर ने रो पड़े।

इन लोगों के स्वागतार्थ हम लोग हावड़ा स्टेशन पहुँचे। संयोगवश मैं तो 'प्रसाद' जी को लेने उनके कम्पार्टमेण्ट की ओर गया और मेरे साथ के अन्य लोग बाबू अम्बिका प्रसाद की ओर बढ गये। 'प्रसादजी' की ओर मेरा जाना, अम्बिका प्रसाद जी को कुछ खटका, पर वे कुछ बोल न सके। इसके पश्चात् इन अतिथियों को उनके आवासों तक पहुँचाया गया। अम्बिका प्रसादजी को ठहरने के लिए भारत वस्त्र भण्डार में प्रबन्ध किया गया था। यह तुला पट्टी में ही था और कलकत्ते का सर्वप्रथम खादी-केन्द्र वहाँ हम लोगो ने खोला था।

प्रसादजी और उनके साथ के लोगों को ७४, तुलापट्टी के घर अपने निजी कक्ष में भेज दिया गया, पर उन्हे उस विशेष स्थान पर थोड़ी देर के लिए रोक लिया गया, जहाँ स्वागत-द्वार बनाया गया था। स्वागत द्वार के निर्माण मे काशी विश्वनाथ के मन्दिर की अनुकृति थी, जिसकी स्वाभाविकता ने प्रसादजी को बहुत प्रभावित किया, यहाँ तक कि लगभग आधे घटे तक वे देखते रह गये। अचानक उनके मुख से निकल पड़ा—'यह तो काशी विश्वनाथ मन्दिर की अनुकृति है' मैंने कहा—'हाँ आप भी तो पधारे है' 'मेरे इस उत्तर से वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। फिर कहने लगे—'बहुत अच्छी सजावट है'। इसके बाद उन्हे भी घर पहुँचा दिया गया। उनके साथ सात व्यक्ति और थे, वे थे— दोनो भाभियाँ, बच्चा (रत्नशंकर), नौकर, दाई, नाऊ और एक ब्राह्मण। 'प्रसाद परिवार की यह परम्परा थी कि घर का ज्येष्ठ पुरुष किसी अन्य के हाथ का बनाया कच्चा भोजन नही करता था', इसलिए उनके भोजन की व्यवस्था अलग की गई थी। बड़ी भाभी भोजन बनाती थीं, अकसर मैं भी उन्हीं के साथ भोजन करता था, क्योंकि भाभी के हाथ का भोजन मुझे बहुत प्रिय था।

दूसरे दिन तिलकोत्सव सम्पन्न हुआ। बाबू अम्बिका प्रसादजी को—जाति बहिष्कृत प्रसादजी के साथ मेरा भोजन करना खटक गया। इसका उलाहना भी उन्होंने दिया। पर मैंने इसकी वास्तविकता उन्हें समझा दी। मैंने कहा —'शिवशिव, इसमें आप

कुछ अन्यथा न सोचें। भाभी के हाथ का भोजन मुझे अधिक प्रिय लगता है, इसीलिये मैं वही खा लिया करता हूँ 'उन्होंने कहा—' तुम तो सभा के सदस्य हो फिर.......' उनके इस कथन का तात्पर्य मै समझ गया, और मैंने कहा—'शिवशिव', मैंने बिरादरी को आमन्त्रित नही किया है। इस अवसर पर मैंने अपने मित्रों, परिचितों और सगे-सम्बन्धियों को आमंत्रित किया है। इसलिए वे सभी आज मेरे अतिथि हैं और मेरे लिये समान है। मेरा यह उत्तर उन्हें रुचिकर नही हुआ पर आगे कुछ बोल न सके।

तिलक के बाद से 'प्रसादजी नित्य प्रातःकाल अपने समय से उठ जाते और चाँद पाल घाट से फेरी स्टीमर द्वारा शिवपुर स्थित भारत विख्यात बोटेनिकल गार्डेन तक वे नित्य घूमने जाते थे उस प्रभात वायु सेवन का उनके स्वास्थ्य पर सुन्दर प्रभाव पड़ा। लगभग ९ बजे लौटते फिर स्नान और पूजन आदि अपना दैनिक कार्य करते। इस बीच उनका स्वास्थ्य भी काफी सुधर गया। उनके भोजन आदि में भी सुधार हो गया था।

विवाह के दो तीन दिन पूर्व बाबू अम्बिका प्रसादजी ने एक पत्र मेरे हाथ में देकर, मुझसे कहा—'इसे छपवा दो, मै बिरादरी की एक सभा बुलाना चाहता हूँ।' मुझे उनका यह प्रस्ताव बहुत अरुचिकर लगा। मैने कहा—'शिव शिव, इस समय बिरादराने का विवाद छेड़ना उचित न होगा। इसके लिए कोई और समय निर्धारित कर लीजिए। शान्तिपूर्वक मेरा यह शुभ कार्य सम्पन्न होने दीजिए। 'इतना कहकर मैं उनके समीप से उठ पड़ा। मैं कुछ गम्भीर और विक्षुब्ध-सा चला आ रहा था, रास्ते में प्रसादजी मिल गये। वे बाहर टहलने के लिए निकल रहे थे, मैंने उनसे उक्त कथोपकथन सुनाया। उन्होंने कहा—'तुमने जो उत्तर दिया वह उचित और यथेष्ट है।' इसी बीच मेरे अग्रज पुरुषोत्तमदासजी भी वहाँ आ गये। उन्होंने प्रसादजी की ओर अभिमुख होकर कहा—'खण्डेराव, क्या बात है, मैं भी सुनूँ' (वे प्रसादजी को खण्डेराव कहकर पुकारा करते थे) 'प्रसाद'जी ने कहा—'दादा, इस समय शिव शिवजी का कुछ विशेष आयोजन है, वे बिरादरी की सभा बुलाना चाहते हैं। तो मैं भी तैयार होकर आया हूँ। नाऊ और ब्राह्मण मेरे साथ हैं।' बिरादरी के चौधुरी के साथ नाऊ और ब्राह्मण का होना आवश्यक था। यह बात यही समाप्त हो गई। बाबू अम्बिका प्रसादजी भी मौन हो गये। किन्तु इस घटना की प्रतिक्रिया में ही जिज्जाजी को बगल मे बैठाकर प्रसादजी ने कच्चा भोजन कराया जिस पर वे लोग और क्षुब्ध हुए। प्रसादजी चाहते थे कि सबको ठीक अवसर पर ठीक उत्तर दिया जाय।

एक दिन 'प्रसाद'जी ने मुझे बुलाकर पूछा—'कहो, तुमने विवाह में कार्यभार वितरण की क्या व्यवस्था की है?' मैंने उनसे कहा—'भइया, सबसे बड़ा कार्य भार

अर्थव्यवस्था का है, वह आपके पास रहेगा। सजावट और बारात की देखभाल का काम मैंने स्वयं लिया है। भोजन आदि की व्यवस्था बड़े भाई हीरालालजी को और अतिथि सत्कार आदि का भार भाई पुरुषोत्तमदासजी लेगे।' मेरी इस व्यवस्था से वे बहुत प्रसन्न हुये और कहा—'बहुत अच्छी व्यवस्था की है तुमने। इसके बाद ही मैंने सेफ की चाभी उनके सम्मुख रख दी'।

प्रथम दिन विवाह का कार्य सम्पन्न हो गया। दूसरे दिन जब भात खिचडी का अवसर आया, तो मेरे अग्रज भाई पुरुषोत्तमदासजी ने मुझसे अलग बुलाकर कहा—'देखो, इस विवाह मे मेरे काफी रुपये खर्च हो रहे है, इसलिए खिचडी मे मैं पांच हजार रुपया लूंगा, इससे कम नही' मैंने कहा—'भाई साहब आप पांच हजार मांगिये या दस हजार, इसमे मुझे कोई आपत्ति नही है, पर मेरी एक शर्त है, वह यह कि—यदि आपकी मांग पूरी न हुई तो मै नन्दू को खिचडी न खाने दूंगा। यह सोच कर आप अपनी मांग उपस्थित कीजिएगा' मेरी इस बात को सुनकर वे झल्ला कर बोले—'खेण्डेराव कहा है, उसे बुलाओ।' प्रसादजी समा में ही बैठे थे, वे वहाँ आ गये। उन्होने कहा—दादा क्या बात है।' भाई साहब कहने लगे—देखो तो यह क्या बकवास करता है, कहता है, म नन्दू को खिचडी न खाने दूंगा जब प्रसादजी को पूरी जानकारी हो गई तो उन्होने भाई साहब को समझाते हुये कहा—'यह तो ठीक कह रहा है, दादा आप क्यो नाराज होते है। किसी प्रकार की मांग करना आपको शोभा नही देगा।' अब भाई साहब कुछ शान्त हो गये।

× × ×

गंगासागर-यात्रा

लगभग दो मास के कलकत्ता प्रवास मे प्रसादजी का स्वास्थ्य काफी अच्छा हो गया। मकर-सक्रान्ति का अवसर था। इस अवसर पर उनकी इच्छा गगासागर और पुरी यात्रा के लिए प्रबल हो उठी। उन्होने मुझसे कहा—'मै इस यात्रा मे गगासागर—दर्शन भी कर लेना चाहता हूँ। मैंने कहा—'भैय्या, यदि आपकी ऐसी इच्छा है तो मै इसके लिए अच्छी से अच्छी व्यवस्था करूंगा। आपको तनिक भी घबडाने की आवश्यकता नहीं। गगासागर-स्नान के कष्टो को सुनकर वे काफी घबडा जाते थे।

मै राजा जानकीनाथ ठाकुर के समीप गया। उस समय गगासागर-यात्रा के लिए उनके जहाज चलते थे। उनके लडके से मेरा अच्छा परिचय था। मैने उनसे एक लाच की व्यवस्था के लिए निवेदन किया और उन्हे प्रसादजी का परिचय दिया। उन्होने मेरे लिए एक लाच की व्यवस्था कर दी जिसमे दो नौकाये भी संलग्न थी।

मैंने आकर 'प्रसाद'जी को 'लाच' सम्बन्धी व्यवस्था बतायी। उन्होने कहा—व्यवस्था तो अच्छी है, पर काफी व्ययसाध्य होगी। मैंने कहा—आपने इसकी

व्यवस्था मेरे ऊपर छोड़ दी है, तो निश्चिन्त रहें। व्यय की चिन्ता नहीं करनी है।'

निश्चित दिन पर हम लोग यात्रा के लिए घर से बाहर निकले। सारा सामान बाहर आ गया। प्रसादजी और मेरे अग्रज पुरुषोत्तमदास गाड़ी में बैठ गये। उनके साथ दोनों भाभियाँ, चि० बच्चा (रत्नशंकर) लम्बोदर वैद्य, एक नौकर और एक दाई थी। मैं भी गाड़ी में बैठने ही वाला था कि मकान के ऊपर से अचानक रोने की आवाज आई। ज्ञात हुआ कि मेरे बहनोई बिहारीलाल (काशी) की नवजात कन्या का देहावसान हो गया। इस दुर्घटना से मैं कुछ चिन्तित हो उठा और मैंने 'प्रसाद'जी से कहा—'भैय्या अब तो मेरा जाना स्थगित हो गया—अशौच की अवस्था में पुण्य कार्य को निषिद्ध माना जाता है।' थोड़ी देर तक मौन रहने के बाद उन्होंने मुझसे कहा—'जब नियति ने अपने निर्धारित कार्य को किया तो फिर तुम अपने निर्धारित कार्यक्रम को क्यों छोड़ोगे। तुम भी अपना पूर्व निर्धारित कार्य करो। इसमें अमंगल कहा—She did not miss her boat then why should we ? यह सुनकर मैं भी अपने निश्चय पर दृढ़ हो गया और नीचे से ही माँ को संकेत किया कि मैं जाता हूँ। उन्होंने भी ऊपर से ही मुझे जाने के लिए हाथ से संकेत किया।

यद्यपि उस समय मेरा मन कुछ खिन्न हुआ, पर मुझे किसी प्रकार के क्लेश का अनुभव नहीं हुआ। हम लोग लांच मे बैठ गये और आगे बढ़े। वहाँ समुद्र में कुछ दूर हमारा जहाज खडा था। बड़ा सुहावना दृश्य था। पर वहाँ की गन्दगी ने प्रसादजी के मन में कुछ घृणा उत्पन्न कर दी। उन्होंने मुझे बुलाकर कहा—देखो, यह तीर्थ स्थानों की स्थिति है, चारों ओर कितनी गन्दगी है। 'मैंने कहा—' भैय्या, जहाँ लाखों मनुष्यों की भीड़ है, गन्दगी तो स्वाभाविक है।' हम लोगों ने संक्रान्ति के दिन खिचड़ाव किया। मन्दिर मे दर्शन करने के बाद हम लोगों ने खिचड़ी खाई और विश्राम किया। प्रसादजी का स्नान जहाज के केबिन मे ही हुआ।

संक्रान्ति के दूसरे दिन लौटना था। बड़ी भाभी ने मुझे कुछ साग-सब्जी लाने के लिए कहा। मैने नौकर को साथ लिया और किनारे सब्जी खरीदने चला गया। इसी बीच जहाज खुल गया। 'प्रसादजी' मुझे न देखकर घबड़ा उठे और चालक से जहाज रोक देने के लिए कहा। उनका मुखमण्डल घबराहट से पीला हो रहा था। मेरे अग्रज पुरुषोत्तमदास भी चिल्ला उठे। इतने मे मैंने हाथ से पहुँचने का इशारा किया। 'प्रसादजी' ने फिर जहाज रोक देने के लिए चालक से अनुरोध किया और मुझे शीघ्र पहुँच जाने के लिए हाथ से इशारा किया। पहुँचकर मैंने कहा—आप लोग इतने घबड़ा क्यों गये जहाज छूट जाता तो मैं दूसरे जहाज से चला आता। यहाँ तो सैकड़ो जहाज खड़े है।' प्रसादजी ने आत्मीयता भरे शब्दों में कहा—'तुम्हें इसका क्या पता है ?'

जहाज आगे बढ़ रहा था। अचानक वह स्थल सामने आया, जहाँ गंगा का समुद्र से संगम होता है। एक ओर समुद्र का नीला जल और दूसरी ओर गंगा का लाल जल। प्रसादजी ने मुझे बुलाया और कहा—यह देखो, गंगा और समुद्र का यह मिलन कितना सुन्दर है। वही उनके मुह से निकल पड़ा :—'हे सागर-संगम अरुण नील।' यह गीत उसी जहाज के डेक पर लिखा गया है।

किशमिश वाले दादाजी

मेरे ज्येष्ठ पुत्र इन्द्रकुमार प्रसादजी को किशमिश वाले दादाजी के रूप मे जानते पुकारते है।

जब प्रसादजी कलकत्ते आये तो यह देखा गया कि उनके पास हमेशा किशमिश रखी रहती थी। जब कोई बच्चा आता तो वे उनके मुंह मे थोडी-सी किशमिश डाल दिया करते। जो बाहरी बच्चे यह ख्याति सुनकर आते लेकिन अपरिचित होने पर निकट आने का साहस न करते, उनके लिये प्रसादजी किशमिश फेंक दिया करते थे।

कुछ जिज्ञासु विद्यार्थियों को भेंट

कलकत्ता-प्रवास मे ही एक दिन कालेज के कुछ विद्यार्थी प्रसादजी से मिलने आये। सबसे पहिले उनकी भेट मुझसे ही हुई। उन लोगों ने प्रसादजी से मिलने की इच्छा प्रकट की। मैंने उनसे कहा – 'अभी वे अस्वस्थता की स्थिति मे है, यदि आप लोग किसी दूसरे दिन पधारे तो अच्छा हो'। पर उन लोगो ने किसी भी रूप मे, एक क्षण के लिए ही उनके दर्शन की इच्छा प्रकट की। मैं बड़े असमंजस मे पड़ गया। प्रसादजी उन लोगो से मिलना नही चाहते थे। मेरे बहुत कहने पर उन्होंने बाहर आना स्वीकार किया। ऊपर से ही वे बरामदे मे निकले—उन्होने उन छात्रो का अभिवादन लिया। छात्रो ने उनसे कहा—'आपसे हम अपनी एक शंका का समाधान चाहते है, यदि आप कुछ बता सके तो बड़ी कृपा होगी। आँसू के 'शशि मुख पर घूघट डाले, अंचल मे दीप छिपाये, जीवन की गोधूली मे कौतूहल से तुम आये' छन्द का अर्थ हम लोग आपके मुख से सुनना चाहते है। प्रसादजी ने बड़ी विनम्रता से उनसे कहा—'इस समय मैं इसका अर्थ बता सकने मे असमर्थ हूँ. मैंने जिस भावस्थिति मे इस छन्द को लिखा, वह स्थिति इस समय मेरी नही है। इसलिये आप लोग क्षमा करे। इसका समाधान आप लोगो के विद्वान अध्यापक मुझसे कही अच्छे रूप मे कर सकेंगे'। यह सुनकर छात्रों ने कहा—आप तो शेक्सपियर की भाँति उत्तर देते है'। प्रसादजी ने कहा—'भाई, मैं तो अंगरेजी जानता नही—शेक्सपियर ने क्या उत्तर दिया था, यह भी नही जानता। आप लोग तो मुझसे कही अच्छी अंगरेजी जानते है'। इसके बाद छात्रो ने बड़ा हल्ला मचाया और फिर वे चले गये। प्रसादजी ने उस छन्द के सम्बन्ध मे कुछ भी नही कहा।

आज के लिए नहीं कल के लिए

एक बार मैंने प्रसादजी से कहा—'भैय्या, आपकी कविताएं किसी की समझ में नहीं आतीं। पढ़कर लोगों के मन में कुतूहल होता है, पर सन्तोष नही'। उन्होंने कहा—'देखो, मैं जो कुछ लिखता हूँ वह आज के लिए नही कल के लिए है'।

पुरी-यात्रा

गंगा-सागर से लौटने के बाद लगभग दो सप्ताह प्रसादजी ने कलकत्ते में विश्राम किया। एक दिन पुरी-यात्रा के लिए भी अपनी इच्छा व्यक्त की। यात्रा की सारी व्यवस्था हो गई। इस बार भी उनके साथ उनका अपना दल था। इनके अतिरिक्त मैं मेरे अग्रज मेरी भाभी और श्री लालबिहारी खन्ना थे—पुरी में सागर तट पर उनका अपना मकान था। वही हम लोगों के ठहरने की व्यवस्था थी। इस यात्रा में हम लोग जितने दिन वहां रहे। 'प्रसादजी' मन्दिर में दर्शन करने प्रतिदिन जाते थे। उन्होंने समुद्र स्नान भी नित्य किया और समुद्र मे तैरे भी—पर महाप्रसाद उन्होंने ग्रहण नहीं किया, उसे प्रणाम कर लिया। महाप्रसाद (भगवान का भोग) खाने के लिए उन्होंने चि० रत्नशंकर को अपने स्थान पर बैठा दिया। मेरे पूछने पर उन्होंने कहा—इसमे मेरी [illegible] नही है'। एक दिन मन्दिर मे हम लोग पूजा कर रहे थे। उसी समय 'प्रसाद' जी ने मुझसे पूछा—'तुम्हे कुछ अनुभव हो रहा है?' मैंने कहा—'भैया, मुझे तो कुछ अनुभव नही हो रहा है। उन्होंने कहा—'देखो, यहाँ एक विशेष प्रकार की सुगन्ध आ रही है, इसी को 'देवगन्ध' कहते है। इस प्रकार की गन्ध का अनुभव केवल इसी मन्दिर में होता है, अन्यत्र कही नही। प्रसादजी ने मुझे बताया कि यहाँ पर खण्ड गिरि और उदय गिरि नाम के पर्वत है जहाँ पर ऋषियों ने हवन तथा तपस्या किया था, चलो देखें, किन्तु प्रसादजी यात्रा पर जाने के पूर्व बहुत विचार करते कारण किसी प्रकार के कष्ट से बहुत घबड़ाते. मैंने विचार किया कि इनका ट्रेन से यात्रा पर जाना ठीक नही होगा, कार ठीक किया तब यात्रा आरम्भ हुई। प्रसादजी ने कहा कि अब बताओ यदि तुम नही आते तो इस समय मै कैसे जाता और वे बहुत समय तक रुके और अनेक मन्दिरों का दर्शन किये, तथा उनके महत्व को बता रहे थे ऐसा लगा कि भारत के तमाम तीर्थ स्थानो का उन्हे पूरा ज्ञान है, हाँ राह मे प्रसादजी ने कहा कि अब यहाँ ठहरो एक टूटा मकान दिखाई पड़ा वहीं विश्राम के लिए ठहर गये, प्रसादजी ने कहा यहाँ कुछ खाने की व्यवस्था हो सकती है, मैंने कहा हाँ किन्तु साहस नही होता है कि आपको कहूं, क्योंकि पुडी तो है किन्तु ताजी नही है—हँसते हुये प्रसादजी ने कहा शीघ्र निकालो तभी तो अत्यन्त स्वाद का अनुभव होगा। हम सब लोगों ने ग्रहण किया। जब उदय गिरि पहुँचे तो स्थान को देखकर प्रसादजी अत्यन्त प्रसन्न हुये सायंकाल तक लौट आये। वहाँ गुफा में खुदे शिलालेख को मोमबत्ती जलवाकर ध्यान से देखा। (वह खारवेल का अभिलेख था—सं०)

'यह क्या अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ'—प्रसाद

एक निकटस्थ आत्मीय होने के कारण प्रसादजी का सानिध्य पाने का सौभाग्य मुझे बचपन से ही प्राप्त था किन्तु होश सम्भालने के बाद १९१८–१९३७ तक प्रायः २० वर्ष तक उनकी मनोगति और उनके व्यक्तित्व को देखने और समझने का तथा उनका अभिभावकत्व पाने का सुयोग बराबर मिलता रहा। मेरे पिताश्री का जब निधन हुआ मैं मात्र १६ वर्ष का था। तभी से वह मेरे मानस पटल पर एक अभिभावक, अग्रज एवं मित्र के रूप में सदा बने रहे। एक प्रतिष्ठित एवं सम्पन्न परिवार में पैदा होने के कारण उनमे अभिजात्य-गरिमा भरी थी। बड़े-बड़े विद्वानों, ज्ञानियों एवं गुणियों का सदा उनके वहाँ समागम होता रहता था। उनके व्यक्तित्व एवं महिमा से प्रभावित और प्रेरित होकर मुझमें भी कविता करने की भावना जागृत हुई। पर मेरी पारिवारिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि कोई भी हितचिन्तक ईमानदारी से कवि बनने को मुझे प्रोत्साहित करता। मैं ही अपने तीन भाइयों मे सबसे बड़ा था और पिताश्री के निधन के बाद मुझ पर परिवार को सम्भालने का भार आ पड़ा था। विरासत में मिला था एक मात्र कारोबार—मिठाई की दूकान का। बाप-दादा के पुण्य कर्मो के कारण दूकान की ख्याति अच्छी थी और मरते समय पिताश्री ने केवल इतना ही मुझे ढाढ़स दिया था कि बेटा जिस लीक पर तुम्हारे बाप दादा चले है उसी लीक पर चलोगे और ग्राहक को लक्ष्मी समझकर सदा ईमानदारी के साथ शुद्ध और वजन भर माल दोगे तो भगवान का वरदहस्त सदा तुम्हारे सिर पर बना रहेगा और कभी अभाव मे न पड़ोगे। ऐसी स्थिति में किसी भी हितचिन्तक से कवि बनने का प्रोत्साहन कैसे मिलता। फिर प्रसादजी जैसे कठोर अभिभावक और परम हितचिन्तक से आन्तरिक प्रोत्साहन पाना तो दुर्लभ ही था। किन्तु मैं जब-तब कुछ पंक्तियाँ उनको सोत्साह सुनाता और उनसे उनमें सुधार पाना चाहता था। मेरी कच्ची उम्र और प्रबल भावना देखकर मुझे ठेस पहुँचाने के बजाय उन्होंने सदा कुछ सुधार ही किया पर भीतर से प्रोत्साहन कभी नही दिया और प्रच्छन्न रूप से सदा विरत ही करते।

जब-तब मै कलकत्ता मे काशी पहुँच जाता था और अक्सर वे भी मुझे बुला लिया करते थे। ८–१० दिन उन्ही के पास बना रहता। एक बार काशी प्रवास में उनके साथ प्रातः गंगास्नान को दशाश्वमेध घाट गया। जाड़े के दिन थे, हम दोनों ही शाल ओढ़े थे। रास्ते मे सर्दी से ठिठुरते वस्त्रविहीन भिखारियों को देख मैंने उनसे सादर कहा—'भैया हम लोग शाल ओढ़े है और इनको साधारण वस्त्र भी मुअस्सर नही'। किशोर उम्र में उदात्त भाव जल्दी आते हैं। मेरी बात सुनकर वह कुछ गम्भीर हो गये और रोष का भाव उनके चेहरे पर आ गया। उन्होंने इतना ही कहा 'कवि होते जा रहे हो'। घर आकर चार पंक्ति की एक कविता उनके

सामने रखी इस आशा से कि उसमें सुधार कर देंगे और फिर उनसे प्रशंसा मिलेगी। कविता देखकर गम्भीर हो गये पर उसमें सुधार किया बड़े स्नेह से और प्रसन्न होकर पर प्रशंसा रत्ती मात्र नहीं की। कविता यों बनी—

'उस निरीह की आकुल आशा
निश्वासों में भीषण आह
विफल मनोरथ शुष्क भावना
आज कर रही किसकी चाह'

उक्त कविता तत्कालीन किसी पत्रिका मे निकली थी। उन दिनों 'श्री कृष्ण सन्देश' एक हिन्दी साप्ताहिक कलकत्ता से निकलता था जिसके सम्पादक थे स्वर्गीय श्री लक्ष्मीनारायणजी गर्दे। उसी मे सहकारी सम्पादक या अन्य किसी रूप में काम करते थे स्वर्गीय श्री विश्वम्भरनाथ जिज्जा। उसका होली अंक निकलने जा रहा था। उसके लिए जिज्जाजी ने एक कविता देने को मुझसे कहा। मैंने तीन पंक्तियों को एक कविता लिखकर दी जो मुख पृष्ठ पर बाक्स मे छपी। कविता यों थी :—

'कहो किससे खेलोगे फाग
छिड़ा है कैसा कुंठित राग
धधकती है उर-उर में आग'

प्रसादजी मेरी गतिविधि पर सदा दृष्टि रखते थे और मेरे बुजुर्ग कुटुम्बियों से मेरी बाबत सदा जानकारी लेते रहते थे। उक्त कविता जब उनकी दृष्टि में आई तो चिंतित हुए और इरादतन मुझे बुलाया। कविता 'एक छंद' नाम से निकली थी। व्यंग्य करते हुए बोले 'अब तो खासे कवि बन गये हो, चातुर्य भी आ गया है, खा कमा लोगे उसका भरोसा हो गया है।' व्यवसाय की ओर मैं पूरा ध्यान नहीं दे पाता था जिससे आमद और खर्च मे संतुलन का अभाव लाजिमी था। प्रसादजी को मेरी बावत सारी जानकारी मिला करती थी। इसी काल मे 'एक छाया' शीर्षक एक लम्बी भावात्मक कविता मैंने लिखी थी जिसका शोध उन्होंने किया था। वह मासिक पत्रिका 'माधुरी' में छपी थी। इस कविता के निकलने तक मैं व्यवसाय-पराङ्मुख होने लगा था जिसकी सूचना उन्हें मेरे एक बुजुर्ग कुटुम्बी से मिली। उन्होंने मुझे काशी बुलाया और मधुर डाँट देते हुए समझाया : यह कठोर मार्ग है। मुझे इसकी सजा मिली व अनुभव है। मेरे पिता विरासत मे लम्बी जायदाद और खासा लम्बा लाभप्रद कारोबार छोड़ गये थे जिसको काफी मात्रा मे गँवाकर मैं तो अपना शौक पूरा कर सका पर तुम्हें तो विरासत में पिता से मिला है मात्र एक छोटा सा, पर चालू कारोबार और एक बहुमूल्य उपदेश। उनके उपदेश को मन में रखकर अपने व्यवसाय की ओर ध्यान दो। तुम्ही एक मात्र परिवार के संचालक हो। अपना शौक पूरा करने के लिए परिवार का चिंतन छोड़ बैठोगे तो अन्ततोगत्वा वेदना के भागी तुम्ही

होंगे। उन जैसे हितचिंतक के मंगलमय परामर्श का 'प्रभाव यह हुआ कि तन-मन से मैं अपने व्यवसाय में लग गया और कविता का नशा सर्वथा जाता रहा। कवि एवं साहित्य प्रेमियों के संगति-सुख का शौक आज भी बना हुआ है और जब भी कभी पुराने साहित्य प्रेमी मित्र (जो अब इने गिने रह गये है) मिल जाते हैं तो बरबस मानव मात्र के हितैषी 'प्रसाद' का मंगलमय परामर्श स्मरण हो जाता है और श्रद्धा से उनकी स्मृति में नतमस्तक हो जाता हूँ।

× × ×

काशी का पाक्षिक कवि सम्मेलन

बीसवी सदी के तीसरे दशक की बात है। उस समय काशी मे नियमित रूप से अमावस्या एवं पूर्णिमा के दिन राय बहादुर श्री बटुक प्रसाद खत्री के निवास स्थान पर एक कवि सम्मेलन हुआ करता था जिसमे किसी एक पूर्व निर्दिष्ट समस्या पर कवि लोग अपनी समस्यापूर्ति पढकर सुनाया करते थे। उसमे स्थानीय और बाहर के कवि भी उपस्थित हुआ करते थे। कविता पढी जाती थी— ब्रज भाषा में और खड़ी बोली मे भी। प्रसादजी इस आयोजन मे सदा जाया करते थे समस्या पूर्ति भी किया करते थे पर कविता वह स्वयं नही पढते थे। उनके एक स्वजातीय निकटस्थ व्यक्ति श्री दुर्गाप्रसाद गुप्त उनकी कविता पढा करते थे। दुर्गाप्रसादजी स्वयं भी कवि, नाटककार एवं कुशल अभिनेता थे। एक बार उन्होंने अपनी एक कविता सुनाई जिसमें किसी एक कवि पर, जिससे वे रुष्ट थे घोर आक्षेप और व्यंग्य थे। उनकी कविता से समूचा उपस्थित जन समुदाय क्षुब्ध हो गया और तत्काल उन्हें वहाँ से निष्कासित कर दिया गया और उनके वहाँ आने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इस सम्मेलन मे मैं भी प्रसादजी के साथ प्रायः जाया करता था और उक्त घटना के बाद प्रसादजी की रचना मैं ही सुनाया करता था। एक बार समस्या थी 'पियूष ते सरस है' जिस पर प्रसादजी की यह कविता बनी थी--

आनन इठलात जलजात पात कैधों
खुली सीपी माँहि मुकता दरसहै
कढ़े कंज कोषते कलोलिनोके सीकर सों
जान्यो नहि जात याहि कौन सो हरसहै
तातो तातो कढि रूखेमन को हरित करै
मेरे मेरे आँसू तू पियूष ते सरसहै।

प्रसादजी की यह रचना मैंने आत्म विभोर हो सुनाई और रस विभोर जन समुदाय के करतल ध्वनि देने पर मुझे पांच बार कविता सुनानी पड़ी। फिर भी श्रोताओं का आग्रह हुआ कि एक बार और सुनाई जाय। मैं बेहद थक गया था

और यह कह बैठ गया कि अब और सुनाने में अक्षम हूँ। वस्तुतः उनका 'आँसू' पीयूष से भी सरस प्रमाणित हुआ।

× × ×

दो मास बीस दिन के कलकत्ता--प्रवास के बाद प्रसादजी को काशी जाना पड़ा। जब वे तारकेश्वर से लौटकर कलकत्ते आये तो उसी समय उन्हे वाराणसी से बाबू उमाप्रसाद का एक पत्र मिला। पत्र पढ़कर वे बड़े दुःखी हुए। उन्होंने पत्र मुझे दिखाया और कहा—'देखो, मैं चार-पाँच महीने यहाँ और रहना चाहता था, मेरे स्वास्थ्य में भी काफी सुधार हो गया है। पर ये लोग मुझे यहाँ न रहने देंगे।' विवश होकर मुझे काशी जाना ही पड़ेगा।

× × ×

प्रसादजी लखनऊ से लौट कर रुग्ण हो गए और बुखार जारी है यह सूचना पाकर और कुछ दिनों से उनके हाथ का कोई पत्र न पाने से मैं भागा काशी गया। पूछा आप तो यात्रा नहीं करते गए क्यों थे जो लौट कर गभीर व्याधि ले आए खान पान मे कुछ असंयम तो नही हुआ ? खान पान में असंयम कैसा मै तो यहाँ से सभी सामान महीने भर का लेकर गया था वहाँ केवल आलू, मटर, गोभी आदि ही खरीदी। फिर भोजन मे असंयम से कोई यक्ष्मा ग्रस्त होता है ? परिवार मे यक्ष्मा का पुराना इतिहास तुम्हे कदाचित न मालूम हो तो भाभी से पूछो मेरे दो चचेरे भाई इसी रोग से अकाल कवलित हो गए थे और तुम्हारी पहली भाभी भी तो इसी यक्ष्मा से गई। भाई साहब इस पुराने घर को कुछ नए ढंग से बनवाना चाहते थे पत्थरों की गढ़ाई के काम वे प्राय करा चुके थे। उनकी पूरी योजना तो मुझे विदित नही किन्तु जब मैने चाहा कि नीचे के मंजिल मे भी बाहर खिड़कियाँ लगवा कर हवादार बनवाऊँ और Cross Ventiiation का प्रबन्ध हो, घर में यक्ष्मा, कीटों ने जो स्थायी आवास बना लिया है उसे वायु और धूप से नष्ट किया जाय तब भाभी ने कह दिया नही नीचे की मंजिल मे खिडकी झरोखे मकान को असुरक्षित कर देते है—इसलिए मैंने नीचे के कमरों को वैसा ही रहने दिया यहाँ तक कि फर्श भी कच्ची रह गई। वायु के प्रवेश के साथ उसका निर्गम भी जरूरी है नही तो दूषित वायु उसी में घूमती रहेगी। मेरी इच्छा थी कि आर पार आमने सामने दरवाजे जंगले लगे जिसमे वायु एक क्षण भी रुके नही—सो तो नही हो सका, सन्दूक जैसे निचला खण्ड दूषित वायु ऊपर भी फेकता रहा है। वायु और उसकी स्वच्छता का प्राणी के लिए सर्वाधिक महत्व है। वर्षा छोड़कर आधे अगहन तक मै छत पर ही रहता सोता था भले ही एक दो दुलाई ओढना पड़े। क्या घर मे पौष्टिक आहार की कमी थी जो Consumptive diseac हुए -केवल स्वच्छ वायु का अभाव इसका कारण रहा। चलो जो हुआ सो हुआ आगे की चिन्ता है। तुम्हारा दूसरा प्रश्न लखनऊ

क्यों गया ? लखनऊ इसलिए गया कि हिन्दुस्तानी एकेडेमी की मीटिंग में हिन्दी की जोर अजमाइश होनी थी, लियाकत अली और नवाब छतारी जैसे दिग्गजों को अंग्रेजों ने पुट्ठा ठोंक कर अखाड़े में उतारा था और दुर्भाग्यवश लाटसाहब ने मुझे nominate कर दिया। हिन्दुस्तानी और भाषा का प्रश्न और इस पर अंग्रेजों की चौसर बहुत पुरानी बिछी है इसी में भारतेन्दु और राजा शिवप्रसाद मुहरे बने थे। हिन्दी का वर्चस्व बढ़ता ही गया फिर आधुनिक युग में काका कालेलकर और वर्धा की बुनियादी तालीम का ताना बाना इण्डिया आफिस से बुना जाने लगा बेचारे जवाहरलाल बनारस आए हम लोगों से बातें हुई वे शुद्ध हिन्दी के विरुद्ध बहस लेकर आए थे—हम लोग विरोध करने को विवश थे बाबू सम्पूर्णानन्द ने स्पष्ट कह दिया जवाहरलाल यहाँ के साहित्यकारों को अपने डण्डे से हाँकने की चेष्टा मत करो ये अपनी चाल चलेंगे। वे नाराज होकर चले गए। उन्होंने भी कुछ सुर भरे होंगे एकेडेमी के मुहरो को भी ताल दिए होंगे। मैंने उन्हें रोका आप विश्राम करें—बोले हाँ डा० चौधरी ने कलम रखवा दी तुम लोग मुह पर ताला लगा दो—अब कुछ दिन जो बोलना है वह न रुकेगा। पिछले दिनों सम्मेलन द्वारा पारितोषक की सूचना के बहाने टण्डनजी आए थे और लगे हाथ चिकित्सा की चर्चा में शासकीय सहायता का भी संकेत जैसे ही करने लगे मैंने कमला नेहरू का उदाहरण दिया और तुरंत प्रश्न किया— जिसमें यह विषय समाप्त हो —कि अब तो आप लोग शासन कर रहे है बताइए उनके लिए क्या करेंगे जो हँसते हँसते फाँसी चढ गए। इसके बाद उनका रोष भरा मुख देख कर मैं हट गया, जितनी देर रहूँगा वे बोलते ही जायेंगे— यह सोच कर।

मुझे उन लोगों के अनभिज्ञतावश वैसे विचित्र कथनों पर क्षोभ होता है जो प्रसादजी की परम्परा, उनके व्यवसाय और समस्त ऋण चुकाने पर भी पुष्ट आर्थिक स्थिति को न जानते हुए बड़े आराम से कह देते है कि आर्थिक कारणों से वे कहीं न गए न होमियोपैथी के अतिरिक्त कोई इलाज किया। उनका पारंपरिक व्यवसाय जर्दे सुर्ती का एक Manufacturing Business है जो सदैव पिता से पुत्र को सिखाया जाता था। जब भैया रुग्ण हुए तब चि० रत्नशंकर थियोसोफिकल स्कूल की नवीं कक्षा मे रहे और Day Boarder के रूप मे प्रातः से सायं तक घर से दूर वहीं रहते थे। जब टी० बी० घोषित हुआ उसी दिन उनके स्कूल के अभिभावक पं० छेदी मिश्र से उन्होंने कहा मिश्रजी कल बच्चा का T C. ला दीजिए। जब मिश्रजी ने पूछा क्यों तब उन्होने Sputum report उन्हें दिखाई जिसने Ful of Tuber cules लिखा था। मिश्रजी ने कहा कि शिक्षा चलने दीजिये तब उन्होंने कहा और manufacturing की शिक्षा फिर कैसे होगी ? यद्यपि, मेरी इच्छा थी कि मैट्रिकुलेशन के बाद ये कैम्ब्रिज का रास्ता पकड़ लेते किन्तु प्रभु की नहीं इच्छा। अब जितने

दिन हाथ में है उतने में ये सुंघनी साहु का काम सँभाल लें नही तो इसका क्या होगा ? क्या दो सौ बर्षों की परम्परा नष्ट करूँ ? अब मिश्रजी अवाक् थे। ऐसी दशा में वे कही बाहर कैसे जाते ? अन्यथा पैसों का प्रश्न नही था वे चाहते तो स्विट्जरलैण्ड में चिकित्सा तो छोटी चीज है वे वही बस सकते थे—किन्तु फिर वही बात अपने लिए उस 'सुंघनी साहु' को समाप्त हो जाने देते जिस कुल ने उन्हे पैदा किया ! उसके प्रति क्या उनका दायित्व है —यह वे जानते थे। बाते तो अनेक है किन्तु लोगो के अनर्गल प्रलाप के उत्तर में यही यथेष्ट है।

आज यह समझ मे आता है कि वे सारनाथ, इटकी या जादवपुर सिनेटोरियम तक भी वे क्यो नही गए।

विचित्र असमर्थता

एक बार जब श्री शिवप्रसाद गुप्त रोगग्रस्त हुए तो फिर उनका चलना फिरना बन्द हो गया। उन्हे कुर्सी पर बैठाकर ही कार के पास लाया जाता और कुर्सी कार मे रहती। कार से फिर कुर्सी पर बैठाकर ही उन्हे यथास्थान पहुँचाया जाता। जब प्रसादजी की अस्वस्थता बढी और उसने कठिन रूप धारण कर लिया तो बाबू शिवप्रसाद गुप्त उनसे मिलने आये। लेकिन अवस्था ऐसी थी कि प्रसादजी ऊपरी मंजिल से नीचे आने मे असमर्थ थे और उधर गुप्तजी सीढी चढने मे असमर्थ थे। नीचे आँगन मे बैठकर उन्होने ऊपर प्रसादजी को देखा और शोक विह्वल होकर बोले—

'जयशकर ! यह क्या विधि-विडम्बना है कि न मै ऊपर जा सकता हूँ, न तुम नीचे आ सकते हो'।

सिनेटोरियम-प्रबन्ध

एक बार प्रसादजी ने मुझे लिखा—'मैं कुछ दिन यादवपुर सिनेटोरियम मे रहना चाहता हूँ—वहा से सब पता लगाकर मुझे लिखो'। यह घटना प्रसादजी के जीवन के अन्तिम काल की है। मै यादवपुर गया, पर वहाँ पता लगा कि कोई सीट खाली नही है। मै निराश नही हुआ, मैने कलकत्ते के एक सुप्रसिद्ध डाक्टर विधान बाबू के द्वारा पुन: प्रयत्न किया। जब मै दूसरी बार यादवपुर पहुँचा तो वहाँ के अधिकारियो ने कहा—'आपके लिए स्थान की व्यवस्था कर दी गई है, आप आ सकते है'। उन्होने मेरे लिए एक पुस्तकालय खाली करा दिया था और उसी मे सीट की व्यवस्था हो गई। मैने सारा प्रबन्ध कर लेने के बाद प्रसादजी को आने के लिए लिखा। उन्होने भी मेरा पत्र पाकर यात्रा की पूरी तैयारी कर ली। एक निश्चित तिथि पर सामान आदि बाहर लाकर गाडी मे रख दिया गया। वे भी स्टेशन आने के लिए गाडी मे बैठ गये। लेकिन उनके एक निकट के सेवक ने न जाने क्या धीरे से कहा और प्रसादजी एकाएक गाडी से उतर पडे। उन्होने अपनी यात्रा स्थगित कर दी। मै यहाँ प्रतीक्षा मे था। कई दिन प्रतीक्षा

करने के बाद मैं स्वयं काशी पहुँचा। वहाँ पहुँचने पर सब बातें स्पष्ट हुईं, पर अचानक रुक जाने के कारण का रहस्य न खुल सका। मैंने प्रसादजी से कहा—भैय्या, वहाँ तो मेरी स्थिति बडी दयनीय हो गई। आप दो-दो दिन के लिए भी पहुँच गये होते, तो मेरी प्रतिष्ठा बच जाती। उन्होंने कहा—मुकुन्दीलाल मेरा मन अचानक हिचक गया और कोई बात नहीं है'।

× × ×

प्रसादजी के लिए बेदाना

अपने जीवन के अन्तिमकाल मे 'प्रसादजी' ने मुझे लिखा—'यहाँ बनारस में अच्छा बेदाना नही मिलता, तुम रोज एक सेर बेदाना कलकत्ता मे भेज दिया करो'। यहाँ मैने एक पेशावरी फलवाले से बात की। उसने एक सेर अच्छा बेदाना बनारस भेजना आरंभ कर दिया। कुछ दिनो बाद प्रसादजी ने मुझे लिखा कि बेदाना तो प्रतिदिन आ जाता है, पर इधर कुछ दिनो से उसमे कुछ दाने सड़े निकल जाते है'। मैंने उस पेशावरी से भेट की और उससे बेदानो के सम्बन्ध की शिकायत की बात कही। उसने मुझे बचन दिया कि अब बेदाने अच्छे किस्म के भेजूँगा—फिर आपको शिकायत न मिलेगी।'

मैंने प्रसादजी को पत्र लिखकर बेदानो के सम्बन्ध मे फिर पूछा—इस बार उन्होंने लिखा—'बेदाने तो अब अच्छे आने लगे हैं, पर तुमने इसका कोई बिल नही भेजा'। मैंने उन्हे फिर लिखा—'भैय्या, बेदाने आप लेते रहे, बिल की चिन्ता न करें; मैं एक साथ आकर सब रुपये ले लूँगा'। पर प्रसादजी को विश्वास न हुआ। वे समझ गये कि—यह मुझसे बेदानों के दाम न लेगा। उन्होने मुझे लिखा—'अब बेदानें न भेजो। मुझे अब आवश्यकता नही है। उनके इस पत्र को पढ़कर मेरा हृदय काँप गया। मैंने उन्हें फिर पत्र लिखा किन्तु उन्होने बेदानो का लेना स्वीकार नही किया।

× × ×

तुलादान

कुछ दिनो के बाद प्रसादजी को देखने के लिए मैं काशी गया। मैंने घर मे प्रवेश किया तो देखा कि वे भीतर की चौक के वे पश्चिम वाली दालान में लेटे है। शरीर दुर्बल और क्षीण हो गया था। कुशल प्रश्न हो ही रहे थे कि इसी बीच बड़ी भाभी एक बडी कुरई (डलिया) मे चावल लेकर नीचे उनके समीप आकर खडी हो गईं और प्रसादजी से कहने लगी—'तनी एके छू दऽ।' यह सुनकर वे एकदम झल्ला उठे और बडे जोरो मे कहा—'एके छू देहले का हम स्वर्ग में पहुँच जाब।' उन्होंने चावल का स्पर्श नही किया। भाभी चुपचाप ऊपर चली गई।

भाभी के चले जाने के बाद मैंने प्रसादजी से कहा—'भइया ! सन्तोष के लिए

सब का करना चाहिए। यदि भाभी को इसमे विश्वास है, और ऐसा करने से वे कल्याण की कुछ आशा करती हैं, तो आपको स्पर्श करने में क्या आपत्ति है ?' उन्होंने अपना सिर मुझे दिखाते हुए कहा - 'देखो, यही मेरा कल्याण हुआ है।' दो दिन पहिले प्रसादजी का तुलादान हुआ था। तराजू की डोरी टूट जाने के कारण तराजू की डाँड़ी से सिर फट गया था। इसीलिए वे झल्ला रहे थे।

कुछ देर बाद जब मैं ऊपर भोजन करने गया तो बड़ी भाभी ने मुझसे कहा— 'देखलऽ हो मकुन्दीलाल, इ कुछ करै नाँही देत हउवन, का होई ?' मैंने भाभी को समझा बुझा कर कुछ सन्तोष देने का प्रयत्न किया, पर वे बहुत दुःखी थी।

दो तीन दिन वहाँ रहने के बाद मैंने प्रसादजी से कहा - 'भइया, यदि आज्ञा दें, तो मै कलकत्ते चला जाऊँ, दस पन्द्रह दिन बाद फिर आ जाऊँगा।' उन्होंने कुछ चिन्ता भरे स्वर मे कहा -'जाओ, पर अब तुम क्या आओगे' उस समय उनके इन शब्दों पर मेरा ध्यान नही गया, पर उसके बाद उनके दर्शन मुझे न मिल सके।



आस्ता

शास्तामम भवोत्तीर्ण भवन्मयमनुत्तरम्

—अन्तेवासी (डा० राजेन्द्र नारायण शर्मा)

शिष्ट विनोद-प्रियता देवोपम गुण है। ऐसा योगिराज महर्षि श्री अरविन्द का कथन है :

Humer is a devine quality (Thoughts and Aphorism)

उनसे पूछा गया भगवान कभी हँसते है। उत्तर दिया। हाँ उनके तीन बार हँसने का प्रमाण मिलता है। दो का उल्लेख अप्रासंगिक है। तीसरी बार वे खूब हँसे जब शंकराचार्य ने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और उसी जगत के दिग्विजय के लिये निकल पड़े। महर्षि का यह शिष्ट हास्य क्या देवोपम नही?

महाकवि देवीप्रसाद कवि चक्रवर्ती के पिता महा मनीषी श्री दुखमंजनजी बगीचे में बैठे थे। पिस्ता बादाम और केसर की पिसी उनकी ठंढाई का घोल छन रहा था। उद्यान के फाटक पर पहरा देने वाले ने सूचना दी—'महाराज हथुआ फाटक पर खड़े हैं। आपसे मिलना चाहते है।' मन्द स्मित के साथ घुलते हुए केशर की ओर इंगित कर दुखभंजनजी बोले—उनसे जाकर कह दो—'काश्मीरेन्द्रो घुलत्यत्र हथुआना च का कथा' (केसर का पर्याय काश्मीर है)।

महायोगी श्री अरविन्द के इस उद्वाचन के आलोक मे युग प्रवर्तक महाकवि श्री जयशकर प्रसादजी के सहज विनोद प्रिय व्यक्तित्व की एक झांकी अवलोक्य हैं।

श्री माखनलालजी चतुर्वेदी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद के भाषण में एक जगह कहते है—भारत मे एक ऐसा भी नगर है जहाँ केवल आचार्य ही होते हैं। कोई शिष्य नही होता। कुछ लोग अपने नाम के आगे आचार्य लगाते हैं (जैसे आचार्य केशव प्रसाद मिश्र) कुछ लोग अपने नाम के पीछे आचार्य लगाते है (जैसे श्री पद्मनारायण आचार्य) नाम नही लिया पर निश्चय ही उनका अभिप्राय वाराणसी से था। इस व्यंग्य मे कितना मधुर हास्य ध्वनित है। वाराणसी मे गगा तट पर विश्वनाथ गली में आज भी जब दो व्यक्ति मिलते हैं। एक दूसरे से पूछता है 'का गुरू !' दूसरा उत्तर देता है—'हाँ गुरु'। ऐसी विलक्षण नगरी के निवासी थे प्रसादजी !

सम्पर्क मे आए अपने आसपास के लोगों के व्यक्तित्व के उपादान, उनके गुण

और चरित् को ध्यान में रख प्रत्यक व्यक्ति के उन्होंने नाम रख छोड़े थे। वे मन्द-स्मित के साथ अपने रखे हुए नाम के बाद गुरू लगाकर उन्हें सम्बोधित करते। परिणाम यह हुआ कि लोग उन लोगों के असली नाम प्राय: भूल गये और समाज में वे प्रसादजी द्वारा रखे नाम से प्रसिद्ध हो गये। जैसे पड़ोसी प्रलम्ब काया—निकले हुए पेट वाले वैद्य (महादेव मिश्र) का नाम उन्होंने लम्बोदर महाराज रखा। वैद्यजी प्रसादजी के मुख से यह सम्बोधन पाकर खूब हँसते। मरणोपरान्त भी कम लोग जान पाये कि उनका नाम क्या था। मुहल्ले के, सत्य और ईमानदारी का दम भरने वाले एक रईस का नाम उन्होंने धर्मराज रख दिया, वे इसी नाम से माने जाने लगे। उनके बगीचे मे एक पखावजी संगीत के अध्यापक रहते थे। उनका नाम उन्होंने "जंजाली गुरू" रखा। दूसरा कोई भी व्यक्ति यदि उन्हे "जंजाली गुरू" कहता तो वे पखावजी आपे से बाहर हो जाने, झगड़ पड़ते, खूब लड़ाई होती। लोग कहते प्रसादजी आपको जंजाली गुरू कहते है तो आप उनसे क्यो नहीं जूझते है। व उत्तर देते प्रसादजी को मुझे कुछ भी कहने का अधिकार है. प्रसादजी इस द्वन्द्व-युद्ध का मुस्करा कर आनन्द लेते। एक दिन इस घोर युद्ध को देख प्रसादजी के एक सहपाठी बोले--"आग लगाय जमालो दूर खड़ी"--आप कम नहीं है। आप लड़ाई लगाने में चाणक्य से कम नही है। प्रसादजी मुस्करा देते। बेनियाबाग मे प्रात: चारिका के बाद साहित्यिकों के साथ प्रसादजी सुप्रसिद्ध कवयित्री सुभद्रा कुमारी चौहान के बहनोई नगर के विख्यात होमियोपैथिक डाक्टर एच० सिंह के उपचार कक्ष मे सवेरे प्राय: नित्य आते थे। उनसे प्रतिश्याय, काम एव स्नायविक दौर्बल्य की कुछ-कुछ दवाइयाँ लेते थे। इस अवधि मे कुछ हास्य विनोद भी हुआ करता। दो एक उदाहरण प्रस्तुत है।

किसी व्याधि के लिये प्रसादजी ने डा० एच० सिंह से दवा माँगी। डाक्टर साहब ने मुझसे कहा प्रसादजी को दो मात्रा 'एण्टिम क्रूड' दे दो। रोकते हुए प्रसादजी बोले जीवन में प्रथम चरण डाला है मुझे अभी अन्तिम कूद मत दीजिये। दूसरे दिन मुझे आदेश हुआ प्रसादजी को कैली फास दिया जाय, सुनते ही प्रसादजी बोले—कलि के जिस फंदे (रोग) से छुटकारे के लिये आपके पास आया आप आदेश दे रहे हैं मुझे वही कलि-फाँस पुन: दिया जाय। डाक्टर साहब बोले- -"कण्टके नैव कण्टकम्" काटे से ही पैर मे धँसे काँटे को निकालने का विधान है यही होमियोपैथी का चिर अडिग सिद्धान्त हैं। प्रसादजी मुस्कराकर बोले वह सिद्धान्त और कलिफाँस आपको मुबारक हो मुझे नहीं चाहिये।

Kali Phos की पाँच पुड़िया बनाकर मैंने प्रसादजी को दिया। उसे जेब में रख वे हँसते हुए कक्ष से बाहर चले गये।

एक दिन की बात है। प्रसादजी अपनी शिथिलता का अनुभव डाक्टर साहब से

वर्णन कर रहे थे। वे प्रायशः बनारसी भोजपुरी में बातें किया करते थे—सबसे, केवल इलाहाबाद के साहित्यकों से खड़ी बोली में।

डाक्टर साहब ने उन्हें उस दिन Avena Sativa देने को कहा। प्रसादजी ने उस दवा का हिन्दी नामकरण किया "अब न सतइब।" बेढबजी नित्य उनके साथ वहाँ आते थे। वे बोले प्रसादजी आप कमजोर हो गये हैं। ताकत के लिये कोई पुष्टई खाइये। प्रसादजी बोले मास्टर साहब पुष्टई खाकर लोग-बाग प्रायः दुष्टई करते हैं। मुझे वह करना नही है। उसके दूसरे ही दिन किसी बात पर खफा होकर बेढबजी ने प्रसादजी को डाँट दिया वे बहुत क्रोध की मुद्रा मे थे। प्रसादजी ने मुस्कराते हुए केवल इतना ही कहा—

मास्टर साहब ! संसार में सभी आपके शिष्य नही हैं। कुछ मित्र भी हैं।

कृष्णदेव प्रसाद गौड़ "बेढब"जी पानी पानी हो गए। अपनी "न खलु ननु धृष्टा मुखर वा" की भूल उनकी समझ में आ गई और भूरि भूरि पश्चात्ताप करते हुए उन्होंने तत्काल प्रसादजी से क्षमा याचना की। प्रसादजी ने कहा—

"गौड़ी माया दुरत्यया"

× × ×

कामायनी का नामकरण प्रसंग

दिवस का अवसान समीप था। लेकिन अभी गगन कुछ लोहित नहीं हुआ था। पक्षी अपने नीडों में इकट्ठा होने और चहचहाने लगे थे। उनके सांध्य कलरव को सम्बोधित कर पंतजी उनसे पूछ रहे थे।

मेरी बाल विहंगिनि तूने
किससे सीखा यह गाना

मैथिलीशरणजी गाँवों की गोधूलि-सुषमा को देख कह रहे थे :

संध्या समय गाँव के बाहर
होता नन्दन विपिन निछावर

दीप्त करने के कुछ पहले महादेवीजी स्नेह और वर्तिका ले अपना वह दीपक सँजो रही थी जिसे सम्बोधित कर वह गुनगुना उठी थी।

—मधुर मधुर मेरे दीपक जल !
मैं अंचल की ओट किये हूँ
सुभग, न तू बुझने का भय कर !

उसी समय की बात है—प्रदोष वेला की। नित्य की भाँति प्रसादजी हरे भरे उद्यान में उस समय पैत्रिक देवालय के चबूतरे पर आए। उससे सटे कूप के जल से स्नान करने घर से घड़ा लेकर मैं भी पहुँच जाता—प्रायः सदा ही—उनके देवोपम

सान्निध्य की महत्वकांक्षा--लालसा से खिंच कर। उस दिन उनके हाथ में एक कागज का एक छोटा सा टुकड़ा था, एक छोटी सी पेन्सिल भी।

उनके चेहरे पर गहन चिन्तन की एक रेखा थी। धीरे-धीरे चिपटी लकड़ी की खड़ाऊँ पहने वे चबूतरे के पास आये। बोले—'महाकाव्य पूरा हो चुका है उसका नाम क्या रखा जाय—यही समस्या है'। आपने कुछ सोचा ही होगा'—मैंने पूछा।

उन्होंने कहा 'हाँ'—नाम सोचने का काम जारी है। प्रणयन के साथ-साथ पहले अर्थात् रचना के उषाकाल में इसकी पदवी 'मन्वन्तर' थी'।

'उसके बाद उस नाम का स्थान' लिया महाकाव्य के विषयानुरूपी श्रद्धा और मनु ने। किन्तु वह भी जमा नहीं।' जैसे भी हो आज उसे ढूँढ़ना ही है। मिलजुल कर। उनके साथ–सहचिन्तन का बड़ा गौरव था वह!

मैंने कहा चद्दित नायक पुरुषो के नाम पर महाकाव्यों के नामकरण की परम्परा कुछ पुरानी—अथच, घिसी-पिटी हो चुकी है।

उन्होंने कहा तुमने इस महाकाव्य की चेतना कुछ तो सुनकर[2] स्वगत कर ली है कोई नया जो अपने मे इस रचना की -समग्रता को आसम्यक समेट सके सोचकर बताओ।

'आपके रहते भला मेरी क्या हैसियत है नाम सोचने की'--मैंने सविनय निवेदन किया। उन्होने उसका जो उत्तर दिया वह उनकी देवोपम महिमा के अनुरूप था। बोले—'देखो, विचार किसी की मारूसी जायदाद नहीं है। शालिग्राम की बटिया क्या छोटी क्या बड़ी—एक होती है'

'पृथ्वी पर मनोमयी सृष्टि Mental civilizatiom के स्थान पर विज्ञानमयी अतिमानस सृष्टि—A civilizatiom of supramental race की अवतारणा के तपस्वी, महायोगी और महाकवि श्री अरविन्द चौबीस हजार पंक्तियो वाला एक महाकाव्य लिखने में संलग्न है—जिसका नाम सत्यवान न होकर 'सावित्री' होगा।'

मैंने कहा—'आपका अधीत बडा ही तेजस्वी और जन्मान्तरीय संस्कार से प्रबुद्ध हैं। 'श्रद्धा' का कोई वैदिक पर्याय ढूंढ़े। काम बन जाय।

जिस कार्य के पूरा होने में सदियाँ बीत जायँ वही कार्य अनुग्रह के एक देवमुहूर्त्त में निष्पन्न हो जाता है।

१. प्रकाशकों ने इसका विज्ञापन भी कर दिया था। (सं०)
२. मेरे साथ प्रूफ देखकर भी।

उन्होने एक क्षण के लिये अपने नेत्र बन्द किये। फिर बोले—

श्रद्धासूक्त में—'श्रद्धा' काम गोत्र की बालिका कही गयी है। तब, 'कामायनी' नाम कैसा होगा ?

मन्दिर मे स्थापित देवविग्रह की ओर इशारा करते हुए मैने कहा—'इस पर उनकी स्वीकृति चाहिए'। स्वयं अपने हाथ के कागज की उस चिट पर 'कामायनी' लिखकर उन्होने देवाधिदेव की मंजूरी के लिए मेरी ओर बढ़ा दिया।

उसके बाद की कथा कहने-लिखने मे यह लेखनी असमर्थ है। यही जान लें कि उनकी अनेक जन्मो म चली आई साधना की सिद्धि—कामायनी है।

इति शिवम्



"प्रसाद" के दर्शन

—विनय मोहन शर्मा

सन् १९२४ में जब मैंने हिन्दू विश्वविद्यालय परिसर में उसी के अंग सेंट्रल हिन्दू कालेज में प्रवेश लिया उस समय, हिन्दी विभाग के आचार्य (अध्यक्ष) बाबू श्याम सुन्दर दास थे। और उनके सहयोगी थे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जिन्हें बाबू साहब ने नागरी प्रचारिणी सभा से बुला लिया था। लाला भगवान दीन ('लक्ष्मी' के सम्पादक) और प्रिय प्रवास के कवि पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय थे। यह वह समय था जब हिन्दी कविता नये युग में प्रवेश कर रही थी। सरस्वती के सम्पादक पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी को कविता का यह नूतन प्रवाह रुचिकर नहीं लगा था। उन्होंने 'कवि किंकर' के छद्म नाम से तीखे शब्दों में उसका विरोध किया। उन्हें लगा—'लोगन कविता कीबो खेलि करि जान्यो है' परन्तु उन्हीं की पत्रिका सरस्वती के प्रसिद्ध कवि पं० मुकुटधर पाण्डेय नई कविता का समर्थन कर रहे थे। पाण्डेयजी के शब्दों में 'जब प्रसाद मृत्यु शैय्या पर थे, और जब वे उनसे मिले तो उन्होंने भाव विह्वल होकर कहा था 'पाण्डेय जी आप ही नयी कविता के प्रवर्तक हैं। परन्तु पाण्डेय जी अश्रुपूरित नेत्रों से कहते रहे कि नहीं-नहीं प्रसाद जी आपही उसके पुरोधा हैं (पाण्डेय जी का दो वर्ष पूर्व ही स्वर्गवास हुआ है)। उन्होंने सदैव प्रसाद जी के काव्य सौन्दर्य की प्रशंसा की है। अपने गुरु महावीर प्रसाद द्विवेदी के विचारों का समर्थन नहीं किया। यह स्वीकारते हुए भी कि आचार्य ने सरस्वती में उन्हें स्थान देकर कवि-रूप में प्रतिष्ठित किया, प्रसिद्धि दी।

आँसू जब प्रथम बार मामूली कागज में छप कर आया तो हमें उसके बाह्य रूप ने, जो सूची पत्र के कागज-सा था, आकर्षित नहीं किया। उसका प्रकाशन बाबू मैथिलीशरण गुप्त के चिरगाँव के प्रेस में हुआ था। हम और हमारे साथी उसमें प्रकाशित पंक्तियों को झूम-झूम कर पढ़ते थे—गाते थे। हम उसके आलंबन के विषय में एक मत थे कि वह प्रेम-काव्य है और उसका आलंबन प्रसाद की कोई प्रेयसी हो सकती है।

काशी के प्रसिद्ध दैनिक 'आज' में आँसू की आलोचना छपी थी। कोई उसे सामान्य प्रेम कृति कहते और कोई उसमें रहस्य का आभास पाते थे। मैं उसे विशुद्ध

प्रेम काव्य, विरह काव्य समझता था। उसमें मुझे लौकिक प्रेम का सात्विक प्रकाश दिखाई देता था। हमारे एक सहपाठी ने जो काशी के ही थे 'आँसू' की तर्ज पर कुछ पंक्तियाँ लिखी थी। परन्तु वे कवि के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हुए।

बी. ए. की परीक्षा देकर जब मैं घर जाने की तैयारी कर रहा था तब बार-बार मन में आता था कि अपने प्रिय कवि प्रसाद के दर्शन कर पाता तो कितना अच्छा होता और एक पावन स्मृति को संजोकर रख पाता। प्रसाद जी के पड़ोसी श्री रामनाथ सुमन से मेरा परिचय था। मैंने उनसे प्रसाद जी के दर्शन कराने का निवेदन किया। दिन व समय निश्चित हो गया। मैं निर्धारित दिन प्रातःकाल ही उनके निवास स्थान पर पहुँच गया। वे प्रायः मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। उनका स्थान प्रसाद जी के आवास के सामने था। प्रसाद जी भी उठकर बाहर खड़े थे। सुमन जी ने उनकी ओर संकेत कर मुझसे पूछा कि क्या मैंने उन्हें कहीं देखा है? मैंने कहा—हाँ माधुरी में उनके दर्शन किये है। फिर वे मुझे प्रसाद जी के घर ले गये मैंने नतमस्तक हो प्रसाद जी को प्रमाण किया। सुमन जी ने कहा कि यह नवयुवक आपने आँसू का कुछ प्रसाद चाहता है। वे सामने अपनी बगिया के चबूतरे पर आसीन हो गए। उन्होंने अपने मकान के सामने एक छोटा सा बगीचा लगाया था। उसमें गुलाब, जूही, बेला, रजनीगंधा, पारिजात आदि फूलों के पेड़ लगे थे और 'प्रसाद' पारिजात के पेड़ के नीचे एक पत्थर के चबूतरे पर बैठते थे। जब वे उस पर बैठ गये, (यह प्रसिद्धि थी कि कवि उसी चबूतरे पर बैठकर अपनी रचनाएँ दूसरों को सुनाया करते थे) हम भी उसी के नीचे बैठ गए और सुमन जी ने उनसे कहा कि यह युवक आपका भक्त है, परीक्षा देकर घर जाने की तैयारी कर रहा है पर उसके पूर्व आपके दर्शन करना चाहता था और आपके मुखारविन्द से आँसू की कुछ पंक्तियाँ सुनना चाहता है। प्रसाद जी सहज भाव से बैठ गए और प्रसाद जरा हाँ ना के बाद ही आँसू की कुछ पंक्तियाँ सुनाने को राजी हो गये। सुखासन में बैठे-बैठे ही वे गा उठे—

'इस करूणा कलित हृदय में, क्यों विकल रागनि बजती? क्यों हाहाकार स्वरों में; वेदना असीम गरजती' गा उठे, गाते ही गये—आँसू समाप्त होने तक। कितनी तन्मयता, भाव-मुग्धता उनके बदन पर अंकित थी। उनकी वाणी में मिठास थी। छिपा सा दर्द भी फूटने की चेष्टा करता था। बिदा के समय अपनी दो तीन पुस्तकें भी उन्होंने भेंट की। दूरी लेकर गया था पर निकटता लेकर लौटा।

प्रसाद जी का मानसिक धरातल सचमुच बहुत ऊंचा है। उनका हृदय रस का खजाना है। मेरी धारणा थी, 'आज' में उनके सम्बन्ध में जो दो चार अप्रिय वाक्य मेरे द्वारा लिखे गए थे, उसका उनके मन पर असर होगा—मैं कह गया।

मेरे मित्र बोले—नहीं जी, तुमने तो कुछ भी नही लिखा। वे कड़वी से कड़वी आलोचनाएँ पी जाते हैं। 'शंकर, जिस तरह काल कूट ?' मैंने कहा—'और क्या तभी तो उन्हें कहते है 'जय शंकर' मित्र बोले और हम हँस पड़े।

सन् १९२८ के बाद सन् १९३८ मे फिर मैं काशी गया। उस समय गोवर्द्धन की सराय सूनी थी, शंकर अन्तर्धान हो गये थे। उनका "प्रसाद" बँट चुका था केवल उनकी जयध्वनि सुन पडती थी। आज भी वह सुनाई दे रही है, "कल" भी देगी।



प्रशस्ति

(महाकवि 'प्रसाद' की पुण्य स्मृति में)

—दुर्गादत्त त्रिपाठी

बचपन, यौवन और जरा का चक्कर
पूरा करने पर आवागमन प्राणी
जैसे फिर बचपन लखने को आता,
जग के नातों की मति पाकर यौवन—
पुनः जरा—प्रतिकला उसी यौवन की—
पुनः निधन पिछले सम्भरण-सरीखा
और पुनः आवागमन के नव बन्धन,
या जैसे हो पास लाल होने के
अष्टचन्द्र की गोट किन्तु मर जाये
और खिलाड़ी हतमति-सा रह जाये –
उधर जीते द्वन्द्वी की, प्रश्न इधर हो
पुनः दये-धमके साहस से चलना,
ठीक-ठीक ऐसी ही गति है मेरी ।
कितने आघातों से विप्लुत मनको
कितने द्वन्द्वों मे छीजे जीवन को,
चिरनिवारण नत उदर-भरण क्षमता को.
और मनभरी मानभरी मेधा को
मार चले तुम मात्रकाव्यसहभोगी,
बाबू जयशङ्कर प्रसाद, अममय हो ।
कितनी सुखमय सन्ध्याएँ की काली
उस नरियल बजार वाली बैठक मे ।
पान और सुरती की पृष्ठपटी पर
कैसी कैसी रचनाएं मेधा की,
वह 'अजातशत्रु' की कथा, 'आँसू' के
रस-रञ्जक पद, 'स्कन्दगुप्त' की भाषा,
'तितली' की वस्तु-स्थिति चित्रण-शैली,

'कामायनी'-सुधा-सरिता का जीवन,
'आँधी'-'छाया'-'एकघूँट'-प्रतिलेपन,
स्फुट कहानियों की गद्यान्वित कविता,
अलिखित नाटक के गीतों की वाणी,
और कभी 'कंकाल' आदि के परिचय,
इसी भाँति उनकी दुकान पर बैठे
कितनी कृतियों के असुलभ-रस-वाहन
सुन्दर अवतरणों में दस बज जाते।

उनके घर तक तार उन्हीं बातों का
रहता। वहाँ पहुँच वह थोड़ा भोजन
करते, और बौद्ध-ग्रन्थों-सूत्रों के
व्यस्त अध्ययन में तुरन्त लग जाते।
पौन बजे तक मैं अपने घर आता,
या उनकी बैठक में ही पड़ रहता।

असित उषा के उठने पर भी, धूमिल
दीवट के आलोक-चक्र को छूता,
उस महर्षि का छाया-चित्र विमोहन,
पान कचरते मुख का छायान्दोलन,
काव्योन्नत ललाट की छाया पड़ती,
और पलटना पन्नों का सुन पड़ता।

अन्तरिक्ष कहता, तू कवि सर्वोपरि,
हो कृतार्थ तुम शीश झुका लेते थे,
भार सौंप कर उस यश का कर्ता को।

लम्बलोम-वक्षस्थल के अन्तर में
एक कुलन यह थी कि अधिकतम जनमत
हृदयहीन, रसहीन, मन्दिरमति क्यों है?
श्रोता सुन्दर से सुन्दर कृतियों पर
क्यों नाक-भौंह सिकोड़े रह जाते हैं?
क्यों तुकबन्दों को सङ्कर कृतियों पर
लोटपोट हो फूले नहीं समाते ?
क्यों धनिकों ने बन्द मुट्ठियाँ कर ली?
क्यों मरखप कर कलाकार श्रमजीवी

बिना मान बेचे न प्रकाशन पाये ?
अपनी स्त्री, बच्चों की रोटी काटे
और बचाकर पैसा करे प्रकाशन
अपने ग्रन्थों का, न किन्तु बिक पायें
सौ प्रतियाँ भी, क्योंकि कला की कीलक
विविध वेड़ियों में है विज्ञापन भी ।

क्यों महानमानव की गतकोलाहल-
मति, साधन निरपेक्ष, निरीह प्रपीडित ?
क्यों समस्त लोकों के ताप, परीक्षण-
हृदयदहन, उत्साहदहन छल लाञ्छन,
निर्धनता का दंशन, फिर उस पर भी
मोल-भाव शोषक प्रकाशकों द्वारा ?

निर्धन लेखक लिखे, किन्तु क्या खाकर,
जब उसकी रोटी समृद्ध खा जाते,
और भूख से व्याकुल उसके बच्चे
रो रो मरते । वह महान क्षण भर को
सभी महत्ता भूल परमकातर हो,
कहता, विभु बूढ़े हो चले, इसी से
सठा न्याय भी उनका उनकी मसि-मा ।

क्षण भर पीछे पुनः पराजित मति हो,
वही विवश प्रज्ञा मे शीश झुकाता,
क्षमा माँगता विभु से कहे-करे की,
किन्तु क्या हुआ यदि तुमने जग-नायक,
अमितबली हो एक अबल जन कवि को
अवसर दिया विरोधवाद का पहले,
पीछे अपने सर्वशक्त हाथों मे
अक्रिय कर अपने चरणों मे डाला ।

विभुता केवल यही कि जनसाधारण
रोकर झुकता, कवि हँसकर झुकता है ।
यह क्या तुमने किया ? ग्लानि क्या जग से
इतनी तुम्हें हुई कि रुग्ण होने पर
हाय चिकित्सा भी न प्रचुर होने दी ?

पता न घर वालों को दिया महीनों,
पीछे स्वजनों का मन समझाने की
कभी होमियोपैथिक औषध कोई
खा लेते या सिरहाने रख लेते।
पता चला कब सम्बन्धी, स्वजनों को ?
जब आंखें धँस चलीं गढ़ों मे। उचकी
गालो जी हड्डिया और छाती की
सारी ठठरी उभरी। शोणित सूखा,
और देह हलदी के रंग मे रंग ली।

प्राञ्जल आशय, सङ्गतिशीला शैली,
प्रबल निवेदन, मृदु समवेदन, सुस्वन,
जग-जड़ता पर कवि का मानस-मन्थ :
मार्गापेक्षी जगहित दिशि-निर्देशन,
ऐसे उनके ग्रन्थ, सूक्तियाँ उनकी,
गूँज गूँज कानों में बसी जगत के।

और मुझे तो कभी कभी वह उनका
देव-दिव्य शिशु-सुलभ हँसी मे हँसना,
लाल लाल होंठों का हास-नियोजन,
और मन्द स्वर से गा गा कानों में
कविताएँ ढालना स्मरण होते ही,
छायावाही जगमग दृग-तारक पर
उन्हीं दिनों सी कोई सन्ध्या आकर
मुझे रमा लेती है अपने सुख में।

किन्तु गृहस्थी के कोलाहल सहसा
मायिक आवेशों के जाल बिछा कर
बन्दी कर लेते सत्त्वाशय मन को।
दृग खुलने पर पलक-पाणि मल मल कर
अपना-सा मुंह लिये हाय, रह जाते।
अब न दिखाई देगी वैसी मेधा,
वैसी धृति-व्यञ्जना, साधना, क्षमता।

अब न मिलेगा कुछ, जग को रोने से
उनकी स्मृति मे, क्योंकि उन्होंने समझा

जीवित कवि को तो साधारण मानव,
यद्यपि अब अधिमानव पड़ा समझना।
हाय, आज का गौरव यदि वह आँखे
अपनी आँखो लख पाती तो कहती,
अब भी अधिशतवत्सर इन्हे लगेगे
मेरी कृतियो के अन्तर्दर्शन मे।
गये, गये तुम, सुयश प्रसाद, तुम्हारा
युग युग की स्मृतियो के सध्याम्बर मे
स्वर्ण दण्ड-सा एक हिरण्य-प्रदर्शन
विश्व व्योम का पूर्व प्रकाशित करने
जा पहुँचा नक्षत्रो की टोली म।
पाँव नही उठते अब तो उस पथ पर,
लुटा हुआ सा लोक दिखाई देता,
कुटी पिटी सी कातर अभिलाषाएँ
घोट घोट अधमरी उमगो के मुह
क्रन्दन ही क्रन्दन उर मे भर देती।
डोर प्रतीक्षा की कट गई सदा को,
जो उनके पत्रो, ग्रन्थो के दर्शन
यदा कदा मेरे सुदूर निवसन की
एकाकी उन्मनता को देती थी।
रोया कर, ओ हीन विश्व अब कवि को,
समुचित दण्ड यही है अहृदयता का।
तेरा क्रन्दन तुझे बना दे कर्मठ,
जिससे जीवित कविरत्नो की आभा
पार्थिवप्रियता धूल डाल कर अपनी
कर न सके अप्रतिभ। सुधा की बूँदे
युग-योजक कवियो के सत्वरसो से
रहे सीचती मृत्यु शुष्क मानवता।